विश्व इतिहास की रूप-रेखा

(इंटरमीडियेट कक्षाओं के लिए)

प्यारेलाल शर्मा, एम. ए., बी. टी.

इतिहास विशेषज्ञ

लेक्चरार, एल. टी. विभाग,

एन. आर. ई. सी. कालिज.

खुर्जा ।

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,

चौक, बनारस ।

[मूल्य [illegible])

प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,
चौक, बनारस

मुद्रक
विश्वनाथप्रसाद (भगतजी)
श्रीराम प्रेस, बुलानाला, बनारस १

उस ओर ले चलो हमें, प्रभो !
जहां शोक न हो संताप न हो,
मानवता का परिहास न हो,
निष्ठुरता का अभिशाप न हो।

आत्म-निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक उत्तर प्रदेशीय शिक्षा बोर्ड द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार इंटरमीडियेट कक्षाओं के लिये लिखी गई है। साथ ही साधारण पाठक की रुचि का ध्यान रखकर विषय को अधिक रोचक तथा व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है। विश्व इतिहास की नीरस घटनाओं का वर्णन करने की अपेक्षा युगान्तरकारी प्रवृत्तियों तथा सभ्यता और संस्कृति का अधिक वर्णन किया गया है। संसार के भिन्न भिन्न देश तथा जातियाँ एक ही कुटुम्ब के सदस्य हैं और पारस्परिक सहयोग की भावना के साथ सभ्यता के मूलभूत सिद्धान्त (अहत्व के ऊपर समत्व की विजय) को ग्रहण करने की चेष्टा कर रहे हैं— यह ध्वनि विज्ञ पाठक को प्रत्येक शब्द से निकलती हुई ज्ञात होगी। एशिया के अतीत गौरव के साथ-साथ उसके पतन तथा जागृति का रोमांचकारी वर्णन भी पाठकों को यथास्थान मिलेगा। यदि पाठकों को विश्व-सभ्यता तथा इतिहास के प्रति इन पंक्तियों के अध्ययन के परिणामस्वरूप थोड़ी भी रुचि उत्पन्न होगई तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

इस पुस्तक को तैयार करने में मुझे एन. आर. ई. सी. कालिज, खुर्जा के पुस्तकालय से भारी सहायता मिली है। मैं पुस्तकालय के कर्मचारियों (विशेषतया पुस्तकाध्यक्ष महोदय) को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक को अधिक लाभदायक बनाने के विचार से जो भी सज्जन अपने अमूल्य परामर्श मेरे पास भेजने की कृपा करेंगे उनका मैं हृदय से आभारी रहूँगा।

एल. टी. विभाग,
एन. आर. ई. सी. कालिज,
खुर्जा,
५ जुलाई सन् १९५०

प्यारेलाल शर्मा

विषय सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

(आधुनिक विश्व)

प्रथम खण्ड

(प्राचीन तथा मध्यकालीन विश्व)

प्राचीन विश्व

प्रथम अध्याय

पूर्व ऐतिहासिक सभ्यताओं का वर्णन

प्राक्कथन

पृथ्वी पर मनुष्य के रहन-सहन की कहानी बहुत पुरानी है। न जाने कितने युगों से यह पृथ्वी मनुष्य का निवासस्थान रही है। इतना अवश्य विदित है कि प्रारम्भिक काल में मनुष्य की कठिनाइयों का वारापार न था। उसे पग पग पर प्रकृति के साथ संघर्ष करना पड़ता था। इन्हीं संघर्षों से गुज़र कर मानव सभ्यता आज अपने इस रूप में आ पाई है। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक संघर्ष से गुजरने के बाद मानव सभ्यता अधिकाधिक उन्नत तथा परिष्कृत होती जाती थी। इन्हीं संघर्षों की कहानी जानना और सभ्यता की प्रगति में उनका वास्तविक मूल्य कूतना इन पृष्ठों का मुख्य उद्देश्य है।

पृथ्वी पर मानव जीवन किस प्रकार प्रारम्भ हुआ और किस प्रकार मनुष्य ने सामाजिक जीवन व्यतीत करना सीखा यह विषय विवाद ग्रस्त है। प्रारम्भ में हमारी पृथ्वी इतनी तापमय थी कि उस पर किसी भी प्रकार का जीवन असम्भव था। कालान्तर में पृथ्वी के ठंडे होने पर उस पर जीवधारियों का रहना सम्भव हो गया। अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी पर रहने वाले सर्व प्रथम जीवधारी पनीले जन्तु थे, जिनमें हड्डी का नाम न था। अनेक अवस्थाओं से गुज़रने के बाद मछलियों का जन्म हुआ। उस समय के जीवधारियों के विषय में हमारी जानकारी उन अवशिष्ट तत्वों पर अवलम्बित है जो हमें यथास्थान मिले हैं। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गुज़रने का क्रम कई सहायक कारणों से सफल हो सका। जलवायु अब अधिकाधिक अनुकूल हो गया था। स्वयं जीवधारी भी परिस्थति के अनुसार अपने को ढालने लगे थे। इससे सिद्ध होता है कि परिस्थिति के अनुसार अपने को योग्य बनाने की क्षमता प्रत्येक समय मानव स्वभाव में रही है और यही उसकी उन्नति का मूल मंत्र रहा है। मानव जीवन का प्रकृति के साथ सदैव संघर्ष रहा है और

इस संघर्ष में वे ही सफल होते आये हैं जो शरीर तथा बुद्धि से पूर्णतया योग्य हों। अयोग्य तो इस संघर्ष में शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। यही दशा उस युग के जीवधारियों की हुई। जो भी जीव-जन्तु इस संघर्ष में सफल होता गया उसी का परिष्कृत रूप मानवीय सभ्यता के सम्मुख आता गया। आगे के पृष्ठों में इसी विकास का वर्णन है यद्यपि इस वर्णन में ऐतिहासिकता के स्थान पर कल्पना से अधिक काम लिया गया है।

पहिले कहा जा चुका है कि मछलियों की अवस्था सभ्यता के विकास की दूसरी अवस्था थी। इसमें भी परिवर्तन होने के पश्चात् तीसरी अवस्था स्थल पर रहने वाले जीवधारियों की थी। इस युग में पौधे अधिक संख्या में पृथ्वी पर दिखलाई पड़ने लगे। बड़े बड़े जंगल भी उसी युग में उगे थे जिनके अवशिष्ट चिह्न पत्थर के कोयले के रूप में आजकल भी हमें मिलते हैं। तत्पश्चात् पेट के बल रेंगने वाले जीव-जन्तुओं का जन्म इस पृथ्वी पर हुआ। इनका उत्पादन तथा वृद्धि अण्डों द्वारा होती थी। इन्हें हम अपने युग के साँप, छछूँदर, कछुवे आदि के पूर्वज कह सकते हैं। इनमें से कुछ तो बहुत ही बड़े आकार के थे। कोई कोई तो ८० फ़ीट या इससे भी अधिक १०० फीट तक लम्बे थे। अनुमान लगाया जाता है कि ये जीव-जन्तु आज से लगभग ८ करोड़ वर्ष पहिले रहे होंगे।

पेट के बल रेंगने वाले जन्तुओं के पश्चात् आकाश में उड़ने वाली चिड़ियों का जन्म हुआ। इनके पश्चात् वे जीवधारी आये जो अण्डों के स्थान पर शिशु के रूप में माता के गर्भ से उत्पन्न होते थे। इस समय पृथ्वी पर घास भी उगने लगी। ये जीव घास पर जीवित रहते थे, अथवा मांस खा कर जीवन-निर्वाह करते थे। इन जीवधारियों की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। इनमें मस्तिष्क का विकास होने लगा। इसका एक कारण यह भी था कि ये अपने बच्चों को दूध पिलाते थे और इस प्रकार इनमें अनुकरण की प्रवृत्ति तथा पारस्परिक सहानुभूति की भावना का उदय हुआ। इन जीवधारियों के भी कई प्रकार थे। कालान्तर में इनमें भी विकास होता गया और इनके भिन्न भिन्न अवस्थाओं से गुजरने के पश्चात् लंगूरों का जन्म हुआ, जिनके हमारी ही तरह के जबड़े थे। वर्तमान मनुष्य के पूर्वज लंगूर की आकृति वाले मनुष्य थे। यह भी सम्भव है कि गुरिल्ला तथा शिम्पांजी की आकृति से मिलने जुलने वाले ही हमारे पूर्वज हों क्योंकि इनमें भी तो मनुष्य की सी बहुत सी प्रवृत्तियाँ और साहश्यताएँ हैं। इंगलैण्ड में ससेक्स प्रान्त के अन्तर्गत पिल्ट

डाउन स्थान पर तथा जर्मनी में हीडलबर्ग स्थान पर ऐसी वस्तुओं के अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उन वस्तुओं का प्रयोग करने वाले मनुष्य ही वर्तमान् मनुष्य के पूर्वज थे। ये लोग एक ही स्थान पर स्थिर न रहकर शिकार की तलाश में इधर उधर घूमा करते थे। इसके भी पश्चात् और आज से लगभग ५० हजार वर्ष पहिले पृथ्वी पर ऐसे मनुष्य रहने लगे जिन्हें नीनडरथाल कहते है। ये लोग नीनडरथाल नामक घाटी में जर्मनी में रहते थे, क्योंकि वहीं से इनके अवशिष्ट अंश मिले हैं। ये लोग झुक सकते थे परन्तु मनुष्य के समान सीधे खड़े नहीं हो सकते थे। ये लोग गुफाओं में रहते थे। इनकी आकृति लंगूरों की सी था किन्तु लंगूरों की अपेक्षा ये लोग अधिक समझदार थे। सम्भवतः अग्नि का प्रयोग भी ये लोग जानते थे जिसका अर्थ हुआ कि सभ्यता में इन्होंने पर्याप्त प्रगति कर ली थी। ये लोग नदियों के समीप रहा करते थे, क्योंकि पानी लाने के लिए इनके पास बर्तन नही थे। इनका भोजन माँस था, जिसे वे लकड़ी तथा पत्थर के हथियार बनाकर पशुओं को मारकर प्राप्त करते थे। इन लोगों में संगठित जीवन का प्रारम्भिक रूप पाया जाता है। उनके छोटे छोटे गिरोह होते थे, जिनके नेता शक्तिशाली पुरुष होते थे। इनका विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् भी मृतक की आत्मा को भोजन की आवश्यकता होती है अतएव ये लोग मृतक के शरीर के साथ भोज्य पदार्थ तथा औजार आदि रख दिया करते थे।

ये पूर्व पाषाण काल के व्यक्ति थे और इनका काल आज से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व रहा होगा।

पाषाण काल

इस काल के लोग खुली जगहों में रहते थे। शिकार खेलना उनके निर्वाह का साधन था। दूध के लिए पशु पालन इन्हें न आता था। सवारी के लिए घोड़े को वे लोग रखते थे। चित्रकला भी उन्हें आती थी। गुफाओं की दीवारों पर बहुत से चित्र उन्होंने खींचे थे जिनके चिह्न अब भी मिलते हैं। वे लोग मुर्दों को ज़मीन में गाड़ते थे। पत्थर के टुकड़ों को पैना कर औज़ार या हथियार की तरह काम में लाते थे। अनाज अथवा शाक का उगाना वे लोग नहीं जानते थे। मकान बनाना या डेरे लगाना भी उन्हें न आता था। खाल के बने हुए उनके वस्त्र होते थे। हड्डियों की सुई बनाकर इन खालों को वे लोग सी लिया करते थे। लगभग २० हज़ार वर्ष तक ये लोग योरुप तथा एशिया के घास के मैदानों में रहते रहे। सम्भवतः जब शिकार के जानवर

कम होने लगे या उनसे अधिक सभ्य जातियाँ प्रगट होने लगीं तो या तो परिस्थिति के अनुसार अपनी दशा में परिवर्तन कर ये लोग नई जातियों में मिल-जुल गये अथवा इनका अन्त ही हो गया।

नवीन पाषाण काल

पूर्व पाषाण काल के पश्चात् नवीन पाषाण काल का उदय हुआ। योरुप में यह काल आज से १० या १२ हजार वर्ष पूर्व रहा होगा क्योंकि यारुप में ये लोग दक्षिण अथवा दक्षिण-पूर्व से आये थे। इनकी सभ्यता के मुख्य चिह्न ये हैं :—

(१) पहिले पत्थर के औजारों के स्थान पर अधिक चिकने पत्थर के औज़ार। इससे उनका पूर्व पाषाण काल के व्यक्तियों से अधिक सभ्य होना सिद्ध होता है।

(२) कृषि करना तथा शाक अनाज का अपने उपयोग के लिए उत्पन्न करना।

(३) भोजन पकाने के लिए मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग।

(४) कुत्ते तथा अन्य पालतू पशुओं का पालन।

(५) बुनना।

सभ्यता में इतने उन्नत होते हुए भी ये लोग पूर्व पाषाण काल के व्यक्तियों जैसे कुशल चित्रकार न थे। स्वर्ण तथा ताम्र का उपयोग भी ये लोग जानते थे। तत्पश्चात् जस्ते तथा टिन का प्रयोग भी उन्होंने जान लिया। इस सब से पश्चात् आज से लगभग ५ हजार वर्ष पहिले उन्होंने लोहे का प्रयोग भी जान लिया। इस काल के मनुष्य वर्तमान मानव जाति के वास्तविक पूर्वज हैं। ये लेनदेन भी करते थे किन्तु सिक्कों के अभाव में वस्तुओं की अदला-बदली किया करते थे। तारों की गति को जानकर वर्तमान ज्योतिष शास्त्र का भी प्रारम्भ उन्होंने कर दिया था।

कुछ विद्वानों की राय में पूर्व ऐतिहासिक काल का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए (१) पूर्व पाषाण काल (२) उत्तर पाषाण काल तथा (३) जस्ते का युग। किन्तु हमारे मत से इससे अधिक सुविधा इस प्रकार रहेगी। सर्व प्रथम पूर्व पाषाण काल जो काफी समय तक रहा, दूसरा उत्तर पाषाण काल जो पहिले की अपेक्षा कम समय तक रहा और तीसरा कृषि काल जो आज तक मौजूद है। इस तीसरे काल में भिन्न भिन्न धातुओं का

उपयोग हुआ किन्तु यह उपयोग हुआ केवल कृषि की उन्नति के लिये केवल धातु का उपयोग करना उनका प्रयोजन न था।

इसके अतिरिक्त यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि संसार के भिन्न भिन्न भागो मे पाषाण कालीन सभ्यता भिन्न भिन्न समयो में अलग अलग उन्नति कर रही थी और सब देशो मे उन्नति का क्रम एक सा ही न था।

मनुष्य का भिन्न भिन्न जातियों में विभक्त होना

उत्तर पाषाण काल के पश्चात् मानव जाति भिन्न भिन्न जातियों में विभक्त होने लगी। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या इससे पहिले मानव जाति भिन्न जातियो में विभक्त न थी ? बात यह है कि इस काल से पहिले मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमता फिरता था। यह भी सम्भव था कि वह पैदा तो अफ्रीका में हो और मरे योरुप में। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का विभिन्न जातियों मे बँटना असम्भव था। परन्तु समय बीतने पर उसका जातियो मे बँटना स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार मानव जाति भिन्न जातियों में विभक्त हुई। कालान्तर मे प्रत्येक जाति की विशेषताएँ अलग अलग हो गई। संसार की मुख्य मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं—

(१) उत्तरी काकेशियन जाति

इस जाति के लोग भूमध्य सागरीय प्रदेश तथा यूरुप में पाये जाते है। ये लोग आर्य्य जाति के थे और आर्य्य भाषाएँ बोलते थे। लैटिन, ग्रीक तथा संस्कृत भाषाएँ इनकी ही प्रारम्भिक भाषा से निकली हैं। इनका रंग गोरा, कद लम्बा तथा शरीर बलिष्ठ होता था।

(२) दक्षिणी काकेशियन जाति

इस जाति के लोग उत्तरी काकेशिया और हब्शी लोगों के मध्य में रहते हैं। इन्हे सैमिटिक जाति के भी कहा जाता है। हिब्रू, अरबी तथा अबीसीनिया की भाषा इस जाति के लोगों की भाषाएँ हैं।

(३) मंगोल जाति

इस जाति के लोग एशिया तथा योरुप दोनों महाद्वीपों में पाये जाते हैं। पीला रंग, सीधे खड़े काले बाल, गाल की हड्डियाँ उभरी हुई आदि इन लोगों की बनावट की विशेषताएँ हैं। चीन जापान के निवासी, एस्किमो तथा अमेरिका के रेड इण्डियन इसी जाति के हैं।

(४) हब्शी जाति

काले रंग और चपटी नाक वाले ये लोग दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त और भी छोटी छोटी जातियों के मनुष्य संसार में पाये जाते हैं। किन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि संसार के किसी भी भाग के मनुष्य अपनी जातीय पवित्रता को कायम नहीं रख सके हैं। पारस्परिक सम्पर्क तथा अन्तर्जातीय विवाह आदि के कारण जातीय पवित्रता कठिन ही नहीं असम्भव है।

जातियों में इस प्रकार बँटने के अतिरिक्त सभ्यता के इतिहास में और भी कई अवस्थाएँ हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सभ्यता कई अवस्थाओं से गुज़रने के पश्चात् अपने वर्तमान रूप में आ पाई है। ऊपर पाषाण युग की सभ्यता का वर्णन है। इसके पश्चात् जो युग सभ्यता के निवास में आया उसे नदी कालीन सभ्यताओं का युग कहा जाता है। नदी की घाटियों में वे सब वस्तुएँ सुगमता से मिल जाती थीं जो मनुष्य के रहन सहन के लिये आवश्यक हैं। भोजन, मकान बनाने योग्य मिट्टी और जल। ये तीन आवश्यकताएँ मनुष्य को नदी की घाटियों में मिल सकती थीं इसी कारण नदी की घाटियाँ सभ्यता के लिये प्रसिद्ध हो गईं। तत्पश्चात् समुद्र कालीन सभ्यताओं का युग आया। भूमध्य सागरीय प्रदेश अपने व्यापार के कारण संसार में प्रसिद्ध हुए। समुद्र कालीन सभ्यताओं के पश्चात् महासागरीय सभ्यताओं का युग आया। महासागरों का पार करना मशीन से चलने वाले जहाज़ों द्वारा सम्भव हो गया। जिन देशों के पास विशाल जहाज़ी बेड़ा था वे उपनिवेश तथा साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। किन्तु वर्तमान युग ने पिछले सब आविष्कारों तथा उन्नतियों को पछाड़ दिया है। हवाई जहाज़ों के आविष्कार से वे देश आज बलशाली हैं जिनके पास हवाई जहाज़ प्रचुर संख्या में हैं। इस प्रकार सभ्यता कई अवस्थाओं से गुज़रने के पश्चात् अपने वर्तमान रूप में आ पाई है। आगे के पृष्ठों में सब से पहिले नदी कालीन सभ्यताओं का वर्णन है। तत्पश्चात् समुद्रकालीन सभ्यताओं का।

दूसरा अध्याय

दजला-फरात की घाटी की सभ्यता

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में हमने उत्तर पाषाण काल तक की सभ्यता का वर्णन किया था। हमने यह भी बताया था कि प्रकृति के साथ संघर्ष करने में मनुष्य को प्राचीन काल में भारी आपत्तियाँ उठानी पड़ीं किन्तु अपने अनुभव के आधार पर वह अधिकाधिक समझदार होता जाता था। जहाँ सुगमता से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी वही स्थान उसके निवास स्थान बनते जाते थे। उसकी सर्वप्रथम आवश्यकता थी जल, दूसरी मकान बनाने योग्य मिट्टी तथा तीसरी भोज्य पदार्थों की प्रचुरता। जिन जिन स्थानों पर ये वस्तुएँ आसानी से मिल जाती थीं, वे ही स्थान सर्वप्रथम सभ्यता के केन्द्र बने। उत्तर पाषाण काल में मनुष्य ने एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना छोड़कर घर बनाकर रहना सीख लिया। पशुओं को भी वह खेती बाड़ी तथा घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पालने लगा। इस प्रकार सभ्यता की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उन्नति होती गई। पहली अवस्था थी भ्रमणशील मनुष्य की। दूसरी थी जलवर्ती स्थानों के पास घर बनाकर बसने की। इसे हम नदी कालीन सभ्यता भी कह सकते हैं। इस काल में नदियों की घाटियों में सर्वप्रथम सामाजिक जीवन का सूत्रपात हुआ। मनुष्य घर बनाकर रहने लगे। पशु पालन तथा कृषि भी उन्होंने सीख लिया। बड़े बड़े शहर तथा गाँव भी नदियों के किनारे बसने लगे। आज भी हम देखते हैं कि प्रायः सभी देशों के प्राचीन मुख्य नगर नदियों के किनारों पर बसे हैं। काशी, प्रयाग, काहिरा, पाटलिपुत्र, मथुरा आदि स्थान नदियों के तट पर बसे थे। इन नगरों ने सभ्यता की उन्नति में भारी सहयोग दिया। इस अध्याय में हम दजला फरात की घाटी की सभ्यता का वर्णन करेंगे। यह नदी कालीन सभ्यताओं में सब से प्राचीन समझी जाती है।

जैसा कहा जा चुका है, सभ्यता की उन्नति में तीन वस्तुएँ सहायक होती हैं। प्रथम जल, जिससे सुगमता से फसल पैदा की जा सके। दूसरी मकान बनाने योग्य मिट्टी और तीसरी प्रचुर-मात्रा में भोज्य पदार्थ। इन तीनों आवश्यकताओं की पूर्ति दजला और फरात की घाटियों में हो जाती थी। सुगमता

से मिट्टी की ईंटें बनाई जा सकती थी और फसल भी प्रत्येक वर्ष अच्छी होती थी। गेहूँ उत्पन्न करने वाले सर्व प्रथम यहीं के निवासी रहे होंगे क्योंकि इसी स्थान पर यह जंगली रूप में उगा हुआ पाया गया था। इस देश के सर्व प्रथम निवासी सुमेरियन थे। कालान्तर में सुमेरियनों को बेबीलोनवासियों ने जीत लिया और समस्त देश का नाम बेबीलोनिया रख दिया। बेबीलोनियावासियों के हाथ से राजनीतिक सत्ता निकल कर असीरिया निवासियों के हाथों आई। इस प्रकार इस प्रदेश की सभ्यता सुमेरियनों, बेबीलोनवासियों तथा असीरिया-वासियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के परिणाम स्वरूप उन्नत हुई है। दजला फरात की घाटी के प्रदेश को आजकल इराक़ कहा जाता है।

इस स्थान पर प्राचीन सभ्यता के खण्डहर ज़मीन के अन्दर से अंग्रेजी इतिहासकार लायरड द्वारा सन् १८४२ ई० में निकाले गये थे। इन खण्डहरों से ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जिनके आधार पर इस देश का इतिहास लिखने में हमें काफी सहायता मिली है। यहाँ की सभ्यता में बाह्य आक्रमणों के कारण अनेक परिवर्तन हुए हैं। आगे के पृष्ठों में सब से पहिले यहाँ के इतिहास का वर्णन किया जायगा, तत्पश्चात् यहाँ की सभ्यता और संस्कृति का।

सुमेरिया का इतिहास (४५०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक)

ऊपर कहा जा चुका है कि इस स्थान के सर्व प्रथम निवासी सुमेरियन कहलाते थे। इन लोगों ने ६००० ई० पू० में नगर राज्य स्थापित किये थे। इनका मुख्य शहर निप्पड़ था। निप्पड़ में प्राप्त खण्डहरों से पता चलता है कि इस सभ्यता का जन्म ६००० ई० पू० से भी पहिले हुआ होगा। निप्पड़ में यहाँ वालों ने अपने देवता की स्मृति में एक विशाल स्तम्भ बनवाया। उस देवता का नाम एनलिल था। इनका राज्य छोटे छोटे नगर राज्यों में बँटा हुआ था और भिन्न भिन्न राज्यों में पारस्परिक युद्ध होते रहते थे। लड़ाई के समय सिपाही लम्बे भालों और ढालों का प्रयोग करते थे। प्रथम श्रेणी में उच्च वर्ग के लोग थे जो भूमि के मालिक थे और गुलामों से काम लेते थे। पुजारी लोग भी इसी वर्ग के अन्तर्गत थे। दूसरी श्रेणी मध्यम लोगों की थी और तीसरी श्रेणी गुलामों की थी जिनका काम पहिले दो वर्गों की सेवा करना था। पुजारियों का काफ़ी सम्मान था। इनका सर्व प्रथम राज्य ऐरेक नामक शहर में स्थापित हुआ था। निप्पड़ में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह साम्राज्य फारस की खाड़ी से भूमध्य सागर तथा लाल सागर तक फैला हुआ था। सुमेरिया का साम्राज्य लगभग २७५० ई० पू० में एकेडियन जाति द्वारा नष्ट हो गया। यह

साम्राज्य दो शताब्दियों तक रहा और इसे सुमेरिया-एकेडिया-साम्राज्य कहते हैं। दोनों जातियों के सम्मिश्रण से सभ्यता तथा कला कौशल की काफी उन्नति हुई। एक जाति ने दूसरी से बहुत सी बातें सीखीं। इस साम्राज्य के नष्ट होने पर दूसरी सेमीटिक जातियाँ इस प्रदेश में आने लगी।

बेबीलोन का इतिहास (१९०० ई० पू०, १६०० ई० पू०, ५३९ ई० पू०)

इस सभ्यता का दूसरा युग बेबीलोन की प्रभुता का है। इसकी स्थापना लगभग २३२० वर्ष ई० पू० में हुई थी। हम्मूरावी जिसका काल २१०० वर्ष ई० पू० निर्धारित हुआ है, इस वंश का सब से बड़ा राजा था। देश धन-धान्य से पूर्ण था। ऊनी कपड़ा तैयार करना यहाँ के निवासियों का मुख्य व्यवसाय था। यह सामान यहाँ से संसार के भिन्न भिन्न भागों को जाता था। बेबीलोन की सभ्यता अपनी कई विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध थी। प्राचीन निवासियों में शायद सर्व प्रथम यहीं विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए स्कूल थे। विद्यार्थी नर्म चिकनी मिट्टी की बनी हुई स्लेटों पर लिखते थे। चूंकि ये लोग वर्णमाला के प्रयोग को नहीं जानते थे इसलिये प्रत्येक अक्षर के स्थान पर संकेतों से काम लिया जाता था। इस प्रकार लिखना उन लोगों के लिए बहुत कठिन कार्य था और उसके लिए उन्हें अधिक प्रयत्न करना पड़ता था। लेखकों का समाज में सम्मानित स्थान था। यह बात इस कथन से ज्ञात होती है, "जो लिखने में सिद्धहस्त हैं वे सूर्य की नाईं चमकेंगे।" यह कथन प्राचीन स्कूल की एक दीवार पर अंकित हुआ मिला है। इसके खण्डहर फ्रांस के एक विद्वान् द्वारा १८९४ ई० में जमीन के नीचे से खोदकर निकाले गये थे। इसका विस्तार ५५ फीट वर्ग था। विश्व में यह पहिला ही विद्यालय समझा जाता है।

असीरिया का इतिहास (१२०० ई० पू० से ६१२ ई० पू० तक)

लगभग ११०० वर्ष ई० पू० में असीरिया निवासियों ने बेबीलोन की प्रभुता नष्ट कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। ये लोग सेमीटिक जाति के थे। इनके प्रसिद्ध शहर आसुर और निनीवे थे। निनीवे प्राचीन काल का एक प्रसिद्ध शहर था और इस साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट सेनकिरेब के समय इस शहर ने काफी उन्नति कर ली थी और करीब दो सौ वर्ष तक यह प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र रहा। यहाँ का पुस्तकालय संसार भर में प्रसिद्ध था।

७४५ वर्ष ई० पू० में टिगलाथ पिलजर तृतीय असीरिया का राजा हुआ। वस्तुतः यही इस राज्य का संस्थापक था। इसने बेबीलोन तथा दमिश्क को

जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। कुछ समय बाद सारगन द्वितीय इस देश का शासक हुआ। वह और उसका पुत्र सेनकेरिब प्रसिद्ध विजेता तथा भवन-निर्माता थे। इन दोनों के काल में यह प्रदेश अपने गौरव की चरम सीमा तक पहुँच गया। सारगन द्वितीय ने सारगनबर्ग स्थान पर, जो निनीवे के उत्तर-पूर्व में स्थित था, एक विशाल भवन निर्माण कराया जो २५ एकड़ भूमि पर आबाद था और जिसमें ८०,००० व्यक्ति रह सकते थे। सेनकेरिब के समय निनीवे पश्चिमी एशिया का सर्वप्रथम शहर हो गया।

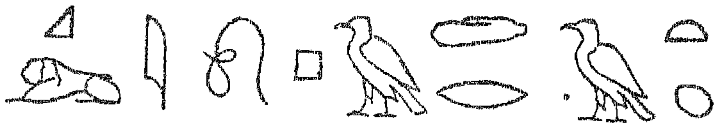
असीरिया का साम्राज्य सैनिक शक्ति के आधार पर स्थापित किया गया था। इसकी सेना के सिपाही तीर और भालों का प्रयोग करते थे। वहाँ के सिपाही अपनी बर्बरता के लिए प्रसिद्ध थे। जहाँ भी वे जाते थे भवनों को उजाड़ते थे, नर-मुण्डों के स्तूप तैयार कराते थे और देश-द्रोहियों को जीवित खालों में बन्द करा देते थे। विजित देशों के निवासी भारी करों के भार से दबे जाते थे। अन्त में सेनकेरिब ने मिस्र को जीतने का निश्चय किया। किन्तु महामारी के कारण उसका मनोरथ सिद्ध न हो सका। उसका मनोरथ उसके पौत्र असुर बनीपाल ने पूरा किया। यह असीरिया का अन्तिम महान सम्राट् था। इसने निनीवे में एक प्रसिद्ध पुस्तकालय खुलवाया जिसमें २२०,००० मिट्टी की स्लेटों पर लिखित पुस्तकें थीं।

विजेता तथा बर्बर होने पर भी असीरिया के सम्राट् सभ्यता की उन्नति में सहयोग देते थे। वास्तु विद्या में उन्होंने काफी उन्नति की। उनके खण्डहरों से ऐसे साँडों के चिह्न मिले हैं जिनके ऊपर मनुष्य का सिर स्थित है। किन्तु उनकी सभ्यता दूसरों की नकल थी। मिस्र से उन्होंने ईंटों पर रंग कराना सीखा। हाथी दाँत का प्रयोग भी वहीं से सीखा गया। कपास उगाना उन्होंने भारत से सीखा।

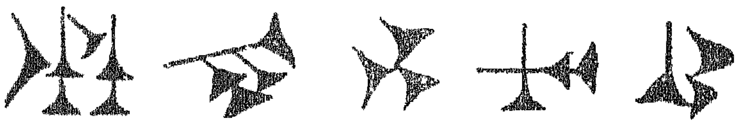
कैल्डिया का इतिहास (५२९ ई० पू०)

मानव सभ्यता के इतिहास से यह बात भली-भाँति सिद्ध होती है कि जो तलवार के बल पर कायम रहते हैं, वे तलवार द्वारा ही जीत लिए जाते हैं। ६१२ वर्ष ई० पू० में मीडों और कैल्डिया के निवासियों ने मिलकर निनीवे पर आक्रमण किया और इस फलते फूलते शहर को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। यहीं से कैल्डिया का राज्य प्रारम्भ होता है। इस वंश का सब से प्रसिद्ध सम्राट् नेबूकडनेज़र था। इसने सन् ६०४ से ५६१ ई० पू० तक राज्य किया। बेबीलोन इसकी राजधानी थी। इस शहर को इस सम्राट् ने गौरव की ऊँची चोटी

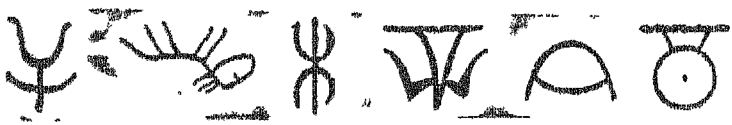
प्राचीन संसार की लेखन कला



मिस्र



ऐसिरियन



चीनी



फोयनिशन



मोहेंन जोदड़ो

तक पहुँचा दिया। राजकीय भवनों की छतों पर जो बाग लगवाये गये वे संसार के सात आश्चर्यों में से एक समझे जाते हैं। ज्योतिष विद्या में भी उन्होंने असाधारण उन्नति की और इस विद्या द्वारा उन्होंने आगामी वर्ष के सूर्य तथा चन्द्रग्रहण का समय भी जान लिया। उनके देवताओं में इश्तर जो प्रेम का प्रतीक था बाद में रोमन लोगों द्वारा वीनस नाम से पुकारा जाने लगा। उन्होंने वाणिज्य और व्यवसाय में भी पर्याप्त उन्नति की। कला और साहित्य की ओर भी पूरा पूरा ध्यान दिया गया। इस प्रकार एक क्षणिक प्रकाशमान नक्षत्र की तरह यह सभ्यता चमकी। सन् ५३६ ई० पू० में सोरस महान् के नेतृत्व में ईरान वासियों तथा मीडों द्वारा यह सभ्यता नष्ट हो गई और सदा के लिए भूगर्भ में विलीन हो गई।

ईराक़ (मेसोपोटामिया) की सभ्यता का अवलोकन

इस देश का प्राचीन इतिहास देखते समय हमें ज्ञात हुआ था कि इस देश की सभ्यता सुमेरिया, बेबीलोन, असीरिया तथा खैल्डिया के पारस्परिक सहयोग से ही उन्नति के शिखर पर पहुँची थी। सुमेरिया वाले इस देश के सब से प्राचीन निवासी थे। उनका मुख्य उद्देश्य खेती की उन्नति करना था। इसके लिए उन्होंने नहरें निकालीं तथा बाँध बनवाये। गेहूँ और जौ की कृषि की। वे भेड़, बकरी तथा गधे पालते थे। किन्तु घोड़े के उपयोग से अपरिचित थे। उनके वस्त्र ऊन के होते थे। उनमें सिर मुड़ाने का रिवाज था। भिन्न भिन्न प्रकार के फल तथा शाक भी उत्पन्न करना उन्हें आता था। राजा, धनिक लोग तथा पुजारी लोग भड़कीली पोशाक पहनते थे जब कि छोटी श्रेणी के लोग सादा वस्त्र पहनते थे। वे धातु की सुन्दर वस्तुएँ ढालना जानते थे। बाद में सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल आदि के आभूषण बनाना भी उन्होंने सीख लिया।

लेखन-कला

लेखन-कला का आविष्कार भी सब से पहिले यहीं हुआ था। वे मुलायम मिट्टी पर सरकण्डे की कलम से लिखा करते थे। सूखने पर यह काफ़ी कड़ा हो जाता था। उनका सब से पहला लेख चित्रों की सहायता से हुआ था। वर्णमाला के अभाव में वे प्रत्येक शब्द-समूह को व्यक्त करने के लिए संकेत बना लिया करते थे। इस प्रकार 'जल' शब्द को प्रकट करने के लिए कोई चिह्न बना लिया था—'ज' और 'ल' दो अक्षर नहीं। यह लिपि टेढ़े-मेढ़े रूप में लिखे जाने के कारण टेढ़ी-मेढ़ी लिपि कहलाती थी। काग़ज़ का प्रयोग उन्हें न आता था। उनकी पुस्तकें और स्मरणीय बातें मिट्टी के बर्तनों पर अंकित कर दी जाती थीं।

साहित्य तथा न्याय विधान

लेखन-कला का आविष्कार होने से साहित्य की उन्नति में बड़ी सहायता मिली। कानून तथा राजकीय आज्ञाएँ कच्ची ईंटों पर अंकित थीं। प्राचीन सुमेरिया में मुहरों का काफी प्रयोग होता था। पत्थरों पर ये मुहरें खुदवाई जाती थीं और राजा उन्हें उस दस्तावेज़ पर लगा देता था जिसे वह स्वीकृत करता था। ऐसी बहुत सी मुहरें तथा कच्ची मिट्टी पर लिखी हुई पुस्तकें हमें प्राचीन खण्डहरों से प्राप्त हुई हैं। इनमें से बहुत सी पुस्तकें लन्दन के संग्रहालय में मौजूद हैं। सुमेरिया के बाद बेबीलोन तथा एकेडियावासियों ने इस साहित्यिक परम्परा को जारी रक्खा। उनके समय की भी बहुत सी वस्तुएँ मिली हैं, जिनके साहित्य का पता चलता है। बेबीलोन के प्रसिद्ध सम्राट् हमूराबी ने उस समय के प्रचलित कानूनों का संग्रह कराया और उन्हें नियमबद्ध किया। आठ फीट ऊँचे प्रस्तर-खण्ड पर ये नियम खुदवाये गये। एक प्रस्तर-खण्ड पर यह सम्राट् सूर्य देवता से कानून प्राप्त करता हुआ दिखलाया गया है। यह कानून सैमिटिक भाषा में अंकित हैं। यह संग्रह इस बात का द्योतक है कि राजा किस प्रकार न्यायप्रिय और बुद्धिमान् होते थे और कानून को किस प्रकार व्यापक बना पाते थे। इसमें छोटे से छोटे जुर्म का भी विवरण उसमें दिया गया था। कानून तोड़ने वालों को विशेष अदालतों के सामने भेजा जाता था। राजा के यहाँ सब मामलों की अपील हो सकती थी। इनके अतिरिक्त कुछ भाग तो अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। जैसे एक स्थान पर लिखा है कि न्याय प्राप्त करने का अधिकार निर्धनों, विधवाओं तथा अनाथों तक को है। इन कानूनों की कुछ बातें हमें बड़ी असंगत मालूम पड़ती हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि यदि किसी मालिक मकान का पुत्र मकान के गिरने से मर जाता है तो मालिक मकान को अधिकार होगा कि उस मकान के बनाने वाले के पुत्र को राज्य द्वारा मृत्यु-दण्ड दिलवा दे। इस कानून से उस समय की मनोवृत्ति का पता चलता है, जब शारीरिक हानि करने वाले को वैसा ही शारीरिक हानि का दण्ड मिलता था। हमूराबी के समय के अन्य अवशिष्ट चिह्न जो मिले हैं उनसे कई बातें ज्ञात होती हैं। इस राजा ने कर वसूल करने के लिए कई आवश्यक हिदायतें अपने कर्मचारियों के नाम जारी की थीं। रिश्वतखोरी दूर करने के लिए आदेश जारी किये थे।

निनीवे के वैभव का वर्णन करते समय हमने उसके पुस्तकालय का वर्णन किया है। प्राचीन काल का यह बहुत बड़ा पुस्तकालय था और इसमें

साहित्य, धर्म तथा विज्ञान की अमूल्य पुस्तकों (मिट्टी पर अङ्कित) का संग्रह था।

कला-कौशल

मेसोपोटामिया के निवासी कला-कौशल में इतनी उन्नति न कर सके जितनी मिस्र निवासियों ने की थी। यहाँ तक कि वे नकल करने में भी उतने प्रवीण न थे। यद्यपि व्यावहारिक योग्यता में वे पर्याप्त रूप में कुशल थे तथापि वे ललित-कलाओं में इतने दक्ष न थे। असीरिया की वास्तु विद्या बेबीलोन निवासियों की अपेक्षा अधिक उन्नत थी। ईंट बनाना यहाँ की विशेष कला थी। अधिकांश इमारतें कच्ची ईंटों की बनी हैं यद्यपि मन्दिरों तथा राजप्रासादों में पत्थर का प्रयोग किया गया है। बेबीलोन तथा असीरिया के राजा भी मिश्र के सम्राटों की तरह अपने गौरव तथा वैभव को दिखाने के लिए उत्सुक थे और इसके लिए उन्होंने अनेक भवन बनवाए। उनके भवन विशाल अवश्य हैं किन्तु सुन्दर तथा टिकाऊ नहीं हैं। बेबीलोन निवासियों की अपेक्षा असीरिया के निवासी पत्थर की खुदाई के काम में अधिक कुशल थे। राजकीय भवनों की दीवारों पर युद्धों, जंगली जानवरों तथा विजित जातियों के कर देते समय के चित्र पत्थर पर अङ्कित हैं जो उच्च कोटि के समझे जाते हैं। पहिले खैल्डिया के सम्राट् का बेबीलोन को सुन्दर बनाने के प्रयत्नों का वर्णन किया जा चुका है। बेबीलोन के राजकीय भवनों की छतों पर लगाये गये उद्यान संसार के सात आश्चर्यों में से एक समझे जाते हैं। उस समय के पहियेदार रथों के देखने से ज्ञात होता है कि उन्हें लोहे का प्रयोग मालूम था और इनसे वे बहुत सी चीज़ें बनाते थे।

नगर-राज्य

अन्य प्राचीन जातियों की तरह सुमेरिया के निवासी भी नगर-राज्यों में बँटे हुए थे। प्रत्येक नगर-राज्य के अपने अलग अलग कानूनों के संग्रह थे। साम्राज्यों के स्थापित होने के पहिले प्रत्येक नगर राज्य स्वतन्त्र था। उसके देवी देवता, शासक तथा पुजारी भिन्न भिन्न थे। कभी कभी एक शहर दूसरे शहरों पर अपना आधिपत्य जमा लेता था। निप्पूर का एक प्राचीन शिला-लेख सुमेरिया के शहर इरेक (Erech) के साम्राज्य का निर्देश करता है। इसके शासक जो पुरोहित भी थे एक विशाल साम्राज्य पर शासन करते थे जो फारस की खाड़ी से लाल सागर तक फैला हुआ था। प्राचीन भारत की भाँति यहाँ का समाज भी वर्गों में बँटा था। पहिला वर्ग शासकों और पुरोहितों का था;

दूसरा मध्यम श्रेणी के लोगों का; तीसरा गुलामों का जिनका काम ज़मीन के मालिकों की तथा अन्य वर्गों की सेवा करना था। अन्य प्राचीन निवासियों की भाँति पुरोहित ही शासन का कार्य करता था। पुरोहित केवल धार्मिक जीवन का ही पथ-प्रदर्शक न था, वह राजनीतिक सत्ता का भी नियामक था। वह सभी नागरिकों का शासक था। शक्तिशाली राजा भी पुरोहितों तथा देवताओं को अप्रसन्न न कर सकते थे। प्रसिद्ध शासक हम्मूराबी ने भी अपनी घोषणाएँ देवताओं के परामर्श तथा आज्ञा से जारी की थी। इस प्रकार जब एक नगर दूसरे नगर को जीतता था तो वहाँ के देवताओं को भी अपने विजेताओं के अधीन हो जाना पड़ता था।

धर्म

ऊपर कहा जा चुका है कि पुरोहितों का प्रभुत्व उस समय के लोगों के जीवन पर बहुत अधिक था। बेबीलोन तथा असीरिया के निवासियों में धार्मिक मामलों में बहुत कम अन्तर था। मृत्यु पर्यन्त जीवन में उनका विश्वास न था। वे जादू टोनों में विश्वास करते थे। देवी-देवताओं के क्रोध को शान्त करने के लिए वे पशुओं का बलिदान भी करते थे। उन्होंने धार्मिक उत्सवों के लिये विशेष दिन नियत कर रक्खे थे। उनके कई देवी-देवता थे जिनमें मारडक मुख्य था। दूसरी देवी इश्तर थी जो आगे चलकर रोमन लोगों की वीनस हो गई। देवताओं की उपासना को भविष्य जानने का साधन समझा जाता था। उनका विश्वास था कि पुरोहित लोग बलिदान किये जाने वाले बकरे के हृदय पर अंकित रहस्य-मय चिह्नों को देखकर भविष्य की घटनाओं को जान जाते हैं। भविष्य जानने का दूसरा उपाय तारों की गति जानना और उनका फल जानना माना जाता था। कालान्तर में यह ज्ञान कैल्डिया के निवासियों द्वारा फलित ज्योतिष के रूप में परिणत हो गया। असीरिया निवासियों ने बेबीलोन की पवित्र धार्मिक गाथाओं को अपनाया और उनके देवताओं को भी अपने मन्दिरों में श्रद्धापूर्वक स्थान दिया। किन्तु उन्होंने अपने देवताओं को भी कायम रखा। इनमें से एक प्रसिद्ध और भयानक देवता असुर था जो युद्ध का देवता समझा जाता था और सूर्य के सदृश तेजस्वी था। एक कलाकार ने उसका चित्र पंखों वाले देवता जैसा बनाया है जिसके पंखों से जहरीले तीर शत्रुओं के ऊपर छोड़े जा रहे हैं। वहाँ के अन्तिम शासक कैल्डिया निवासियों ने भी पुराने देवताओं का सम्मान किया और उनके मन्दिरों को फिर से बनवाया।

उन्होंने फलित ज्योतिष द्वारा भविष्य का पता लगाने का भी प्रयत्न किया और इस ज्ञान में भी उन्हें काफी सफलता मिली।

उपसंहार

इस प्रकार दजला और फरात की घाटियों की यह सभ्यता जय तथा पराजय से टक्कर लेती हुई प्रगति की ओर बढ़ती रही। सुमेरिया के बाद बेबीलोन तत्पश्चात् असीरिया और फिर खैल्डिया ने अपने अपने नगर बसाये और उजाड़े—सभ्यता की उन्नति की तथा उजाड़ी किन्तु फिर भी पुराने उजड़े हुए स्थानों की जगह नए स्थान बसे और सभ्यता की उन्नति उत्तरोत्तर होती रही। कृपकों ने अपना व्यवसाय जारी रक्खा, भवननिर्माणकर्ता अपने कार्य में पूर्ववत् जुटे रहे, मनुष्य का मानसिक क्षितिज बढ़ा। समुद्र तथा मरुस्थल का व्यापार क्रमशः उन्नति करता गया और इस प्रकार यह सभ्यता नये लगाये वृक्ष की तरह उत्तरोत्तर बढ़ती रही—कभी पतझड़ में इसके पत्ते झड़ जाते थे, कभी तूफान के सम्मुख इसे झुकना भी पड़ता था—किन्तु उन्नति का क्रम फिर भी पूर्ववत् जारी था।

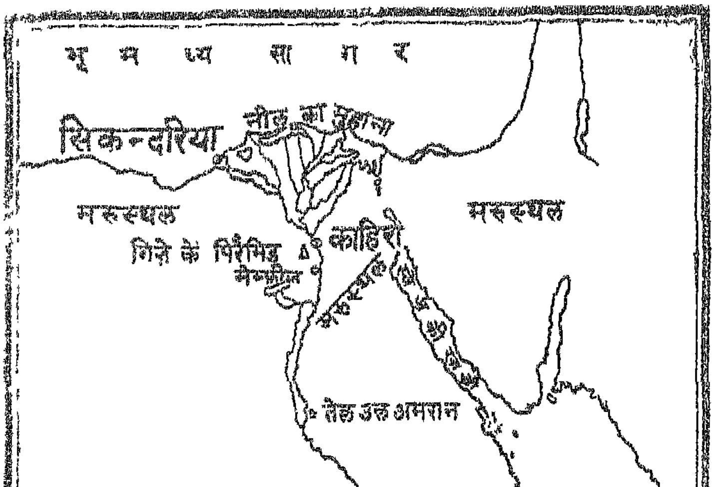
तीसरा अध्याय

प्राचीन सभ्यताएँ

मिस्र की सभ्यता

प्राक्कथन

नदी कालीन सभ्यता ने जिस दूसरे प्रदेश में उन्नति की वह था मिस्र। यहाँ की सभ्यता ईराक की सभ्यता के समकालीन थी। नील नदी की घाटी में इस सभ्यता ने आश्चर्यजनक उन्नति की। मिश्र के उत्तर में भूमध्यसागर, पूर्व में लालसागर, पश्चिम में रेगिस्तान तथा दक्षिण में असभ्य लोगों का निवास-स्थान होने के कारण वहाँ की सभ्यता विदेशियों के आक्रमण से सुरक्षित रही और इस प्रकार उसने निर्विघ्न होकर काफ़ी उन्नति कर ली। मिस्र को "नील नदी का दान" कहा जाता है। नील के जल से प्रत्येक समय फस्ल उगाकर अनाज पैदा किया जा सकता था। पशुओं के लिए चारा भी उगा लिया जाता था और मकान बनाने की भी सुविधा थी। लोग इस प्रकार सभ्यता की उन्नति में सहयोग देते रहे। यह सभ्यता कब से प्रारम्भ हुई इसका निश्चय करना असम्भव है। इतना अवश्य है कि ईराक (मेसोपोटामिया) बेबीलोन तथा असीरिया की सभ्यता की तरह यहाँ की सभ्यता भी बहुत अधिक प्राचीन है। इन सब सभ्यताओं के समकालीन होने से एक का दूसरी पर प्रभाव अवश्य रहा होगा यद्यपि इस विषय में विशेष जानकारी नहीं है। इतिहासकार फ्लीन्डरज़ पैट्री ने इस सभ्यता का काल ईसा से १०,००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। अन्य प्राचीन सभ्यताओं की तरह मिस्र में भी पूर्व और उत्तर पाषाण-काल रहे होंगे। ईसा से ५००० वर्ष पूर्व मिस्र में सभ्यता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। इस काल तक पहुँचते पहुँचते मिस्रवासियों ने मिट्टी के बर्तन बनाने सीख लिए थे। ताँबे का प्रयोग भी ये लोग जानते थे किन्तु कपड़ा बुनना इन्हें न आता था। अन्य प्राचीन निवासियों की भाँति ये लोग भी कृषि-कार्य में दक्ष थे। कृषि के लिए इन्हें नील नदी से पर्याप्त जल मिल जाता था। जैसे हिन्दुओं की गंगाजी में भारी श्रद्धा और भक्ति है, उसी प्रकार इन लोगों को भी नील नदी में भारी श्रद्धा और भक्ति थी। वे इसे देवता समझते थे और इसे मिस्र की उन्नति का मूल कारण समझकर इसकी उपासना करते थे। इसके


भूमध्य सागर
सिकन्दरिया
मरुस्थल
मरुस्थल
काहिरो
तेल उल अमरना
कारनाक
मरुस्थल
मिस्र
तथा
नील की घाटी

जल की सहायता से वे भिन्न भिन्न प्रकार के अनाज, फल और शाक-भाजी उगाते थे। जूट से मिलता जुलता एक प्रकार का पौधा होता था जिससे वे धीरे धीरे कपड़ा बनाना सीखने लगे थे। पेपीरस नामक पौधा जो जंगलों में उगता था अब प्रचुर मात्रा में उगाया जाने लगा और उसका प्रयोग कागज़ की तरह होने लगा। इस अध्याय में हम पहिले मिस्र का संक्षिप्त इतिहास देखेंगे और तत्पश्चात् वहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति पर एक दृष्टि डालेंगे।

संक्षिप्त इतिहास (पिरेमिड काल)

मिस्र के राजाओं को बहुत से वंशों में बाँटा जाता है। इन वंशों को क्रमानुसार प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि नामों से पुकारा जाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर सिकन्दर महान् के आक्रमण (३३२ ई० पू०) तक ३१ वंशों ने यहाँ राज्य किया। सब से पहिला काल "प्राचीन राजवंश" का काल था जिसके बाद चौथे वंश की स्थापना हुई। इस काल के राजाओं, विशेषतया चापस तथा चैफरन ने धन-धान्य की वृद्धि की और अपने ऐश्वर्य और वैभव को प्रकट करने के लिए पिरेमिडों को बनवाया, जिससे यह काल "पिरेमिड काल" कहलाता है। वे विशाल प्रस्तर समूह (एक पिरेमिड की ऊँचाई ४५० फीट और एक भुजा ७०० फीट है। एक इंजीनियर के अनुमान से इसका वजन ४८८३००० टन है।) गुलामों द्वारा रेगिस्तानों को पार कर यहाँ एकत्रित किये गये थे। विज्ञान तथा इंजीनियरिंग के अभाव में कैसे इतने भारी पत्थर यहाँ लाए गये यह बात दर्शक को विस्मय तथा कौतूहल में डाल देती है। किन्तु इस साहसपूर्ण तथा अलौकिक कार्य ने मिस्र की आर्थिक दशा डाँवाडोल कर दी और यह धन-धान्यपूर्ण देश निर्धन हो गया।

सामन्त-प्रथा तथा साम्राज्यवादी युग

पिरेमिड काल के राजाओं के पश्चात् मिस्र में काफी उथल पुथल रही। कमजोर शासक सिंहासन पर आये। अराजकता का बोलबाला था। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर सामन्तों तथा सरदारों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और इस प्रकार इस देश के इतिहास में सामन्त-प्रथा का उदय हुआ। इन सरदारों के ऊपर राजा का अधिकार नाम मात्र का था। अन्त में एक सरदार ने सन् २१६० ई० पू० में थीब्ज को अपनी राजधानी बनाकर ग्यारहवें वंश का राज्य स्थापित किया। किन्तु इस देश के भाग्य ने फिर पलटा खाया और ईराक की तरह यहाँ की सैमिटिक जाति के राजा हिक्सस ने अपना १६ वाँ राजवंश चलाया। किन्तु यह विदेशी शासन थोड़े समय ही रहा क्योंकि १६००

ई० पूर्व के लगभग मिस्र ने न केवल अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर ली बल्कि साम्राज्यवादी युग का सूत्रपात किया। यह काल १००० वर्ष ई० पू० तक रहा। उस समय मिस्र की सैनिक शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई और उसने अपने पड़ोसी ईराकवासियों की नाक में दम करना शुरू कर दिया। सन् १५०० ई० पू० में थाथ्मीज़ तृतीय तथा अमेनोफिस तृतीय के शासन-काल में मिस्र ने अद्वितीय उन्नति की। उन्होंने बड़े बड़े भवन बनावाये और बहुत से स्मारक छोड़े। अमेनोफिस तृतीय ने कारनाक के मन्दिर के निर्माण में सहयोग दिया और लक्सस के मन्दिर की नींव डाली। [illegible] नामक स्थान पर बहुत से पत्र मिले हैं जिनसे उस समय की [illegible] दशा के विषय में काफी जानकारी प्राप्त होती है। थाथ्मीज तृतीय अपनी विजयों के कारण प्राचीन मिस्र का नेपोलियन कहलाता है। उसने सूडान, फिलस्तीन, सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में अपना राज्य स्थापित किया। स्थल की सेना के अतिरिक्त उसका जहाजी बेड़ा भी बड़ा विशाल था। इसकी सहायता से उसने एजिया द्वीप समूह को जीत लिया और अपने फौजी अफसर को वहाँ का शासक नियुक्त किया। आमनहोटप तृतीय के पश्चात् उसके पुत्र आमनहोटप चतुर्थ ने राज्य किया। यह राजा केवल १८ वर्ष तक ही राज्य कर सका और मृत्यु के समय उसकी अवस्था केवल ३० वर्ष की थी। किन्तु उसने इस छोटी अवस्था में मिस्र में ऐसा सुधार किया जो न केवल इसी देश में बल्कि विश्व के इतिहास में भी पहिली प्रकार का है। बहुत से देवताओं की पूजा के स्थान पर उसने सूर्य के प्रतीक एक देवता एटन की उपासना जारी की। अपना उपनाम भी उसने अखनाटन में परिणत कर दी। फौजी वैभव के स्थान पर उसने शान्ति तथा प्रेम का राज्य स्थापित किया। विश्व के इतिहास में सच्चाई, ईमानदारी तथा आदर्शों का पाठ पढ़ाने वाला यह पहिला सम्राट् था। अन्य प्राचीन शासकों की तरह बर्बरता उसे छू तक नहीं गई थी। व्यक्तिगत उच्चता को स्थापित करनेवाला विश्व के इतिहास में यह पहिला ही शासक था। एटन देव की उपासना जो उसने प्रचलित की थी, वह भी अपने समय से बहुत आगे थी। अब तक देवताओं को भय तथा प्रतिकार का प्रतीक समझा जाता था और उनकी पूजा आदर तथा भक्ति के स्थान पर भय और दुःख से छुटकारा पाने के लिए की जाती थी। अखनाटन का देवता एटन प्रेम और शान्ति से सन्तुष्ट होने वाला था। विजय और युद्धों से उसे आन्तरिक घृणा थी। उसके समय सीरिया पर हिट्टी जाति के लोगों ने अधिकार कर

लिया—फिलस्तीन पर हिब्रू लोगों ने आक्रमण किया। किन्तु अखनाटन ने युद्ध तथा तलवार द्वारा शत्रु-देशों को जीतना अपने आदर्शों के विपरीत समझा और उन प्रान्तों को स्वतन्त्र हो जाने दिया। मिस्र की प्रजा इन सब सुधारों के लिए प्रस्तुत न थी और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी प्रचलित की हुई नवीन बातें हवा हो गईं और उनका स्थान पुराने देवताओं ने पूर्ववत ग्रहण कर लिया। अठारहवें वंश का यह अन्तिम महान् राजा था। इसकी मृत्यु के आठ साल पश्चात् उन्नीसवाँ वंश राज्य करने लगा। इस वंश के राजा रेमीसस द्वितीय ने मिस्र की खोई हुई सैनिक शक्ति को फिर से स्थापित किया। हारे हुए देश जीत लिये गये। उसने भी बहुत से नवीन मन्दिर तथा स्मारक बनवाए। आबूसिम्बल में १८५ फीट लम्बा और ६० फीट ऊँचा विशाल मन्दिर बनवाया जिसमें इस राजा की चार पाषाण-मूर्तियाँ, प्रत्येक ६० फीट ऊँची, निर्मित कराईं।

किन्तु यह साम्राज्यवादी युग भी अवनति तथा पतन की ओर अग्रसर हुआ। शासकों ने फौजों में विदेशी सिपाही रखने प्रारम्भ किये जिससे उनकी शक्तिहीनता का पता लगता है। इससे लाभ उठा कर अफ्रीका तथा भूमध्य-सागर के निवासियों ने मिस्र पर आक्रमण करने शुरू कर दिये। सन् ६७० ई० पू० में असीरिया निवासियों ने मिस्र को जीत लिया। किन्तु फिर मिस्र के राजाओं ने न केवल विदेशियों को ही यहाँ से निकाल बाहर किया बल्कि सीरिया प्रदेश को भी जीत लिया, जिसे कि वे बहुत पहिले खो चुके थे। ईसा से ५२५ वर्ष पूर्व फारस के राजा कम्बुसेस् ने मिस्र को जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। कम्बुसेस् के पश्चात् मिस्र पर दारा और उसके पुत्र जरसीज् ने राज्य किया किन्तु जरसीज् के पश्चात् फारस स्वयं पतनोन्मुख हुआ और मिस्र फिर स्वाधीन हो गया। उसने खोये हुए देश जीत लिये तथा यहूदियों के राजा जोशिया को भी मिस्र के राजा नीको द्वितीय (इसी ने सीरिया को फिर से जीता था) ने हरा दिया तथा उसे मार डाला। किन्तु खैल्डिया के राजा नेबूशद्नजर ने फिर नीको को हरा दिया और पश्चिमी एशिया के प्रदेशों को फिर से जीत लिया। इस प्रकार कभी स्वतंत्र और कभी परतन्त्र रहता हुआ यह प्रदेश अन्त में सिकन्दर महान् द्वारा सन् ३३२ ई० पू० में जीत लिया गया। तब से लेकर १४ मार्च सन् १९२२ तक यह विदेशियों के आधीन रहा। कभी यूनानियों ने, कभी रोमनों ने, कभी अरबवासियों ने, कभी तुर्कों ने और अन्त में अँग्रेजों ने इस देश पर आधिपत्य जमाया। अँग्रेजों ने

१४ मार्च सन् १९२२ को यहाँ के राजा अहमद पाशा को स्वतन्त्र सुल्तान मान लिया और यहीं से इस स्वतन्त्र देश का वर्तमान इतिहास प्रारम्भ होता है।

प्राचीन मिस्र की सभ्यता

शासन-पद्धति

सभी प्राचीन जातियों ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में नगर-राज्य स्थापित किये थे। बेबीलोन तथा चीन की तरह मिस्र में भी ऐसे ही राज्य स्थापित थे। सन् ५००० ई० पू० के लगभग इन नगर-राज्यों को मिला कर दो राज्य बने। एक भाग ऊपरी मिस्र तथा दूसरा निचला मिस्र कहलाता था। सन् ३४०० ई० पू० के लगभग थीनव ने इन दोनों वंशों को मिला कर एकछत्र राज्य स्थापित किया। यह पहिले वंश का पहिला शासक था। मिस्र के निवासी अपने राजाओं को देवता समझते थे। उनके जीवनकाल में उनकी उपासना देवताओं की तरह होती थी और मृत्यु के उपरान्त मन्दिरों में उनकी प्रतिमाओं की पूजा देवताओं की तरह होती थी। उन राजाओं की उपाधि फैरोह या 'महान वंशज' थी। ये शासक निरंकुश थे किन्तु राज्य-प्रबन्ध योग्यता तथा बुद्धिमत्ता से करते थे। शासन राज्य-कर्मचारियों द्वारा होता था। प्रधान मन्त्री का मुख्य कार्य न्याय सम्पादन था। समस्त राज्य जिलों में बँटा था, जिन्हें 'नार्म' कहते थे और इनके शासक नार्माधीश कहलाते थे।

पहिले कहा जा चुका है कि राजा को देवता समझा जाता था। यह भी निश्चित था कि देवता होने के कारण वे साधारण स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकते। अतएव उनके विवाह शाही घरानों में और कभी कभी अपनी बहिनों के साथ ही हुआ करते थे। प्राचीन मिस्र में स्त्रियों का सम्मान होता था। कानून की दृष्टि में उनका स्थान पुरुषों के समान था। स्वतन्त्र रूप से सम्पत्ति रखने का उन्हें अधिकार प्राप्त था। राजा अखनाटन अपनी रानी को बहुत अधिक प्रेम करता था और उसका प्रजा द्वारा भी बहुत सम्मान होता था। इस देश का यह ही पहिला राजा था, जिसने देवता समझे जाने से इन्कार किया। किन्तु उसके सुधार उसकी मृत्यु के पश्चात् विलीन हो गये। राजाओं का देवता समझा जाना पूर्ववत् जारी रहा। यहाँ तक कि यूनानी सम्राट् सिकन्दर ने जब मिस्र पर आधिपत्य कर लिया तो उसे भी थीब्ज के देवता के पास सम्मान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया गया। सिकन्दर वहाँ गया और कालान्तर में उसकी भी पूजा मन्दिरों में देवताओं की तरह होने लगी।

प्राचीन मिस्र में अधिकांश प्रजा के साथ दासों जैसा व्यवहार होता था। कर उपज पदार्थों के रूप में लिया जाता था। सिंचाई विभाग की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सिंचाई-कर न देने की अवस्था में पानी रोक दिया जाता था। इस प्रकार फ़सल सूख जाने के डर से किसान अवश्य कर दे देते थे। नील नदी से लाल सागर को मिलाने के लिए एक नहर भी खुदवाई गई थी, जिसे वर्तमान स्वेज नहर का मार्ग-प्रदर्शक कहा जाता है। प्राचीन मिस्र की राजधानी मैम्फीस में थी। तत्पश्चात् सन् २२०० ई० पू० में थीब्ज़ में हो गई।

कला-कौशल तथा वास्तुकला

इस दिशा में मिस्रवासियों ने अद्भुत उन्नति की। पहिले उनके बनवाये विशाल प्रस्तर समूह का वर्णन किया जा चुका है। ऐसे और भी पिरेमिड गिजे और उसके आस-पास पाये जाते हैं। कारनाक का सुन्दर मन्दिर उनकी वास्तु-कला का उज्ज्वल प्रमाण है। इस मन्दिर की विशाल दीवारें उभरे हुए पत्थरों की बनी हैं। इन दीवारों पर बहुत सी बातें अंकित हैं जिनसे उस काल के इतिहास की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। इस मन्दिर के बनने में लगभग दो हजार वर्ष लगे थे। यह लगभग चौथाई मील लम्बा है। इसके पुराने भाग सामन्त युग में बने थे और नये भाग यूनान के टालमी राजाओं के समय, जब कि ये लोग इस देश पर राज्य कर रहे थे। इस मन्दिर के सब से भव्य तथा महत्व-पूर्ण भाग पिरेमिड कालीन राजाओं के समय के बने हैं। इस मन्दिर में खम्भों से बना एक विशाल कमरा ३७० फ़ीट लम्बा और १६८ फ़ीट चौड़ा है। इसका विस्तार पेरिस में बने विशाल गिरजा के बराबर है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि वह इतना बड़ा केवल एक ही कमरा है। इस भवन में १६ कतारों में १३६ खम्भे हैं। बीच के १२ खम्भे ७९ फ़ीट ऊँचे हैं। प्रत्येक खम्भे के ऊपर १०० व्यक्ति बैठ सकते हैं। इसके अतिरिक्त थीब्ज तथा लक्सौर के मन्दिर भी अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। थीब्ज के मन्दिरों की दीवारों पर लड़ाइयों के बहुत से चित्र अंकित हैं। कई स्थानों पर सुनहरी तथा श्वेत चमक दर्शकों को आश्चर्य में डाल देती है। इन मन्दिरों के खण्डहरों से फ़ैरोहा शासकों के वैभव तथा गौरव का पता चलता है। कारनाक के मन्दिर से १ मील की दूरी पर लक्सौर का मन्दिर है। इसे आमनहोटप तृतीय ने बनवाना प्रारम्भ किया था। नील नदी के दूसरी ओर इस मन्दिर के सामने और भी बहुत से मन्दिर तथा आमनहोटप तृतीय की दो विशाल मूर्तियाँ हैं। ये एक ही पत्थर से खोद कर बनाई गई हैं और ८०, ६० फीट ऊँची और लगभग १ हजार

टन वज़न की हैं। इन मूर्तियों के पीछे उन योद्धाओं की कब्रें हैं, जो इस सम्राट् के साथ युद्ध-क्षेत्रों में गये थे। इन कब्रों पर इन योद्धाओं के कारनामे अङ्कित हैं। सन् १९२२ में सम्राट् तूतन खामेन की कब्र के अन्दर से बहुत सा द्रव्य, हाथी दाँत के बने बक्स, चार रथ जिनमें मूल्यवान् हीरे जड़े थे और जो सोने में मढ़े थे, निकले थे। एक सिंहासन भी जिस पर सोने का काम हो रहा था यहीं से निकला था। इन रथों को जब कब्र से निकाला गया था तब सूर्य के प्रकाश में उसका स्वर्ण चमक रहा था। सन् १९१२ में दूसरी एक और मूर्ति कब्र के अन्दर से निकली थी। वह मूर्ति अखनाटन की स्त्री नफरतीती की थी। मिस्र की प्रस्तर कला का यह सर्वोत्तम नमूना समझा जाता है। उन्नीसवें वंश के राजा रामोसीज़ द्वितीय ने कारनाक में प्रारम्भ किये गये मन्दिर को पूरा कराया। अपनी भी बहुत सी मूर्तियाँ बनवाई। अंबू सिम्बेल नामक स्थान पर उसने १८५ फ़ीट लम्बा और ९० फीट ऊँचा मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर में निकलते हुए सूर्य की प्रतिमा स्थापित कराई गई और वह इस प्रकार की थी कि सूर्य के उदय होने पर सब से अन्दर की मूर्तियों में प्रकाश हो जाता था।

मिस्रवासियों का धार्मिक विश्वास था कि मृतक पुरुष की आत्मा दूसरे लोक की यात्रा करते समय बहुत सी वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करती है। इसलिये मृतकों की कब्रों में भोग-विलास की वस्तुएँ एकत्रित कर दी जाती थीं। मृतक शरीर को भी मसाले इत्यादि के प्रयोग से सुरक्षित रखा जाता था। ये मृतक शरीर 'ममी' कहलाते थे। इन कब्रों की खुदाई होने से इनमें से बहुत सी मूल्यवान् वस्तुएँ मिली हैं। मिस्र की वर्तमान राजधानी काहिरा के समीप गिजे के पिरेमिड का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। लगभग १३ एकड़ ज़मीन पर फैला हुआ यह विशाल प्रस्तर-खण्ड उस समय के शासकों के गौरव की कहानी कह रहा है। इस पिरेमिड को सम्राट् कूफ़ू या चीआप्स ने बनवाया था। इस पिरेमिड के आसपास जो कब्रें हैं उनसे उस समय के मिस्रवासियों के जीवन की बहुत सी घटनाएँ ज्ञात होती हैं। दीवारों पर अंकित चित्र मिस्रवासियों के जीवन के भिन्न भिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं और उनका महत्व इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बहुत अधिक है। मिस्र की सभ्यता के निर्माण में जिन जिन लोगों सहयोग दिया था (जैसे स्वर्णकार, कुम्हार, चतुर शिल्पी तथा जुलाहे आदि), उनकी कारीगरी का सुन्दर नमूना हमें इन चित्रों द्वारा मिलता है। इनमें से बहुत से जहाज़ों के चित्र भी हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इन्हें जहाज बनाने की कला

भी आती थी। इनमें से बहुत से जहाज़ भूमध्य सागरीय देशों की यात्रा किय करते थे।

पिरेमिडों के अतिरिक्त प्राचीन मिस्रवालों की और भी अनेक प्रस्तर-निर्मित कलापूर्ण वस्तुएँ हैं। इनमें से स्फिंक्स तथा प्रस्तर-शिला मुख्य हैं। गिज़ेह के पिरेमिडों के पास एक ऐसा ही स्फिंक्स है। यह एक दानवी है, जिसका धड़ पर लगे शेरों जैसा और शिर पुरुष का सा है। मिस्र की प्रस्तर-कला के ये सुन्दर नमूने हैं। यह मूर्ति लगभग १६० फीट लम्बी और ७० फीट ऊँची है। शिर ३३ फीट लम्बा तथा १३ फीट ८ इंच चौड़ा है। प्रस्तर-शिलाओं को आबलिस्क कहा जाता है। स्फिंक्स की तरह ये भी एक ही पत्थर से काट कर बनाये गये हैं और बहुत ऊँचे हैं। उनका सिरा स्वर्ण से मढ़ा है। क्लोपैट्रा की सुई एक ऐसी ही प्रस्तर-शिला है जो कला का सुन्दर नमूना समझी जाती है।

साहित्य तथा लेखन-कला

प्राचीन बेबीलोन के निवासियों की तरह यहाँ पर भी चित्रों द्वारा लेखक अपने विचार प्रकट करते थे। उनका अक्षरज्ञान भी चित्रों तक ही सीमित था। चौबीस प्रकार के चिह्नों द्वारा वे अपने विचार प्रकट करते थे। उन्हें स्वरों का ज्ञान न था। चित्रों द्वारा केवल व्यञ्जनों का ही बोध किया जाता था। उनकी लेखन सामग्री में सरकण्डों की कलम, स्याही, पेपीरस कागज़ और दवात होती थी। पेपीरस कागज़ एक वृक्ष के तने को पतला काट कर उन्हें ऊपर नीचे रख कर बीच में गोंद जैसी चिकनी चीज़ से चिपका कर बनाया जाता था। इंगलैण्ड के संग्रहालय में १३५ फीट लम्बे और १७ इंच चौड़े इस प्रकार के कागज़ मौजूद हैं, जो यहाँ भूमि के नीचे प्राप्त हुए थे।

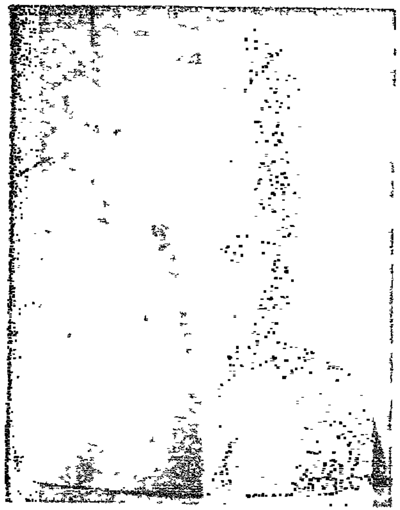
इस प्रकार लेखन-कला और सामग्री के सफल होने से साहित्य की भी प्रगति हुई। विशेषतया पिरेमिड काल में साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों पर पुस्तकें लिखी गईं। विज्ञान, गणित, इतिहास, धर्मशास्त्र पर उनके साहित्य में पुस्तकें मौजूद थीं। ये पुस्तकें पेपीरस कागज़ के लम्बे लम्बे टुकड़े थे जिन पर चित्र-लिपि द्वारा इन विषयों के ऊपर विचार प्रकट किये गये थे। मरणोपरान्त मृतक पुरुष के सन्दूक में ऐसी सूक्तियाँ लिख दी जाती थीं जिनसे मृतक दूसरे लोक की यात्रा सुगमता पूर्वक कर सके और भूत-प्रेतों से अपनी रक्षा कर सके। कालान्तर में मृतक-साहित्य उनके यहाँ प्रमुख रूप में आ गया। जैसा

हम ऊपर कह आये हैं कहानी लिखना भी उन्हें आता था। 'सिन्यूही की कहानी' इतनी सुन्दर समझी जाती थी कि उसे मृतकों के सन्दूकों में बन्द कर दिया जाता था जिससे मृतक आत्माओं को मनोरञ्जन प्राप्त हो सके। एक और स्थान पर उनके लेख मिले हैं जिनमें निर्धनों के दुख दूर करने और निम्न श्रेणी के लोगों के लिए न्याय की प्रार्थना की है और यह भी आशा प्रकट की है कि भविष्य में एक शासक होगा जिसके अवतीर्ण होने से लोगों के दुःख दूर होंगे और सब को सुख मिलेगा।

समाज और धर्म

सभ्यता के अन्य अंगों में इतने उन्नत होने पर भी मिस्र निवासी अपने धार्मिक विश्वास में बहुत पिछड़े हुए थे। वे भिन्न देवताओं की उपासना करते थे जिनमें से मुख्य ये थे :— सूर्य-देव 'रा' ओसरिस' जो मनुष्य के रूप में उत्पन्न होकर बाद में देवता बन गया था और जो मरणोपरान्त आत्माओं के कर्मों का निर्णय करता था। उसकी स्त्री इसिस थी और उनका पुत्र होरस। प्रत्येक शहर, गाँव तथा नगर का एक एक अलग देवता था। इस प्रकार देवताओं की संख्या लगभग २२०० थी। धर्म में परिवर्तन करने वाला वहाँ एक प्रसिद्ध राजा हुआ जिसका उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। वह राजा अमनहोटप चतुर्थ या अखनाटन था। उसने बहुत से देवताओं के स्थान पर एक देवता की उपासना जारी की। वह देवता था एटन। जिन मन्दिरों में इसके अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना होती थी वे बन्द करा दिये गये। उसके नये नाम का भी अर्थ था "एटन सन्तुष्ट हो गया है।" उसके विचार से एटन समस्त प्राणियों के लिए दयावान् पिता की तरह था। यहाँ तक कि पशु पक्षी भी उसकी दया से वंचित न थे। इसकी उपासना प्रातः सूर्य निकलते समय और सायं सूर्य अस्त होते समय होती थी। अखनाटन ने एटन की कोई मूर्ति स्थापित न होने दी। एटन उसके विचार से निराकार तथा निर्गुण था। अब से पहिले किसी विचारक ने यह कल्पना नहीं की थी कि सूर्य की किरणें ही प्रकाश, सौन्दर्य तथा शक्ति के लिए उत्तरदायी हैं। अखनाटन के विचार से इस नवीन देवता की उपासना में दोष के लिए कोई स्थान न था। उसके मस्तिष्क में नरक की कल्पना न थी। वह कहता था कि एटन इतना दयालु है कि नरक में मृतकों की आत्मा को कष्ट नहीं दे सकता। पापी प्राणियों को एक ही सज़ा मिलती है—इन्हें मरने पर जीवित नहीं रहने दिया जाता अर्थात् उनका अन्त यहीं हो जाता है। अखनाटन का चलाया हुआ यह धर्म तुरन्त ही विलीन हो गया। किन्तु उसकी

अखनाटन तथा उसकी स्त्री नफरतीती





असफलता उसके सिद्धान्तों के असत्य होने के कारण नहीं थी—वे तो उस समय तक सत्य रहेंगे जब तक इस सृष्टि में एक भी प्राणि रहेगा। हाँ, उस युग में इन नवीन विचारों के लिए कोई स्थान न था।

पहिले के पृष्ठो में मिस के सम्राटों के वैभव, उस समय के कला-कौशल तथा धर्म का वर्णन किया गया है। इन पंक्तियों में उनकी सामाजिक दशा का वर्णन है। सम्राटों तथा शासकों के वैभवशाली होने पर भी साधारण व्यक्ति की दशा सन्तोषजनक न थी। कभी कभी उसे भारी कर देने पड़ते थे और सरदारों तथा सम्राटों की आज्ञानुसार उनके यहाँ बेगार करनी पड़ती थी। कुछ लोगों के कथनानुसार पिरेमिडों को बनवाने वाला राजा खूफू बड़ा अत्याचारी था क्योंकि उसने गुलामों तथा प्रजा को इस कठोर परिश्रम के लिए बाध्य किया किन्तु इसके विपरीत कुछ लेखकों का विचार है कि उसने यह काम प्रजा को उस समय दिया था जब कि अकाल पड़ रहे थे और प्रजा को मौत के मुख में जाना पड़ रहा था। यह सब होते हुए भी साधारण रूप से उस समय के लोग अपनी दशा से सन्तुष्ट थे यद्यपि कभी कभी सामाजिक असन्तोष के चिह्न दृष्टिगोचर हो जाते थे।

समाज में गुलामों की दशा बड़ी खराब थी। इनमें से बहुत से तो ऐसे लोग थे जो युद्ध में परास्त होने पर बन्दी बना लिए जाते थे। इनका अपना घरबार न होता था। मिस्र के फैरोहों ने ऐसे लोगों को अपनी सेना में भर्ती किया था। कुछ समय पश्चात् इन लोगों से कृषि-कार्य भी कराया जाता था।

अन्य प्राचीन निवासियों की तरह यहाँ भी सामाजिक श्रेणियों का बनना प्रारम्भ हो गया था। सबसे पहिली श्रेणी पुजारियों की थी। इस श्रेणी के लोग अपने बुद्धि-बल से उस समय के सामाजिक जीवन के अगुआ थे। इस पुजारी श्रेणी के प्रतिद्वन्द्वी राजा तथा उसके सहकारी थे—यद्यपि मिस्र में राजा केवल पुजारी ही नहीं बल्कि देवता भी समझा जाता था। कृषि करने वालों की श्रेणी तीसरी थी। इनकी संख्या सबसे अधिक थी। चौथी श्रेणी उन कारीगरों की थी जिनका काम किसी विशेष पेशे तथा कला की उन्नति करना था। इन कारीगरों ने अपने पेशे के हितों के लिए अपने अलग अलग संघ बना लिए थे। अन्तिम श्रेणी गुलामों की थी। ये लोग या तो युद्ध के बन्दी थे अथवा कर्ज न देने के कारण गुलाम बनाये गये थे।

उपसंहार

इस प्रकार प्राचीन मिस्र की सभ्यता आज से कम से कम ७—८ हजार वर्ष पहिले फूली फली और अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गई। किन्तु तत्पश्चात् उसकी वसीयत वर्तमान निवासियों के लिए नहीं के रूप में ही रही। निस्सन्देह उनकी कीर्ति, उनका गौरव तथा ऐश्वर्य उनके बनवाये हुए स्तूपों, पिरेमिडों तथा ममियों से प्रकट होता है। किन्तु जहाँ तक परम्परागत संस्कार तथा सभ्यता का प्रश्न है वहाँ हमें निश्चय रूप से मानना पड़ेगा कि कि यह प्राचीन सभ्यता उन्नति के शिखर पर पहुँच कर विलीन हो गई और उसकी देन वर्तमान मिस्र के लिए बहुत ही न्यून है।

चौथा अध्याय

प्राचीन सभ्यताएँ

सिंधु की घाटी की सभ्यता

प्राक्कथन

सिन्धु की घाटी की सभ्यता भी ईराक़ तथा नील नदी की घाटी की सम-कालीन थी। अब तक पश्चिमी इतिहासकारों के मत से भारतवर्ष का इतिहास आर्य्य लोगों के भारत में आने और बसने के समय से (१५०० व० ई० पू०) प्रारम्भ होता था किन्तु सन् १६२२ में भारतीय पुरातत्व विभाग ने सर जान मारशल की देखरेख में मोहञ्जदडो[1] तथा हड़प्पा[2] में कुछ अवशिष्ट चिह्न भूमि के नीचे प्राप्त किए। इन खोजों के आधार पर विद्वानों का अब यह विचार है कि भारतीय सभ्यता आज से कम से कम ५००० वर्ष पुरानी अवश्य है। सरजान मारशल ने इसे सिन्धु नदी की घाटी की सभ्यता कहकर पुकारा है। किन्तु डा० दीक्षित के मतानुसार इसे सिन्धु की घाटी की सभ्यता कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि इसका विस्तार सिन्धु की घाटी तक ही सीमित न था। सन् १६२२ के पश्चात् कुछ ऐसे अवशिष्ट चिह्न अन्य स्थानों से मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि यह सभ्यता गंगा की घाटी, समस्त राजपूताना, काठियावाड़, सिन्ध तथा पञ्जाब प्रदेश के अधिकांश भाग तथा वर्तमान उत्तर पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तक फैली थी। इसी कारण वे इसे प्राचीन भारतीय सभ्यता कहना अधिक उचित समझते हैं। सर स्टैन के मतानुसार यह सभ्यता भारत के बाहर उत्तर पश्चिम में भी फैली हुई थी।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सभ्यता भारतवर्ष की निजी थी अथवा बाहर से भारत में आई? सर जान मारशल का कथन है कि यह सभ्यता योरुप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में फैली थी और इसमें दजला फरात की

---

१. मोहञ्जदड़ो सिंध प्रान्त के लरकाना जिले में स्थित है। पुरातत्त विभाग को कुछ ऐसी मुहरें १९२१ में मिली थीं जो बहुत प्राचीन काल की ज्ञात होती थीं।

२. हड़प्पा पंजाब प्रान्त (वर्तमान पश्चिमी पञ्जाब) के मंटगुमरी जिले में रावी के तट पर मोहञ्जोदड़ो से लगभग ४०० मील की दूरी पर स्थित है। पहिले यहाँ पर मुहरें मिली थीं और तत्पश्चात् मोहञ्जदड़ो में।

घाटी, हेलमन्द नदी की घाटी तथा सिन्धु की घाटी सम्मिलित थी। यह सभ्यता ईराक की सभ्यता से मिलती जुलती है। इसी कारण कुछ इतिहासकारों का विचार है कि प्राचीन सुमेरिया के निवासी सिन्धु की घाटी में आकर बस गये। यहाँ के निवासियों में हिलमिलकर उन्होंने सभ्यता की उन्नति में सहयोग दिया। अतएव यह सभ्यता सुमेरिया वालों की देन थी। इसके विपरीत इतिहासकार हाल का मत है कि सुमेरिया की सभ्यता ही भारतीय निवासियों के प्रयत्न द्वारा बनी तथा फूली फली। उनका यह भी कथन है कि दोनों की भाषा भी एक ही थी और वह थी तामिल। इन विचारधाराओं के होने पर हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत, मिस्र, इराक़ तथा क्रीट की सभ्यताओं में बहुत कुछ बातें मिलती जुलती हैं किन्तु प्रत्येक स्थान पर परिस्थिति के अनुकूल अवश्य परिवर्तन हो गये थे। प्रत्येक की लिपि भी अपनी अलग थी। मिट्टी के बने बर्तन भी प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार के थे। एक और विभिन्नता ध्यान देने योग्य है। मिस्र तथा ईराक़ की सभ्यता की तरह सिन्धु की घाटी की सभ्यता में राज-प्रासाद तथा मन्दिर नहीं निकले हैं। किन्तु साधारण नागरिकों के घर ईराक़ तथा मिस्रवासियों के घरों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छे हैं और उनमें आराम तथा आवश्यकता पूर्ति का बहुत ध्यान रखा गया है।

सभ्यता का संक्षिप्त वर्णन

नगर-निर्माण

जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि नगर का निर्माण निश्चित क्रमानुसार था। सड़कें सीधी तथा चौड़ी हैं। चौराहों पर काफ़ी खुला स्थान है। सड़कों के दोनों ओर पक्की ईंटों के बने विशाल भवन बने थे। मकानों की दीवारें भारी और चौड़ी होती थीं। बाहर की दीवारों में खिड़कियाँ न होती थीं। मकानों के अन्दर कुएँ थे। एक आँगन के चारों ओर बड़े बड़े कमरे बने होते थे। मकानों में स्नानगार भी थे। गन्दे पानी के निकालने के लिए नालियों का जाल बिछा हुआ था। मकानों से गन्दा पानी पकी हुई मिट्टी के नलों से सड़कों के बीच में लाया जाता था और वहाँ से जमीन के नीचे बहने वाली नालियों द्वारा एक स्थान पर पहुँचा दिया जाता था। (कहना न होगा कि गन्दे पानी को नालियों द्वारा निकालने का यह विश्व के इतिहास में पहिला ही दृष्टान्त था। स्वयं लन्दन तथा पेरिस जैसे शहरों में ऐसी नालियाँ १८वीं शताब्दि में बननी प्रारम्भ हुई थीं।) नालियों को समय समय पर साफ करने के लिए बीच बीच में स्थान खुले रक्खे जाते थे। कूड़ा करकट डालने के लिए प्रत्येक मकान

के बाहर एक स्थान नियत रहता था जहाँ वह इकट्ठा कर दिया जाता था। मकान कई मञ्जिलों के बने होते थे। नगर में कई खम्भों वाला एक विशाल भवन होता था जहाँ पर आवश्यकतानुसार नगर-निवासी एकत्रित हो सकते थे। पक्की ईंटे बड़ी सुन्दर तथा मज़बूत होती थीं।

नगर में एक बड़ा तालाब भी पाया गया है। इसके आसपास स्नानागार बने हैं। स्पष्ट है कि सर्वसाधारण स्नानागारों के प्रयोग से परिचित थे। नगर में एक ऐसा भी भवन मिला है जो उनका अन्न एकत्र करने का भाण्डार था। सम्भवतः वहाँ कर रूप में उगाया हुआ अनाज इकट्ठा किया जाता था। सर्व-साधारण के मकानों में स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग अलग कमरे थे।

निवासियों के व्यवसाय

कृषि की दशा बहुत उन्नत थी। गेहूँ और जौ मुख्यतया उगाये जाते थे। गाय, भैंस व गधे को वे प्रयोग में लाते थे। किन्तु घोड़े के प्रयोग से अपरिचित थे। तराजू बाटों के प्रचुर मात्रा में मिलने से ज्ञात होता है कि व्यापार उन्नत दशा में था। उनकी जो मुहरें मिली हैं उन पर हाथी, चीते, बन्दर तथा हरिणों के चित्र अंकित हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे इन जानवरों से परिचित थे। सूअर, मुर्गी तथा भेड़ों को वे भोजन के लिए पालते थे। मुहरों से यह भी ज्ञात होता है कि वे विदेशों से भी व्यापार करते थे। यह व्यापार स्थल पर तथा जल पर भी होता था, क्योंकि उस समय की प्राप्त मुहरों पर जहाजों के चित्र बने हैं। बहुत सी दस्तकारियाँ भी उन्हें आती थीं। सूती और ऊनी कपड़े बुनना उन्हें आता था। कपड़ों पर रंग करना भी वे लोग जानते थे। घरों में मिट्टी के बर्तनों का ही उपयोग अधिकतर होता था। किन्तु मिट्टी के बर्तनों को देखने से ज्ञात होता है कि इस दस्तकारी ने आश्चर्यजनक उन्नति कर रक्खी थी। समाज में बढ़ई तथा भवन निर्माता भी थे। ताँबे का प्रयोग भिन्न भिन्न रूपों में होता था। स्वर्ण का भी वे लोग प्रयोग करते थे। हाँ, लोहे के प्रयोग से वे एकदम अपरिचित थे। लकड़ी तथा मिट्टी के खिलौने बनाना, हाथी दाँत का काम तथा चूड़ियाँ और स्वर्ण के आभूषण बनाने भी उन्हें आते थे।

लेखन कला

मुहरों पर की गई खुदाई से ज्ञात होता है कि ये लोग लिखना और पढ़ना जानते थे। किन्तु उनकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं गई है। पढ़े जाने पर उनके सम्बन्ध में और अनेक बातें ज्ञात हो जायेंगी। मुहरों पर बहुत से चित्र भी मिले हैं। मिट्टी के बर्तनों पर भी ऐसे ही चित्र अंकित मिले हैं। उनसे ज्ञात

होता है कि ये लोग चित्र-कला में प्रवीण थे। उनके चित्र कला-पूर्ण तथा भाव-पूर्ण हैं।

निवासियों का रहन-सहन, धर्म इत्यादि

जमीन के नीचे से जो ढाँचे निकाले गए हैं उनसे ज्ञात होता है कि लोग नाटे तथा मजबूत होते थे। वे मांसाहारी तथा शाकाहारी दोनों थे। दोनों स्त्री और पुरुष आभूषणों का प्रयोग करते थे। धनिक लोगों के आभूषण सोने चांदी और हीरे जवाहरात के बने होते थे। निर्धन लोग ताँबे और हड्डियों के बने अभूषणों को पहनते थे। चूड़ियों का पहनना साधारण रिवाज था। नाचना और जूआ खेलना उनके मुख्य आमोद-प्रमोद थे। उनके धर्म के विषय में इतिहासकारों की जानकारी बहुत कम है। मंदिरों तथा देवी-देवताओं के हमें कोई चिन्ह नहीं मिलते। किन्तु मुहरों पर अंकित चित्रों से ज्ञात होता है कि वे एक देवी की उपासना करते थे जिसे वे मातृतुल्य समझते थे। दूसरा देवता जिसके तीन शिर और सींग हैं मुहरों पर अंकित मिला है। मार्शल के मतानुसार आगे चलकर यही देवता हिन्दुओं द्वारा शिव रूप में पूजा जाने लगा। पीपल वृक्ष की पूजा भी वे लोग किया करते थे। मुर्दों को जलाने का रिवाज था यद्यपि उनकी अस्थियों को इकट्ठा कर कभी २ मिट्टी के बर्तनों में दफन कर दिया जाता था। अस्थि के साथ मृतक की निजी वस्तुएँ भी रख दी जाती थीं। हड़प्पा में एक कब्रिस्तान भी मिला है जिससे ज्ञात होता है कि वे लोग अपने मुर्दों को जलाने के साथ २ गाड़ते भी होंगे।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन लोगों को युद्ध की अपेक्षा शांति से अधिक प्रेम था। कारण यह है कि भग्नावशेषों में राजाओं, विजेताओं तथा सेनाओं के अवशेष नहीं मिले हैं। हाँ शस्त्र जरूर मिले हैं। उन शस्त्रों में भाले, तीर, कमान आदि मुख्य हैं। तलवार का प्रयोग वे न जानते थे।

मेसोपोटामिया या ईराक की सभ्यता से तुलना

पहिले कहा जा चुका है कि यह सभ्यता ईराक तथा क्रीट की सभ्यता से बहुत कुछ मिलती जुलती है। ये लोग अपने समकालीन प्राचीन निवासियों से परिचित थे और दोनों का पारस्परिक सम्पर्क विचारों और सभ्यताओं का आदान प्रदान जारी था। विशेषतया ईराक, मिस्र तथा क्रीट और सिंधु की घाटी के निवासियों का एक दूसरे से सम्पर्क बना हुआ था। पश्चिमी फारिस में एलाम नामक स्थान पर ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिनसे दोनों का आना जाना तथा

मिलना जुलना सिद्ध होता है। डा० फाल्नी के कथनानुसार यह सभ्यता सन् ४०००–२००० ई० पू० तक रही होगी। उनके कथन का आधार यह है कि ईराक, क्रीट, फारस तथा सिंधु की घाटी के भग्नावशेषों तथा प्राप्त सामग्री से यही बात सिद्ध होती है कि सिंधु की घाटी की सभ्यता इसी युग की है।

पाँचवाँ अध्याय

भूमध्यसागरीय सभ्यताएँ

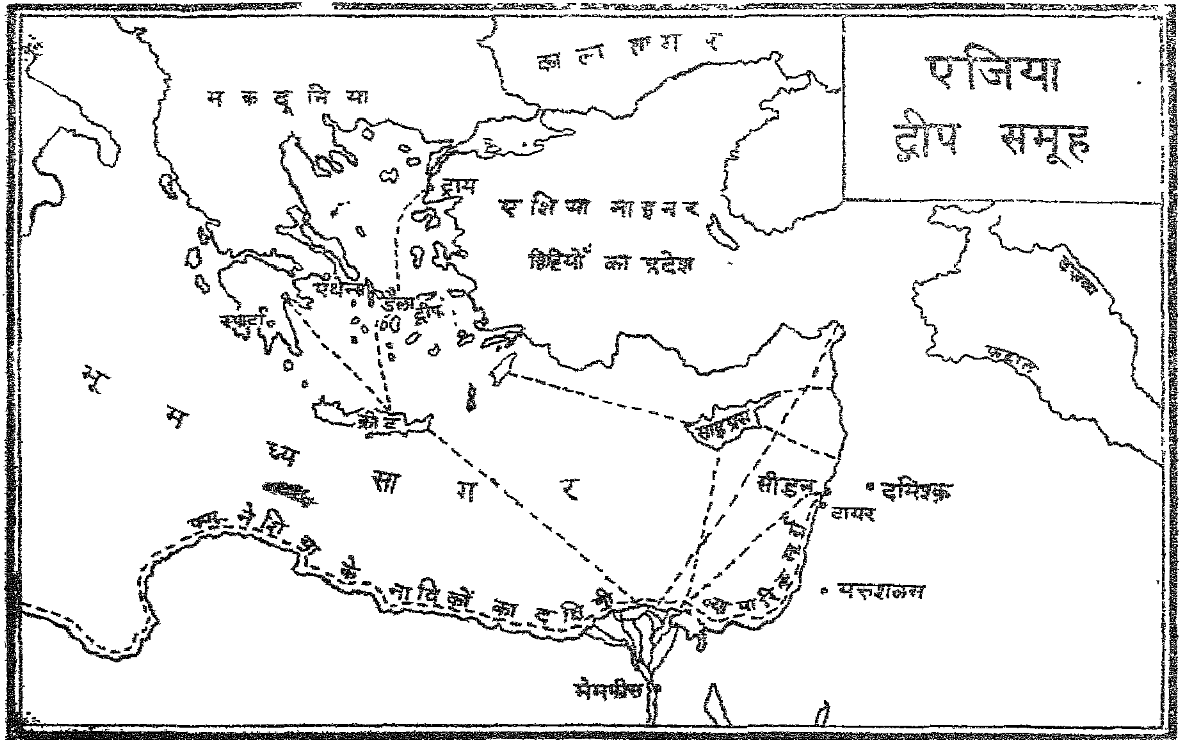
(अ) पूर्वी प्रदेश

प्राक्कथन

सर्वप्रथम अध्याय में बताया गया है कि नदीकालीन सभ्यताओं के पश्चात् समुद्रकालीन सभ्यता का उदय हुआ था। इससे तात्पर्य केवल इतना है कि समुद्र तटों पर बसने वाले लोगों को नदी की घाटियों में बसने वाले लोगों की अपेक्षा सभ्यता की उन्नति करने में अधिक समय लगा। समुद्रतटीय देशों में सर्वप्रथम भूमध्य सागर के आसपास वाले देश अपनी सभ्यता के लिये प्रसिद्ध हुए। समुद्र तट के समीप रहने से इन्होंने जहाज बनाकर दूसरे देशों से व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन्होंने सभ्यता निर्माण करने में उतना सहयोग नहीं दिया जितना सभ्यता को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में और असभ्य जातियों को सभ्य बनाने में।

भूमध्य सागर योरोप की प्राचीन कालीन सभ्यताओं का केन्द्र रहा है। इसका पूर्वी भाग, लाल सागर, फारस की खाड़ी तथा हिन्द महासागर के पश्चिमी भाग सामुद्रिक यात्रा तथा व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। योरोप में भूमध्य सागरीय द्वीपों के निवासी ही ऐसे थे जिन्होंने योरोप में सभ्यता का सूत्रपात किया। वे ऐसा करने में इसलिये सफल हुए कि मिश्र तथा ईराक की सभ्यता के सम्पर्क में आने का इन्हें अवसर मिलता था और इन देशों से यह सभ्यता में बहुत सी बातें सीखते थे। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व से एशिया माइनर के लोगों का पूर्वी प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध जारी था। एशिया माइनर के उत्तरी-पश्चिमी तट पर ट्राय शहर स्थित था। ट्राय ने २५०० वर्ष ई० पू० में कपड़ा बुनने में तथा मिट्टी के बर्तन तैयार करने में काफी दक्षता प्राप्त कर ली थी। ट्राय के समीप ही हिट्टी लोग रहते थे। हिट्टियों ने ट्राय की सभ्यता की उन्नति में भारी सहयोग दिया था।

भूमध्य सागर में बहुत से द्वीप समूह हैं इनमें से क्रीट तथा एजियन द्वीप समूह मुख्य हैं। क्रीटवासियों ने सामुद्रिक व्यापार में आश्चर्यजनक उन्नति की।


एजिया
द्वीप समूह
काला सागर
मकदूनिया
ट्राय
एशिया माइनर
हित्तियों का प्रदेश
एथेन्स
स्पार्टा
क्रीट
भूमध्य सागर
साइप्रस
सीडन
दमिश्क
टायर
यरूशलम
मेम्फीस

उनका नोसास नगर भूमध्य सागरीय सभ्यता का केन्द्र बन गया और उसने जहाज बनाने की कला में पर्याप्त उन्नति की। किन्तु सर्वप्रथम निवासी जिन्होंने इस प्रदेश के आगे बढ़ कर मैसोपोटामिया तथा बेबीलोन में जाकर अपनी प्रभुता स्थापित की, वे थे हिट्टी लोग। इस अध्याय में पहिले हिट्टी लोगों की सभ्यता का, तत्पश्चात् क्रीट तथा अंत में एजियन द्वीप समूह के निवासियों की सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन किया जायगा।

हिट्टी लोगों का इतिहास (२०००—१२०० ई० पू०)

मैसोपोटामिया के प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि असीरिया निवासियों को पश्चिम की ओर से हिट्टियों से लगातार युद्ध करने पड़ते थे। इससे सिद्ध होता है कि हिट्टी लोगों ने असीरिया वालों के शक्तिशाली होने में काफ़ी बाधाएँ डाली थीं। उन्होंने कुछ समय के लिये मैसोपोटामिया में भी अपना राज्य स्थापित कर लिया था, यद्यपि उन्हें असीरिया निवासियों ने फिर इस प्रदेश से बाहर खदेड़ दिया था। हिट्टी जाति के लोग सैमिटिक जाति के थे। कालान्तर में वे आर्य्य जाति में मिल गए और उनसे विवाह सम्बन्ध भी करने लगे। इस प्रकार उनकी जातिगत विशेषताएँ समाप्त हो गईं।

तेले-उल-अमरना नामक स्थान पर बहुत से ऐसे पत्र मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि हिट्टी राजाओं का मिस्र के राजाओं के साथ पत्र-व्यवहार रहता था और ये दोनों सभ्यताएँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती रहती थीं।

क्रीट का इतिहास

हिट्टियों के पश्चात् जिन अन्य भूमध्यसागरीय निवासियों ने व्यापार तथा वाणिज्य की उन्नति में सहयोग दिया वे थे क्रीट के निवासी। क्रीट भूमध्यसागर स्थित टापुओं में सबसे बड़ा द्वीप है और कालान्तर में यहाँ के निवासी बड़े प्रवीण मल्लाह तथा व्यापारी हो गए। क्रीट का प्रसिद्ध शहर नौसास था। यहाँ से प्राप्त भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि क्रमानुगत वंशों के स्थापित होने से पूर्व मिस्र की सभ्यता की तरह यहाँ की सभ्यता भी पूर्व पाषाण काल तथा अन्य धातुओं के काल से होकर गुज़री थी। फ्लिन्डर्स पेट्री ने जो अवशेष प्राप्त किये थे उनसे ज्ञात होता था कि यह अवशेष मिस्र के प्रथम वंश के समकालीन थे। सम्भवतः क्रीट से ही ये अवशेष मिस्र ले जाये गए हों। इससे सिद्ध होता है कि दोनों देशों के निवासी आपस में मिलते जुलते रहते थे और दोनों की सभ्य-

ताओं में आदान प्रदान होता रहता था। १२वें वंश के समय तो निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि दोनों देशों में व्यापार का क्रम जारी था। इस प्रकार क्रीट की सभ्यता मिस्र की सभ्यता की तरह पुरानी समझी जाती है और इसका काल ४००० वर्ष ई० पू० कूता जाता है।

किन्तु क्रीट का वास्तविक वैभव २५०० वर्ष ई० पू० से प्रारम्भ होता है। उस समय के आस पास छोटे २ राज्यों का अंत कर एक केन्द्रीय राज्य स्थापित हुआ। यह काल यहाँ शांति, वैभव तथा समृद्धि का स्वर्ण युग था। प्राचीन समय में निकटवर्ती देशों के आक्रमण का पूरा भय था किन्तु समुद्रतट पर स्थित होने से क्रीट इन हमलों से भी सुरक्षित था। जलवायु भी समशीतोष्ण थी। व्यापार भी बढ़ा चढ़ा था। इस प्रकार क्रीट उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। यहाँ के राजा मिनोआ कहलाते थे ठीक उसी प्रकार जैसे कि मिस्र के राजा फेरोहा कहकर पुकारे जाते थे। क्रीट में इन राजाओं का भवन भुलभुलैया जैसा था। एक दैत्य मिनौटर भी उनके यहाँ रहता था। यूनानी आख्यायिकाओं में इस बात का वर्णन है कि इस दैत्य के लिये एथेन्स से युवक तथा अन्य पशु बलिदान के लिये पहुँचाये जाते थे। निश्चय है कि एथेन्स पर क्रीट लोगों का शासन था और उन्हें कर भेजना पड़ता था। हाल के ही प्राप्त भग्नावशेषों ने इन दन्तकथाओं को सच्चा सिद्ध किया है। क्रीट के राजप्रासाद विशाल और कलापूर्ण थे। उनमें स्नानागार तथा पानी के नल मौजूद थे। इस प्रकार क्रीट और उसमें स्थित नगरों ने सभ्यता की उन्नति में पर्याप्त सहयोग दिया जब कि लगभग १००० ई० पू० में—जब कि असीरिया निवासी अपनी उन्नति की चरमावस्था पर थे—नौसास नष्ट भ्रष्ट हो गया। कैसे हुआ तथा किसने किया इसके विषय में इतिहासकारों की जानकारी अपर्याप्त है। इतना अवश्य ज्ञात है कि पहिले १४०० वर्ष ई० पू० में इस शहर पर आक्रमण हुआ और ४०० वर्षों तक लोगों ने इसका पुनर्निर्माण किया और इसके खोये हुए गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु १००० वर्ष ई० पू० में दूसरा प्रहार हुआ और इस बार यह नगर इस प्रकार नष्ट हुआ कि फिर कभी न उभर सका। सम्भवतः यह विध्वंस का कार्य यूनान निवासियों ने किया था जिन्होंने इससे पहिले ट्राय जैसे फूलते फलते शहर को नष्ट किया था।

बेबीलोन की सभ्यता का वर्णन करते समय हमने यह बतलाया था कि ५३९ ई० पू० में ईरान के राजा साइरस ने बेबीलोनिया को जीत कर अपने राज्य में मिलाया था। उसी वर्ष इस राजा ने क्रीट तथा एजियन द्वीप समूह को जीतकर

अपने राज्य में मिला लिया और इस प्रकार यह सभी प्रदेश ईरानी साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

एजिया तथा क्रीट वासियों की सभ्यता

यद्यपि हिट्टियों के विषय में जानकारी बहुत कम है तथापि जो भी है उससे ज्ञात होता है कि अन्य प्राचीन निवासियों की भाँति ये भी छोटे २ नगर राज्यों में विभक्त थे। प्रत्येक नगर राज्य स्वतंत्र होता था। ये लोग सेमिटिक जाति के थे और इनकी वर्णमाला प्राचीन निवासियों की भाँति चित्रलिपि थी। असीरिया तथा बेबीलोन से व्यापार करने के कारण इन्हें वहाँ की टेढ़ी-मेढ़ी लिपि से भी परिचय था। इस प्रकार इनकी लिपि दो लिपियों का सम्मिश्रण होने से विचित्र बन गई थी। धूप में पकी हुई ईंटों का दुर्ग भी इन्होंने बनाया था। लोहे को गलाना और उसे मिट्टी से अलग करना हिट्टियों ने ही ईजाद किया था। पहिले बताया जा चुका है कि आर्य लोगों ने हिट्टियों को जीत लिया था और इस प्रकार इनकी जातिगत विशेषताएँ समाप्त हो गईं।

ऊपर कहा जा चुका है कि एजिया द्वीप समूह में क्रीट सबसे बड़ा टापू था इसीलिये क्रीट की सभ्यता से एजिया द्वीप समूह की सभ्यता का बोध होता है। इन सभी द्वीप समूहों के निवासी कुशल नाविक तथा चतुर व्यापारी थे यद्यपि क्रीट निवासी इन सब में सबसे आगे बढ़े थे।

क्रीट की सभ्यता का स्थान प्राचीन सभ्यताओं में बहुत महत्वपूर्ण है। कला-कौशल में कुशलता प्राप्त करने वाला यह सबसे पहिला योरोपीय प्रदेश था। जिस प्रकार एशिया माइनर एजिया द्वीप समूह को पूर्वी प्रदेशों से मिलाये हुए था उसी प्रकार क्रीट द्वीप मिस्र को संसार से मिला रहा था। यहाँ का राजा माइनस बड़ा प्रसिद्ध और शक्तिशाली शासक था। इतिहास में यह पहिला राजा है जिसके पास जल-सेना थी। इस राजा के नाम पर क्रीट की सभ्यता को मिनोअन की सभ्यता भी कहते हैं।

क्रीट के निवासी उसी जाति के थे जिसके पुर्तगाल तथा स्पेन निवासी हैं। इस जाति के लोग क्रीट के अतिरिक्त साइप्रस, एशिया माइनर सिसली तथा दक्षिणी इटली में रहा करते थे। क्रीट का प्रसिद्ध शहर नोसास था। इसके अतिरिक्त और भी शहर थे जिनकी अब केवल कहानी रह गई है। नोसास यहाँ की राजधानी भी थी। राजा माइनास के समय यह बड़ा वैभवशाली नगर था, मिट्टी का काम खास तौर से सुन्दर होता था। सोने चांदी का काम भी बहुत

अच्छा था। यहाँ के हथियार अपनी मजबूती के लिये प्रसिद्ध थे। क्रीट से यह सभ्यता यूनान, इटली तथा अन्य भूमध्यसागरीय प्रदेशों में फैल गई। यूनान के पश्चिम में मिसीने तथा टीरनस शहरों में खुदाई होने से ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिनसे क्रीट तथा मिस्र की प्राचीन कला का पता चलता है। क्रीट तथा मिस्र के जहाज इन स्थानों को अपने यहाँ से सामान लाते थे। आरगोलिस की खाड़ी से कोरिन्थ की खाड़ी तक जो व्यापारिक मार्ग जाता था उसके सिरे पर स्थित होने से मिसीने की प्रसिद्धि उस समय के व्यापार में बहुत अधिक थी। मिसीने धनधान्य पूर्ण शहर था। इस प्रकार क्रीट ने अपनी वैभव-वृद्धि के साथ साथ योरोप में सभ्यता फैलाने में सहयोग दिया और असभ्य योरोप को सभ्य बनाया।

कला-कौशल

क्रीट में जो महत्त्वपूर्ण भवन भूमि के नीचे से निकाले गए हैं उनमें सबसे प्रसिद्ध नोसास का राजप्रासाद है। यह उनकी वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। स्वयं राजप्रासाद ही एक अच्छा खासा नगर है। चमकते हुए श्वेत प्रस्तर का बना हुआ यह प्रासाद आज भी दर्शक को आश्चर्य में डाल देता है। इसके आसपास और भी विशाल भवन बने हैं। राजप्रासाद के कमरे बड़े विशाल हैं। स्नानागारों में बहती हुई नालियों से जल पहुँचाया जाता था। मोहनजोदड़ो के निकले हुए शहर की भाँति यहाँ भी गंदा पानी शहर के बाहर प्रवाहित करने के लिए नालियों का जाल बिछा हुआ था।

कला के उन्नत होने का प्रमाण हमें पर्याप्त रूप में प्राप्त भग्नावशेषों से मिलता है। दीवारों पर बहुत सुन्दर चित्र अंकित हैं, हाथीदाँत और संगमरमर की बनी बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं। सोने और चाँदी के आभूषण भी मिले हैं। कपड़े के बहुत से नमूने मिले हैं। किन्तु युद्ध सम्बन्धी चित्र तथा वस्तुएँ जैसे भाले तलवार बर्छी आदि बिलकुल नहीं के बराबर हैं। ज्ञात होता है कि ये लोग शान्तिप्रिय तथा सौन्दर्योपासक थे और युद्ध की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं थी। ऊपर बताया जा चुका है कि इस सभ्यता को बहुत काल तक स्वतंत्र रूप से अपनी उन्नति करने का अवसर मिल गया था इसी कारण शांति का बोलबाला होने से युद्ध सम्बन्धी चित्रों का एकदम अभाव है। मिट्टी के बने हुए बर्तनों पर जो चित्रकला मिलती है उससे उनकी कला-प्रियता का आभास मिलता है। इसी प्रकार जवाहरात का काम भी बहुत ही उच्च कोटि का होता था।

इन लोगों के भिन्न २ व्यवसाय थे। मछली पकड़ना, कृषि करना तथा व्यापार इनके मुख्य व्यवसाय थे। भूमध्यसागर का व्यापार तो इन्होंने अपने अधिकार में कर ही रक्खा था। इस प्रकार समुद्र के मार्ग से इन्होंने सभ्यता प्रचार में काफी सहयोग दिया।

उनके धार्मिक विचारों के सम्बन्ध में इतिहासकारों की जानकारी बहुत कम है। भूमि के नीचे से निकली हुई हाथी दाँत तथा सोने की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनसे ज्ञात होता है कि ये लोग सर्प की आकृति जैसी देवी की उपासना करते थे।

इस प्रकार एजिया तथा क्रीट की इस सभ्यता ने प्राचीन सभ्यताओं की तरह काफी उन्नति की और उसे समुद्री मार्ग द्वारा आसपास के देशों में पहुँचाया। एशिया माइनर, मिस्र, बेबीलोन, असीरिया आदि देशों ने इस सभ्यता से कई बातें सीखीं और उन्हें अपनाया।

यूनान की सभ्यता जिसे योरोप के वर्तमान देशों की सभ्यता की जननी कहा जाता है बहुत कुछ मिनोआ तथा क्रीट की सभ्यता के आधार पर फली फूली थी। एक बात और। भूमध्य सागर योरोप, एशिया तथा अफ्रीका तीनों महाद्वीपों के समीप स्थित है और क्रीट उसके मध्य में स्थित था। इसी कारण क्रीटवासियों का इन तीनों देशों (मिश्र, मेसोपोटामिया तथा एजिया) के सम्पर्क में तो आना हुआ ही, साथ ही उसने स्वच्छन्द रूप से सभ्यता निर्माण में पर्याप्त सहयोग दिया। समुद्रवर्ती होने से यहाँ वाले बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रह अपनी सभ्यता को उतना ही उन्नत कर सके जितनी कि प्राचीन सभ्यता थीं। इतना ही नहीं वरन् कुछ अंशों में तथा हाथीदाँत, स्वर्ण, मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी, वस्त्र-निर्माण-कला में उन्होंने ऐसी उन्नति की जैसी प्राचीन जातियों ने नहीं की थी।

यहूदियों (हिब्रू लोगों) का प्राचीन इतिहास

यहूदियों का जन्म-स्थान अरब था और यहीं से ये लोग फिलस्तीन में आकर बसे थे। इनके नेता हज़रत मूसा थे। उन्होंने बहुत से यहूदियों को मिश्रवासियों के आधिपत्य से स्वतंत्र कराया था। मूसा की मृत्यु के पश्चात् जोशुआ उनके नेता हुए। उनके नेतृत्व में यहूदियों तथा फिलस्तीन के मूल निवासियों में युद्ध हुआ। कालान्तर में विजित तथा विजेताओं में समझौता हो गया तथा दोनों के सम्मिश्रण से सभ्यता का विकास हुआ। फ्यनीशिया

निवासी अपने जहाजों को पहिले ही से यहाँ लाया करते थे। फ्यूनीशिया वालों ने इन्हें कागज स्याही तथा कलम का उपयोग बतलाया।

यहूदियों को फिलीस्तीन में भारी आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उनके एक ओर मिश्र का साम्राज्य था तथा दूसरी ओर असीरिया का। दोनों शक्तिशाली साम्राज्यों के बीच में स्थित होने से यहूदियों को कभी एक से और कभी दूसरे से युद्ध करने पड़ते थे। इन आपत्तियों का सामना यहूदियों ने दृढ़ता पूर्वक किया। सौभाग्य से साल दाऊद जैसे नेताओं के योग्य नेतृत्व में यहूदियों ने काफी उन्नति की। दाऊद के शासनकाल में यरुशलम पर यहूदियों ने अपना अधिकार कर लिया और तब से लेकर आज तक यरुशलम यहूदियों का प्रसिद्ध धार्मिक स्थान रहा है। दाऊद के कारनामों तथा यशगाथाओं का स्मरण यहूदी लोग आज भी गर्व के साथ करते हैं। वीर सैनिक तथा विजेता होने के साथ ही साथ दाऊद कर्त्तव्यनिष्ठ तथा ईश्वर-भक्त था। उसका पुत्र सुलेमान, जो अपनी न्याय-प्रियता तथा उदारता के कारण यहूदियों के इतिहास में इतना प्रसिद्ध है, एक योग्य शासक न था। उसके भारी करों से दब कर उत्तरी फिलस्तीन के लोगों ने उसके उत्तराधिकारी के शासनकाल में इसरायल राज्य स्थापित कर लिया। समारिया इसकी राजधानी थी। दक्षिण की रियासतों ने जूडा में अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। यरुशलम इस देश की राजधानी थी।

इसरायल अधिक उपजाऊ था इसलिये उसे विदेशियों के आक्रमणों का शिकार बन जाना पड़ा। दक्षिणी भाग इसकी अपेक्षा निर्धन था। वहाँ वालों को निर्वाह के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकना पड़ता था। किन्तु इस निर्धनता का परिणाम जूडा के लिये अच्छा निकला क्योंकि इसरायल के उपजाऊ प्रदेश पर ७२२ ई० पू० में असीरियावालों ने अधिकार कर लिया किन्तु दक्षिणी भाग (जूडा) फिर भी अपनी स्वाधीनता बनाये रहा जब कि ५८६ ई० पू० में इसे भी कैल्डिया के सम्राट् ने जीतकर अपने देश में मिला लिया। किन्तु समय ने पलटा खाया। कैल्डिया को ईरानवासियों ने जीत लिया और फिलस्तीन पर उनका अधिकार हो गया। तदनन्तर सन् ३३३ ई० पू० में सिकन्दर महान् ने इस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। यूनानवालों ने इस प्रदेश पर लगभग ढाई सौ वर्ष तक शासन किया। सन् ७० ई० में रोम के एक सैनिक अफसर ने फिलस्तीन को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया और तब से लेकर वर्तमान समय तक यहूदियों का देश विदेशियों के अधीन

रहा और उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक अत्याचारों का शिकार बनना पड़ा। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् यहूदियों ने अपना स्वतंत्र राज्य फिलस्तीन में इसरायल के नाम से स्थापित कर लिया है और इस प्रकार शताब्दियों की दासता का अन्त किया है।

हिब्रू लोगों की सभ्यता

बहुत बड़े विजेता, निर्माता तथा कला-प्रवीण न होते हुए भी यहूदियों का स्थान विश्व के इतिहास में काफी ऊँचा है। इन्होंने पश्चिमी देशों के धार्मिक जीवन तथा विचारधारा को बहुत अधिक प्रभावित किया। साधारण यूरोपियन लोगों को यहूदियों के साहित्य तथा महापुरुषों से अन्य जातियों के महापुरुषों तथा साहित्य की अपेक्षा अधिक जानकारी है। उनकी धार्मिक पुस्तक बाइबिल ने ईसाइयों की नैतिक सामाजिक तथा धार्मिक विचार-धारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। उनके पैगम्बर अमोस ने यह सिखाया कि समस्त विश्व के ऊपर एक ही व्यक्ति का नियन्त्रण है और वह है परमात्मा। एक दूसरे पैगम्बर ने उपदेश दिया कि ईश्वर न्यायप्रिय तथा दीनबन्धु है। उनके धार्मिक जीवन की दूसरी विशेषता यह थी कि उन्होंने एक सुन्दर भविष्य की कल्पना की। इस भविष्य जीवन को उज्ज्वल तथा सुखपूर्ण बनाने का एक ही साधन बताया गया। वह था वर्तमान जीवन की पवित्रता। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि यहूदियों की यह दूसरी धारणा तो अन्त तक उनके हृदय में रही किन्तु पहिली धारणा का प्रभाव कालान्तर में उनके जीवन पर बिल्कुल न रहा। ईश्वर सब का रक्षक तथा परमपिता न रहकर केवल यहूदियों का ही रक्षक तथा परमपिता रह गया। इस भावना से उनके हृदय में संकीर्णता तथा कट्टरता आ गई। शताब्दियों के राजनीतिक अत्याचारों तथा कष्टों के कटु अनुभव से यह संकीर्णता कम होने के स्थान पर बढ़ती ही चली गई। इसका सबसे भयानक परिणाम हुआ यहूदियों की संकुचित राष्ट्रीयता। घर से बार बार खदेड़े जाने पर भी यहूदियों में देश-प्रेम तथा जातीय संगठन के भाव प्रत्येक समय रहे। इस प्रकार वर्तमान राष्ट्रीयता का सबसे पहिला रूप हमें यहूदियों के इतिहास में ही मिलता है। यहूदियों को राष्ट्रीयता के सूत्र में ग्रथित करने वाला सबसे पहिला साधन था उनका धर्म, दूसरा उनकी जातिगत भावनाएँ तथा तीसरा उन्हें अपनी संस्कृति का अभिमान। इसी राष्ट्रीयता ने उन्हें इस योग्य बनाया कि वे राज्यहीन होने पर भी अपनी जातिगत तथा चरित्रगत विशेषता को कायम रख सके। यह तो हुआ उनकी राष्ट्रीयता से लाभ। किन्तु जब यह राष्ट्रीयता संकीर्ण

होने लगी और संकुचित अवस्था में उन्हें उचित अथवा अनुचित का ध्यान न रहा तो उनकी राष्ट्रीयता एक अभिशाप बन गई। फिर भी राष्ट्रीयता की भावनाओं को उत्पन्न करना यहूदियों की सभ्यता की मानवता को एक देन है।

(आ) पश्चिमी प्रदेश

प्राक्कथन

मिनोआ की शक्ति का ह्रास होने से पूर्व ही भूमध्य सागर में एक और जाति ने सभ्यता की उन्नति में सहयोग दिया। इस जाति का निवासस्थान फ्यूनीशिया था। ये लोग सेमेटिक जाति के थे। संख्या में न्यून होते हुए भी इनका स्थान प्राचीन सभ्य जातियों के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। ये लोग कुशल नाविक थे और जहाजों द्वारा इन्होंने एक स्थान से दूसरे स्थान को सभ्यता ले जाने और उसका प्रचार करने में भारी काम किया। इनके पूर्वज पहिले बेबीलोन में रहते थे और उन्होंने आकर इस देश को अपना निवास-स्थान बना लिया था। इन्होंने व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया और भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर अपने बंदरगाह स्थापित किये। इनमें से टायर तथा सीडोन मुख्य थे। कालान्तर में वे भूमध्यसागरीय देशों में व्यापारी तथा नाविकों की तरह फैल गए। समुद्र पर व्यापार करने वाली इस सेमीटिक जाति को फ्यूनी-शियन जाति कहते हैं। इनमें से अधिकांश स्पेन में रहने लगे। जिब्राल्टर के पार अपने जहाज भेजने भी प्रारम्भ किये और उत्तरी अफ्रीका के तट पर अपने व्यापारिक स्थान कायम किए। इनका एक प्रमुख शहर कार्थेज था जिसने आगे चलकर इतनी ख्याति प्राप्त कर ली। कार्थेज के अतिरिक्त इनके प्रसिद्ध नगर बिब्लोस, सीडोन तथा टायर मुख्य थे। ये सभी नगर प्रसिद्ध बंदरगाह थे। इन शहरों से भूमध्यसागरीय देशों को जहाज प्रत्येक मौसम में जाया करते थे।

फ्यूनीशियन लोगों की सभ्यता—व्यापार तथा उपनिवेश

इस जाति की सभ्यता सामुद्रिक थी। इनके बंदरगाहों से उस समय के प्रसिद्ध देशों को जहाज आया जाया करते थे। सीडोन से बेबीलोन का व्यापार ऊँटों के काफिलों द्वारा होता था। इस व्यापार को फ्यूनीशियन लोगों ने हथिया रखा था। सीडोन से व्यापार का पश्चिमी मार्ग नील के मुहाने से होता हुआ अफ्रीका के उत्तरी समुद्री तट से गुजरता था। एक मार्ग सीडोन से नील के मुहाने से होकर मेम्फिस शहर को जाता था। कहना न होगा कि इन सब व्यापारिक नगरों तक

व्यापार करने के कारण फ्यूनीशिया के लोग धनधान्यपूर्ण हो गए और उन्होंने सभ्यता-प्रचार में बहुत योग दिया।

उनके देश की प्राकृतिक स्थिति भी ऐसी थी कि वे आसानी से नाविक बन सकते थे। देश पहाड़ी था और भूमि के अंदर समुद्र कई स्थानों पर घुस गया था जिससे खाड़ियाँ और स्वाभाविक बंदरगाह बन गए थे। लेबनन पर्वत देश के बीच में स्थित था। इस पर्वत पर देवदार की लकड़ी प्रचुर मात्रा में होती थी जिससे यहाँ जहाज आसानी से बनाए जा सकते थे। इस कारण यहाँ के निवासियों ने जहाज बनाने और सामुद्रिक यात्रा करने में काफी उन्नति की। प्राचीन संसार के ये सबसे प्रसिद्ध नाविक थे। उन्हें कुतुबनुमा का प्रयोग न आता था इसीलिये वे केवल दिन में ही जहाज ले जा सकते थे। रात को वे समुद्र के किनारे ठहर जाते थे। जहाज चलाते समय भी वे अपने जहाज जमीन से ज्यादा दूर नहीं ले जाते थे। रात्रि के समय जहाज चलाते समय दिशाओं का ज्ञान ध्रुव तारे से करते थे। वस्तु के बदले में वस्तु देकर ही उनका व्यापार चलता था और मौका मिलते ही समुद्र पर चलने वाले यात्रियों को लूट भी लेते थे। व्यापारी अपना व्यापार स्वतंत्र रूप से करते थे और सामुद्रिक रास्तों का भेद किसी दूसरे को न बताते थे। व्यापार करने में लिखना, पढ़ना और हिसाब रखना जरूरी होता है। इन्होंने भी इन तीनों गुणों को सीख लिया। हिसाब रखना असीरिया निवासियों से सीखा और मिस्रवासियों से लिखना। यद्यपि मिस्रवासियों की लेखन-विधि में इन्हें बहुत से हेर फेर करने पड़े थे और इस कारण यह वर्णमाला इनकी अपनी ही बन गई थी। इसी वर्णमाला को इन्होंने यूनानवासियों को सिखाया। इस प्रकार सभ्यता का आदान प्रदान एक स्थान से दूसरे स्थान को उनके जहाजों द्वारा हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि सभ्यता जातियों के पारस्परिक सहयोग के कारण उन्नति कर सकी है। किसी जाति विशेष का उस पर कभी एकाधिपत्य नहीं रहा है। व्यापार और वाणिज्य में इन लोगों का ध्यान इतना अधिक लगा था कि वे सभ्यता के अन्य अंगों जैसे कला-कौशल, वास्तु-विद्या तथा चित्रकला की ओर कभी पर्याप्त ध्यान न दे सके। ऊपर कहा जा चुका है कि समुद्र के अतिरिक्त स्थल पर भी वे ऊँटों के काफिलों द्वारा व्यापार करते थे। उनके काफिले देशों के आंतरिक भागों से सामान लेकर बंदरगाहों पर लाते थे और यहाँ से समुद्र द्वारा यह सामान एक देश से दूसरे में पहुँचता था। अरब से सुगन्धित पदार्थ, भारत से मसाले और हाथी दाँत का सामान, मिस्र से सूती सामान, अफ्रिका से शुतुर्मुर्ग के पर,

सोना, स्पेन से अनाज, यूनान से तांबा, टीन, संगमरमर, फारस से कालीन और गलीचे, और काकेशिया से गुलाम लाते थे और उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समान उनके देश में भी तैयार होता था जैसे रेशमी वस्त्रों तथा मखमल आदि पर सुनहरी काम, बर्तन तथा हीरे जवाहरात, पारदर्शी शीशा। इसे भी वे जहाजों में लाद कर भेजा करते थे। सीडान जो इनका एक प्रसिद्ध शहर और बंदरगाह था कालान्तर में इतना प्रसिद्ध हो गया कि वहाँ के निवासियों ने साइप्रस, रोहडीशिया तथा एजिया द्वीप समूह के अन्य द्वीपों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये। वे काले सागर तक भी पहुँचे जहाँ से वे सोना, चांदी, टीन तथा दासों को लाते थे। मिस्र के राजाओं ने सीडान के निवासियों को अपने राज्य में व्यापारिक कोठियाँ खोलने और विदेशों से व्यापार करने का एकाधिपत्य दे रक्खा था। इस वैभव का यह परिणाम हुआ कि फिलिस्टाइन जाति के लोगों ने सीडान पर हमला कर दिया और उसे तहस नहस कर डाला। यह घटना १३ शताब्दि ई० पूर्व की है।

तत्पश्चात् टायर्स फ्यूनीशिया का प्रसिद्ध शहर हो गया। अंतर केवल यही था कि सीडोन निवासियों ने तो अपना ध्यान भूमध्यसागरीय पूर्वी देशों के व्यापार की ओर रक्खा था किन्तु टायर निवासियों ने पश्चिम की ओर। यूनान के समुद्री तट के निवासियों के साथ व्यापार करते करते वे सिसली, माल्टा, उत्तरी अफ्रीका तथा स्पेन पहुँचे। जिब्राल्टर पार करने के पश्चात् वे आधुनिक एन्डेलूशिया पहुँचे और वहाँ से ऊन, तेल, अनाज तथा चांदी लाकर उसे दूसरे देशों को भेजा। एक स्थान से उन्हें टीन भी मिली थी। कुछ और साहसी नाविक अफ्रीका के अंदर सेनेगल नदी तक गए और लिम्पोपो नदी के समीप स्थित सोने की खानों से सोना निकालना भी प्रारम्भ किया था।

किन्तु इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य था उपनिवेश स्थापित करना। ये उपनिवेश तीन प्रकार के थे। मिस्र जैसे सभ्य देशों में फ्यूनीशिया के निवासी व्यापार के लिये रहने लगे। मिस्र के राजाओं की आज्ञा से उन्होंने व्यापारिक कोठियाँ बनाईं और बाजारों में अपनी स्वतन्त्र मंडियाँ बनाईं। असभ्य जातियों के बीच में उन्होंने समुद्री तट के आसपास व्यापारिक कोठियाँ और गाँव बसाये। उनमें स्थानों की किलाबन्दी भी की और वहाँ मंदिर भी बनवाये। तीसरे प्रकार के वे उपनिवेश थे जो उन्होंने वहाँ के निवासियों से छीन कर अपने आधीन किया था और उन स्थानों का शासन सीधे टायर की सरकार

द्वारा नियत कर्मचारियों द्वारा होता था। इनमें से मुख्य स्पेन में केडिज़, उत्तरी अफ्रीका में उटिका तथा सिसली में पालरमो थे। ८१४ ई० पू० में टायर शहर के कुछ धनी मानी पुरुष आन्तरिक झगड़ों से दुःखी होकर अपनी मातृभूमि को छोड़ कार्थेज में जाकर आबाद हुए। कालान्तर में कार्थेज फ्यूनीशियन सभ्यता का केन्द्र तथा व्यापार में प्रमुख हो गया। धन-धान्य में भी काफी प्रचुरता हुई।

कारथेज की सभ्यता

भूमध्यसागरीय सभ्यताओं में कारथेज की सभ्यता एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पहिले फ्यूनीशिया के व्यापारियों तथा नाविकों का वर्णन किया जा चुका है। अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर फ्यूनीशिया के कुछ व्यापारियों ने यह शहर बसाया था। इस शहरकी स्थापना लगभग ८०० वर्ष ई० पू० में हुई थी। कालान्तर में यह स्थान अपनी सामुद्रिक शक्ति तथा व्यापार के कारण भूमध्यसागर की प्रमुख शक्तियों में गिना जाने लगा। समीपवर्त्ती देशों का वाणिज्य तथा व्यवसाय भी इन्होंने हथिया लिया और दूर दूर के देशों में जहाज भेजकर सभ्यता के आदान प्रदान में सहयोग दिया। प्राचीन नगर राज्यों की भाँति यह स्थान भी प्रजातन्त्र था। हाँ, व्यापारी तथा धनधान्यपूर्ण होने के कारण सत्ता कुछ धनी आदमियों के ही हाथ में आ गई थी। अधीनस्थ देशों के साथ बड़ा बुरा बर्ताव होता था।

कारथेज की स्थापना के साथ ही साथ भूमध्यसागर में एक दूसरा प्रजातंत्र स्थापित हुआ। वह था रोम का प्रजातन्त्र। यद्यपि इस प्रजातंत्र का वर्णन आगे चल कर अधिक विस्तार के साथ किया जायगा, तथापि यहाँ इतना कहना नितान्त आवश्यक है कि इन दोनों प्रजातन्त्रों का भावी इतिहास पारस्परिक संघर्षों तथा लड़ाई झगड़ों से भर गया। रोम अपने प्रतिद्वन्द्वी का वैभव फूटी आँखों न देख सका और उसने बर्बरता तथा भ्रष्टाचरण का उदाहरण विश्व के सामने रक्खा। किन्तु प्रारम्भ में दोनों प्रजातन्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। यहाँ तक कि जब रोम पर सिकन्दर के एक वंशज पिरहस ने आक्रमण किया और विजय की आशा में जब वह इस प्रजातन्त्र को कुचलने ही वाला था तो कारथेज की सामुद्रिक सहायता से ही रोम की स्वाधीनता सुरक्षित रह सकी थी। पिरहस ने यह भविष्य वाणी की थी कि सिसली द्वीप रोम तथा कारथेज के पारस्परिक युद्धों का स्थल बन जायगा। यह भविष्य वाणी ठीक निकली और दोनों देशों में काफी समय तक लड़ाइयाँ चलती रहीं। और रोम ने अपने प्रतिद्वन्द्वी का अस्तित्व नष्ट करके ही दम लिया। इतिहास में इन युद्धों को प्यूनिक युद्ध कहा जाता है।

पहिला युद्ध २६४ से २४१ वर्ष ई० पू० तक रहा। इस युद्ध में कारथेज की पराजय हुई और सिसली का द्वीप उसके हाथ से निकल गया। दूसरा घातक प्रभाव इस युद्ध का कारथेज के लिये यह हुआ कि सामुद्रिक प्रभुत्व—जिसे कारथेज ने यूनानियों के पतन के बाद अपने हाथ में रक्खा था—अब समाप्त हो गया और उसके स्थान पर अब रोमवासियों का प्रभुत्व हो गया। अपनी इस पराजय से खीझ कर कारथेज के एक प्रसिद्ध सेनानी हैनीबाल ने रोम से बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। यह युद्ध २१८ वर्ष ई० पू० में प्रारम्भ हुआ-इसे दूसरा प्यूनिक युद्ध कहते हैं। यह युद्ध हैनीबाल का युद्ध भी कहा जाता है क्योंकि इसका प्रारम्भ, इसका संचालन और अन्त हैनीबाल ने किया था। यह युद्ध २०२ वर्ष ई० पू० तक होता रहा। हैनीबाल एक भारी सेना लेकर कारथेज से रवाना हुआ। सिकन्दर तथा नैपोलियन की भाँति हैनीबाल इतिहास के गिने चुने योद्धाओं में गिना जाता है। आल्प्स पर्वत को पार करता हुआ यह योद्धा इटली पहुँचा और रोम की सेना को ट्रेबिया नदी के तथा केन के युद्ध में पूर्णतया हरा दिया। किन्तु इस आपत्तिकाल में रोम ने धैर्य्य तथा साहस से काम लिया। फेबियस के आधिपत्य में रोम की सेनाओं ने एक प्रणाली का आश्रय लिया। यह प्रणाली 'फेबियन' कहलाती है। इसके अनुसार फेबियस ने डट कर खुल्लम खुल्ला हैनीबाल की सेना का मुकाबिला करना छोड़ कर पीछे हटना प्रारम्भ किया और इस प्रकार विजयी हैनीबाल को पराजित किया। इस नीति के अतिरिक्त तीन और कारण हैनीबाल की पराजय में सहायक हुए। पहिला कारण यह था कि हैनीबाल का आधिपत्य कैपुआ के अतिरिक्त किसी अन्य इटली के नगर पर न हुआ था। इस प्रकार उसे वहाँ की जनता से कोई सह-योग न मिल सका। दूसरा कारण एक प्रसिद्ध रोमन सैनिक सिपियो की रण-कुशलता थी। उसने स्पेन में कारथेज के साम्राज्य को उजाड़ना शुरू किया जब कि हैनीबाल रोम के साथ युद्ध में व्यस्त था। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि हैनीबाल का सम्बन्ध कारथेज से एकदम कट गया था। सामुद्रिक सत्ता रोम के आधीन होने के कारण कारथेज से युद्ध का सामान तथा सैनिक भेजना कठिन ही नहीं असम्भव था। इतना ही नहीं हैनीबाल के शत्रुओं ने कारथेज में उसकी नीति के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया और यह माँग रक्खी कि रोम के साथ किन्हीं शर्तों पर संधि कर ली जाय। पन्द्रह वर्ष तक इटली में रहने के पश्चात् हैनीबाल को वाध्य होकर यह देश छोड़ देना पड़ा। कारथेज को अपमान का कड़वा घूंट पी जाना पड़ा। उसने स्वीकार किया कि कारथेज का जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया जावेगा (केवल दस जहाज रखने

की अनुमति उसे दी गई), उसने स्वीकार किया कि स्पेन का प्रान्त रोम को सौंप दिया जायेगा और उसने यह भी स्वीकार किया कि युद्ध का हरजाना (चौबीस लाख पौण्ड) भी वह दे देगा। किन्तु रोम इससे भी संतुष्ट न हुआ। उसने शर्त रक्खी कि हैनीबाल रोम को समर्पित कर दिया जाय। रोमन जनरल सिपियो ने हैनीबाल के प्रति उदारता दिखानी चाही किन्तु प्रतिहिंसक सीनेट ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। हैनीबाल ने इस अपमानजनक शर्त से छुटकारा पाने का उपाय कारथेज छोड़कर दूसरे स्थान में आश्रय लेना सोचा। किन्तु वहाँ भी रोमन सैनिकों ने उसका पीछा किया। १८३ वर्ष ई० पू० में इस योद्धा ने विष खाकर आत्महत्या की।

तीसरा प्यूनिक युद्ध १४९ वर्ष ई० पू० में प्रारम्भ हुआ। इसका मुख्य कारण रोम के एक जनरल केटो की प्रतिहिंसा की नीति के परिणाम स्वरूप हुआ। केटो एक बार कारथेज गया था। वहाँ उसे कारथेज का वैभव तथा गौरव देखकर भारी ईर्षा हुई। उसने निश्चित किया कि कारथेज का वैभव नष्ट करना चाहिये। कारथेज के अंतर्गत न्यूमीडिया नाम का एक प्रान्त था। रोम ने न्यूमीडिया को उत्साहित किया कि वह कारथेज को परेशान करे। फिर पीछे कारथेज पर यह आक्षेप लगाया गया कि उसने न्यूमीडिया के साथ अनुचित व्यवहार किया है। १४९ वर्ष ई० पू० में कारथेज पूर्णतया नष्ट कर दिया गया। हल जोत कर इस स्थान का प्राचीन गौरव तथा शान नष्ट कर दी गई और इस स्थान को फिर से बसाने वाले को भारी दंड की धमकी!!

इस प्रकार कारथेज का गौरव सदैव के लिये नष्ट हो गया और इस धनाढ्य शहर का केवल नाम मात्र ही रह गया।

छठा अध्याय

प्राचीन यूनान का वैभव

प्राक्कथन

भूमध्यसागरीय जिस सभ्यता ने यूरोप की सभ्यता पर सबसे अधिक प्रभाव डाला वह थी यूनान की सभ्यता। वर्तमान यूरोप की सभ्यता की जननी यूनान की सभ्यता है। यूनान ने कला कौशल, साहित्य, दर्शनशास्त्र, विज्ञान आदि ज्ञान की समस्त शाखाओं का वैज्ञानिक अध्ययन तथा पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया। जीवन का कोई अंग शायद अछूता हो जिस पर इन महापुरुषों ने अपने विचार न प्रकट किये हों—ज्ञान की कोई शाखा शायद ही बची हो जिस पर यहाँ के मनीषियों ने तर्कपूर्ण गवेषणा न की हो। क्या राजनीति, क्या कला, क्या ज्योतिष, क्या ज्यामिति शास्त्र, क्या शिक्षा तथा क्या तर्कशास्त्र—इस देश के विद्वानों ने सभी विद्याओं का मनन किया और सब विचारधाराओं को प्रभावित किया। इसी कारण शेली ने ठीक ही कहा था कि वर्तमान यूरोप की सभ्यता यूनानियों की देन है और प्रत्येक यूरुपवासी के जीवन के सभी अंगों पर यूनानियों की अमिट छाप है। इन पृष्ठों का उद्देश्य प्रारम्भ में यूनान का इतिहास बताना तत्पश्चात् वहाँ की सभ्यता और उसका मानव जाति पर प्रभाव कूतना है।

यूनान का प्राचीन इतिहास

अन्य आर्य जातियों की भाँति प्राचीन यूनानवासी भी इस देश में बसने से पहिले भ्रमणशील थे। वे मध्य यूरोप के देशों से प्राचीन आर्यों के झुण्डों से अलग होकर यूनान की ओर बढ़े। एक झुण्ड ईरान होता हुआ भारत आया। यह बात हमें इन देशों की भाषाओं के मौलिक स्वरूप को देखने से ज्ञात होती है। कब ये लोग यूनान में बसे यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि १५०० ई० पू० में इस प्रायद्वीप में बस गए थे। यूनान में भी इन लोगों के अलग अलग झुण्ड थे जिनमें डोरियन, एकियन आदि मुख्य हैं। अपने कल्पित पूर्वज हेलन के नाम पर ये लोग अपने को हैलन भी कहते थे।

यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन कवि होमर ने अपने ग्रंथों इलियड तथा ओडिसी में यूनान के प्राचीन निवासियों की सामाजिक राजनीतिक दशा का अच्छा

चित्र चित्रण किया है। इन लोगों ने घूमना फिरना छोड़कर गाँवों को बसाया। कालान्तर में गाँव शहरों में परिणत हो गए और अन्य प्राचीन निवासियों की भाँति यहाँ भी शहर राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों के राजा होते थे और उन्हें शासन में सलाह देने के लिये धनाढ्य तथा प्रभावशाली सरदारों की कौन्सिलों और साधारण नागरिकों द्वारा चुनी हुई असेम्बली भी होती थीं जिनके अधिकार नाम-मात्र के थे। राजा युद्ध का संचालक भी था और पुरोहित भी। कहना न होगा कि कौन्सिलों ने कालान्तर में इन राजाओं के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और सर्वसाधारण के अधिकारों को भी कम कर दिया। आठवीं शताब्दि ई० पू० में इन राजतंत्रों का नाश हो गया और उनके स्थान पर धनिकों के उच्च तंत्र स्थापित हुए। इनसे भी राजनीतिक सत्ता निकलकर निरंकुश शासकों के हाथ आई। इस तंत्र का भी अन्त ५०० ई० पू० में हुआ। निरकुश शासकों के समय में शासन-प्रबन्ध की दशा बिगड़ती चली गई। उनके अत्याचारों से दुखी होकर बहुत सी जनता विदेश जाने की सोचने लगी और इस प्रकार उपनिवेशों की स्थापना हुई। इन दोनों कारणों के साथ साथ यूनानवासियों का साहसी स्वभाव उपनिवेशों की स्थापना में सहायक हुआ। काले सागर के आसपास बहुत से उपनिवेश स्थापित हुए जिनमें अनाज उगाकर यूनान भेजा जाता था। इन उपनिवेशों से कच्चा माल यूनान आता था और यहाँ गुलामों की सहायता से बहुत सा सामान तैयार होता था। इस प्रकार इन उपनिवेशों से वाणिज्य तथा व्यवसाय की उन्नति हुई। जहाज बनाने की कला की भी उन्नति हुई।

ऊपर निरंकुश शासकों के अत्याचारों का उल्लेख किया जा चुका है। जनता को इन अत्याचारों से बचाने के लिये प्रचलित कानूनों का संग्रह किया गया। ६२४ ई० पू० ड्रेको ने यूनानवासियों के लिये एक लिखित संग्रह संकलित किया। इस संग्रह में बड़े क्रूर कानून थे और इन्हें अधिक नम्र बनाने का कार्य सोलन को सौंपा गया। उसने ५९४ ई० पू० में अपने कानूनों का संग्रह किया। उपनिवेशों की स्थापना के साथ साथ इस काल में यूनानी कला तथा साहित्य की भी उन्नति हुई जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

पहले सोलन के संग्रह का वर्णन किया जा चुका है। यद्यपि सोलन ने सर्वसाधारण की आर्थिक तथा राजनीतिक असुविधाओं को दूर करने का प्रयास किया तथापि निरंकुश सत्ताधारियों की शक्ति कम करने में वह असफल रहा।

स्वाधीनता-प्रिय यूनानवासी निरंकुशों के शासन को सहन करने के लिये तैयार न थे। उन्होंने इन शासकों को बलपूर्वक हटा दिया और उनके स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना की।

यूनान में प्रजातंत्र तथा ईरान से युद्ध

इसी प्रजातंत्र काल में यूनानवासियों के चरित्र को कसौटी पर कसा गया। ईरान के राजा दारा तथा उसके पुत्र ज़रसीज़ ने यूनान की स्वाधीनता को हरण करना चाहा किन्तु यूनानवासियों ने उन्हें खदेड़ दिया और अपनी स्वाधीनता को कायम रखा। यह यूनान के इतिहास की प्रसिद्ध घटना है इसलिये इस पर अधिक विस्तार पूर्वक विचार करना आवश्यक है।

ईरान निवासी भी आर्य थे। किन्तु वहाँ वालों की सभ्यता तथा यूनान की सभ्यता में आकाश पाताल का अंतर था। इसके अतिरिक्त ईरानवासियों ने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया था। यह साम्राज्य मकदूनिया से लेकर भारतवर्ष तक फैला हुआ था। यूनानवासी पूर्व की ओर बढ़ रहे थे और ईरान वाले पश्चिम की ओर। दोनों के बीच लिडिया का राज्य था। ईरान के राजा दारा ने पहिले लिडिया को जीता और तत्पश्चात् एशिया माइनर में स्थित यूनानियों को बलपूर्वक दबाया। उसने सोचा कि उसके मनसूबे पूर्ण होने में सबसे बड़ी बाधा यूनान है। यूनान को नष्ट करने के विचार से एक बहुत बड़ी सामुद्रिक सेना तैयार की गई और ४९० ई० पू० में एथेन्स से २० मील दूर पूर्व की ओर माराथान के स्थान पर यह बेड़ा पहुँच गया। एथेन्सवासियों ने इस आपत्ति का सामना दृढ़ता से किया। पहिले स्पार्टा को मिलाने का प्रयत्न किया गया किन्तु वहाँ से कोई सहायता न मिल सकी। आखिर एथेन्स को अकेले ही इस आपत्ति का सामना करना पड़ा और माराथान की लड़ाई में यूनान को पूर्ण सफलता मिली। दारा ईरान वापिस लौट आया।

माराथान की विजय से यूनानवालों ने एक और पाठ सीखा। माराथान के विजेता योद्धा वीर थेमिस्टोक्लीज़ ने यह प्रस्ताव रखा कि यूनान को सामुद्रिक आक्रमण से सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय यूनान के जहाजी बेड़े को शक्तिशाली बनाना है। उसका प्रस्ताव मान लिया गया और जब दारा के पुत्र ज़रसीज़ ने ४८० ई० पू० में फिर यूनान पर आक्रमण किया तो इस जहाजी बेड़े ने सेलामिस के स्थान पर ईरान के जहाजी बेड़े को परास्त कर दिया।

दारा की मृत्यु इस पराजय के पाँच वर्ष बाद हो गई। उसके पुत्र ज़रसीज़ ने एक विशाल सेना ले यूनान-विजय के लिये कूच किया। दर्रा डार्डेनेलीज को पारकर यह सेना स्थल के मार्ग से आगे बढ़ी और समुद्री मार्ग से जहाज़ी बेड़ा। यूनानवासियों ने आपसी मतभेदों को दूर कर इस आपत्ति का मुकाबिला किया। उन्होंने थर्मापोली के स्थान पर शत्रु से मोर्चा लिया। विशाल ईरानी सेना इस स्थान से होकर यूनान में घुसना चाहती थी। केवल मुट्ठी भर सैनिक वीर इस दर्रे के मुँह पर देश-रक्षा के निमित्त कटिबद्ध थे। स्पार्टा का वीर राजा ल्यानिडास अपने ३०० वीर साथियों के साथ प्रस्तुत था। उसके साथ ११०० वीर यूनानी भी थे। यूनानी सेना हटती जा रही थी और ये वीर ईरान-वासियों को रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। ईरानी सेना प्राण पण से आगे बढ़ रही थी किन्तु स्वाधीनता के यह पुजारी उन्हें आगे बढ़ने से रोक रहे थे। एक एक कर सभी वीरों ने अपने प्राणों की आहुति दे दी किन्तु यूनान की स्वाधीनता सदैव को सुरक्षित हो गई। थर्मापोली के दर्रे पर ल्यनिडास की मूर्ति आज भी मौजूद है और दर्शकों को यूनानियों के देश-प्रेम, त्याग, शूरवीरता के भावों से आज भी ओतप्रोत कर देती है। जिस स्थान पर ल्यानिडास और उसके वीर सैनिक गिरे थे वहाँ पर ये शब्द अंकित हैं।

पथिक जा संदेश दो, स्पार्टा को हर्ष से,
मान कर आदेश उसका, हम पड़े हैं गर्व से।[1]

माराथान और थर्मापोली की विजयों को सेलेमिस (४८० ई० पू०), प्लेटिया तथा माइकेल (४७९ ई० पू०) की विजयों ने पूरा कर दिया। ईरान के स्वप्न सदैव के लिये नष्ट हो गये।

यूनान के इतिहास का स्वर्ण-युग

४७९–३३८ ई० पू० का इतिहास यूनान का स्वर्ण-काल है। इस काल में विश्व साहित्य के सर्वोत्तम नाटक—जिनके रचयिता सोफोक्लीज, ऐसकीलस तथा यूरीपिडीज थे—लिखे गये। यूनान के प्रसिद्ध भवन इसी समय बनाये गये और वास्तु-कला की अद्वितीय उन्नति हुई। यूनानी दर्शनशास्त्र तथा शिक्षा में सुकरात और उसके शिष्यों ने आश्चर्यजनक कार्य किया। किन्तु यह सब होते

---

१. "Go tell to Sparta, thou that passed by, That here obedient to their words we lie."

हुए भी इस काल में एथेन्स तथा स्पार्टा में इस बात पर विवाद चला कि यूनान को साम्राज्यवादी नीति का आश्रय लेना चाहिये अथवा नहीं।

ईरान की पराजय के पश्चात् थेमिस्टोक्लीज़ यूनान का नेता रह गया। उसकी नीति साम्राज्यवादी थी। स्पार्टा इसके विपरीत अपनी प्रचलित नीति से संतुष्ट था। दोनों विचारधाराओं में संघर्ष हुआ। किन्तु अन्त में साम्राज्यवादी विचारधारा विजयी हुई। एथेन्स के नेतृत्व में उन शहरों ने अपना गुट बनाया जो हाल ही में ईरान के बन्धन से मुक्त हुए थे। इस प्रकार डेलिया-लीग की स्थापना हुई। इस लीग के सेनापति ने एज़िया द्वीपसमूह से ईरानवालों को निकाल बाहर किया। कुछ समय पश्चात् एथेन्स को स्पार्टा से भी अपनी साम्राज्यवादी नीति की रक्षा के लिये युद्ध करना पड़ा। इस समय वहाँ का नेता पेरीक्लीज़ था। ४५९ ई० पू० में पहला युद्ध प्रारम्भ हुआ। १२ साल तक यह युद्ध होता रहा। इस युद्ध ने इस प्रबल सत्य को चरितार्थ कर दिया कि सब युद्धों से अधिक भयंकर गृह-युद्ध होता है। एथेन्स की शक्ति इस युद्ध से काफी क्षीण हो गई और उसे ३० वर्ष के लिये स्पार्टा से संधि करनी पड़ी। किन्तु फिर युद्ध छिड़ गया। इस प्रकार दोनों देशों में कभी युद्ध और कभी संधि चलती रही। इन सब का परिणाम एथेन्स के प्रजातन्त्र के लिए हितकर न हुआ। उसकी शक्ति निर्बल हो गई और प्रजा को भी इसमें विश्वास न रहा। अंत में ४०४ ई० पू० में स्पार्टा ने अपना गौरव स्थापित कर लिया। स्पार्टा का शासन ४०४ से ३७१ ई० पू० तक रहा। किन्तु कहाँ प्रजातन्त्री एथेन्स और कहाँ निरंकुश सत्तावादी स्पार्टा ! यूनान में निरंकुश सत्ता का बोलबाला था। सेना की सहायता से विरोध का दमन किया जाता था। ३७१ ई० पू० में स्पार्टा का शासनकाल भी थीबिया वालों ने समाप्त कर दिया। इस प्रकार काफी उथल-पुथल के पश्चात् ३३८ ई० पू० में मकदूनिया के राजा फिलिप ने यूनान पर अपना अधिकार कर लिया।

मकदूनिया का गौरव तथा साम्राज्यवादी यूनान

फिलिप दो वर्ष तक ही यूनान का शासक रह पाया था कि ३३६ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई। ३३४ ई० पू० में उसका पुत्र सिकन्दर महान् विश्व विजय की कामना से यूनान से रवाना हुआ। पहले उसने ईरान के सम्राट् को नष्ट किया। तत्पश्चात् मिस्र भी आसानी से उसके आधीन हो गया। उसने बेबीलोन, ईरान आदि देशों को जीत लिया और तुर्किस्तान तथा हिन्दूकुश होता हुआ वह पंजाब तक पहुँच गया। वहाँ के राजा पुरु को उसने झेलम के

युद्ध में हरा दिया। उसकी इच्छा आगे बढ़ने की थी किन्तु शक्तिशाली नंद सम्राट के वैभव के आगे तथा अपने सिपाहियों के असंतोष के कारण वह ऐसा न कर सका और उसे विवश होकर लौटना पड़ा। वह बिलोचिस्तान होता हुआ वापस लौट रहा था कि बेबीलोन में ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी अभिलाषा कार्थेज, इटली तथा स्पेन को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाने की थी किन्तु वाह रे मनुष्य की अभिलाषा।

टालिमयों का शासन

सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य उसके तीन सैनिक अफसरों में विभक्त हो गया। उसके साम्राज्य का एशियाई भाग सिल्यूकस को मिला। यह भाग भूमध्यसागर से लेकर दजला नदी तक था। दूसरा भाग जिसमें मकदूनिया तथा यूनान सम्मिलित थे एन्टीगोनस को मिले। अफ्रीका का प्रदेश टाल्मी को मिला। सिल्यूकस के वंशज कुछ समय पश्चात् सीरिया के आधीन हो गए। टाल्मी के वंशज योग्य शासक थे। उन्होंने मिस्र में एक विशाल बेड़ा बनाया। पर्याप्त काल तक पूर्वी भूमध्यसागर पर उनका अधिकार रहा। किन्तु सिकन्दर के तीनों उत्तराधिकारी अपने पारस्परिक वैमनस्य के कारण शक्तिशाली न रह सके। ऐसी परिस्थिति में रोम ने उन्हें एक एक कर जीत लिया। सबसे अंत में मिस्र की पराजय ३० ई० पू० में हुई।

यूनान की सभ्यता

पिछले पृष्ठों में हमने यूनान के प्राचीन इतिहास का वर्णन किया है। अन्य देशों के इतिहास की भाँति यह भी ईर्षा, द्वेष, धूर्तता तथा नैतिक पतन के कारनामों से भरा पड़ा है किन्तु यह यूनान का वास्तविक इतिहास नहीं है। उसका वास्तविक इतिहास उन राजनीतिक नेताओं, विद्वानों तथा विचारकों की देन है जिनसे प्राचीन यूनान को सभ्य संसार का उज्जवल रत्न समझा जाता है। इन युद्धों तथा राजनीतिक उथल-पुथलों के बीच पेरीक्लीज़ तथा अफलातून (प्लेटो) का यूनान मानव सभ्यता के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आगे के पृष्ठों में इसी यूनान का वर्णन किया गया है।

प्राचीन यूनानवासियों का जीवन के सम्बन्ध में दृष्टिकोण व्यवहारिक तथा कलापूर्ण था। वहाँ के दार्शनिकों ने सत्यं शिवं सुन्दरं की कल्पना को मूर्त रूप दिया और उसे साक्षात् बनाने के साधन भी बताये। राजनीतिक जीवन में यह विचार स्वाधीनता के रूप में सामने आया। प्रजातंत्र तथा नगर राज्य की

स्थापना उसका साधनमात्र था। प्रत्येक नागरिक को अपने शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा की उन्नति करने का पूरा पूरा अवसर दिया जाता था। स्वाधीनता उनके जीवन का प्रमुख अंग थी। स्पार्टा के जीवन के विपरीत जहाँ व्यक्ति का विकास सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति का साधनमात्र था, एथेन्स ने व्यक्ति के स्वच्छन्द विकास पर पूरा जोर दिया और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि समाज का अस्तित्व व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के लिये है। यदि किसी देश की शिक्षाप्रणाली वहाँ के सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का द्योतक है तो यह बात प्राचीन यूनान पर पूर्णतया लागू होती है। वहाँ के मनीषियों ने यह योजना बनाई थी कि शिक्षा प्राप्ति का अधिकार प्रत्येक नागरिक को है। "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क" के सिद्धान्त को मानकर शारीरिक विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती थी कि वह सक्रिय रूप से नागरिक जीवन में भाग ले। इस राजनीतिक शिक्षा द्वारा वे नागरिक जीवन के सभी अंगों का विकास करते थे। जीवन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण जान लेने के पश्चात् हम उनकी राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन करेंगे।

यूनान की राजनीतिक संस्थाएँ

१. एथेन्स का प्रजातन्त्र

ऊपर पेरीक्लीज के एथेन्स का वर्णन हो चुका है। लगभग ३० वर्ष तक वह ऐथेन्स के प्रजातन्त्र का नेता रहा और इसने परोक्ष प्रजातन्त्र की नींव यूनान में सुदृढ़ रूप से रख दी। किस प्रकार नागरिक की स्वाधीनता को व्यावहारिक रूप दिया जाये और किस प्रकार उसकी राजनीतिक क्षमता का विकास हो इसके लिये उसे पर्याप्त अवसर दिये गये। प्रत्येक नागरिक को नगर राज्य की असेम्बली में भाग लेना पड़ता था। न्याय सम्पादन के कार्य में उसे सहयोग देना पड़ता था। सरकारी पदों पर नियुक्त करते समय केवल योग्यता का ही ध्यान रखा जाता था। समाज का एक वंश या गुट दूसरे का शासन नहीं कर सकता था। सर्वसाधारण में नियमों के लिये सम्मान था और प्रचलित रूढ़ियों के प्रति श्रद्धा। यदि किसी नेता के विषय में यह शंका हो जाती थी कि वह इतना लोकप्रिय हो रहा है कि उससे शासन-विधान के लिये भविष्य में खतरा हो जायगा तो उसे राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था। एरिस्टाइड नामक नेता के अधिक लोकप्रिय हो जाने की दशा में एक अपरिचित नागरिक ने यह प्रस्ताव स्वयं एरिस्टाइड के ही सम्मुख रखा कि वह अपना नाम अपने ही हाथों से उसे हटाये जाने वाले प्रस्ताव पर लिख दे

(प्रस्तावक स्वयं लिखना न जानता था) । एरिसटाइड ने पूछा, "क्या एरिसटाइड ने तुम्हें कोई हानि पहुँचाई है ?"

"नहीं, मैं तो उसे पहिचानता भी नहीं हूँ किन्तु बार बार 'न्यायप्रिय एरिसटाइड' का नाम लिये जाने से मैं ऊब गया हूँ ।"

परोक्ष प्रजातंत्र तभी स्वतंत्र हो सकता है जब सर्वसाधारण शिक्षित तथा कर्तव्य परायण हों । पेरीक्लीज़ के समय का यूनानी व्यवहार-कुशल तथा देशभक्त था । शिक्षा का प्रचार होने से राजनीतिक जाग्रति में प्रचुर उन्नति हुई और प्रत्येक नागरिक में देश-सेवा के उदात्त भाव उत्पन्न हुए । इस प्रजातन्त्र का व्यापक और उत्तम प्रभाव उस समय ज्ञात हुआ जब यूनान को ईरान वालों से टक्कर लेनी पड़ी । कहाँ एक ओर विशाल ईरानी सेना, कहाँ दूसरी ओर मुट्ठी भर एथेन्सवासी ? किन्तु एथेन्सवासी अपने प्राणों की बाजी अपनी संस्कृति, स्वाधीनता तथा परम्परा की रक्षा के लिये लगा रहे थे जब कि ईरानी सेना के अधिकांश सिपाही केवल भाड़े के ही टट्टू थे ।

२. स्पार्टा की शासन-प्रणाली

वह परोक्ष जनतन्त्र-प्रणाली केवल एथेन्स तक ही सीमित थी । स्पार्टा में सदैव राजतन्त्र रहा । वहाँ पर राजा भी एक ही नहीं दो होते थे—इस भय से कि एक शक्ति कहीं अधिक न बढ़ पावे । जिस प्रकार एथेन्स के कानून निर्माता ड्रेको तथा सोलन थे उसी प्रकार स्पार्टा के लाइकरगस थे । लाइकरगस ने स्पार्टा के सामाजिक जीवन को वर्गों में विभाजित किया । पहिला वर्ग था स्पार्टा के विशुद्ध नागरिकों का । इसके अंतर्गत वे लोग थे जो अपनी क्रमानुगत वंश पवित्रता को कायम रख सके थे । दूसरे थे वर्णसंकर तथा तीसरे थे दास । कहना न होगा कि राजनीतिक सत्ता पहले वर्ग के हाथ में केन्द्रित थी । उन्हें किसी व्यवसाय तथा वाणिज्य आदि में भाग लेने की आज्ञा न थी । देश की रक्षा करना उनका प्रधान कर्तव्य था । स्पार्टा ने अपना आधिपत्य दूसरे देशवासियों पर किया था । किन्तु अन्य देशों तथा जातियों के विपरीत वे विजित जातियों में हिल मिल नहीं सके थे, ऐसी दशा में उन्हें अपने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना पड़ता था । वह नियन्त्रण इतना प्रबल था कि स्पार्टा ने कभी सोने के सिक्कों का उपयोग नहीं किया—सदा लोहे के सिक्कों का ही उपयोग किया और कभी स्वच्छन्दता पूर्वक बातचीत नहीं की । जन्म के समय प्रत्येक बालक की परीक्षा होती थी कि वह शरीर से स्वस्थ है

अथवा नहीं। दुर्बलों तथा कमजोरों को पर्वतों पर पटक दिया जाता था। केवल बलिष्ठ बालक ही राज्य के नियन्त्रण में जीवित रह पाते थे। यह था स्पार्टा का कठोर नियंत्रण।

३. एथेन्स के प्रजातन्त्र के दोष

ऊपर एथेन्स के प्रजातन्त्र का वर्णन किया गया है। उस प्रजातन्त्र-प्रणाली के गुणों के साथ उसकी त्रुटियों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है। एथेन्स की अधिकांश जनता को जनमत देने का अधिकार न था। एटिका प्रान्त की जनसंख्या २ लाख ८० हजार थी और इनमें से कुल ५० हजार को जनमत का अधिकार था। इनमें से एक लाख तो दास थे, २० हजार विदेशी और शेष स्त्रियाँ और बच्चे। इसका परिणाम एथेन्स के नागरिक जीवन के लिये घातक हुआ। प्रजातन्त्र जनमत का सच्चा प्रतिनिधित्व न करता था। स्पार्टा, थीब्स आदि नगर राज्यों का तो कहना ही क्या? कहना न होगा कि ऐसी विषम अवस्था में नागरिकों में सच्ची एकता नहीं हो सकती थी। और एकता प्राचीन यूनान में थी भी कहाँ? इतना ही बहुत था कि आपत्ति के समय स्पार्टा और एथेन्स एकत्रित हो सके थे किन्तु आगे चल कर यह एकता भी नष्ट हो गई और स्वयं स्पार्टा ने ईरानवासियों से मिलकर एथेन्स की स्वाधीनता का अपहरण किया।

४. यूनानी राष्ट्रीयता

इस संकीर्ण देश-भक्ति तथा वैमनस्य पर विजय प्राप्त करने के बहुत से अवसर यूनानवासियों के जीवन में आया करते थे। यूनान में बहुत सी खेल की तथा कुश्तियों की प्रतिद्वन्द्वताएँ होती थीं जिनमें सभी यूनानी भाग लेते थे। ओलम्पी पर्वत पर ये सभी लोग इनमें भाग लेने के लिये एकत्रित होते थे और इस प्रकार इन खेलों को ओलिम्पिक खेल कहते थे। इनके विजेताओं का राष्ट्रीय सम्मान होता था और इनमें भाग लेना गर्व समझा जाता था। दूसरा सांस्कृतिक बन्धन था प्रसिद्ध कवि होमर की अमर कृतियों का सभी नगर निवासियों द्वारा रसास्वादन। जो स्थान भारत में व्यास तथा वाल्मीकि का है वही यूनान में होमर का है। होमर ने यूनानी देवताओं का गुण वर्णन कर उन्हें जीता-जागता रूप दिया और उन देवताओं को यूनानियों के दैनिक जीवन और हर्ष तथा विषाद से सम्बद्ध कर दिया। होमर की कृतियाँ गायकों तथा चारणों द्वारा पढ़ी जाती थीं। वह वीरों में वीरत्व के भाव संचारित करती थीं। नाट्यकार

उन घटनाओं के आधार पर नाटक लिखते थे। कलाकार उनके चित्र बनाते थे। वास्तु-विद्या निपुण प्रस्तरों की मूर्ति में होमर के आदर्शों को ढालते थे। इस प्रकार राजनीतिक विषमताओं के होते हुए भी उनमें संस्कृतिक एकता थी और यही यूनानियों की सबसे बड़ी देन सभ्य समाज को है।

यूनानी कला, साहित्य तथा दर्शन

होमर ने तत्कालीन संस्कृति पर ही प्रभाव नहीं डाला किन्तु मिल्टन, दान्ते तथा वर्जिल आदि कवियों को भी काव्य-प्रेरणा होमर से ही मिली। प्रसिद्ध शिक्षक हरबर्ट ने होमर के ग्रन्थ 'ओडिसी' को बच्चों के पाठ्य ग्रन्थों में सर्वप्रथम स्थान दिया है। होमर के वर्णित देवी-देवताओं की यह विशेषता है कि वे सांसारिक व्यक्तियों की भाँति रहते सहते तथा कार्य करते हैं। इस प्रकार धर्म को उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया। जीवन के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण पूर्ण रूपेण व्यावहारिक था। जब धर्म की यह दशा थी तो दर्शन की तो बात ही क्या ! उनकी दार्शनिक विचारधारा भी सत्यं शिवं सुन्दरं के आदर्श को प्रतिपादित करती थी। यह आदर्श-जीवन के सभी अंगों में—धार्मिक, कलात्मक, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक—ओत-प्रोत था और यह बात होमर, हेसियड, पिन्डार, सेफो आदि अमर कवियों की कृतियों से प्रकट होती है। एसकिलस, सोफाक्लीज, यूरीपिडीज, एरिस्टोफ़ेन आदि अमर नाट्यकारों ने इसी आदर्श को दृश्य काव्य में वर्णित किया। एसकिलस (५२५—४५६ ई० पू०) दुःखान्त नाटकों का लेखक ही नहीं अपितु एक वीर सैनिक भी था जिसने सेलोमिस तथा माराथान के युद्धों में लेखनी के स्थान पर तलवार का सहारा लिया था। एरिस्टोफ़ेन ने अपने सुखान्त नाटकों तथा उपालम्भों में एथेन्स की पतित जनतन्त्र प्रणाली का विकृत रूप वर्णन किया। उसकी लेखनी से अधिकारियों को एक वक्ता की वाक्चातुरी से अधिक भय लगता था।

साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों में इतिहास भी सम्मिलित था। एथेन्स के दो प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोदोतस तथा थ्युसीडाइडस के विषय में मेकाले का कथन है कि वह प्रत्येक समय का सबसे बड़ा इतिहासकार है। उसने इतिहास की घटनाओं का वर्णन काफी छान-बीन के पश्चात् किया है। एथेन्स के प्रजातन्त्र की कमजोरियों का वर्णन इस व्यक्ति ने सजीव रूप में किया है। उसके समय एथेन्स में साम्राज्यवाद के भाव उदित होते जा रहे थे। थ्युसीडाइडस ने बताया कि जनतन्त्रवाद और साम्राज्यवाद साथ साथ नहीं चल सकते। युद्ध को

हानियों का वर्णन करते हुए इस अमर लेखक ने बताया कि युद्धकाल में सर्वसाधारण तथा अधिकारियों के दिमाग फिर जाते हैं। बुद्धि का दिवाला निकल जाता है और तर्क तथा ज्ञान के स्थान पर अन्धविश्वास तथा अज्ञान प्रबल बन जाते हैं।

सुक़रात का बलिदान

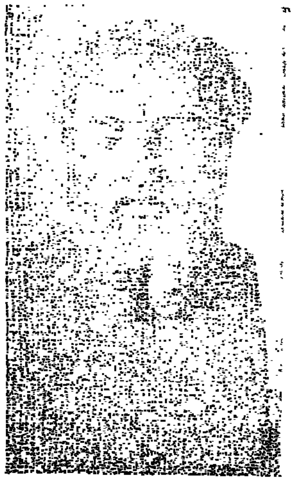
एथेन्स की तत्कालीन अज्ञानता तथा अन्धविश्वास का शिकार जिस महापुरुष को बनना पड़ा वे थे सुकरात। वे अपने समय के सबसे अधिक समझदार तथा न्यायप्रिय व्यक्ति समझे जाते थे। किसी भी विचारधारा के स्वीकार करने से पहिले वे उसे तर्क की कसौटी पर कस लेते थे। अंधविश्वासी तथा अनुदार व्यक्तियों ने उनके ऊपर युवकों को बरगलाने और पथभ्रष्ट करने का अपराध लगाया। उनको विष-प्रयोग द्वारा मरने की राजाज्ञा सुनाई गई। एथेन्सवासियों तथा जजों को सम्बोधित करते हुए सुकरात ने ये अमर वाक्य कहे।

"एथेन्सवासियो! यदि तुम मुझे इस शर्त पर छोड़ना चाहते हो कि मैं सत्य के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा छोड़ दूँ तो मैं आपसे कहूँगा कि जब तक मुझ में जीवन है तब तक मैं अपनी खोजों को जारी रक्खूँगा। मैं नहीं जानता कि मृत्यु कैसी वस्तु है किन्तु इतना मैं जानता हूँ कि जो मार्ग मैंने ग्रहण किया है उसे मैं अपने जीवन में कदापि नहीं छोड़ सकता।" हँसते हँसते सुकरात ने विष का प्याला पी लिया। विश्व के इतिहास में सत्य की बलिवेदी पर यह पहिला बलिदान था। मर कर सुकरात अमर हो गए।

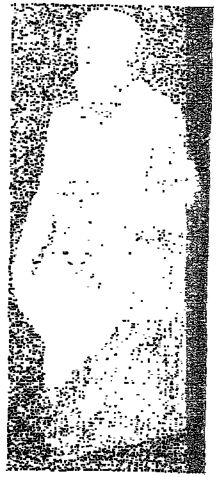
प्लेटो तथा अरस्तू

सुकरात के शिष्य अफलातून (प्लेटो) ने उनकी खोजों को जारी रक्खा। प्लेटो धनी घराने के थे। वे सर्वसाधारण की भावनाओं से सहानुभूति न रख सके। अपनी पुस्तक प्रजातन्त्र (Republic) में उन्होंने दार्शनिक शासकों की कल्पना की है। राज्य का सर्व प्रधान कर्तव्य है न्याय सम्पादन और न्याय सम्पादन हो सकता है संयत और शिक्षित लोकमत से और उस लोकमत का नेतृत्व कर सकता है दार्शनिक वर्ग। इस प्रकार इस विचारक ने अपनी नई विचारधारा को संसार के सम्मुख रक्खा। व्यक्तिगत उच्छृंखलता को कम करने के विचार से अपनी पुस्तक 'कानून' (Laws) में प्लेटो ने कानूनों को अधिक व्यापक तथा अधिक सबल बनाया। अफलातून के शिष्य अरस्तू ने सत्य की

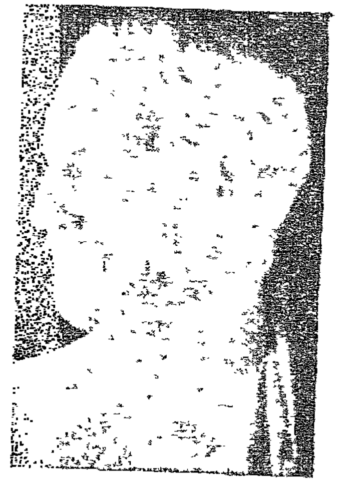
यूनान के पाँचवीं शताब्दी के तीन बड़े पुरुष



हिरोदुत्स



सुकरात



थुसी डाइड

खोज को तो जारी रक्खा ही, राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर भी अपना आधिपत्य दिखाया। अफलातून यदि दार्शनिक था तो अरस्तू वैज्ञानिक। उसने अपनी व्यावहारिक कुशलता तथा क्षमता का परिचय अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा दिया। भौतिक विज्ञान की शाखाओं पर विचार करने वाला यह सर्व प्रथम वैज्ञानिक था। कालान्तर में अरस्तू का ज्ञान विद्यालयों की उच्च शिक्षा में सम्मिलित कर लिया गया और उसकी विचारधारा योरप के सभ्य समाज को अठाहरवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दि तक मार्ग दिखलाती रही। उसका मुख्य ग्रन्थ 'राजनीति' (Politics) है।

विज्ञान

इन दार्शनिकों तथा विचारकों के अतिरिक्त यूनान ने गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, चिकित्सा आदि विषयों में भी आश्चर्यजनक उन्नति की। यूक्लिड एक प्रसिद्ध गणितज्ञ था जिसने ज्यामिति शास्त्र की नींव डाली। पिथागोरस ने भी रेखागणित पर पुस्तकें लिखीं। उसकी कृतियाँ सर्वथा मौलिक थीं। आर्कमिडीज ने विज्ञान में प्रयोगात्मक प्रणाली को जन्म दिया। हिपोक्रेटीज एक प्रसिद्ध चिकित्सक था जिसने शल्यचिकित्सा शास्त्र को जन्म दिया।

किन्तु सबसे अधिक उन्नति यूनान वालों ने वास्तु विद्या, प्रस्तरकला तथा चित्रकला में की। इन तीनों कलाओं में उन्होंने सत्यं शिवं सुन्दरं के आदर्श को सम्यक रूप में उतारने का प्रयत्न किया। अकरोपोलिस पर्वत (हिन्दुओं का कैलास) पर देवी एथीना का मंदिर यूनानी वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। एथीना का मंदिर तथा ओलम्पिया में ज्यूस (इन्द्र) की मूर्ति फीडियास कलाकार की अमर कृतियाँ हैं। प्रोटोजिनीज़ तथा ज़्यूसिस के चित्र यूनानी चित्रकला के सर्वोत्तम रत्न हैं।

यूनान की विश्व के लिये देन

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यूनानियों की सभ्यता की विश्व को क्या देन रही इस पर विचार करना आवश्यक है। ऊपर उनकी राजनीतिक प्रगति, राज्यों तथा सरकारों के भेद, नागरिकों की स्वाधीनता आदि समस्याओं का उल्लेख किया गया है। यह भी बतलाया गया है कि जनतंत्रवाद को यूनानियों ने नागरिक उन्नति तथा विकास का सर्वोत्तम साधन बताया। प्रत्येक युग में प्रत्येक देश के सामने कुछ न कुछ आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ होती हैं जिनका हल वह अपनी बुद्धि तथा परम्परागत संस्कारों के अनुकूल निकालता है। ठीक यही दशा यूनानवासियों की थी।

उनके सामने व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या को तय करना था। इसका निर्णय वहाँ के दार्शनिकों तथा विचारकों ने बुद्धिवाद, प्रजातंत्रवाद, क्रमिक विकास, साम्यवाद आदि के रूप में दिया। उस उपाय से हम सहमत हों न हों किन्तु यह प्रयत्न अवश्य सराहनीय था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यूनानियों ने राजनीतिक, नैतिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं को आगे रखा और उसका हल पूर्णतया व्यावहारिक तथा सरल था। नागरिक स्वाधीनता को क्रियात्मक रूप देना यूनानी विचारकों का ही काम था। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रोमवासियों का आज्ञापालन तथा साम्राज्यवाद के भावों को उन्नत करना था। यदि रोम ने आज्ञापालन का पाठ विश्व को पढ़ाया तो यूनान ने व्यक्तिगत स्वाधीनता का। दोनों के सम्बन्ध से वर्तमान राजनीतिक जगत ने नागरिक के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की परिभाषा और उनके अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को जानकर अपनी समस्याओं का हल निकाला है। कौन कह सकता है कि हमारा हल अंतिम है?

पहिले हम सिकन्दर महान् के आक्रमण का वृत्तान्त कर आए हैं। सिकन्दर के नाम से सिकन्दरिया नगर बसाये गये जिनमें से वर्तमान सिकन्दरिया यूनानी सभ्यता और संस्कृति का प्रधान केन्द्र हो गया। यूनान का ज्ञान-विज्ञान, लेखन-कला, दर्शन आदि पश्चिमी देशों में फैला। इस प्रकार योरप के सभी देश 'हैलन' (यूनान) के पूर्णतया ऋणी बने। इतिहास में इस सभ्यता-प्रचार को हैलनवार' के नाम से पुकारा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि योरप यूनान का कितना ऋणी है! कालान्तर में अरबों ने सिकन्दरिया को जीत लिया। अरबों की मानव सभ्यता को अपनी अलग ही देन थी और अरबों तथा यूनानियों की सभ्यता के सम्मिश्रण से पाश्चात्य सभ्यता अधिकाधिक उन्नत हुई।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि पूर्वीय सभ्यता का आधार आध्यात्मवाद, सेवा-भाव तथा समानता के भाव थे तो यूनानियों की सभ्यता का आधार कुशल व्यावहारिकता थी। यदि एक का आधार आदर्शवाद था तो दूसरी का बुद्धिवाद। कौन नहीं जानता कि व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये दोनों के समन्वय की आवश्यकता है!

सातवाँ अध्याय

साम्राज्यवादी रोम

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में यूनान के वैभव का वर्णन किया गया है। उनका स्वाधीनता प्रेम, उनका बुद्धिवाद विश्व इतिहास की पुनीत विभूतियाँ हैं। यूनान-वासियों के विपरीत रोमनों ने अपनी संगठन शक्ति का परिचय दिया। एक विस्तृत साम्राज्य जो अफ्रीका से लेकर उत्तर मे इंगलैण्ड तक तथा पूर्व में बेबीलोन से लेकर पश्चिम में स्पेन तक था, स्थापित किया और उसे एकता के सूत्र में ग्रथित किया। अनेक सड़कें तथा भवन बना कर आवागमन के साधन सुगम किये और एक कानून, एक ही सम्राट् के लिये भक्ति के भाव उत्पन्न कर तत्कालीन योरोपीय समाज में भ्रातृभाव उत्पन्न किये और उन्हें सभ्य बनाया। यद्यपि कालान्तर में रोम भी अवनति के गढे में गिर गया फिर भी रोम का प्रभाव योरप के भिन्न भिन्न देशों पर पर्याप्त रूप में बना रहा। इस अध्याय में पहिले हम उसके प्राचीन इतिहास का वर्णन करेंगे तत्पश्चात् उसकी सभ्यता और फिर रोमन सभ्यता की विश्व के लिये देन।

रोमन जाति का प्राचीन इतिहास—नगर प्रजातन्त्र

प्राचीन यूनान निवासियों की भाँति रोमन लोग भी आर्य्य जाति के थे। यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इटली में कब आकर बसे। हाँ! एक किंवदन्ती के अनुसार इतना ही पता है कि ७५३ ई० पू० में रोमुलस तथा रोमस ने रोम शहर को आबाद किया था। किन्तु उसका वास्तविक इतिहास ५०६ ई० पू० से प्रारम्भ होता है। इस वर्ष रोम में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इससे पहिले वहाँ के शासनाधिकार धनिकों के हाथ में थे। धनिकों से पहिले एकछत्र शासन था। वस्तुस्थिति इस प्रकार है—पहिले पहल रोम में एट्रसकन जाति का राज्य था। लगभग १००० ई० पू० में इनकी सभ्यता काफी उन्नत थी और पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेशवासियों की तरह उनका मुख्य व्यवसाय खेती करना तथा पशुपालन था। इस जाति के शासक राजा हुआ करते थे। राजाओं की निरंकुश सत्ता को रोमवासियों ने

५०९ ई० पू० में नष्ट कर दिया और प्रजातन्त्र राज्य की स्थापना की, यद्यपि वास्तविक सत्ता धनिकों के हाथ में थी। शासनाधिकार दो अधिकारियों के हाथ में थे जिन्हें कौन्सल कहते थे। इनका चुनाव एसेम्बली द्वारा प्रत्येक वर्ष होता था। किन्तु शासन-नीति के लिये कौन्सलों को धनी नागरिकों की एक सभा के ऊपर आश्रित रहना पड़ता था जिसे सीनेट कहते हैं। इस प्रकार वास्तविक शासनाधिकार सीनेट के हाथों में थे और सीनेट में धनीमानी व्यक्तियों का बोलबाला था। यूनान की भाँति रोम में भी धनिकों का शासन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश हो गया और साधारण प्रजा की दशा दिन पर दिन बिगड़ती चली गई। अंत में अपनी दशा से निराश होकर उन्होंने रोम छोड़कर एक उपनिवेश स्थापित किये जाने की सोची। इस पर धनिकों ने कुछ सुविधाएँ देने का वादा किया। पिछले कर्जे रद्द कर दिये गए, नये कानून बनाए गए जिनके अनुसार सर्वसाधारण (प्लीवियन) को अपने निजी अधिकारी (ट्रिब्यून) चुनने का अधिकार दे दिया गया। तत्पश्चात् सर्वसाधारण को और भी राजनीतिक अधिकार मिले। ४६७ ई० पू० में उन्हें दो कौन्सलों में से एक को निर्वाचित करने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार धनिकों तथा साधारण जनता के भेद-भाव को दूर कर दिया गया। ४५० ई० पू० में कानूनों का संग्रह किया गया और उन्हें जस्ते के पत्रों पर अंकित कर दिया गया। रोम के विद्यार्थियों को इन कानूनों को कण्ठ कर लेना पड़ता था। इस प्रकार रोमनों में भी कानून का उतना ही सम्मान था जितना यूनानियों में। इतना ही नहीं, रोमनिवासी एक कदम और आगे बढ़े। नागरिकों की सम्पत्ति तथा जीवन की रक्षा के लिये व्यापक कानून बनाए गए। आपसी झगड़ों के निर्णय के लिये कानून बने तथा अदालतें स्थापित हुईं। इस प्रकार रोम निवासियों ने दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों के निर्णय के लिये व्यापक कानून बनाये। कालान्तर में समस्त योरोपीय देशों के दीवानी तथा फौजदारी कानूनी संग्रहों का आधार रोम के कानून बन गये और यही रोम की सबसे बड़ी देन योरोपीय देशों को है।

साम्राज्यवाद का सूत्रपात

ऊपर इस बात को उल्लेख किया गया है कि समय समय पर बनाये गए कानूनों से धनिकों तथा सर्वसाधारण का भेदभाव दूर किया गया। असेम्बली जो सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करती थी अब अधिक शक्तिशाली बन गई और कालान्तर में सीनेट के अधिकार भी इसे मिल गए। सीनेट और

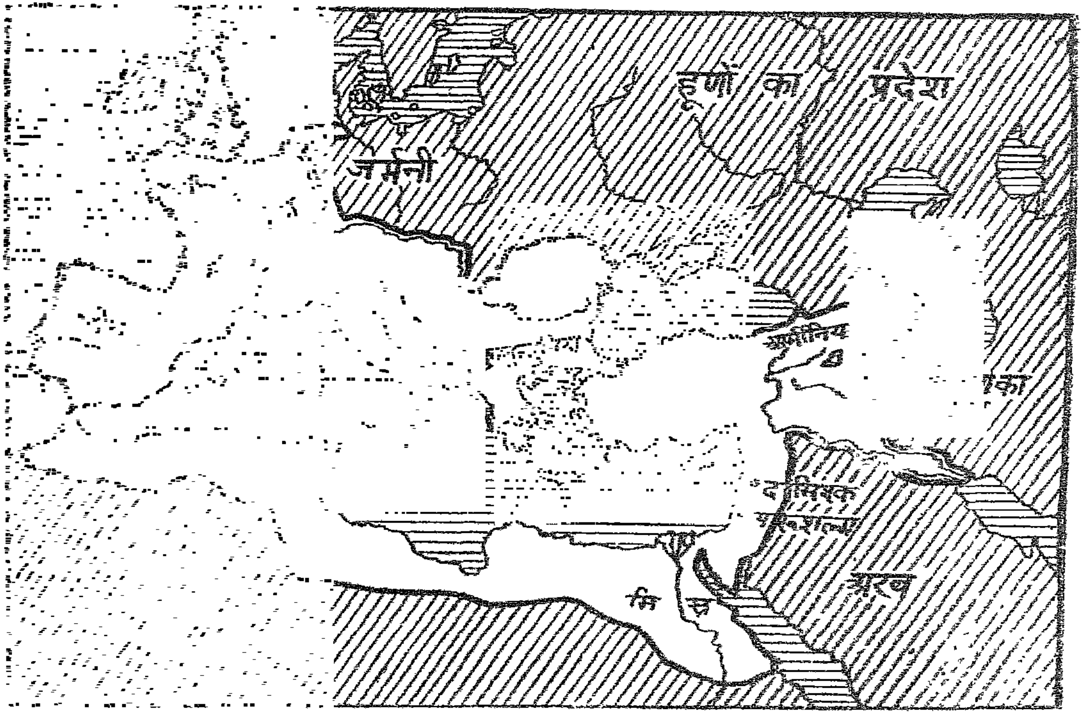
असेम्बली दोनों ने मिलकर अब रोम के राज्य को विस्तृत करने का प्रयास किया और इस प्रकार रोम का साम्राज्यवादी युग प्रारम्भ हुआ किन्तु सम्राट् नामधारी शासकों का उदय बहुत समय पश्चात् हुआ। अब केवल यही हुआ कि यूनान की तरह प्रजातन्त्र-वादी रोम ने दूसरे देशों को अपने आधीन करने का बीडा उठाया। पहिले पहल एट्रसकन आदि जातियों पर अधिकार किया गया। इटली के बाहर उनके दो प्रधान शत्रु थे—सिसली के यूनानी शासक तथा कार्थेज के निवासी। इसी समय गाल (वर्तमान फ्रांस) निवासियों ने रोम के शत्रुओं को मिला कर एक गुट बनाया किन्तु रोम ने उन सब को हरा दिया। इस प्रकार इस नवीन शक्तिशाली देश का गौरव प्रारम्भ हुआ। रोम उसका राजधानी थी। तीसरी शताब्दि ई० पू० तक रोम ने मध्य इटली तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। पाँचवें अध्याय में सिकन्दर के वंशज पिरहस के रोम पर आक्रमण का वर्णन किया जा चुका है। इस युद्ध में रोम ने कार्थेज के जहाजी बेड़े की सहायता से पिरहस को हरा दिया। इसका परिणाम रोम के लिये लाभदायक हुआ। दक्षिणी इटली रोम के आधीन हो गया। किन्तु कार्थेज और रोम के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध अधिक दिनों तक न चल सके। कालान्तर में दोनों प्रजातन्त्रों में भयंकर युद्ध चलते रहे जिन्हें प्यूनिक युद्ध कहते हैं। इन युद्धों का वर्णन कार्थेज की सभ्यता के साथ किया जा चुका है। इन युद्धों का परिणाम न केवल रोम की सामुद्रिक प्रभुता स्थापित करने में हुआ अपितु रोम के आधीन समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेश हो गया। स्पेन से लेकर यूनान तक उसके साम्राज्य का विस्तार हुआ। एशिया माइनर के सम्मिलित होने से रोम का साम्राज्य काफी विस्तृत तथा धनाढ्य हो गया। उसके खलिहानों में इन देशों में उगाया हुआ अन्न भरने लगा। चारों ओर से करों के रूप में द्रव्य की वर्षा होने लगी। धनिक अधिकाधिक धनी होते गए किन्तु निर्धनों की दशा बिगड़ती गई। कई शताब्दियों के घोर युद्धों में न केवल साधारण नाग-रिकों की भारी क्षति हुई, बल्कि इस युद्ध के पश्चात् बहुत से लोग महामारियों के शिकार हुए। और इन युद्धों से लाभ हुआ धनिकों तथा सरकारी कर्मचारियों को। धनिकों ने साधारण प्रजा और निर्धनों को खेल-तमाशों और मनोरंजनों से फुसलाना चाहा। गुलामों के अखाड़ों में कुश्तियाँ होती थीं जहाँ एक आदमी दूसरे को घायल कर देता था। फिर मृतक के शरीर को एक हुक द्वारा एक स्थान पर फेंक दिया जाता था और दूसरा दल लड़ने के

लिये आता था। इस प्रकार रोमन लोग अपनी रक्त-पिपासा तथा बर्बरता का परिचय सभ्य समाज को देते थे। रिश्वतखोरी और बेईमानी का बोलबाला था। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ७० ई० पू० में वीरस सिसली का शासक था। तीन वर्ष बाद तक उसने प्रजा को भारी करों से लाद दिया। उसकी लूट इतनी जबरदस्त थी कि जिस किसी धनिक मनुष्य के यहाँ कोई आकर्षक वस्तु देखी—सोने, चाँदी अथवा हाथीदाँत के बर्तन और आभूषण-उसने सब लूट खसोट लिया। जितना धन उससे लिया गया वहाँ से वह लाया। उसे विश्वास था कि इस धन में से आधा भाग भी मैं रोमन न्यायाधीशों तथा कर्मचारियों में रिश्वत की तरह बाँट दूँगा तब भी मेरे पास इतना बच रहेगा कि उससे मैं शेष जीवन चैन के साथ व्यतीत कर सकूँगा। वीरस ने ही यह कमाल किया हो सो बात नहीं। रोमन नाविक भूमध्यसागर में लूट खसोट के लिये बदनाम थे। भला यह लूट खसोट प्रजा को कब तक धोखे में रख सकती थी? धीरे धीरे रोम में असंतोष बढ़ने लगा।

यह अराजकता अधिक दिनों नहीं चल सकती थी। समय ने पलटा खाया और रोम के सेनापतियों सीजर, कैशियस तथा पाम्पी का सितारा बुलन्द हुआ। किन्तु राजनीतिक सत्ता को सदैव एक ही व्यक्ति से प्रेम रहा है। शीघ्र ही इन तीनों में युद्ध होने लगे। पाम्पी और सीजर के झगड़े आखीर तक चलते रहे। दोनों ही महत्वाकांक्षी थे। बेचारा सीनेट पिछड़ गया यद्यपि दोनों ही उसकी आज्ञा मानने का ढोंग रचते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस प्रकार सीज़र रोम का प्रमुख व्यक्ति बन गया। सीनेट ने ४४ ई० पू० में उसे तानाशाह नियुक्त किया किन्तु रोम में प्रजातन्त्र की परम्परा इतनी दृढ़ थी कि सीज़र का वध ब्रूटस तथा उसके साथियों ने सीनेट भवन के सामने ही कर डाला।

साम्राज्यवादी रोम

किन्तु सीज़र भले ही मर गया हो रोम में साम्राज्यवाद तो टिक ही गया। सीज़र के दत्तक पुत्र आक्टेवियन ने आगस्टस सीज़र के नाम से प्रमुख शासक (प्रिंसेप) का स्थान ग्रहण किया। इस प्रकार प्रजातन्त्र रोम के स्थान पर साम्राज्यवादी रोम का श्रीगणेश हुआ। आगस्टस ३१ ई० पू० से १४ ई० पू० तक राज्य करता रहा। उसका राज्यकाल विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है।



ट्राजन के समय का रोमन साम्राज्य

पश्चिमी तथा पूर्वी साम्राज्य

रोमन साम्राज्य लगभग पाँच सौ वर्ष तक कायम रहा (३१ ई० पू० से ४७६ ई० पू० तक)। सम्राट् ट्राजन के समय यह साम्राज्य सबसे अधिक विस्तृत था। उसका गौरव सन् ३८० ई० तक चलता रहा। मारकस आरेलियस उस समय रोम का सम्राट था। सन् १८० से ३२३ ई० तक का काल लड़ाई झगड़ो तथा आपसी कलह का काल था। इस परिस्थिति पर काबू पाने वाला कोन्स्टेन्टाइन महान् था जिसने रोम के स्थान पर कुस्तुन्तुनिया को अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में बँट गया। पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुन्तुनिया थी और पश्चिमी भाग की रोम। आखिरकार ई० स० १४५३ में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया और रोमन साम्राज्य का पतन हो गया।

शक्तिशाली रोमन साम्राज्य ने लगभग पाँच सौ वर्षों तक राज्य किया। ऑगस्टस के उत्तराधिकारी सौ वर्षों तक यद्यपि निर्बल थे फिर भी किसी न किसी प्रकार शासन चलाते रहे। दूसरी शताब्दि में योग्य और कर्तव्यपरायण तथा शक्तिशाली शासक रहे। इन्होंने साम्राज्य को बढ़ाया, आंतरिक्त शांति स्थापित की। प्रजा में सुख शान्ति रही। किन्तु मारकस ओरेलियस की मृत्यु (१८० ई०) के पश्चात् रोम पतनोन्मुख होने लगा।

इस प्रकार रोम का इतिहास नगर राज्य से प्रारम्भ होकर, उच्च जनतंत्र, जनतंत्र से गुजर कर साम्राज्यवादी हो गया। किन्तु इन सब परिवर्तनो के बीच एक विशेषता रोमन शासन की थी और वह थी सैनिक आधिपत्य। वैभव काल में भी रोमन साम्राज्य सैनिक शक्ति के ऊपर अवलम्बित था। उत्तराधिकार का निर्णय तलवार द्वारा ही होता था। एक योग्य शासक की मृत्यु होने पर अथवा अयोग्य उत्तराधिकारी के सामने सेना के अधिकारियों में राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिये युद्ध होते थे और इस युद्ध का विजेता ही शासक बनता था। यहाँ तक कि सम्राट् का पद सबसे अधिक धन देने वाले को दे दिया जाने लगा। किन्तु सम्राट् चाहे शक्तिशाली हो अथवा निर्बल एक बात अवश्य थी। प्रजा उन्हें देवताओं की तरह पूजती थी। उनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित थीं। राजा की पूजा न करने वालों (जैसे इसाइयों) को घोर दण्ड दिया जाता था। ईसा को सूली पर इसलिये चढ़ाया गया कि उसने रोमन सम्राट् की पूजा करने से इन्कार कर दिया। राज्य का धर्म ही सम्राट्-पूजा थी और इसे

अस्वीकार करने वाला बागी समझा जाता था। इस प्रकार अंतःकरण की स्वाधीनता का पूर्ण विनाश हुआ।

रोमन साम्राज्य के ह्रास के कारण

रोमन साम्राज्य की स्थापना, उसकी उन्नति और ह्रास का इतिहास जान लेने के पश्चात् रोमन साम्राज्य के पतन के कारणों पर विचार करना असंगत न होगा।

ऊपर रोम की फौजी शासन-प्रणाली का वर्णन हो चुका है। इस सैनिक शासन का प्रजा के चरित्र पर क्या प्रभाव हुआ इसे सुगमता पूर्वक सोचा जा सकता है। जब स्वयं शासक सेना के हाथ की कठपुतली बन चुके हो तो सर्व-साधारण की स्वाधीनता और उसके अधिकारों की तो बात ही क्या? स्वेच्छा-चारी और निरंकुश शासन के होते हुए भला लोकमत का विकास कैसे हो सकता था? सेना को संतुष्ट करने के लिये सम्राटों को धन देना पड़ता था और यह धन वसूल किया जाता था धनिकों से तथा प्रजा से।

दूसरा अभिशाप था गुलामी की प्रथा। इस प्रथा ने रोमन सामाजिक संगठन को खोखला कर दिया। राज्य की आमदनी का एक बहुत बड़ा साधन गुलामों की बिक्री था। जहाँ कहीं फौजें देश जीतने के लिये जातीं, गुलामों के व्यापारी भी उनके साथ जाते थे। वे लोग विजित शत्रुओं के बच्चों तथा स्त्रियों को गुलाम बना लेते थे। डेलोस का टापू, जिसे यूनानी पवित्र भूमि समझते थे, दासों के व्यापार की मंडी बन गया। एक दिन में दस दस हजार गुलाम बिक जाते थे। इन गुलामों से निकृष्ट से निकृष्ट सेवाएँ तो ली ही जाती थीं, साथ ही इन्हें सम्राटों तथा धनियों के मनोरंजन के लिये जान भी देनी पड़ती थी। रोम के एक विशाल अखाड़े में एक साथ बारह सौ ग्लेडियेटरों (प्रवीण मल्लों) को एक सम्राट् ने अपनी प्रजा के सम्मुख उपस्थित किया था। एक बार इन लोगों ने अपनी स्वाधीनता के लिये युद्ध भी किया किन्तु बेचारों ने मुँह की खाई और उनकी दशा पूर्ववत् बनी रही। गुलामी की प्रथा प्राचीन यूनान तथा मिस्र में भी थी किन्तु उसका उपयोग इतने संगठित रूप में और इस बर्बरता के साथ रोमनों ने ही किया।

रोमन साम्राज्य के पतन का सबसे बड़ा कारण रोमवासियों की चरित्र भ्रष्टता थी। निरंकुश केन्द्रीय शासन के होने से प्रजा में उत्तरदायित्व का भाव एकदम शून्य हो गया। यद्यपि कुछ सम्राटों ने शहरों को स्थानीय स्वराज्य दे

रखा था किन्तु थोड़े ही समय बाद नगर-सभाओं के कर्मचारियों को सरकारी दमन का शिकार बनना पड़ा। कहना न होगा कि सरकारी दमन से मध्यम वर्ग एकदम नष्ट हो गया। जनता में या तो धनी लोग रह गये या एकदम निर्धन। ठीक इसी समय शहरों में पेशे ग्रहण करना परम्परागत हो गया। प्रत्येक व्यक्ति को उसके पूर्वजों का व्यवसाय ग्रहण करने के लिये बाध्य किया जाता था। इस प्रकार साम्राज्य एक बंदीगृह हो गया जहाँ बेटे पोतो को अपने बाप दादो के पेशे को ही करने का अधिकार था। किन्तु इस चरित्र भ्रष्टता का सबसे बड़ा कारण था रोम निवासियों में विवाह संस्कार के लिये श्रद्धा तथा सम्मान का न रहना। अधिकाश प्रजा शादी करना और संतानोत्पत्ति अभिशाप समझती थी। नवजात शिशुओं को मारने में उन्हें कोई संकोच न होता था। शादी के लिए इच्छुक युवक को पागल समझा जाता था। इस प्रथा का दुष्परिणाम यह हुआ कि रोमन जाति का अस्तित्व ही समाप्त होने लगा। विशुद्ध रोमन नागरिको के स्थान पर उन गुलामों की संख्या बढ़ने लगी जो धन देकर अब स्वतन्त्र हो गये थे। इस प्रकार रोम का वैभव खोखला तथा बनावटी था। बाहरी चमक दमक तथा वैभव के नीचे गरीबों और त्रसितों की आहें छिपी थीं। बाहरी टीपटाप के अंदर स्वार्थपरता तथा ऐय्याशी छिपी हुई थी। ऐय्याशी और भोगविलास की बलिवेदी पर रोम ने अपनी भावी सन्तति का बलिदान कर दिया। चीन और रोम की परम्पराओं में कितना भेद है! चीन में एक व्यक्ति अपनी स्त्री और बच्चों की रक्षा के लिये अपनी जान तक देने को तैयार रहता था किन्तु रोम अपने नवजात शिशुओं की हत्या करने में अपना गौरव समझता था। इस क्रूरता का क्या परिणाम निकला? चीन आज जीवित है और रोम का कहीं ठिकाना नहीं।

बर्बर जातियों के आक्रमण

ऊपर हमने विदेशी आक्रमण का जिक्र किया है। ईसा की पाँचवीं और छठीं शताब्दियों में जर्मनी तथा एशिया की असभ्य जातियों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ किये। रोम की प्राचीन शूरवीरता की कथाएँ हवा हो गईं। रोमन लोग इतने आलसी और निकम्मे हो गए कि सेना में भरती होकर लड़ने की शक्ति उनमें न रही। बाहर के लोगों को सेना में भरती किया जाने लगा। विस्तृत सीमान्त प्रदेशों की रक्षा इन सैनिकों के बस की बात न थी जो सेना में केवल धन कमाने के लिये भर्ती हुए थे। रोमन लोगों के

भूमध्यसागरीय व्यापार तथा जहाजी बेड़े की रक्षा के लिए भी उचित ध्यान नहीं दिया। सम्राट् तो पहिले ही से अपनी निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता के लिये बदनाम थे। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशियों ने साम्राज्य पर आक्रमण किया तो उन्होने उसकी रक्षा की लेश मात्र भी चिंता न की और उसके पतन पर एक भी आँसू न बहाया।

प्रजातंत्र रोम तथा साम्राज्यवादी रोम के विकास तथा पतन का इतिहास देख लेने के पश्चात् हम वहाँ की सभ्यता तथा कला-कौशल का वर्णन करेंगे।

साहित्य तथा कला-कौशल

यद्यपि रोम में यूनानियों की सी साहित्य तथा कला-कौशल की उन्नति नहीं हुई तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि राज्य बढ़ाने की लालसा ने रोम निवासियो को ललितकलाओं से एकदम अपरिचित रखा हो। ऑगस्टस् के शासनकाल में वर्जिल ने अपनी पुस्तक एनीड लिखी, होरेस ने अपनी अमर कृतियाँ इसी समय सभ्य संसार को दीं। वर्जिल तथा होरेस के अतिरिक्त सिसरो सीज़र, लिवी, ओविड, ल्यूक्रीटस आदि कवियों ने अपनी प्रतिभा द्वारा इटली साहित्य का भण्डार भरा। निस्संदेह यह शताब्दि इटली के इतिहास का स्वर्ण युग है। न केवल एक रोमन प्रजातंत्र एक साम्राज्य में परिवर्तित हुआ अपितु एक नये धर्म का भी उदय रोमन साम्राज्य के अंतर्गत यरूशलम में हुआ। यह धर्म ईसाई धर्म था। इस धर्म की उत्पत्ति का वर्णन यथास्थान किया जायगा। साहित्य के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि रोमन साहित्यिकों ने जीवन के सभी अंगों का अध्ययन किया और सभी विषयों पर पुस्तकें लिखीं। सिसरो स्वयं लैटिन का निर्माता कहा जाता है। वह अपने युग का सबसे ओजस्वी व्याख्यानदाता ही न था अपितु सब से बड़ा निबन्ध लेखक भी था। दूसरा महत्वपूर्ण लेखक जूलियस सीज़र था। उसकी लिखी आलोचनाएँ उस की प्रतिभा की परिचायक हैं। उनकी सादगी तथा ताज़गी अपने ढंग की अनूठी हैं। अंतिम युग के प्रसिद्ध इतिहासकारों में टेसिटस का नाम उल्लेखनीय है। प्लूटार्क भी टेसिटस का समकालीन था। यद्यपि उसकी कृतियाँ यूनानी भाषा में हैं फिर भी रोम निवासियों ने उसके सम्मान में एक मूर्ति बनवाई और उस पर यह अंकित कराया कि लैटिन भाषा में न लिखने पर भी उन्होंने अपनी कृतियों में रोमन वीरों तथा महापुरुषों का गौरव गान किया है। इसीलिये वे

रोमनों द्वारा पूज्य हैं। दार्शनिकों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान सिनेका तथा मार्कस ओरलियस का है। शिक्षा के क्षेत्र में क्विन्टीलियन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्विन्टीलियन ने शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा-प्रणाली तथा शिक्षा-सिद्धान्तो पर अपने विचार विस्तारपूर्वक लिखे। ल्यूक्रीटस ने उन्नीसवीं शताब्दि के वैज्ञानिक अविष्कारों तथा विचारधारा का आभास अपनी कृतियों द्वारा दिया। इस प्रकार यूनानियों के विपरीत जो अपने बुद्धिवाद तथा आदर्शवाद के लिये प्रसिद्ध थे, रोमनों ने अपनी कविता, अपने नाटकों, अपने इतिहास तथा कला-कौशल द्वारा दिया। कला-कौशल के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यद्यपि वह बहुत उच्च कोटि का नहीं है तथापि उसमें स्थायीपन तथा मजबूती है। सम्राट् टाइटस के राज्यकाल (७९-८१ ई०) में विसूवियस ज्वालामुखी के प्रस्फोट से पोम्पी नगर का गौरव सदैव के लिये भूगर्भ में प्रविष्ट हो गया। उसके अविशिष्ट चिन्हों से रोम निवासियों की गृह-निर्माण-कला का पता चलता है। उनकी चित्रकला, सुन्दर भवन, तथा सुन्दर उद्यान-भवन उनके कला-प्रेम का परिचय आज भी दे रहे है। साम्राज्य के दूरस्थ भागो को एक दूसरे से मिलाने के लिये सड़कों का जाल बिछा दिया गया था। इन सड़को से सेना, युद्ध सामग्री, युद्ध काल में व्यापार का माल एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने मे काफी सहायता मिलती थी। इन सड़कों पर सार्वजनिक विश्रामालय तथा सरकारी कर्मचारियों के लिये कार्यालय बने हुए थे। कालान्तर मे यही जगहें प्रसिद्ध प्रसिद्ध शहरों में परिणत हो गईं और उन्होंने यूरोप के धनधान्य की उन्नति में भारी सहयोग दिया।

रोमन कानून

विश्व सभ्यता के लिये रोम निवासियों की सबसे बड़ी देन है उनके प्रचलित किये हुए कानूनों का संग्रह। व्यक्ति के अधिकारो तथा उसके जान माल की रक्षा के लिये रोम निवासियों ने दीवानी तथा फौजदारी के व्यापक कानून बनाये। समाजशास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक समाज के प्रारम्भिक युग में सामाजिक तथा राजनीतिक नियमों का जन्म परम्पराओं तथा रूढ़ियों के रूप में होता है। यही दशा रोमनों की थी। पहिले पहिल इनके कानून परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते थे। कालान्तर में इन कानूनों का संग्रह कर लिया गया। यह संग्रहकर्त्ता सम्राट् जस्टीनियन (सन् ५२७—५६५) था। उसने कानूनों का संग्रह तथा विभाजन किया। बाइबिल के पश्चात् जिस दूसरी पुस्तक का सबसे अधिक प्रभाव यूरोप

वह नागरिकों का पक्ष है वह है जस्टीनियन के कानूनों का संग्रह। इंग्लैण्ड को छोड़कर सभी यूरोपियन देशों के दीवानी के कानूनों का आधार जस्टीनियन का कानूनी संग्रह है। बड़ी बारीकी के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति, उत्तराधिकार, कौटुम्बिक अधिकार आदि विवादग्रस्त विषयों का विवेचन किया गया है और उन्हें पूर्ण व्यापक बनाया है।

रोमन शासन-पद्धति

ऊपर इस बात का वर्णन हो चुका है कि रोम एकछत्र राज्य से प्रारम्भ होकर उच्च जन-शासन तथा धनिक वर्ग के शासन की अवस्थाओं से गुजर कर प्रजातन्त्रवादी बना। किन्तु प्रजातन्त्रवाद के पश्चात् फिर रोम में सम्राटों के वैभव और गौरव का सूत्रपात हुआ। यह भी बताया जा चुका है कि भिन्न भिन्न शासन-प्रणालियों के होते हुए भी रोम की शासन-प्रणाली की एक विशेषता प्रत्येक समय बनी रही और वह थी सैनिक शासन। इस सेना ने जहां दूरस्थ प्रदेशों (जैसे इंगलैण्ड तथा बेबीलोन) को जीता वहाँ देश में आंतरिक व्यवस्था, शांति और चैन कायम रखने में भी सहायता दी थी। इस प्रकार रोम ने अराजकता के युग में 'रोमन शांति' की छत्रछाया में अपने अन्तर्गतस्थ प्रदेश में सुख और वैभव में अभिवृद्धि की। यद्यपि निर्बल शासकों के राज्य में अत्याचार, लूट खसोट, रिश्वतखोरी का बाजार गर्म था फिर भी रोम ने भिन्न भिन्न देशों के निवासियों को एकता के सूत्र में ग्रथित रखा और व्यावहारिक रूप में यह बात विश्व के सामने रख दी कि किस प्रकार भिन्न भिन्न आचार विचार तथा राजनीतिक परम्पराओं वाले देशों को भी एक ही कानून तथा एक ही शासन के आधीन बनाकर उस देश में शांति स्थापित की जा सकती है। रोम की महत्ता और बुद्धिमानी का परिचय एक और बात से मिलता है। समयानुसार रोम ने अपनी राजनीतिक प्रणाली में परिवर्तन कर लिये। रोम ने जब अपना आधिपत्य अन्य देशों पर कायम किया तो गैर रोमनवासियों को भी राजनीतिक अधिकार देकर नागरिकता के क्षेत्र को व्यापक बनाया। तत्पश्चात् जब इटली के बाहर के प्रदेशों पर उनका अधिकार हुआ और वहां के लोगों में रोमन शासन के प्रति असंतोष हुआ तो रोम निवासियों ने उस असंतोष का सामना गैर इटलीवासियों को नागरिकता के अधिकार देकर किया। इस प्रकार रोम ने अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया। किन्तु रोमवासियों की अयोग्यता भी कुछ कम न थी। ऊपर दासता की कुप्रथा का वर्णन हो चुका है। रोमवासी इस कुप्रथा के घातक परिणामों से अपने को न

बचा सके। धनिकों का निर्धन जनता पर जो अत्याचार होता था उसे भी शासक वर्ग रोकने में असफल रहा और यही दो बातें उनकी अवनति तथा पतन में सहायक बनीं।

ईसाई धर्म

रोमन सम्राटों के समय में ईसाई धर्म का प्रचार योरप में हुआ। यद्यपि ईसा का बलिदान रोम के गवर्नर की आज्ञा से हुआ था और ईसाइयों पर पहिली तीन या चार शताब्दियों तक काफी अत्याचार भी हुए किन्तु सम्राट् कान्सेन्टाइन के ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने के पश्चात् यह धर्म राज्य धर्म बन गया। कालान्तर में जहाँ जहाँ रोमन साम्राज्य था वहाँ की प्रजा ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। ईसाई धर्म ने सभ्यता-प्रचार में पर्याप्त सहयोग दिया। ग्रीगोरी पोप ने जिन भावनाओं से प्रभावित हो इंगलैण्ड में ईसाई धर्म का प्रचार कराया वह इतिहास की मुख्य घटना है। ईसाई धर्म ने रोम के बर्बर आक्रान्ताओं में सभ्यता का प्रचार कर उनकी बर्बरता को कम किया। इन घटनाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन तेरहवें अध्याय में किया जायगा।

रोम निवासियों की विश्व सभ्यता के लिये देन

पिछले पृष्ठों में रोम के इतिहास, सभ्यता तथा शासन पद्धति का दिग्दर्शन करने के पश्चात् विश्व सभ्यता के लिये रोमवासियों ने क्या किया यह इन पृष्ठों का उद्देश्य है।

यूनान की सभ्यता का दिग्दर्शन कराते समय यह बताया गया था कि उनकी सभ्यता की सबसे बड़ी देन नागरिक स्वाधीनता तथा नियमानुमोदित शासन की स्थापना थी। अर्थात् यूनान वालों ने इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास की स्वाधीनता मिलनी चाहिये। और वह स्वाधीनता क्रियात्मक बन सकती है नियमानुमोदित शासन के अंतर्गत। रोम निवासियों ने यह बतलाया कि स्वाधीनता के उपयोग से पहिले आज्ञापालन आवश्यक है। असंगठित स्वाधीनता अभिशाप है। व्यक्ति को पहिले संगठित शासन-प्रणाली के अधीन रह आज्ञापालन का पाठ पढ़ना होगा। ऐतिहासिक घटनाओं से यही प्रकट होता है कि स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व नियमपालन नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार जहाँ यूनानियों ने स्वाधीनता पर जोर दिया वहाँ रोमनों ने आज्ञापालन पर। किन्तु दोनों ने यह न समझा कि स्वाधीनता तथा आज्ञापालन का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है, जिसे हम आजकल अधिकार और

न्यायप्रिय के नाम से पुकारते हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि आज्ञापालन के सिद्धान्त को प्रमुख स्थान देकर रोम ने राजनीतिक उच्छृङ्खलता को रोकने में सराहनीय कार्य किया। रोम के साम्राज्य की स्थापना, भिन्न २ जातियों का एक सूत्र में ग्रथित होना इस बात का परिचायक है कि विश्व के राष्ट्र पारस्परिक हितों के लिए एकत्रित हो सभ्यता की अभिवृद्धि में अधिक सहयोग दे सकते हैं इसकी अपेक्षा कि वे अलग २ रह अपनी खिचड़ी अपने आप पकावें। अर्थात् उन्होंने इसे सिद्ध कर दिया कि विश्वबन्धुत्व का भाव राष्ट्रों की पारस्परिक एकता का विचार अव्यवहारिक नहीं है। उसे सक्रिय रूप दिया जा सकता है। इस प्रकार नियम पालन के भाव उत्पन्न करना और अधिकृत प्रान्तों की रक्षा और उनमें सभ्यता-प्रचार तथा एकता के सूत्र में ग्रथित कर कानून के सामने सब की समानता स्थापित करने में रोमवासियों ने सराहनीय कार्य किया। पहिले उनके बनाये कानूनों और उनके ऊपर आचरण करने की बात का उल्लेख हो चुका है। रोम ने यह बताया कि कानून की दृष्टि में सब समान हैं और प्रत्येक राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता वहाँ के कानूनों में निहित है।

यदि यूनान की सभ्यता का आधार बुद्धिवाद तथा आदर्शवाद था तो रोम का पूर्णतया क्रियात्मक किन्तु यूनान के बौद्धिक तथा आदर्शवाद को सुरक्षित रखना और उसकी बपौती भावी संतति को छोड़ना रोमवासियों का काम था। अर्थात् रोमनों ने यूनान की सभ्यता को नष्ट होने से बचा कर उसे सुरक्षित रक्खा और भावी संतान को उस सभ्यता से लाभ उठाने का अवसर दिया। वर्तमान की जड़ भूत में है और भविष्य का बीज वर्तमान में। इस प्रकार भूत, वर्तमान तथा भविष्य एक दूसरे से जुड़े हैं। रोमनों का श्रेय इस बात में है कि उन्होंने यूनानी सभ्यता को नया रूप दे उस पर आचरण किया और अपनी इस सभ्यता को विश्व के सामने एक बपौती के रूप में प्रदान किया। इस प्रकार यूनानी विचारधारा और रोमन व्यवहारिक कुशलता वर्तमान योरोपीय सभ्यता के निर्माण, विकास तथा उन्नति में सहायक हुई।

आठवाँ अध्याय

एशियाई सभ्यताएँ

भारतवर्ष की सभ्यता

प्राक्कथन

पिछले अध्यायों में एशियाई प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य देशों की प्राचीन सभ्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। उन सभ्यताओं के वर्णन में हमने बताया था कि उनका आधार भौतिकवाद अथवा इससे आगे बढ़कर व्यवहारवाद था। जीवन मरण की गूढ़ समस्याओं तथा सृष्टि, आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। यह गौरव एशिया महाद्वीप को ही प्राप्त है क्योंकि उसने इन समस्याओं की ओर ध्यान दिया और इस प्रकार आध्यात्मवाद का संदेश विश्व को सुनाया। एशिया संसार के सभी मुख्य मुख्य धर्मों का जन्म-स्थान रहा है। फिलस्तीन में यहूदी तथा ईसाई धर्म, भारत में हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म और अरब में इस्लाम की उत्पत्ति हुई। इन धर्मों ने असभ्य जातियों में सभ्यता का प्रचार किया। भिन्न भिन्न जातियों के लोगों को एक भाषा, एक भाव और एक धार्मिक भावना में ग्रथित कर उनमें आत्मीयता का भाव उत्पन्न किया। मानव जाति की सेवा को सबसे बड़ा धर्म बता सत्य, अहिंसा, त्याग, तप और पवित्रता पर सबसे अधिक जोर दिया। क्षमा, परोपकार तथा विश्वबन्धुत्व के उदात्त भावों को जन्म दिया और सभ्यता के आधारभूत तत्व अर्थात् अहमत्व के ऊपर ममत्व की विजय के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर इस संसार पर 'स्वर्ग का राज्य' स्थापित करने की चेष्टा की। इन पृष्ठों में 'विश्व के गुरू—एशिया' के प्रमुख देशों (भारत, चीन तथा ईरान) की सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन किया गया है।

भारत में आर्यों का आगमन

सिन्धु की घाटी की प्राचीन सभ्यता का वर्णन करते हुए यह बताया गया था कि यह सभ्यता प्राचीनता में प्राचीन मिस्र तथा मेसोपोटामिया की सभ्यताओं से टक्कर लेती थी और इसका प्रभाव समकालीन सभ्यताओं पर पर्याप्त

रूप में था। इतिहासकारों के मतानुसार सिन्धु की घाटी की सभ्यता के बहुत समय पश्चात् आर्य जाति के भारतवर्ष पर आक्रमण हुए। इन्होंने मूल निवासियों जैसे द्राविड़, कोल आदि को उनके जन्मस्थानों से निकाल समस्त भारत पर अपना अधिकार कर लिया। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत के आर्य भी अपने जन्मस्थान से (सम्भवतः उत्तरी ध्रुव, सप्तसिन्धु तथा मध्य योरुप) झुण्ड के झुण्डों में भारतवर्ष आए और अपनी संस्कृति और सभ्यता इस देश में फैलाई। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि आर्यों से पूर्व भारत निवासी असभ्य थे। सभ्यता में द्राविड़ भी बहुत आगे बढ़े हुए थे किन्तु आर्यों की सभ्यता इनकी सभ्यता से भिन्न थी। द्राविड़ों की सभ्यता नगर स्थित थी। प्राचीन आर्यों की सभ्यता कृषि प्रधान होने से ग्रामीण थी। उनके देवी-देवता भी भिन्न थे। आर्यों का जीवन सादा, व्यवहार सरल तथा आचार-विचार पवित्र थे। उनके धर्मग्रन्थ वेद कहलाते हैं। प्रारम्भ में लिखना-पढ़ना न जानने के कारण वेद कंठ कर लिये जाते थे और उनका अध्ययन परम्परागत चलता रहता था किन्तु कालान्तर में वेद लिख लिए गए। इस प्रकार लेखन-कला का जन्म तथा विकास इन लोगों में हुआ। पाश्चात्य इतिहासकारों के मतानुसार "ब्राह्मी लिपि" जिसमें वेद तथा अन्य आर्य ग्रन्थ लिखे हैं, फ्यूनिशियावासियों से आर्य लोगों ने सीखी थी। उनके विचार से यह लिपि ८०० ई० पू० में भारत में प्रचलित हुई किन्तु प्रो० भाण्डारकर के विचारों से 'ब्राह्मी लिपि' भारत की प्राचीन लिपियों का ही परिष्कृत रूप है और ऋग्वेद के समय भी उसका प्रचार भारत में था। हैदराबाद रियासत में कुछ ऐसे मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिन पर ब्राह्मी लिपि से मिलती जुलती लिपि अंकित है। भाण्डारकर साहब का मत है कि ब्राह्मी लिपि इसी लिपि से निकली है।

आर्य्यों का सामाजिक जीवन, धर्म तथा साहित्य

आर्य्यों के घर लकड़ी तथा बाँस के बने होते थे। उनका सामाजिक जीवन पवित्र तथा सादा होता था। विवाह पवित्र धार्मिक कृत्य समझा जाता था। स्त्रियों का समाज में आदर होता था। वह यज्ञ तथा धार्मिक कृत्यों में पुरुषों के समान सम्मिलित होती थीं। पर्दे की प्रथा न थी। स्त्रियाँ विदुषी थीं। गार्गी, मैत्रेयी आदि देवियों ने अपनी विद्वत्ता से पुरुषों को शास्त्रार्थ में हराया था। कुटुम्ब के सदस्यों में पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति थी। बहुत से कुटुम्बों को मिलाकर, गोत्र गोत्रों से मिलकर, जाति जातियों से मिलकर ग्राम



वैदिक काल में
भारतवर्ष
पक्थ
गोमती नं०
सिन्धु नद
उत्तरमद्र
भूजवन्त प०
विपाश नं०
परुष्णी नं०
सुतुद्रि नं०
सरस्वती नं०
दृषद्वती नं०
सृंजय
पांचाल
कोशल
सदानीरा नं०
विदेह
मगध
रेवा नं०

बनते थे और ग्रामों से मिलकर जनपद। जनपदों का शासन भिन्न-भिन्न प्रकार का था। कुछ जनपदों में राजा लोग राज्य करते थे, कुछ जनपदों में प्रजातंत्र। इतना अवश्य है कि राजा लोग स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। राजाओं को परामर्श देने के लिये सभा और समितियाँ थीं। इन समितियों में राजनीतिक विषयों पर वाद-विवाद होता था।

कृषि उनका मुख्य व्यवसाय था। कृषि के साथ साथ और भी व्यवसाय उन्हें आते थे। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे आदि पेशेवाले लोग प्रत्येक गाँव में रहते थे। प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव से ही कर लिया करता था। व्यापार तथा लेन देन अदला बदली द्वारा होता था।

प्राचीन आर्यों का धर्म प्रकृति की उपासना थी किन्तु जगत के उत्पत्तिकर्त्ता तथा नियन्ता परमात्मा के अस्तित्व को भी उन्होंने जान लिया था अर्थात् अनेक देवताओं के स्थान पर एक परब्रह्म की उपासना उन्होंने सीख ली। प्रकृति के तत्वों—इन्द्र, वरुण, वायु, आदित्य की उपासना उन्हें प्रसन्न करने के लिये होती थीं। यज्ञ तथा हवनों में उनकी स्तुति भी होती थी किन्तु यह अवश्य जानते थे कि ये सब एक ही शक्ति के नियन्त्रण में संसार में कार्य करते हैं और वह शक्ति है परमपिता परमेश्वर की। वेद उनके पवित्र धार्मिक ग्रन्थ थे। 'वेद' से तात्पर्य उन धार्मिक पुस्तकों के समूह से है जिन्हें समय समय पर आर्य मनीषियों ने रचा और जिसका अध्ययन आर्य जाति द्वारा होता रहा। वेदों के अतिरिक्त तीन प्रकार के ग्रन्थ ये हैं :—

(१) संहिता—इनमें प्रार्थनाओं तथा मंत्रों का उल्लेख है।

(२) ब्राह्मण ग्रंथ—इनमें वैदिक मंत्रों की व्याख्या दी गई है। यज्ञ, हवन आदि की विधियाँ बताई गई हैं। इस प्रकार इन ग्रंथों में ब्राह्मणों के धर्म शास्त्र तथा दर्शन का निरूपण है।

(३) आरण्यक तथा उपनिषद—इनमें से कुछ तो ब्राह्मण ग्रंथों के अंतर्गत आ जाते हैं और कुछ उनसे पृथक हैं। इनमें प्रकृति, जीव, ईश्वर तथा जगत् के विषय में आध्यात्मिक वादविवाद तथा निरूपण सम्मिलित है।

इनके अतिरिक्त छः वेदांग हैं। इनका अध्ययन वेदों का अर्थ समझने तथा वैदिक रीति के अनुसार संस्कार करने में सहायक होता था। ये छः विषय

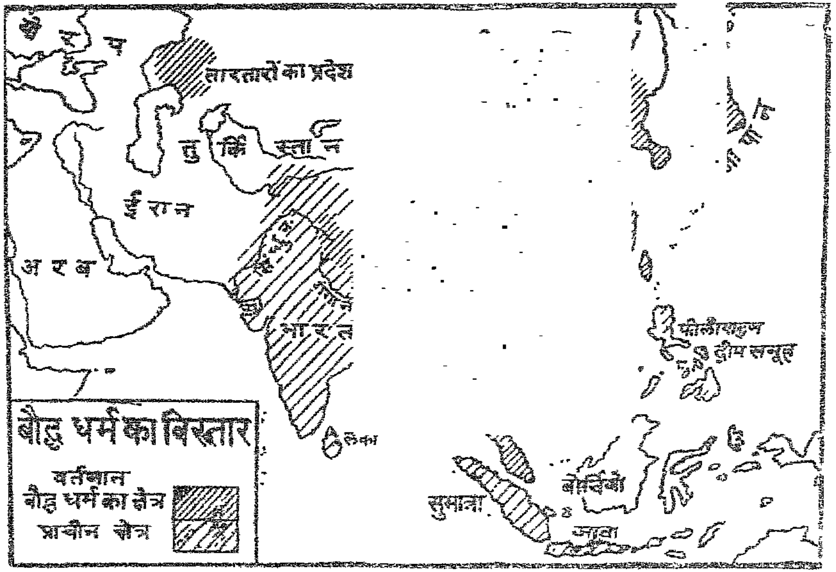
हैं:—शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्ति, ज्योतिष तथा कल्प। इनका ज्ञान वेदाध्ययन के लिये आवश्यक है। चारों वेदों (ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व) के साथ संहिताएँ, आरण्यक तथा ब्राह्मण ग्रन्थ जुड़े हुए हैं। हिन्दुओं के मतानुसार वेद अपौरुषेय हैं। योरप के विद्वान इस बात से सहमत न होकर वेदों को भारतीय ऋषियों तथा मनीषियों की कृति कहते हैं। मैक्समुलर के कथनानुसार ऋग्वेद का रचना-काल १२००–१००० ई० पू० है, अन्य वेदों का उसके पश्चात।

आर्य लोगों के धर्म तथा साहित्य का वर्णन करने के पश्चात् हम उनके इतिहास का वर्णन करेंगे। पहिले उनके उत्तरी भारत में बसने और राज्य स्थापित करने का वर्णन हो चुका है। कालान्तर में आर्य्य लोग भारत के पूर्वी तथा दक्षिणी भाग में भी फैल गये। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य्य लोग इस काल में सुदूर दक्षिण को पार कर लंका तक पहुँच गए थे और वहाँ के निवासियों से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। महाभारत में गांधार तथा अफगानिस्तान आदि देशों का वर्णन है जो वस्तुतः भारतीय राजाओं के आधीन थे। महाकाव्य काल के पहुँचते पहुँचते भारतीय आर्यों ने बड़े बड़े नगर अयोध्या, मिथिला, हस्तिनापुर आदि बसाये और अपने राज्यों को बढ़ाया किन्तु प्रभुत्व के लिये आपसी संघर्ष अंत तक होते रहे। फिर भी साहित्यिक तथा धार्मिक उन्नति का क्रम जारी था।

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म—

महाकाव्य काल के पश्चात् वैदिक जीवन में सरलता के स्थान पर रूढ़िवाद का बोलबाला होने लगा। यज्ञ और उपासना की विधियों में बहुत सी जटिलताएँ आईं और उनका ज्ञान ब्राह्मणों तक ही सीमित रहने लगा। ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरुद्ध क्षत्रियों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस विद्रोह के परिणाम स्वरूप जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की उत्पत्ति भारत में हुई।

जैन धर्म के प्रवर्त्तक ऋषभदेव थे। उन्होंने अहिंसा तथा सत्य पर जोर दिया और जीवन की पवित्रता तथा सदाचार की ओर संकेत किया। ऋषभदेव के पश्चात् महावीर स्वामी ने उनके सिद्धान्तों का प्रचार किया और 'जिन' समाज की स्थापना की। महावीर के अनुयायी जैन कहलाने लगे। गौतम बुद्ध की तरह महावीर भी क्षत्रिय वंश के थे।


बौद्ध धर्म का विस्तार
वर्तमान बौद्ध धर्म का क्षेत्र
प्राचीन क्षेत्र
तातारों का प्रदेश
तुर्किस्तान
ईरान
अरब
भारत
लंका
जापान
फिलीपाइन्स
द्वीप समूह
सुमात्रा
बोर्नियो
जावा

गौतम बुद्ध ने त्रसित मानव जाति को दुःख से छूटने का उपाय बताया। सांसारिक सुखों के होते हुए भी इस महापुरुष ने मानव हित के लिये सब सुखों को तिलाञ्जलि दी और भिक्षा पात्र ले 'मोक्ष' का साधन त्रसित मानवता को बताया। दया, प्रेम, अहिंसा, सत्य आचरण, वाणी की पवित्रता पर जोर दिया। उनका सिद्धान्त था कि संसार में दुःख है। इस दुःख का कारण आसक्ति तथा पापों का होना है। इस आसक्ति तथा पाप मय जीवन से छुटकारा पाने का साधन है अष्टांगिक मार्ग (अर्थात शुद्ध विचार, शुद्ध वाणी, शुद्ध प्रयत्न, तथा मानसिक शांति आदि)। इस प्रकार आसक्ति-हीन सेवा-भाव से मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है। अपने अनुयायियों को उन्होंने एक संघ में संगठित किया। प्रत्येक सदस्य को अहिंसा, अस्तेय सत्य तथा पवित्रता की शपथ लेनी पड़ती थी। बुद्ध का धर्म आर्य्य धर्म के विरोध स्वरूप उत्पन्न हुआ किन्तु इसके सिद्धान्तों में वैदिक धर्म से कोई मौलिक मतभेद न था।

भगवान बुद्ध के सिद्धान्तों को सम्राट् अशोक ने भारतवर्ष और उसके बाहर प्रचलित किया और उनके प्रयत्नों से यह धर्म विश्व के महान धर्मों में से एक हो गया। विश्व के इतिहास में हिंसा तथा बल के स्थान पर प्रेम तथा सदेच्छा द्वारा शासन करने वाला यह पहिला ही शासक था। इसका उद्देश्य बौद्ध धर्म प्रचार ही न था—बौद्ध धर्म प्रचार तो उसके महान उद्देश्य का एक साधन मात्र था—उसका उद्देश्य था विश्व में धर्म, शांति, प्रेम तथा सदाचार की स्थापना। इस महापुरुष की दया मानव जाति तक ही सीमित न थी। पशु-पक्षी भी उसकी दया के पात्र थे। राजकीय भोजनालयों में पशु-पक्षियों का वध वर्जित था। पशुओं की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय थे। शिक्षा का घर घर प्रचार था। राज्य कर्मचारी प्रजा के साथ संतान जैसा व्यवहार करते थे। इतिहासकार वैल्स के शब्दों में "इतिहास में वर्णित अगणित राजाओं तथा महाराजाओं के मध्य अशोक का नाम जगमगाते नक्षत्र की तरह है। वाल्गा से लेकर जापान तक आज भी उनके नाम का सम्मान है।......। कोन्स्टैन्टाइन तथा शार्लमैन की अपेक्षा अशोक का नाम चिरस्थायी रखने वाले अगणित व्यक्ति आज भी मौजूद हैं।"

अशोक के पश्चात् बौद्ध धर्म भारत तथा एशिया का प्रमुख धर्म बन गया। भारतवर्ष पर सिकन्दर महान के आक्रमण के पश्चात् अनेक जातियाँ भारत में आईं और उन्होंने इस देश को अपनी जन्मभूमि बना लिया। इन आक्रमण

कारियों में से बहुतों ने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया होगा यह बात इससे सिद्ध होती है कि बौद्ध धर्म का अनुयायी एक यूनानी राजा था जिसका नाम बौद्ध ग्रन्थों में मिलिन्द है। यूनानी उसे मिनेन्द्र कहते थे। किन्तु इन विदेशियों में सबसे प्रसिद्ध नाम कनिष्क का है। उसने मध्य तथा उत्तरी एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इससे पहिले ही चीन, ब्रह्मा, स्याम, मलाया, सुमात्रा तथा जावा में बौद्ध धर्म फैल चुका था। कनिष्क के प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म एशिया का सबसे प्रमुख धर्म बन गया। किन्तु कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म के भारतवर्ष से नष्ट होने का बीज भी बो दिया गया। बौद्ध धर्म में हीनयान तथा महायान नामक दो सम्प्रदाय हो गए। महायानियों ने बुद्ध की मूर्तियों की स्थापना और उनकी उपासना पर जोर देना आरम्भ किया। प्राचीन सिद्धान्तों के समर्थक जिन्हें हीनयान कहा जाता था भगवान बुद्ध की मूर्ति के विरोधी थे। इन सम्प्रदायों में विभक्त होने के पश्चात् भी तीन चार सौ वर्षों तक बौद्ध धर्म भारत में उन्नति करता रहा। किन्तु गुप्तकालीन राजाओं के समय उसका पतन हो गया। गुप्त सम्राट् बौद्ध धर्म के विरोधी न थे किन्तु हिन्दू धर्म के समर्थक अवश्य थे। समुद्रगुप्त ने वैदिक कालीन अश्वमेध यज्ञ की परम्परा फिर से जारी की। ठीक इसी समय उत्तर-पश्चिम में हूणों के आक्रमणों से बौद्ध धर्म का अंत हो गया। चीनी यात्री ह्वान सांग के कथन से प्रकट होता है कि किस प्रकार इन बर्बर आक्रमणकारियों ने बौद्ध धर्म के विहारों तथा स्तूपों आदि को नष्ट कर दिया। अंतिम भारतीय सम्राट् हर्षवर्द्धन ने बौद्ध धर्म को पुनर्जीवन देने का यत्न किया किन्तु यह जीवन मरणासन्न व्यक्ति की टिमटिमाती हुई जीवन-ज्योति थी। बौद्ध धर्म इसके पश्चात् भारतवर्ष से विलीन हो गया।

भारत का राजनीतिक इतिहास—जनतंत्र तथा साम्राज्य

भारतवर्ष के मुख्य मुख्य धर्मों के इतिहास को देखने के पश्चात् यहाँ के राजनीतिक इतिहास को देखना असंगत न होगा। पहिले आर्यों की भारत विजय और उनके समस्त देश पर अधिकार करने की घटना का वर्णन हो चुका है। महाकाव्यों के निर्माण काल तक समस्त देश में आर्य धर्म तथा संस्कृति फैल चुकी थी। ईसा की छठी शताब्दी पूर्व में जहाँ बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का विकास और उन्नति हुई वहाँ भारतवर्ष में जनगण राज्यों की धूम सी मची। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इससे पहिले भारत में जनगण होते ही न थे। इसका अभिप्राय यही है कि इन प्रजातन्त्रों

का क्रमिक इतिहास हमें इसी समय से देखने को मिलता है। ये गणतन्त्र लोकमत के आधार पर संगठित थे और सर्वसाधारण में राजनीतिक योग्यता तथा क्षमता उत्पन्न करने के साधन थे। सिकन्दर महान् के आक्रमण के समय में कठ जाति का उत्तरी पश्चिमी भाग में एक संगठित गणतन्त्र था। मिथिला के व्रजी, कपिलवस्तु के शाक्य तथा कुशीनगर में मल्ल लोग प्रजातन्त्री शासक की तरह शासन कर रहे थे। किन्तु प्रमुख शासकों में इन चार राजवंशों का स्थान था—मगध में शिशुनाग वंश, कोशल में इक्ष्वाकु वंश, कौशाम्बी में पौरव वंश तथा अवन्ती में प्रद्योत वंश। कालान्तर में मगध ने अपनी धाक उत्तरी भारत में स्थापित की। ६००–३२० ई० पूर्व तक यहाँ नन्द वंश का राज्य रहा। सिकन्दर के पंजाब पर आक्रमण करते समय महापद्म नन्द इस वंश का शासक था। उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का सम्राट् हुआ और अपने स्वतन्त्र वंश की नींव डाली। विदेशियों के आक्रमण से भारत को सुरक्षित रखना और सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी पश्चिमी भारत में फैली हुई अराजकता को दूर करना इसी महाप्रतापी सम्राट् का काम था। उसका शासन-प्रबन्ध पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित तथा संगठित था। भारत इस समय विश्व की महान् शक्तियों में से एक था और बाहरी जगत से उसका सम्बन्ध राजदूतों द्वारा बना हुआ था। सिल्यूकस (जिसने भारत पर आक्र-किया था और जिसे हरा कर चन्द्रगुप्त ने उसकी पुत्री से विवाह किया था) के दूत भारत आते थे—एक दूत मेगस्थनीज़ था और दूसरा डेमीकस (बिन्दु-सार के समय)। चीन और मध्य एशिया के देशों से भी राजनीतिक सम्बन्ध बने थे। मिस्र के टाल्मी ने भी अपने राजदूत भारत भेजे थे। चन्द्रगुप्त का सैनिक शासन उच्च कोटि का था और उसके प्रबन्ध के लिए ६ समितियाँ थीं। प्रत्येक समिति में ५ सदस्य थे। पाटलिपुत्र नगर का शासन-प्रबन्ध भी पूर्णतया संगठित था। पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ थीं। शासन प्रबन्ध की सुविधा के लिए साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित था। बड़े बड़े प्रान्तों में राजवंश के शासक नियुक्त किये जाते थे। चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक मौर्य वंश का सबसे बड़ा शासक था। उसके बौद्ध धर्म के फैलाने के प्रयत्नों का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। अशोक की मृत्यु के दस वर्ष पश्चात् मौर्य साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा। आंध्र प्रांत सबसे पहिले स्वतंत्र हुआ। इस दशा से लाभ उठाकर भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित यूनानी जातियों ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ

किये । इस प्रकार एक वंश के पश्चात् दूसरा वंश भारत पर राज्य करता रहा किन्तु एकछत्र शासन के अभाव में बहुत सी छोटी छोटी रियासतें भारत में स्थापित थीं । ऊपर विदेशियों के आक्रमण का वर्णन किया गया है । अंतिम आक्रमणकारी कुशन लोग थे । उनका प्रसिद्ध राजा कनिष्क था जिसके विषय में पहिले कहा जा चुका है । बौद्ध धर्म के फैलाने में अशोक के बाद दूसरे जिस प्रसिद्ध शासक ने कार्य किया वह कनिष्क था । कनिष्क ने पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया । प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान अश्वघोष तथा प्रसिद्ध वैद्य चरक कनिष्क के समय में ही हुए बताए जाते हैं । कनिष्क के पश्चात् कुशन वंश का गौरव लुप्तप्राय हो गया । इसके अवशेषों पर फिर भारतीय शक्तियों ने अपना राज्य बनाया और अब की बार दक्षिण ने विजय का बीड़ा उठाया । यह सतवाहनों का राज्य था । दक्षिण भारत, विंध्य प्रदेश, मगध और मालवा तक का प्रदेश इनके आधीन था । गौतमी पुत्र सतकर्णी इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था । शक आक्रमणकारियों को इसने मार भगाया और गुजरात तथा राजपूताने को भी जीत लिया । किन्तु तीसरी शताब्दि ईसवी में इस वंश का भी पतन हो गया । एक शताब्दि तक भारत में कोई शक्तिशाली राज्य नहीं रहा । चौथी शताब्दि ईसवी में गुप्त वंश ने मगध में अपना राज्य स्थापित किया । समुद्रगुप्त इस वंश का सबसे पराक्रमी राजा था । उसने आसाम, बंगाल, नैपाल, मालवा आदि देशों को जीत लिया । फिर एक सेना लेकर वह दक्षिण की ओर चला । वहाँ के भी शासकों को उसने एक एक करके युद्ध में हराया । वह एक विजेता ही नहीं किन्तु एक योग्य शासक और कला प्रवीण था । वह कवि तथा गान विद्या में दक्ष था । उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय ने न केवल साम्राज्य वृद्धि में ही योग दिया अपितु कला, साहित्य, विज्ञान आदि की भी आश्चर्यजनक उन्नति की । उसके नवरत्न जो भिन्न भिन्न विषयों के प्रकाण्ड पंडित थे, अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे । चंद्रगुप्त द्वितीय के वंशजों को हूण जाति के आक्रमणों का सामना करना पड़ा । स्कन्धगुप्त ने आक्रमणकारियों को भारत से खदेड़ दिया और साम्राज्य को नष्ट होने से बचा लिया । किन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों को इन आक्रमणकारियों के सम्मुख झुकना पड़ा और भारतवर्ष पूर्ववत् छोटे छोटे राज्यों में बँट गया । इस समय जिस प्रसिद्ध वंश ने भारत के इतिहास में प्रमुख भाग लिया वह थानेश्वर का वर्धन वंश था । इस वंश का संस्थापक प्रभाकर वर्धन एक शक्तिशाली शासक

था। उसने समस्त पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसका पुत्र हर्ष-वर्द्धन सन् ६०६ ई० में शासक हुआ और सन् ६४७ ई० तक राज्य करता रहा। उसने बड़ी योग्यता से देश का शासन किया। वह स्वयं प्रसिद्ध कवि और प्रतिभाशाली लेखक था। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भरसक प्रयत्न किया। बौद्ध भिक्षुओं की सभाएँ बुलाई गईं और बहुत से स्तूप भी बनवाये। चीनी यात्री ह्वान सांग इसी के समय भारतवर्ष आया था। उसने भारत सम्बन्धी अपने अनुभवों का वर्णन बड़ी सजीव भाषा में किया है।

भारतवर्ष के इतिहास तथा वहाँ के प्रसिद्ध धर्मों और सिद्धान्तों का वर्णन करने के पश्चात् भारत की सभ्यता तथा संस्कृति पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

भारतीय सभ्यता

वैदिक कालीन धर्म तथा साहित्य का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि आर्य्यों ने धार्मिक मामलों में काफी छानबीन कर ली थी और अपने धार्मिक साहित्य को उन्नत तथा परिष्कृत किया था। वेद, संहिता, आरण्यक तथा दर्शन इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। रामायण तथा महाभारत इलियड तथा ओडिसी की तरह आर्य्यों के महाकाव्य थे। इन महाकाव्यों के पश्चात् स्मृतियों की रचना हुई। इनमें मनुस्मृति मुख्य है। एथेन्स के सोलन तथा स्पार्टा के लाइकरगस की नाँई मनु महाराज भी हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के निर्माता तथा हिन्दू कानून के पिता हैं। मनुस्मृति में ऐसे ही नियमों का उल्लेख है। मनु के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य तथा बृहस्पति की भी स्मृतियाँ हैं। पुराणों में हिन्दुओं की प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियों का उल्लेख है।

इस धार्मिक साहित्य के अतिरिक्ति हिन्दुओं का काव्य तथा नाट्य शास्त्र भी पूर्णतया समुन्नत है। कालिदास सभ्य संसार के अद्वितीय रत्न हैं। उनका शाकुन्तला, रघुवंश, विक्रमोर्वशी तथा कुमार-सम्भव संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं। कालिदास के अतिरिक्त भवभूति तथा विशाखदत्त प्रसिद्ध नाट्यकार थे। भवभूति द्वारा रचित उत्तररामचरित तथा मालती-माधव प्रसिद्ध नाटकों में समझे जाते हैं। नीति सम्बन्धी ग्रन्थों से तो मानो संस्कृत साहित्य भरा ही पड़ा है। यद्यपि क्रमबद्ध रूप में लिखे गये ऐतिहासिक ग्रन्थों का अभाव है तथापि कल्हण की राजतरंगिणी तथा पृथ्वीराज रासो उच्च कोटि की ऐतिहासिक पुस्तकें हैं। अर्थशास्त्र तथा राजनीति में भी ग्रन्थ लिखे गये थे। कौटिल्य का अर्थशास्त्र 'मैकियावली के प्रिंस' की टक्कर का ग्रन्थ है। शुक्रनीति दूसरा

प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ है। गणित तथा ज्योतिष में भास्कराचार्य तथा आर्य्य भट्ट के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। चिकित्सा शास्त्र में चरक संहिता अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है।

वाणिज्य तथा व्यवसाय

जिस काल का इस अध्याय में वर्णन किया गया है उस काल में व्यापार तथा वाणिज्य में भी यह देश बढ़ा चढ़ा था। देश के भिन्न भिन्न भागों में ही एक स्थान से दूसरे स्थान को सामान नहीं भेजा जाता था अपितु विदेशों से भी जहाजों द्वारा व्यापार होता था। बंगाल की खाड़ी से होकर दक्षिणी द्वीप समूह को भारत के जहाज़ आते जाते थे। ताम्रलिप्ति जो बंगाल प्रान्त में है उस समय का प्रसिद्ध बंदरगाह था। यहाँ से जहाज़ चीन आदि पूर्वी देशों को भेजे जाते थे। इस प्रकार जल तथा स्थल दोनों से योरप तथा अफ्रीका से सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। ह्वान सांग ने सौराष्ट्र के निवासियों के विषय में लिखा है, "यहाँ के निवासियों का मुख्य व्यवसाय सामुद्रिक व्यापार है।" इतिहासकार ब्लाक ने वैशाली में प्राप्त हुई कुछ मुहरों के आधार पर कहा था, "कुछ प्रसिद्ध व्यापारिक स्थानों जैसे पाटलीपुत्र में वर्तमान ढंग के वाणिज्य समुदाय (Chamber of Commerce) उस समय बने हुए थे।"

व्यापार तथा वाणिज्य की इस उन्नति से सिद्ध होता है कि उस समय भारतवासियों की आर्थिक दशा अच्छी थी। सभी विदेशी इतिहासकारों ने भारतवासियों के धन-धान्यपूर्ण होने का वर्णन किया है। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने देश में कई शताब्दियों तक धन की लूट मचाई थी इसे प्रत्येक व्यक्ति आज भी स्वीकार करता है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। देवगिरि के राजा और अलाउद्दीन में जो संधि हुई थी उसके अनुसार राजा ने अलाउद्दीन को ६०० मन हीरे-जवाहरात और १००० मन चाँदी दी थी।

वास्तुकला तथा चित्रकला

पहिले गुप्तकालीन समृद्धि तथा वैभव का वर्णन किया जा चुका है। गुप्तकाल में जिस प्रकार साहित्य तथा धर्म की उन्नति हुई उसी प्रकार ललित कलाओं की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। सारनाथ के संग्रहालय में जो मूर्तियाँ गुप्तकाल की एकत्रित हैं उनसे उस समय की शिल्पकला का पता चलता है। धातु की वस्तुएँ बनाने में भी वे प्रवीण थे। कुतुबमीनार के पास धातु की बनी एक मीनार दर्शक को विस्मय तथा कौतूहल में डाल देती है। अशोक

महान् के बनवाये हुए स्तूप तथा स्तम्भ उसकी महानता के द्योतक हैं। गुप्त सम्राटों के बनवाये हुए मन्दिरों में भूमरा तथा देवगढ़ के मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अजन्ता की गुफाओं के चित्र विशेषज्ञों की दृष्टि में भारतीय चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। नालन्दा विश्वविद्यालय में भगवान बुद्ध की ८० फीट ऊँची ताम्र मूर्ति भारतीय धातु-निर्माण-कला की उच्चता सिद्ध करती है। उत्तर गुप्तकाल में भी उल्लेखनीय भवनों का निर्माण हुआ। आबू पर्वत तथा काश्मीर के मंदिर उस समय की ललित कला के अच्छे उदाहरण हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि गुप्तकाल तथा उसके पहिले भी विद्या का पूर्ण प्रचार था। तक्षशिला, नालन्दा, काशी, अवन्तिका, राजगृह आदि प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे जहाँ सहस्रों अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के रहन-सहन, भोजन आदि के व्यय का प्रबन्ध राज्य द्वारा होता था।

हिन्दू संस्कृति की विश्व के लिये देन

हिन्दू सभ्यता का बहुत संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् उसकी विश्व सभ्यता के लिये देन को जान लेना परमावश्यक है। पहिले हिन्दुओं के अध्यात्मवाद तथा उनकी धार्मिक भावनाओं और उच्चता का वर्णन किया जा चुका है। हिन्दुओं के ग्रन्थ धार्मिक समस्याओं के निरूपण तथा वाद-विवाद से भरपूर हैं। दर्शनों के विषय में मैक्समूलर का मत था कि मुझे अपने जीवन में उनसे ही शांति मिली है और मेरी मृत्यु के पश्चात् वही मेरे सहायक होंगे। दर्शनों के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दुओं का परम पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है। इस प्रकार सेवाभाव और अध्यात्मवाद के विचार विश्व सभ्यता के लिये हमारी सबसे बड़ी देन हैं। साथ ही हमने विश्व-प्रेम का भाव संसार के सम्मुख रखा। योगवासिष्ठ में विश्वबन्धुत्व का भाव प्रतिपादित किया गया है जिससे प्रकट होता है कि वर्तमान विश्वबन्धुत्व का भाव बहुत पहिले ही आर्य मनीषियों को ज्ञात था। विश्व के कल्याण में ही अपना कल्याण समझ कर उन्होंने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया था। यथा :—

यह मेरा है यह है तेरा करते लघु मन सदा विचार।
समदर्शी हैं सदा समझते, अखिल विश्व को निज परिवार ॥[1]

धार्मिक संस्कारों तथा वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा हिन्दुओं ने आत्मिक विकास के साथ साथ व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज तथा मानव जाति के पारस्परिक सहयोग पर सदा जोर दिया और लोक-मंगल की भावना से संसार में जीवन व्यतीत करना मनुष्य जीवन का उद्देश्य बतलाया। यदि वास्तविक सभ्यता रूप,

अहिंसा, त्याग, तप के आधार पर अवलम्बित है, यदि वही व्यक्ति सभ्य है जिसने अहमत्व के स्थान पर समत्व को प्रभुता दे रखी है, जो सेवाभाव द्वारा प्राणिमात्र में उदात्त गुणों का समावेश करने में संलग्न है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[1] जिसके जीवन का आदर्श है, तो भारत की सभ्यता विश्व के लिये एक महान देन है ।

यह सत्य है कि कालान्तर में बहुत सी त्रुटियाँ आ जाने से उसका गौरव प्रायः लुप्त होने लगा था किन्तु फिर भी यथासमय शंकराचार्य, दयानन्द, विवेकानन्द, मालवीय तथा गांधी जैसे सुधारकों ने उसे सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया और उसमें नवजीवन का संचार किया । इस सम्बन्ध में स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त के इन शब्दों को समझना और उन पर आचरण करना प्रत्येक हिन्दू का परम पवित्र कर्त्तव्य है—

"किसी जाति को अपनी प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता पर गर्व करने के उतने अवसर नहीं हैं जितने भारतीयों को । किन्तु विश्व की महान जातियाँ भी अपने अवगुणों की ओर से सचेत रहती हैं और अपनी त्रुटियों को दूर रखती हैं । भारतीय सभ्यता में भी दोष रहे हैं, आवश्यकता है कि हम उन्हें जान लें और उन्हें दूर करने का यत्न करें । सब से बड़ा दोष है ज्ञान तथा सम्मान का विशेषाधिकार किसी वर्ग विशेष के हाथ में बने रहना । यह अवस्था किसी भी समाज की उन्नति के लिये घातक है । जितनी जल्दी हम उसे दूर कर दें उतना ही अच्छा ।"[2]

---

[1] अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् । उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥
—पञ्चतन्त्र

[2] डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के इतिहास से उद्धृत ।

नवाँ अध्याय

एशियाई सभ्यताएँ

चीन की सभ्यता

प्राक्कथन

एशिया के जिस दूसरे देश ने सभ्यता की वृद्धि में आश्चर्यजनक सहयोग दिया वह देश था चीन। भारतवर्ष की तरह चीन की सभ्यता भी बहुत प्राचीन है। दोनों देशों में बहुत प्राचीन समय से सांस्कृतिक सम्बन्ध जारी था। दोनों में एक दूसरे से विचारों का आदान प्रदान होता था। विशेषतया बौद्ध धर्म चीन में फैल जाने के पश्चात् तो बौद्धधर्म-प्रचारकों का भारत से चीन के लिये प्रस्थान और चीन से बौद्ध यात्रियों का भारत में आगमन शताब्दियों तक बना रहा और भारत ने अपनी सभ्यता और संस्कृति की अमिट छाप चीनी सभ्यता के ऊपर डाली। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म चीन का प्रमुख धर्म बन गया और उसने चीनवासियों की विचारधारा को प्रभावित किया। दोनों देशों की सभ्यताओं में और भी कई सादृश्यताएँ हैं। दोनों ने ही युद्ध के मार्ग को तिलाञ्जलि दे शांति के पथ को ग्रहण किया। दोनों ने ही पारिवारिक जीवन के महत्व को समझ कर अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के क्रम में सहयोग दिया। दोनों ही की सभ्यताओं में विदेशियों के आक्रमण स्वरूप भारी परिवर्तन हुए। दोनों ने ही भौतिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। विशेषतया शिक्षा के क्षेत्र में भारत और चीन दोनों ने सराहनीय कार्य किये। दोनों ही की दृष्टि में शिक्षा सबसे आवश्यक और मूल्यवान वस्तु थी। दोनों ने ही उसका प्रचार किया। दोनों की ही सभ्यताएँ मौलिक थीं। दोनों की सभ्यताएँ तथा संस्कृति आज भी जीवित हैं जब कि सब ही प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट हो चुकी हैं। इतनी सादृश्यताएँ होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि एशियाई संस्कृति पर (जो रूस से चीन तक फैली है) भारतवर्ष की अमिट छाप है। समरकन्द हो या तिब्बत भारतीय सभ्यता सभी एशियाई सभ्यताओं का उद्गम स्थान है। यहाँ ने सब कुछ सीखा था। भारत ने अपने भौतिक बल द्वारा युद्ध का पद नहीं प्राप्त किया बल्कि इस सिद्धान्त द्वारा कि विश्व के समस्त व्यापारों में तथा सारे धर्मों में एक ही प्रमुख शक्ति दिखलाई पड़ती है और वह है ईश्वरीय नियमों की सत्ता जिनके ऊपर सारा संसार बंधा हुआ है।

न केवल भारत ने अध्यात्मवाद की ही ध्वजा विश्व में फहराई अपितु भारत ने कला विज्ञान की उन्नति में भी हार्दिक सहयोग दिया और चीन, जापान, कोरिया, स्याम, मलाया, मध्य एशिया आदि देशों में अपनी सांस्कृतिक प्रभुता को स्थापित किया और यही भारत की सभ्यता की विश्व के लिये देन है। पहिले कहा जा चुका है कि भारत और चीन का बहुत प्राचीन समय से सांस्कृतिक सम्बन्ध था। आगे के पृष्ठों में भारत के भाई चीन के प्राचीन इतिहास और सभ्यता का दिग्दर्शन कराया जायगा।

चीनवासियों का प्राचीन इतिहास

चीन निवासी मंगोल जाति के हैं। पूर्व इतिहास काल के भिन्न भिन्न युगों को पार कर चीन ने अपनी सभ्यता को उन्नत किया। भारत की तरह चीन पर भी विदेशियों के आक्रमण हुए। चीन पर मध्य एशिया की जातियों ने आक्रमण किये। ये लोग ह्वांग हो (पीली) नदी के पास बस गये। उन्होंने खेती-बाड़ी करने, पशु-पालन तथा भवन बनाने में काफी उन्नति कर ली। कृषि-प्रधान होने के कारण चीन में केन्द्रीय शासन का एकदम अभाव था। कुछ समय पश्चात् याओ नामक एक व्यक्ति ने अपने को सम्राट् कहना प्रारम्भ किया। इसका अर्थ यह नहीं कि चीन में ईरान तथा मिस्र की तरह एक शक्तिशाली साम्राज्य था। ठीक बात यह है कि याओ का स्थान एक कुलपति अथवा अधिनायक जैसा ही था। याओ से भी बहुत समय पहिले २७०० से २४०० ई० पू० तक पाँच सम्राटों ने शासन किया था यद्यपि उनके विषय में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। याओ ही पहिला चीनी ऐतिहासिक सम्राट् था। उसके कुछ समय पश्चात् चीन में सम्राट् का पद मौरूसी हो गया। बहुत सी उथल-पुथलों के पश्चात् चीन में १७५० से ११२५ ई० पू० तक शैंग जाति का राज्य रहा। उन्होंने कुलपति के स्थान पर अपने को देश का शक्तिशाली शासक बनाया। सभ्यता की उन्नति में भी सहयोग दिया। चीनी लोग लेखन-कला से परिचित थे। उनकी लिपि में अक्षरों के स्थान पर संकेतों या चित्रों से काम लिया जाता था। इन सम्राटों ने चीन को एक सभ्यता, एक संस्कृति तथा एक भाषा में ग्रथित किया। हूणों के हमलों से एकता के भाव उत्पन्न हुए। ११२५ ई० पू० में शैंग वंश के अंतिम सम्राट् को वूवांग ने गद्दी से हटा दिया और चाऊ वंश का राज्य स्थापित किया। वूवांग को चीन की जनता से इस क्रांति में सहायता मिली थी जिससे ज्ञात होता है कि चीनवासी अत्याचारी शासकों के विरुद्ध विद्रोह करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। किन्तु इस वंश के शासकों के अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन करने से पहिले एक घटना की

ओर संकेत करना आवश्यक है। शैंग वंश के अंत से कुछ समय पहिले कित्से नामक एक अधिकारी ने कोरिया में अपने स्वतंत्र शासन की स्थापना की।

चाऊ वंश के समय में यद्यपि कुछ समय तक केन्द्रीय सरकार के अधिकार बढ़े किन्तु फिर अराजकता बढ़ती गई। हूण लोगों के आक्रमण अब भी जारी थे। सामंतों की शक्ति का बोलबाला था। अराजकता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि ह्वांग हो तथा यांगसी नदी की घाटियों में ५ या ६ हजार छोटे छोटे सरदार राज्य करते थे और उनके ऊपर लगभग एक दर्जन शक्तिशाली शासकों का आधिपत्य था। यह युग 'अराजकता का युग' कहलाता है। तीसरी शताब्दि ई० पू० में चिन जाति के एक सरदार ने जीर्ण चाऊ वंश को नष्ट कर दिया और चिन वंश की स्थापना की। इसी वंश के नाम पर इस देश का नाम चीन पड़ा है।

चिन वंश का शासन

चिन वंश का शासन बड़ी योग्यता के साथ हुआ। इस वंश का प्रथम शासक सम्राट् अशोक का समकालीन था। ईसा से २४६ ई० पू० में इस वंश के सबसे अधिक शक्तिशाली शासक ने राज्य किया। उसका नाम शीह-ह्वांग-टी (प्रथम सम्राट्) था। उसके शासनकाल से संगठित और एकत्रित साम्राज्य का युग प्रारम्भ होता है। उसने सामंतशाही का अंत किया और समस्त शक्ति राजा के हाथों में केन्द्रित की। हूणों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा के लिये उसने चीन की महान दीवार का निर्माण कराया। १८०० मील लम्बी, २२ फीट ऊँची और २० फीट चौड़ी यह दीवार विश्व के सात महान आश्चर्यों में से एक समझी जाती है। प्रत्येक सौ गज के अंतर पर ४० फीट ऊँची मीनारें बनाई गई हैं। इस दीवार को बलपूर्वक चीन के किसानों से बनवाया गया था और केवल दस वर्ष के समय में ही यह पूरी हो गई थी। किन्तु ह्वांग-टी का सबसे अधिक अप्रिय कार्य उसकी यह राजाज्ञा थी जिसके अनुसार उसने समस्त प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन बलपूर्वक रोक दिया था। वह चाहता था कि भूतकाल की घटनाओं का राग अलापना किसी जाति को उन्नति पथ की ओर नहीं ले जा सकता। उसकी आज्ञा थी "जो लोग भूतकाल की श्रेष्ठता का सहारा लेकर वर्तमान को नीचे गिरायेंगे वे सपरिवार मार दिये जावेंगे।" कहना न होगा कि बहुत से आदमियों ने प्राचीन ग्रन्थों का पढ़ना छोड़ दिया। प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक कनफ्यूशस की पुस्तकों को जला दिया गया। किन्तु बहुत से विद्वानों को ये धर्म-ग्रन्थ कंठस्थ थे इसी कारण ह्वांग टी की मृत्यु के पश्चात्

उन्हें फिर से लिख डालने में कोई असुविधा न हुई थी। शीह ह्वांग-टी की मृत्यु २१० ई० पू० में हो गई। उसके पश्चात् चीन में गृह-युद्ध हुआ और उसका परिणाम हन् वंश की स्थापना में हुआ। यह वंश लगभग चार सौ वर्षों तक राज्य करता रहा। यह चीन के गौरव की चरमावस्था थी। चीन ने विदेशों को जीतकर अपना साम्राज्य बढ़ाया। मध्य एशिया में स्थित पामीर तथा कोकन्द देशों पर अधिकार कर लिया गया। पश्चिमी तुर्किस्तान, तिब्बत आदि देशों के साथ सम्पर्क हुआ। भारत के विषय में चीनियों ने सुना। इस प्रकार चीन ने बाहरी संसार से अपना सम्पर्क स्थापित करना आरम्भ किया। हन् वंश का छठा शासक वू-ती वहाँ के प्रसिद्ध शासकों में से एक समझा जाता है। उसके राज्य की सीमा पूर्व में कोरिया से लेकर पश्चिम में कास्पियन सागर तक थी। विश्व इतिहास में यह युग दो प्रसिद्ध शक्तिशाली साम्राज्यों का था। एक था रोमन और दूसरा था चीनी। रोम का साम्राज्य दजला और फ़रात नदियों तक पूर्व में फैला था किन्तु उससे आगे बढ़ना उसके लिये असम्भव था। चीनी साम्राज्य इस समय रोमन साम्राज्य से भी अधिक शक्तिशाली था। उसका शासन-प्रबन्ध भी समकालीन विश्व में अद्वितीय था। उसकी सभ्यता तथा संस्कृति उन्नति की चरमावस्था पर थी। किन्तु रोम तथा चीन एक दूसरे से अनभिज्ञ थे। आवागमन के साधन बहुत कम थे किन्तु फिर भी ईरान होकर चीन से काफ़िले विदेशों को जाते थे। ६६ ई० पू० में पोम्पी के नेतृत्व में रोमन सेनाएँ कास्पियन सागर के पूर्व तक जा धमकीं। सन् १०२ ई० में चीन के एक सैनिक चाऊ ने कास्पियन सागर तक के प्रदेशों को जीत लिया।

ऊपर हूणों के आक्रमणों का वर्णन किया जा चुका है। चीनियों ने न केवल हूणों के आक्रमण को ही रोका अपितु मंगोलिया तथा उत्तरी प्रदेश पर भी अपना अधिकार कर लिया। हूणों के आक्रमण बार बार होते थे किन्तु चीनी उन्हें खदेड़ कर हटा देते थे। बहुत से हूण हार कर चीन में बस गए और उसकी सभ्यता में विलीन हो गए। चीन तथा रोम के सफलतापूर्वक इन आक्रमणकारियों का मुकाबिला करने का परिणाम यह हुआ कि हूण लोग भारत की ओर बढ़े और इस देश को इनके आक्रमण का पूरा वेग सहन करना पड़ा।

चीन में बौद्ध धर्म

हन्-वंश की एक और महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन करना आवश्यक है। इसी वंश के शासन-काल में बौद्ध धर्म का प्रचार चीन में हुआ। यह प्रचार सम्राट् मिंगटी के समय में हुआ। उसने स्वप्न में एक महापुरुष के दर्शन किये

और अपने दूत पश्चिम की ओर भेजे। दो बौद्ध भिक्षु उसके दरबार में दूतों द्वारा लाये गये। उनके पास संस्कृत की पुस्तकें और पवित्र धार्मिक मूर्तियाँ थीं। एक मंदिर बनवाया गया और उनमें वे मूर्तियाँ स्थापित कराई गईं। इस सम्राट् ने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया और उसके प्रचार के लिये प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म के साथ साथ भारतीय कला भी चीन पहुँची और उसने चीनी कला के ऊपर अपना प्रभाव डाला। चीन से बौद्ध धर्म कोरिया और वहाँ से जापान में फैल गया। इस प्रकार भारत की सबसे बड़ी देन चीन, कोरिया तथा जापान में पहुँची।

तांग-वंश का राज्य

हन्-वंश भी कालान्तर में पतनोन्मुख होने लगा। उसके पश्चात् जिस वंश ने अपना राज्य स्थापित किया वह था तांग-वंश। इस वंश का वर्णन आगे चलकर किया जायगा। यहाँ हन्-वंश की कुछ और प्रमुख घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक है। एक घटना (जो चीन के इतिहास में ही नहीं बल्कि विश्व के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है) तो छापे की कला का आविष्कार था। पहिले-पहल लकड़ी के ठप्पों से यह छपाई की जाती थी। यह बात उस समय हुई जब यूरोप अज्ञान की घोर निद्रा में सोया हुआ था। दूसरी बात इससे भी बढ़कर थी। वह थी सरकारी नौकरियों के लिये परीक्षा-प्रणाली का जारी होना। चापलूसी तथा पक्षपात के स्थान पर योग्यता के आधार पर सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति विश्व के इतिहास में पहिली वस्तु थी। यद्यपि परीक्षा में कनफ्यूशस के धार्मिक सिद्धान्तों को ही पूछा जाता था तथापि संसार की प्रचलित प्रथाओं से तो अवश्य ही यह प्रथा अधिक न्यायोचित तथा पक्षपात रहित थी। चापलूसी तथा पक्षपात को इस प्रथा ने बहुत कुछ कम कर दिया।

कनफ्यूशस तथा लाओ-जे

चीन के प्राचीन इतिहास को जान लेने के पश्चात् हम वहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन करेंगे किन्तु वैसा करने से पूर्व हमें वहाँ के दो प्रसिद्ध धार्मिक नेताओं के विचारों से अपने को अवगत कर लेना आवश्यक है क्योंकि भावी सन्तति पर इन दोनों के विचारों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। एक नेता थे कनफ्यूशस तथा दूसरे लाओ-जे। कनफ्यूशस का जन्म ५५१ ई० पू० में लू (वर्तमान शानटुंग) प्रान्त में हुआ था। इन्होंने अपना जीवन अध्यापक की तरह प्रारम्भ किया और लू के शासक द्वारा वे एक शहर के शासक नियुक्त हुए। कनफ्यूशस को एक धर्म-प्रचारक के स्थान पर सामाजिक

नियमों का निर्माता कहना अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक दुर्दशा को दूर करने के सुझाव चीन के सामने रखे। बार बार यह अभिलाषा प्रकट की कि कोई शासक उन्हें अपना मंत्री नियुक्त कर उनके सिद्धान्तों की सत्यता जानने का अवसर दे। ऊपर इनके एक शहर के शासक नियुक्त होने का वर्णन हो चुका है। उस समय की व्यवस्था का वर्णन करते हुए यह कहा जाता है कि अधर्म तथा अन्याय के स्थान पर धर्म तथा न्याय का राज्य था। स्वामि-भक्ति और कर्तव्यपालन मनुष्य के स्वाभाविक गुण बन गये और सतीत्व की रक्षा स्त्रियों का मुख्य धर्म। किन्तु कनफ्यूशस की इस लोकप्रियता से रुष्ट होकर उनके विरोधियों ने लू के शासक को भड़का दिया। कनफ्यूशस को अपने स्थान से हटना पड़ा। उनकी अभिलाषा कि उन्हें अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने का अवसर दिया जावे अंत तक अपूर्ण रही। ४७९ ई० पू० में उनकी मृत्यु हो गई। किन्तु मृत्यु के पश्चात् चीन ने उनके सिद्धान्तों को ग्रहण किया। कनफ्यूशस एक पवित्रता प्रचारक थे धर्म-संस्थापक नहीं। उनके विचार में मनुष्य का स्वभाव प्रगतिशील न था इसलिये पूर्वजों की पूजा तथा सम्मान और उनके आचरण तथा मर्यादा की रक्षा और निर्वाह पर उन्होंने पूरा जोर दिया। ईश्वर, प्रकृति आदि की व्याख्या के झमेले में न पड़ उन्होंने जीवन की पवित्रता, सादगी, कौटुम्बिक सदाचार आदि बातों पर जोर दे कुटुम्ब तथा राज्य के प्रति भक्ति के भाव उत्पन्न किये। वे विश्व में कोई महान आदर्शवाद स्थापित करना नहीं चाहते थे। घृणा का बदला प्रेम तथा अन्याय का बदला न्याय से देने के सिद्धान्त को भी उन्होंने नहीं पढ़ाया। चीनी युवक बड़े बूढ़ों का सम्मान करें, बच्चे माता



कनफ्यूशस

पिता की आज्ञा मानें, स्त्रियाँ कर्तव्यनिष्ठ और पतिव्रता हों इतने से ही कनफ्यूशस संतुष्ट थे। उनके प्राचीनता-प्रेम का परिणाम चीनी जीवन पर आज भी देखा जाता है। चीनी आज भी परिवार की रक्षा तथा बच्चों के पोषण में संसार की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संलग्न है। भूमि के उपजाऊ होते हुए भी, क्योंकि चीनी विदेशों में जाकर जीविका प्राप्त करना उचित नहीं समझते, वहाँ दरिद्रता का घोर साम्राज्य है। किन्तु परिवार-प्रेम, बच्चों का पालन और रक्षा के भाव अब भी उतने ही प्रबल हैं जितने पहिले थे। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। फाँसी की सजा पाये हुए युवक को रुपया देकर छुड़ाने वाले ऐसे व्यक्ति आज भी वहाँ मिल जायेंगे जो उस रुपये को परिवार के पोषण के लिये देकर सहर्ष अपनी जान कर्तव्य वेदि पर बलिदान कर देंगे। आज भी मजदूर वस्त्र और भोजन पर विदेशों में किसी भी संघ के साथ जाने के लिये प्रस्तुत हैं। हाँ लौटने पर नियत वेतन के बदले वे अवश्य इकट्ठा धन माँगेंगे। नौकरी की अवधि में वे कठिन से कठिन सेवा करने को तैयार हैं चाहे उसमें उन्हें अपने शरीर को क्यों न झोंक देना पड़े।

लाओ-जे

चीन के दूसरे सुधारक थे लाओ-ज़े। चाऊ वंश के एक पुस्तकालय के वे अध्यक्ष थे। उनकी शिक्षाएँ कनफ्यूशस की अपेक्षा अधिक रहस्यपूर्ण तथा दुर्बोध थीं। वर्तमान सांसारिक भोग-विलास तथा वैभव की अपेक्षा वे प्राचीन सादगी और पवित्रता को कहीं अच्छा समझते थे। उनके सिद्धान्त ईसा के सिद्धान्तों से अधिक मिलते जुलते हैं। उन्होंने बुराई का बदला भलाई से देने का पाठ पढ़ाया। कालान्तर में उनकी वास्तविक शिक्षाएँ चीन से लुप्तप्राय हो गईं और उनका स्थान जादू-टोने तथा अंधविश्वासों ने ले लिया। फिर भी कनफ्यूशस और लाओ-ज़े ने चीन के सामाजिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया। चीन में इनकी स्मृति में बहुत से मंदिर बने। कनफ्यूशस की शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि चीन निवासी अधिक सुशील, सभ्य तथा शिष्ट और आज्ञापालक बन गए। उत्तरी चीन में कनफ्यूशस के विचारों का बोलबाला रहा। दक्षिणी भाग में लाओ-जे के विचारों का आधिपत्य बना रहा। इन दोनों विचारधाराओं में काफी संघर्ष रहा।

प्राचीन चीन की सभ्यता

चीन की प्राचीन सभ्यता अपने स्वतंत्र रूप में विकसित हुई थी। यद्यपि

सुमेरिया और मिस्र की सभ्यताओं से वह मिलती जुलती थी तथापि यह थी एक दम मौलिक। अन्य नदी कालीन सभ्यताओं की तरह यहाँ भी सभ्यता का उदय ह्वांग-हो तथा यांग-सी-कियांग नदी की घाटियों में हुआ था। प्राचीन सुमेरिया तथा मिस्र की तरह यहाँ पर भी नगर राज्यों की स्थापना हुई थी। चीन में भी मिस्र की तरह लेखन-कला का आविष्कार चित्रों तथा संकेतों के रूप में हुआ। मिस्र की तरह यहाँ भी सर्वप्रथम सामन्तप्रथा थी। इसके पश्चात् सुदृढ़ केन्द्रिय शासन की स्थापना हुई। किन्तु इन सब सादृश्यताओं के होते हुए भी चीन की सभ्यता का बाहरी संसार से परिचय छटी या सातवीं शताब्दि ई० पू० से पहिले नहीं हुआ। ये सादृश्यताएं केवल यही सिद्ध करती हैं कि सब प्राचीन सभ्यताओं के उदय, विकास तथा उन्नति के लिये एक सा ही क्रम मौजूद रहा है।

चीन में सामन्त प्रथा

दसवीं शताब्दि ई० पू० से २२० ई० पू० तक चीन में सामन्त प्रथा का बोल-बाला रहा। बहुत से सरदारों में आपसी लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। कभी कभी छोटे छोटे सरदारों पर एक शक्तिशाली शासक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता था। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् फिर वही अराजकता। पहिले अराजकता के एक युग का वर्णन हो चुका है। यह अराजकता चीन की समृद्धि तथा उन्नति के लिये घातक थी। इस अराजकता को नष्ट कर चीन में एक सुदृढ़ शासन की स्थापना करने वाला एक सम्राट् था। उसका नाम शीह-ह्वांग-टी था। उसके प्रसिद्ध कार्यों का वर्णन पहिले किया जा चुका है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त होगा कि उसकी दृढ़ नीति का परिणाम चीन की आंतरिक स्थिति के लिये हितकर ही हुआ।

इस अराजकता तथा इन आंतरिक विद्रोहों के होते हुए भी चीन ने सभ्यता की प्रगति में भरपूर सहयोग दिया। लगभग २००० वर्ष ई० पू० में चीन में छापे की कला का आविष्कार हुआ। उनकी लिपि बड़ी कठिन होती थी इसलिये लेखन-कला का अभ्यास बड़ी कठिनता से आता था। इसी कारण चीनी समाज में लेखकों का बड़ा सम्मान था। सरकारी नौकरियों में उन्हें सर्वोच्च स्थान मिलता था। बाद में ह्वांग-टी के मंत्री ली ने इस लिपि में सुधार किये। कागज बनाने की कला का प्रचार प्राचीन चीन में हो चुका था। पहिले बाँस तथा लकड़ी के टुकड़ों को चिकना कर और उन्हें जोड़ कर पुस्तकें लिखी जाती थीं किन्तु कुछ ही समय पश्चात रेशम के बने कागजों का प्रयोग होने

लगा । सन् १०५ ई० के लगभग अच्छी प्रकार का कागज़ प्रयोग में आने लगा । यह कागज़ पेड़ों की छाल, चिथड़ों तथा सन से बनाया जाता था ।

चीनवासियों के मुख्य व्यवसाय थे कृषि करना, मछली मारना तथा व्यापार करना । घरों में स्त्रियाँ कातने और बुनने का काम करती थीं । सोने, चाँदी तथा लोहे की सुन्दर वस्तुओं का बनाना उन्हें ज्ञात था । शँग वंश के समय के बने हुए बहुत से प्राचीन बर्तन मिले हैं । रेशमी वस्त्र तैयार करने की कला का भी अविष्कार हो चुका था । मिट्टी के बने बर्तनों का तो प्रयोग बहुत पहिले ही हो गया था किन्तु चीनी के बर्तन ६ठी या ७वीं शताब्दि ई० से ही बनने प्रारम्भ हुए थे । विदेशियों से सम्पर्क में आने के पश्चात् चीन में नई नई वस्तुओं का व्यवहार हुआ । अंगूर की शराब बनाना सीखा गया । सूर्य-घड़ी के स्थान पर पानी की सहायता से चलने वाली घड़ी का आविष्कार हुआ । दिन रात के चौबीस घंटों को बारह समान भागों में बाँट दिया गया । तिथि-पत्र में भी संशोधन हुए और यूनानियों के प्रभाव से संगीत-कला में भी भारी परिवर्तन हुए । प्रस्तर-कला के भी सुन्दर नमूने कब्रों से खोद कर निकाले गये हैं । ये चिन्ह दूसरी शताब्दि ई० पू० के हैं । रथ शिकार तथा शाही स्वागत आदि अनेक दृश्यों के चित्र प्रस्तर पर खुदे हैं । ये चित्र प्राचीन मिस्र की प्रस्तर-कला से उत्कृष्टता में किसी भाँति कम नहीं हैं ।

धर्म तथा सामाजिक संगठन

चीन निवासियों का धर्म पूर्वजों की पूजा थी । कभी कभी प्रकृति के तत्वों की भी उपासना होती थी । भारतवर्ष की ब्राह्मण जाति से मिलती-जुलती वहाँ पुजारियों की कोई जाति न थी । हाँ, वहाँ मन्दारिन नामक वर्गविशेष के लोगों का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था । यह वर्गविशेष शिक्षित समुदाय था और इसका मुख्य कार्य विद्याध्ययन तथा विद्या-प्रचार था । भारत के ब्राह्मणों की तरह इनका भी समाज में बहुत सम्मान था किन्तु भारतवर्ष और यहाँ की दशा में एक भारी अंतर था । भारत में ब्राह्मणों का सम्मान यद्यपि पहिले उनकी विद्वत्ता के कारण होता था किन्तु कालान्तर में जन्म के कारण ही उनका समाज में उच्च स्थान हो गया । चीन ने सदैव ही शिक्षित समुदाय का आदर उनकी योग्यता तथा ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् ही किया । इस प्रकार वहाँ जन्म के स्थान पर योग्यता ही किसी वर्गविशेष के सम्मान का कारण बनी । यह चीन के सामाजिक संगठन की विशेषता थी । इस शिक्षित वर्गविशेष के अतिरिक्त समाज में तीन और वर्ग थे :— (१) कृषिकार (२)

लुहार, बढ़ई आदि अन्य पेशे वाले लोग (४) व्यापारिक वर्ग। इन चार वर्गों के ऊपर सम्राट थे जो केवल राजनीतिक सत्ता के ही प्रतीक न थे बल्कि समाज के पुजारी भी थे। प्रारम्भ से ही चीन में एक पिता के कई पुत्रों को सम्पत्ति प्राप्त करने में बराबरी के अधिकार प्राप्त थे, इसीलिये वहाँ बड़े बड़े जमींदारों का उदय न हो सका और चीनी समाज एक बड़े अभिशाप से बच गया। प्राचीन काल की भाँति चीनी कृषिकर के पास छोटे छोटे भूमि के टुकड़े थे जिन्हें वह अपने ही साधनों से जोतता बोता था। जब भूमि बँटते बँटते इतनी छोटी रह जाती थी कि उसमें खेती न हो सके तो चीनी किसान उसे बेचकर शहरों की शरण लेता था। वहाँ वह किसी कल-कारखाने में नौकरी कर लेता था। इसी वर्ग के लोग सेना में भी भर्ती होते थे। सरकारी कामों (जैसे रेलवे लाईन निकलवाना या नहरें खुदवाना) के लिए भी ऐसे ही भूमिहीन काश्तकार नौकर रखे जाते थे।

चीनी सामाजिक संगठन की सबसे बड़ी विशेषता थी वहाँ के निवासियों का शांतिप्रिय होना। चीन संसार में पहला देश था जहाँ सैनिक बनना हेय समझा जाता था। ऊपर बताया जा चुका है कि चीन की फौज में अब तक भूमिहीन कृषिकर तथा मजदूर ही भर्ती किये जाते थे। भारत की क्षत्रिय जाति से मिलती-जुलती वहाँ कोई जाति न थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चीन ने अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए हथियार उठाये और कैस्पियन सागर तक अपना साम्राज्य फैलाया किन्तु फिर भी उनकी सभ्यता का आधार शांति थी। महान् दीवार का निर्माण भी इसी कारण हुआ कि चीन निवासी बाहरी आक्रमणों से बच सकें। ऊपर उस सम्मान का वर्णन हो चुका है जो चीन निवासी अपने शिक्षित वर्ग को दिखलाते थे। कारलायल के शब्दों में चीन की सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये शिक्षित समुदाय को सर्वोच्च राजनीतिक पद देते हैं। उनकी क्रान्तियों तथा राजनीतिक उथल-पुथलों का भी यही उद्देश्य होता है। वर्तमान सभ्य संसार से बहुत पहले चीन वालों ने समझ लिया कि नागरिक स्वाधीनता की सबसे सुरक्षित मार्ग शिक्षित वर्ग के हाथ सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता सौंप देना है।

चीन की सभ्यता का दिग्दर्शन करने के पश्चात् हम वहाँ की सभ्यता की विश्व के लिए क्या देन रही इस बात पर विचार करेंगे।

प्रत्येक चीन निवासी का दृढ़ विश्वास है कि उसका परम पवित्र कर्तव्य अपने परिवार की रक्षा के लिए अपने स्वार्थ को बलिदान करना देना है।

ईश्वर तथा अपने पूर्वजों के लिये यही उनका पवित्र कर्तव्य है और इसी के लिए प्रत्येक चीनी प्राणपण से उद्योग करता है। किन्तु उसकी स्वामिभक्ति अपने परिवार तक ही सीमित नहीं है। वह सच्चा देश-सेवक और नागरिक है। कुटुम्ब-प्रेम तो राष्ट्र तथा देश के लिए स्वामि-भक्ति प्राप्त करने का साधन मात्र है। वह समझता है कि उसके माता-पिता ने उसे जन्म देकर उसके ऊपर भारी उपकार किया है। और उसका कर्तव्य है कि वह पूर्वजों की थाती को सावधानी के साथ आगामी संतति को सौंप जाए। चीन का यह कुटुम्ब-प्रेम प्राचीन भारतीय संस्कृति से कितना मिलता जुलता है इसे कौन अस्वीकार करेगा? इसका परिणाम यह हुआ कि चीन जाति आज भी जीवित है। किन्तु इसका परिणाम उसके आर्थिक जीवन पर बड़ा भयावह हुआ है। चीन में दरिद्रता का साम्राज्य है। चीनी जेलों में अधिक कष्ट कैदियों को इसलिये दिये जाते हैं कि जीविका निर्वाह के लिए कहीं साधारण व्यक्ति जेल जीवन न अपना लें। चीन की सभ्यता में जो बात हमें सबसे महत्वपूर्ण दिखाई पड़ती है वह है उसकी मौलिकता। यह सभ्यता चीन में ही पैदा हुई और यहीं फूली फली। इसने समस्त चीन पर अधिकार कर एक भाषा तथा एक संस्कृति के धागे में समस्त चीनवासियों को पिरो दिया। चीन ने इस सभ्यता का विकास शांतिमय उपायों द्वारा किया, युद्ध तथा बल का सहारा लेकर नहीं। चीन ने कला तथा विज्ञान की उन्नति में भी आश्चर्यजनक सहयोग दिया। छापे की कला का अविष्कार चीन में सबसे पहले हुआ। यहीं से यह कला पश्चिमी देशों में फैली और इस अविष्कार के ही कारण यूरोप में विद्या के पुनरुद्धार की लहर इतनी सफलता के साथ आगे बढ़ सकी। कहना न होगा कि कुतुबनुमा तथा बारूद का अविष्कार भी चीनियों ने ही किया था। ये बाद के अविष्कार थे और इनका प्रचार इसी देश से योरप के देशों में फैला।

चीन की सभ्यता के दोष

चीन की सभ्यता में कई बड़े दोष भी थे। चीन की पुरातन पूजा का यह घातक परिणाम हुआ कि चीन की सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था में देश काल अथवा परिस्थिति के अनुसार कोई परिवर्तन न हो सके। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता तथा ज्ञान के सहारे समाज में सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर सकता था, यद्यपि योग्यतम व्यक्तियों को उच्च राजनीतिक पदों पर नियुक्त किया जा सकता था, किन्तु इस शिक्षित वर्ग ने केवल प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन को ही ज्ञान का एकमात्र साधन समझा। विदेशियों के लिये चीन का दरवाजा बंद था।

बाहरी सभ्यताओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। परिवर्तन के लिये कोई अवसर न था। चीनी जीवन में संकीर्णता तथा अंधविश्वास ने घर कर लिया। योरोप तथा अमेरिका ने काफी राजनीतिक उथल-पुथलें देखी। उनका सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का एकदम काया-पलट हो गया किन्तु चीन में पिछले दो सहस्र वर्षों से शायद ही कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ हो।

चीनी सभ्यता की विश्व के लिये देन

फिर भी चीन ने मानव सभ्यता की उन्नति में एक स्तुत्य कार्य किया। पहिले यह बताया जा चुका है कि सभ्यता का मुख्य आधार भौतिक शक्तियों के ऊपर आध्यात्मिक शक्तियों की विजय है—अहमत्व के ऊपर समत्व की विजय है। भारत की तरह चीन ने व्यक्ति को कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र की सेवा का साधन मात्र बताया और नागरिकता को भिन्न भिन्न स्वामिभक्तियों तथा वफ़ादारियों का निचोड़। यही विश्व-सभ्यता के लिये भारत के साथ साथ चीन की बड़ी देन है। भारत चीन से एक पग आगे बढ़ा। उसने अध्यात्मवाद तथा आदर्शवाद का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया और विश्व के सम्मुख अपने आदर्शवाद का चमत्कार रक्खा। प्राचीन बेबीलोन, मिस्र तथा रोम की सभ्यताएं भूगर्भ में विलीन हो गईं। केवल भारत तथा चीन ही पुरातन से अपना सम्बन्ध आजतक बनाये हुए हैं। दोनों ही आजतक अपनी संस्कृति के कारण जीवित हैं।

दसवाँ अध्याय

एशियाई सभ्यताएँ

ईरान की सभ्यता

प्राक्कथन

एशियाई प्रदेश के जिस तीसरे देश ने अपना विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया वह था ईरान। खैल्डिया की सभ्यता का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि खैल्डिया की सभ्यता को ईरान के सम्राट् साइरस महान् ने ५३६ ई० पू० में नष्ट कर डाला[1]। ईरानवासी आर्य्य जाति के थे और उन्होंने भी सभ्यता प्रचार में काफी सहयोग दिया था। यूनान के वैभव का वर्णन करते समय भी ईरान के सम्राट् दारा तथा जरसीज़ की आकांक्षाओं तथा यूनान-विजय के मंसूबों का उल्लेख किया गया था। इस सबसे यह पता चलता है कि ईरान का स्थान उस समय की गौरवपूर्ण सभ्यताओं में से एक था और जय तथा पराजय से टक्कर लेने के पश्चात् भी यहाँ के निवासी सभ्यता की उन्नति में उत्तरोत्तर सहयोग देते रहे थे। यहाँ के सम्राटों ने मिस्र देश, लिडिया, अफगानिस्तान आदि देशों को जीत लिया था और इस प्रकार ईरानी साम्राज्य दारा के शासन-काल में विश्व के महान शक्तिशाली साम्राज्यों में से एक था। इसकी सीमा मिस्र से लेकर सिंधु नदी तक थी। साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भाग तक सड़कों का जाल बिछा हुआ था और डाक का प्रबन्ध भी पूर्ण रूपेण संगठित था। दारा ने ईरान को एक नाविक शक्ति के रूप में परिवर्तित किया। ईरान-वासियों की सबसे बड़ी विशेषता उनका धर्म था। जरथुस्त ने—जिसका काल कुछ इतिहासकारों ने १००० ई० पू० बतलाया है—इस धर्म को चलाया था। उन्होंने पापियों के प्रलय के दिन नर्क की प्रज्वलित अग्नि का डर दिखाया। इस धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत थोड़ी है। केवल भारतवर्ष के पारसी ही इस धर्म के मानने वाले हैं। आगे के पृष्ठों में पहिले ईरान का इतिहास और तत्पश्चात् वहाँ की सभ्यता का दिग्दर्शन कराया गया है।

ईरान का प्राचीन इतिहास

ईरान निवासी आर्य्य जाति के थे। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार आर्यों

---

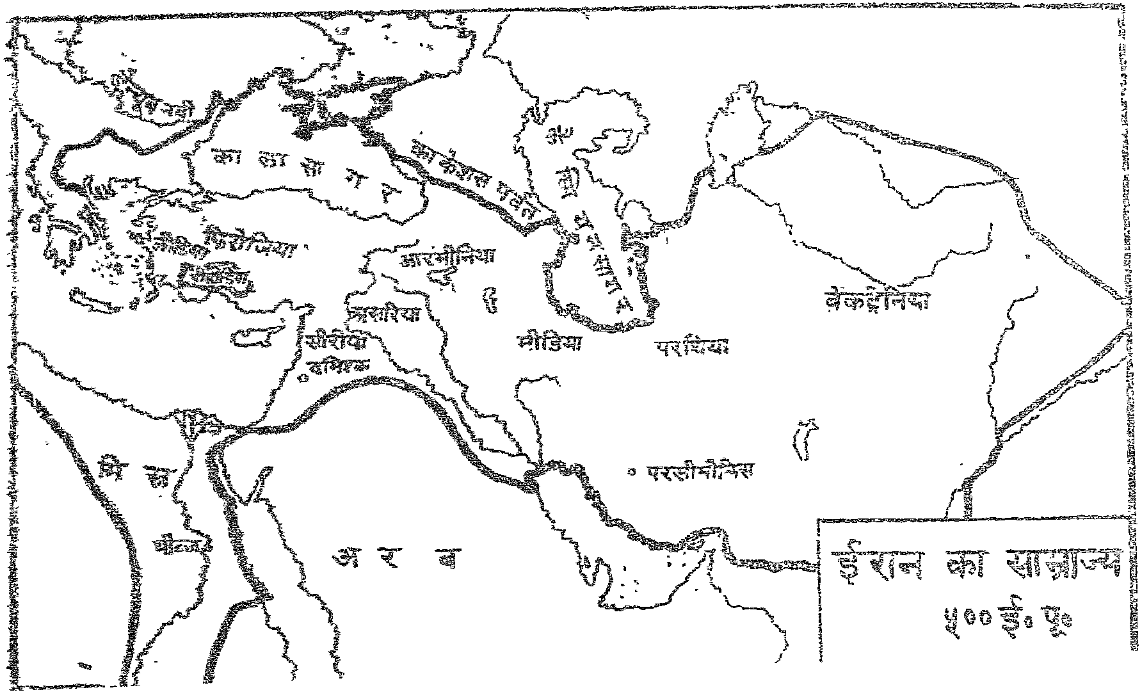
१ देखिये दूसरा अध्याय पृष्ठ ९

का एक समूह कास्पियन सागर से होता हुआ ईरान पहुँचा और दूसरा समूह भारतवर्ष। इनके मतानुसार २००० ई० पू० में ये लोग यहाँ गये होंगे। कालान्तर में ये लोग इतने शक्तिशाली हो गए कि इन्होंने पहिले असीरियावासियों को तत्पश्चात् बेबीलोन को जीत लिया। ईरान प्रदेश के पूर्वी भाग में ईरानी रहते थे और उत्तरी पश्चिमी भाग में मीड लोग। इन मीडों का उल्लेख असीरिया में प्राप्त खण्डहरों से मिलता है।

इन मीडों की सैनिक शक्ति काफी प्रबल थी इसी कारण इनका उल्लेख 'भयावह मीड' शब्दों से किया गया है। कालान्तर में मीडों ने अपनी सैनिक-शक्ति से एलम निवासियों को पराजित कर लिया और सूसा नगर उनके हाथ में आ गया। तत्पश्चात् मीडों और ईरानवालों में प्रभुता के लिये युद्ध हुए। अंत में साइरस ने ५५७ ई० पू० में दोनों जातियों को एक कर अपने साम्राज्य की स्थापना की। साइरस ने एशिया माइनर के एक प्रदेश लिडिया पर भी अधिकार कर लिया। लिडिया उस समय अपने वैभव और वाणिज्य के कारण एशियाई देशों में सबसे धनी समझा जाता था। वहाँ का राजा कारू या क्रीसस अपने धन के कारण इतिहास में प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार साइरस का साम्राज्य पूर्व में भारतवर्ष से लेकर पश्चिम में एशिया माइनर तक फैला था। ५३६ ई० पू० में उसने कैल्डिया जाति की सभ्यता को नष्ट कर डाला। यहीं से ईरान का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। ५२८ ई० पू० में साइरस की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसका पुत्र केम्बसीज गद्दी पर बैठा। उसने ५२७ ई० पू० में मिस्र को जीत लिया। ५२१ ई० पू० में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र दारा वहाँ का सम्राट् हुआ। पहिले ही ईरान का साम्राज्य एशिया के सबसे शक्तिशाली साम्राज्यों में गिना जाने लगा था। अब दारा ने उसके शासन-प्रबन्ध तथा संगठन की ओर ध्यान दिया।

दारा के साम्राज्य का संगठन

दारा स्वयं केवल बेबीलोन तथा मिस्र का राजा था। शेष सम्राज्य का शासन-प्रबंध २० शासकों को सौंप दिया गया था। प्रत्येक शासक को क्षत्रप कहा जाता था और प्रान्त को क्षत्रपी। प्रत्येक क्षत्रप की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी। इन प्रान्तों (क्षत्रपों) को आंतरिक मामलों में काफी स्वाधीनता मिली हुई थी। नियमानुसार कर देना और आवश्यकता के समय सम्राट् को सैनिक सहायता देना उनका कर्त्तव्य था। कभी २ यह कर अनाज के रूप में लिया जाता था किन्तु लिडिया प्रदेश से अवश्य मुद्रा के रूप में लिया जाता था। इस मुद्रा



ईरान का साम्राज्य
५०० ई० पू०

का प्रयोग यहाँ ६०० ई० पू० में होने लगा था। इस साम्राज्य की राजधानी सूसा नगर थी। साम्राज्य के भिन्न २ नगरों जैसे बेबीलोन, परजपोलिस आदि स्थानों में राजप्रासाद भी बने थे जहाँ सम्राट् की फौजें रहा करती थीं। विशाल सड़कों का जाल साम्राज्य के एक भाग से दूसरे भागों को मिलाने के लिये बिछा हुआ था और सड़कों पर हरकारे डाक ले जाने के लिये नियत किये गये थे। दारा ने



दारा प्रथम

ईरान को एक नाविक शक्ति बनाने के विचार से जहाज़ी बेड़े का संगठन किया। साइलैक्स नामक मल्लाह को दारा ने अपने जहाज़ी बेड़े का संचालक नियत किया। इसे सिन्धु नदी के मार्ग की खोज के लिये भी भेजा गया था। तत्पश्चात् इसने सिंधु नदी के मुहाने से स्वेज़ के मुहाने तक का देश जहाज द्वारा पार

किन्तु दारा के पुत्र ज़रसीज़ ने जब ४८० ई० पू० में यूनान पर आक्रमण किया तो उसमें १२०० जहाज़ थे जिनमें से ३०० जहाज़ फ्यूनीशियन लोगों के थे।

ईरान तथा यूनान

ईरान के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना यूनान के साथ युद्ध थे। इन युद्धों का वर्णन यूनान के इतिहास के साथ किया जा चुका है।[1] यहाँ संक्षेप में इन युद्धों के कारणों, घटनाओं तथा परिणामों पर विचार किया जावेगा। एशिया द्वीप-समूह में रहने वाले यूनानी ईरान के सम्राट् के आधीन थे। किन्तु यह आधीनता अब तक नाम मात्र की ही थी। दारा के राज्यकाल में ऐसी घटना हुई जिससे दोनों का निकट सम्पर्क हुआ। किन्तु इस सम्पर्क के परिणाम दोनों देशों के लिये घातक सिद्ध हुए। दारा के राज्य के उत्तरी भाग पर सिथियन लोगों ने आक्रमण किये। दारा उन्हें दंड देने में असफल रहा। उसकी असफलता से लाभ उठाकर एशिया द्वीप-समूह के यूनानी निवासियों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया। दारा ने अपनी सेना उन्हें दंड देने के लिये भेजी। यूनान-वासियों ने एथेन्स तथा स्पार्टा से सहायता की प्रार्थना की। स्पार्टा से कोई सहायता न मिल सकी किन्तु एथेन्स ने अवश्य २० जहाज उनकी सहायता को भेजे। दारा इस पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने यूनान से बदला लेने के लिये एक विशाल सेना भेजी। एथेन्सवासियों ने इस संकट का साहस पूर्वक सामना किया। माराथान के युद्ध-क्षेत्र में घमासान युद्ध हुआ। ईरानियों की सेना संख्या में एथेन्स की सेना की दुगुनी थी। किन्तु ईरानी सेना फिर भी पराजित हुई। ६४०० ईरानी सिपाही इस युद्ध में काम आये। दारा की सेना को विवश हो ईरान लौटना पड़ा। किन्तु दारा इस पराजय से निराश न हुआ। एथेन्स को हराने के विचार से एक विशाल सेना का संगठन किया गया किन्तु इसी वर्ष दारा की मृत्यु (४८५ ई० पू० में) हो गई। एथेन्स पराजय का बीड़ा अब दारा के पुत्र जरसीज़ ने उठाया।

जरसीज़ ने एथेन्स को हराने के लिये प्रत्येक बात का पूरा २ ध्यान रखा। विशाल स्थल सेना के साथ २ एक संगठित शक्तिशाली जहाज़ी बेड़ा भी भेजा गया। इसमें १२०० जहाज़ थे। इस विशाल सेना में लगभग सभी देशों के सिपाही थे। सूडान, तुर्किस्तान, अरब, सीरिया तथा बेबालोन आदि देशों के सिपाही इस सेना में थे। किन्तु यह विशाल सेना इस आक्रमण के लिये

[1] देखिये पृष्ठ ५०-५२

सर्वथा अयोग्य थी। एक तो भिन्न २ देशों में रहने के कारण सिपाहियों में संगठन का एकदम अभाव था। दूसरे उन्हें जरसीज़ के साथ कोई विशेष सहानुभूति न थी। एशिया द्वीप के यूनानियों को भी उनकी इच्छा के विपरीत इस फौज में भर्ती किया गया था। विशेषतया जहाजी बेड़े में तो अधिकांश यूनानी ही थे। कहना न होगा कि इन लोगों की सहानुभूति पूर्णतया एथेन्स के साथ थी—ईरान के साथ नहीं। ऐसी स्थिति में युद्ध के परिणाम सोचे जा सकते हैं। जरसीज़ की विशाल सेना थर्मापोली के युद्ध में पराजित हुई। जरसीज के निकट सम्बन्धी भी इस युद्ध में काम आये। इतना ही नहीं। एथेन्स के जहाजी बेड़े ने ईरानी बेड़े को प्लेटा और माइकेल के युद्धों में पराजित कर दिया।

इन युद्धों में पराजित होने के तुरन्त ही बाद ईरान का पतन प्रारम्भ हो गया। ४६५ ई० पू० में जरसीज़ का वध हो गया। अयोग्य शासकों का जैसे तांता लग गया था। अंत में ईरानी चरित्र इतना पतित हो गया कि गद्दी के एक अधिकारी ने यूनान से सहायता माँगी। ३३० ई० पू० में सिकन्दर महान् ने इस साम्राज्य का अस्तित्व समाप्त कर दिया। सिकन्दर का साम्राज्य उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके तीन सैनिक अधिकारियों में बँट गया। सिल्यूकस को हिन्दूकुश से लेकर एशिया माइनर तक का देश मिला। लगभग ३०० वर्षों तक उसके वंशज ईरान पर राज्य करते रहे। इसके बाद मध्य एशिया की एक जाति ने जिसे पार्थिया कहते हैं इन्हें निकाल भगाया। फिर ईरान निवासियों ने स्वयं इन विदेशियों को अपने देश से निकाल कर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। आर्देशेर प्रथम इस प्रकार ईरानवासियों का तीसरी शताब्दि ईसवी में सम्राट् बना और उसने सासानी राजवंश की नींव डाली।

ईरान में सासानी वंश का राज्य

आर्देशेर जरथुस्त धर्म का अनुयायी था और अपने साम्राज्य की स्थापना करने में उसने धर्म का आश्रय लिया। वस्तुतः लगभग सभी प्राचीन साम्राज्यों का आधार धर्म था। सिकन्दर महान् ने भी मिस्र विजय के पश्चात् उस स्थान को पवित्र किया जहाँ पुराने सम्राटों की कब्रें थीं। कालान्तर में स्वयं सिकन्दर महान् की प्रतिमा मिस्र के मंदिरों में बन गई। यही दशा आर्देशेर की थी। अपनी सत्ता स्थायी रखने के विचार से उसने धर्म का आश्रय लिया। एक शताब्दि पश्चात् रोम के सम्राट् कान्स्टैन्टाइन महान् ने ईसाई धर्म का आश्रय लिया था। दोनों ही धार्मिक मामलों में असहिष्णु थे। रोमन साम्राज्य

और सासानियों में लगातार युद्ध होते रहते थे। दोनों की आँखों में धार्मिक नशा छाया था और दोनों बलपूर्वक अपने धर्मों को स्थापित करना चाहते थे। ऐसे समय जब कि तातार लोगों ने योरुप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों की शांति को खतरे में डाल दिया था, दोनों साम्राज्यों के धार्मिक झगड़ों से हानि के अतिरिक्त और क्या परिणाम निकल सकता था? आर्देशेर के वंशजों ने धार्मिक कट्टरता की नीति को जारी रखा। ईसाई धर्म के अनुयायियों को उसी प्रकार कुचला गया जैसे कुस्तुनतुनिया के रोमन सम्राट् गैर ईसाईयों को कुचल रहे थे। सन् २७७ ई० में मनी नामक एक धर्म-प्रचारक को निर्दयतापूर्वक कत्ल करा दिया गया। इस प्रकार संदेह के इस साम्राज्य में स्वतंत्र विचारों को एकदम नष्ट कर दिया गया। विज्ञान तथा कला-कौशल की उन्नति एकदम रुक गई।

ऊपर तारतारों (तुर्कों) के आक्रमणों का वर्णन हो चुका है। पहिले-पहिल इन्होंने रोमन तथा सासानी सम्राटों के आपसी झगड़ों में एक के विरुद्ध दूसरे का साथ दिया। सासानी सम्राट् खुसरो द्वितीय ने सन् ६१० ई० में दमिश्क, यरूशलम आदि देशों को जीत लिया और एशिया माइनर तक धावा मारा। मिस्र को भी उसने जीत लिया। सन् ६२८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके वंशज ईरान पर शासन करते रहे किन्तु उन्हें एक नई शक्ति के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा। उस नई शक्ति ने अपनी विजय का डंका चारों ओर बजाया और पारसियों को नये धर्म का ग्रहण करने के लिये विवश किया। यह नई शक्ति अरब के मुसलमानों की थी और यह नया धर्म इस्लाम था। ६४१ ई० में इस्लाम ने सासानी साम्राज्य और उसके राजधर्म (पारसी धर्म) को नष्ट कर दिया। जरथुस्त्र के अनुयायी सताये जाने के डर से ईरान छोड़ कर भारत आये और बम्बई, सिन्ध आदि भागों में बस गये। तब से ये लोग इसी देश में रह रहे हैं।

ईरानवासियों का राजनीतिक संगठन

ईरानवासियों के इतिहास को देखने के पश्चात् हम वहाँ की सभ्यता का वर्णन करेंगे। यद्यपि ईरान का इतिहास पहिले यूनान के साथ और बाद में रोम के साथ हुए युद्धों से भरा पड़ा है तथापि ईरान की सभ्यता में कई उल्लेख-नीय बातें हैं। ऊपर हमने दारा के विस्तृत साम्राज्य का वर्णन किया है। दारा का साम्राज्य जितना विस्तृत था उतना ही वह संगठित भी था। बाद में रोमन सम्राटों ने अपने साम्राज्य का संगठन दारा के बताये हुए ढंग पर किया।

साम्राज्य बीस प्रान्तों में बँटा था जिनमें से मिस्र, फिलस्तीन, सीरिया, अफगानिस्तान, पंजाब तथा बिलूचिस्तान मुख्य थे। प्रत्येक प्रान्त के अलग अलग शासक थे जिन्हें क्षत्रप कहते हैं। प्रत्येक प्रान्त की अलग अलग सेनाएँ थीं। किन्तु फौज में भरती करने के नियम बड़े कठोर थे। यद्यपि दंड बड़े कठोर थे जैसे हाथ पैर काटे जाना, फाँसी, गला घोंटना, पत्थरों से मार देना तथापि न्याय प्रबन्ध की सुविधा पूरी पूरी दी जाती थी। मुकद्दमों को दोनों पक्षों को समझाने के विचार से दुभाषिये रखे जाते थे। आपसी फैसला करने पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। न्याय सम्पादन में देरी नहीं हो सकती थी क्योंकि प्रत्येक मुकदमे की अवधि नियत थी। न्याय सम्पादन में देरी करने वाले न्यायाधीशों की खालें खिन्चवा दी जाती थीं। रिश्वतखोरी के बदले में मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यद्यपि कर भारी लिये जाते थे फिर भी प्रान्तों की दशा संतोषजनक थी। प्रत्येक प्रदेश को अपनी भाषा, कानून, रीति-रिवाज, धर्म, मुद्रा, नैतिक आचार-विचार को रखने की स्वतंत्रता मिली हुई थी। इस प्रकार दारा प्रथम के शासनकाल में ईरान का साम्राज्य राजनीतिक संगठन की सफलता का द्योतक था।

पारसी धर्म

ईरानियों का धार्मिक जीवन पवित्रता तथा सादगी का था। ज़रथुस्त उनके धार्मिक गुरु थे। उनकी दृष्टि में यह संसार अहुर-माज़्दा तथा अहरीमन दो शक्तियों के संग्राम की युद्ध-भूमि है। अहुर-माज़्दा प्रेम तथा सत्यता का प्रतीक है और अहरीमन घृणा तथा असत्य का। अनेक देवी-देवताओं के स्थान पर उन्होंने एक शक्ति की कल्पना की थी और वह शक्ति थी अहुर-माज़्दा। अहुरमाज़्दा 'ज्योति, पवित्रता, सादगी, परोपकार तथा अमरत्व' का प्रतीक भी समझा जाता है। पवित्र आचरण से मनुष्य को स्थायी शांति मिलती है। मृत्यु पर्यन्त शरीर को जलाने अथवा गाड़ने के पक्ष में पारसी लोग नहीं हैं। उनका विचार है कि मरने के पश्चात् भी यह शरीर पशु-पक्षियों का भोज्य पदार्थ बनना चाहिये। वे लोग सूर्य तथा अग्नि की पूजा करते हैं। ज़रथुस्त ने उपदेश दिया, "मनुष्य के कर्त्तव्य तीन हैं— अपने शत्रु को मित्र बनाना, पापात्मा को पुण्यात्मा बनाना और अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।" कालान्तर में अन्य धर्मों की तरह यह धर्म भी पाखण्डों से भर गया। पुजारियों की पोशाकें भड़कीली होने लगीं और प्रार्थना के बाह्य ढंग पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। किन्तु सूर्य तथा अग्नि की उपासना आजकल भी मौजूद

है। अवस्ता इन लोगों का पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है। यह जिन्द भाषा में लिखा गया है और ऋग्वेद से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

ईरानवासियों की भवन-निर्माण-कला मौलिक न थी। उन्होंने असीरिया, बेबीलोन तथा मिस्र की वास्तु कलाओं से उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं को ग्रहण कर अपनी वास्तु-कला का विकास किया। इस प्रकार मिस्र से उन्होंने रंगीन दीवारों का प्रयोग, असीरिया से परों वाले साड़ों का प्रयोग, तथा बेबीलोन से विशाल सुंडेलियों का निर्माण करना सीखा। फिर भी भिन्न भिन्न शैलियों के सम्मिश्रण की उनमें अद्भुत क्षमता थी। परजपोलिस में बने विशाल राजप्रासादों के खण्डहर (इन प्रासादों को सिकन्दर ने नष्ट कर दिया था) और उन राजप्रासादों पर अंकित दारा के लेख अब भी उनके गौरव तथा वैभव की याद दिलाते हैं।

ईरानी सभ्यता की विश्व के लिये देन

प्राचीन ईरानवासियों के इतिहास तथा सभ्यता के वर्णन को समाप्त करने से पूर्व वहाँ की सभ्यता की विश्व के लिये क्या देन रही यह जान लेना परमावश्यक है। प्रो० हर्नशा के शब्दों में, "ईरान साम्राज्य युद्ध की अपेक्षा शांति के लिये संगठित था। लूट-पाट के स्थान पर वाणिज्य ही साम्राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन था। असीरिया की उस बर्बरता से भी यह साम्राज्य मुक्त था जिससे प्रत्येक वर्ष पूर्व के देश आतंक मानते थे। दूसरे धार्मिक नीति में भी ईरान के शासक (सासानियों को छोड़ कर) उदार थे। प्रत्येक धर्म में उन्हें कुछ न कुछ अच्छाइयाँ दिखलाई पड़ती थीं। यहूदियों के साथ इनका उदार व्यवहार तो इतिहास में एक विचित्र सी घटना ज्ञात होती है।" इससे अधिक ठीक तथा रोचक वर्णन पारसी सभ्यता तथा संस्कृति की विश्व के लिये देन के सम्बन्ध में नहीं हो सकता।

ग्यारहवाँ अध्याय

पुरातन सभ्यताओं का सिंहावलोकन

पिछले पृष्ठों में संसार की प्राचीन सभ्यताओं का उल्लेख किया गया है। दजला-फरात की घाटियों से लगा कर मिस्र की घाटी, ह्वांग-हो तथा यांग-सी-क्यांग तथा सिंधु की घाटी की सभ्यता का संक्षेप में वर्णन किया गया है। प्राचीन विश्व की शांति को भंग कर आर्य्य जाति के आक्रमणों और उनकी अद्भुत सभ्यता का भी दिग्दर्शन कराया गया है। विश्व के रंगमंच पर बहुतसी जातियाँ आयीं और आकर सदैव के लिये भूगर्भ में प्रविष्ट हो गईं। मिस्र का गौरव, पिरेमिडों के निर्माताओं की शान, यूनान का वैभव, रोम का रोब, बेबीलोन, असीरिया की क्रूरता, निनीवे, नासास, कार्थेज आदि प्राचीन नगर आबाद हुए, फूले फले और भूगर्भ में समा गये और उनकी केवल स्मृतियाँ ही शेष रह गयीं। इस परिवर्त्तनशील संसार में केवल एक ही वस्तु स्थिर रह सकी और वह थी धर्म तथा आध्यात्मवाद। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पाश्चात्य सभ्यताओं में भौतिकवाद की ही प्रबलता दिखलाई पड़ती है। केवल यूनान ही इस नियम का अपवाद है किन्तु वहाँ की भी सभ्यता का आधार भौतिकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद है—आध्यात्मवाद नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि इस परिवर्तित संसार में आध्यात्मवाद उस तत्व की खोज में रहता है जो परिवर्त्तन के बीच में स्थिर, आदि के बीच में अनादि और नश्वर के बीच अविनाशमान है। जिन सभ्यताओं का आधार आध्यात्मवाद था वे ही सभ्यताएँ आज भी वर्तमान हैं और भूत तथा वर्तमान के बीच सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं। एशिया की सभ्यताओं की आध्यात्मवाद विशेषता रही है विषशेतया भारत की सभ्यता का तो आधार सदैव से आदर्शवाद तथा आध्यात्मवाद रहा है और यही कारण है कि भारत आज भी जीवित है। भारत के साथी चीन ने भी इसी मार्ग को ग्रहण किया और उसकी भी सभ्यता आज तक जीवित है। पश्चिमी एशिया की जिस पुरानी जाति को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता पर गर्व करने का कारण है—जिसने भारी से भारी संकटों तथा अत्याचारों को हँसते हँसते सहा—वह जाति है यहूदियों की। कहना न

होगा कि उनकी सभ्यता का आधार भी भौतिकवाद की अपेक्षा आदर्शवाद तथा आध्यात्मवाद है।

पुरातन विश्व का इतिहास कब से प्रारम्भ हुआ इसे निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इतना स्पष्ट है कि उसका अंत अवश्य असभ्य जातियों के आक्रमणों के परिणाम स्वरूप हुआ। संक्षेप में यह काल आज से लगभग ५ हजार वर्ष पहिले से लगा कर सन् ७०० ई० तक समझना चाहिये। इस छः हजार वर्ष के समय में कितनी सभ्यताएँ उदित हुईं, उन्नत हुईं और नष्ट हो गईं। फिर भी सभ्यता का बीज इस समय तक एक विशाल वृक्ष के रूप में बढ़ चुका था। पतझड़ों तथा तूफानों का सामना करते हुए यह अचल खड़ा था। अभिमानी सम्राटों के गौरव-काल आते थे और समाप्त होते थे किन्तु यह विशाल वृक्ष उसी प्रकार खड़ा था। किन्तु इस वृक्ष पर मधुर फल कभी २ ही लगते थे और वे थे उन धार्मिक विचारधाराओं के जिनके ऊपर सारा संसार आज भी बंधा है। संक्षेप में इन विचारधाराओं पर विचार करना इन पृष्ठों का उद्देश्य है।

पहिले बतलाया जा चुका है कि संसार के सभी धर्मों का उद्गम एशिया है। फिलस्तीन में यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म, ईरान में पारसियों का धर्म, भारत में आर्य्य धर्म तथा बौद्ध धर्म, चीन में कनफ्यूशस तथा लाओ जे के धर्म और अरब का इस्लाम धर्म आदि संसार के मुख्य २ धर्म हैं। इनमें से यहूदी धर्म का वर्णन उनकी सभ्यता के साथ २ कर दिया गया है। यहाँ फिलस्तीन के दूसरे धर्म का वर्णन किया जायगा। यहूदियों का विश्वास था कि उनके जीवन में एक मसीहा होगा जो उनके अतिरिक्त सभी धर्मावलम्बियों को नष्ट कर देगा और विश्व का पथ-प्रदर्शन करेगा। जब ईसा ने अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया तो यहूदियों को अपनी आशा पूर्ति में विश्वास हुआ। उन्होंने ईसा से आग्रह किया कि वे पतित यहूदी जाति का नेतृत्व ग्रहण करें। रोमनों तथा अन्य विदेशियों को फिलस्तीन से बाहर निकाल दें। मुहम्मद की नाईं ईसा भी एक राष्ट्रीय नेता हो सकते थे किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नेतृत्व अस्वीकार कर दिया। कहना न होगा कि बहुत से यहूदी उन पर इस बात से रुष्ट हुए होंगे और खीझ कर उन्होंने ईसा को रोमनों के हाथ में सौंप दिया। जो भी हो ईसा ने पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनका ईश्वर दया तथा प्रेम का प्रतीक था। प्राणिमात्र की सेवा उनका सबसे बड़ा

धर्म था। इस 'स्वर्ग राज्य' में समस्त जातियाँ और समस्त प्राणी समान थे। सभी सेवा-भाव, प्रेम तथा सचाई के बंधन में बँधे थे। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों तथा ईसाइयों के वास्तविक जीवन में आज कितना अन्तर है!

ईसा के इन सिद्धान्तों की भारतीय धर्मों (आर्य्य धर्म तथा बौद्ध धर्म) से तुलना करने पर ये सिद्धान्त आर्य्य धर्म से कितने मिलते जुलते प्रतीत होते हैं! इन सब सिद्धान्तों से एक ही बात सिद्ध होती है—संसार के भिन्न भिन्न धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। इसीलिये प्रत्येक धर्म—चाहे वह नवीन हो या प्राचीन, चाहे उसका जन्म अरब में हुआ हो या फ़िलस्तीन में—उन सार्वभौम सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहा है जिनका उद्देश्य सत्य की खोज है और जो प्राणिमात्र में प्रेम-भाव उत्पन्न करते हैं। सत्य और प्रेम, त्याग और अहिंसा, दया और सेवा-भाव आदि सभी धर्मों के तत्व हैं। और सभी में इन्हीं सिद्धान्तों का घुमा फिरा कर समावेश है।

ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव इस प्रकार फ़िलस्तीन में हुआ। इसके संस्थापक ईसा शहीद हुए। शहीदों के रक्त से धर्म का पौदा प्लावित होता है। ईसा के सिद्धान्तों का प्रचार पाल नामक एक संत ने रोमन साम्राज्य के अंतर्गत देशों में किया। लगभग ३० ही वर्षों में ईसाई धर्म योरोप का एक जीवित धर्म हो गया। पाल के उद्योग, ईसाई संतों के पवित्र जीवन तथा धार्मिक उत्साह का परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म योरोपीय देशों में फैलने लगा। किन्तु इसी समय कुछ रोमन सम्राटों ने ईसाइयों को सताना आरम्भ किया। ईसाई लोग साहस पूर्वक इन अत्याचारों को सहते रहे। अंत में रोमन सम्राट् कान्स्टैन्टाइन के स्वयं ईसाई धर्म अंगीकार करने से ईसाई धर्म राज-धर्म बन गया और रोमन साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् उसने रोमन साम्राज्य का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार विश्व के प्रमुख धर्मों का उदय तथा विकास हुआ। केवल इस्लाम ही शेष रह गया था उसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

ईसाई धर्म के अतिरिक्त एशिया में उदित हुए अन्य धर्मों का वर्णन किया जा चुका है। कालान्तर में इन्हीं धर्मों ने अपना सिक्का विश्व के ऊपर जमाया और सभ्यता-प्रचार में योग दिया। कहना न होगा कि भूमध्यसागरीय प्रदेश को छोड़ कर सारा योरोप इस समय अज्ञान की गहरी नींद में सोया हुआ था। इस धार्मिक विचारधारा से एक और बात सिद्ध होती है—"एशिया एक है। हिमालय यद्यपि चीन को भारत से अलग कर रहा है, फिर भी दोनों में संस्कृ-

तिक एकता है। दोनों में ही क्यों प्रत्येक एशियाई जाति की सभ्यता में एक मिलती जुलती विशेषता है और वह है 'जीवन का लक्ष्य क्या है, ?'' एशिया विश्व का गुरु इसलिये समझा जाता है कि उसने जीवन का उद्देश्य स्वयं समझने का यत्न किया। संसार के अन्य देशों ने इस तत्व को एशिया से समझ कर अपने जीवन को उसी के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। यही एशियाई संस्कृति तथा सभ्यता की विशेषता है और यही उसकी विश्व के लिये सबसे बड़ी देन है।

बारहवाँ अध्याय

नई जातियों की चहल-पहल

प्राक्कथन

मध्य युग में मध्य एशिया की भ्रमणशील जातियों जैसे हूण, सिथियन, तुर्क तथा मंगोलों ने और योरप की आर्य्य जातियों जैसे ट्यूटन तथा नार्मनों ने प्राचीन संसार की टिमटिमाती हुई सभ्यताओं को समाप्त कर दिया और इस प्रकार योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में अंधकार के युग का सूत्रपात किया। किन्तु इसी समय विश्व में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ--वह शक्ति थी अरब के मुसलमानों की। इस शक्ति के आगे मरणासन्न सासानी (ईरानी) साम्राज्य को तथा पूर्वी रोमन साम्राज्य को झुकना पड़ा। कालान्तर में मध्य एशिया की बर्बर जातियों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया और उसकी विजय का डंका योरप, अफ्रीका तथा एशिया में बजाया। क्योंकि इस्लाम द्वारा ही इन 'बर्बर' जातियों को नया उत्साह तथा नवीन लक्ष्य प्राप्त हुआ था इसीलिये पहिले इसी शक्ति का वर्णन किया जायगा।

(क) अरब के निवासी

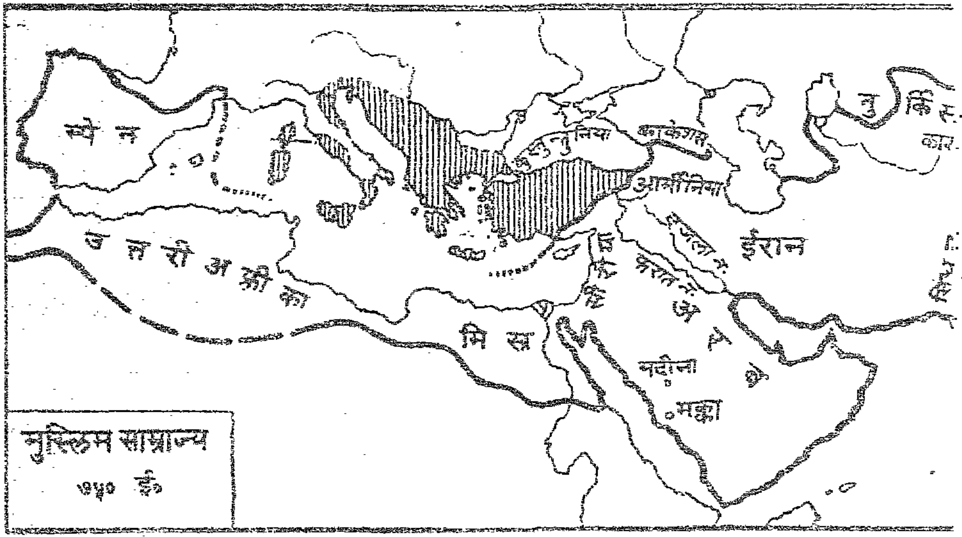
इस्लाम का जन्म अरब में हुआ। अरब निवासी सेमीटिक जाति के थे। इस देश से प्राचीन समय में यहूदी और फ्यूनीशियन लोग एशिया माइनर की उथल-पुथलों में सम्मिलित हुए थे। किन्तु फिर भी अबतक उन अरबवासियों ने सभ्यता निर्माण तथा वृद्धि में अधिक सहयोग नहीं दिया था। छठी शताब्दि में यहाँ एक धार्मिक नेता का जन्म हुआ। वह नेता मुम्मद थे।

मुहम्मद का जन्म सन् ५७० ई० में मक्का में हुआ। मक्का निवासी उस समय मूर्तिपूजक थे। उनका समय आपसी लड़ाई झगड़ों में व्यतीत होता था। वर्ष में एक बार वे अवश्य 'काबे' में एकत्रित होते थे। यहाँ एक काला प्रस्तर खंड था जिसकी पूजा प्रत्येक वर्ष होती थी। अरबवासियों के विचार से यह पत्थर स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरा था। मुहम्मद कुरेशी परिवार में पैदा हुए। इस परिवार का स्थान अरबों में पुजारियों जैसा था। चालीस वर्ष की आयु तक मुहम्मद के जीवन में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। २५ वर्ष खादिजा नामक एक धनाढ्य विधवा से उनका विवाह हुआ। यह उनके जीवन की

प्रमुख घटना थी। धीरे धीरे मुहम्मद को इल्हाम होने लगे। फरिश्ता जिब्रायल स्वर्ग से ये संदेश मुहम्मद के पास लाता था। मुहम्मद ने उपदेश दिया "अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।" कहना न होगा कि मक्का निवासियों ने इन उपदेशों का विरोध किया। मुहम्मद भाग कर मदीना आये। इस प्रकार सन् ६२२ ई० से हिजरी सम्वत् आरम्भ हुआ। मदीना निवासियों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया। उनकी सहायता से मुहम्मद ने मक्का भी जीत लिया। सन् ६३२ ई० में मुहम्मद की मृत्यु हुई। उस समय तक समस्त अरब देश इस्लाम ग्रहण कर चुका था। मुहम्मद की शिक्षाएँ ये थीं—१. ईश्वर एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है। २. प्रत्येक मुसलमान को दिन में पाँच बार नमाज पढ़नी चाहिये। ३. निर्धनों को दान देना चाहिये। ४. रमजान के दिनों में उपवास रखने चाहिये। ५. प्रत्येक मुसलमान को जीवन में कम से कम एक बार अवश्य मक्के जाना चाहिये। कुरान मुसलमानों की पवित्र धार्मिक पुस्तक है। 'हदीस' में उनके रीति-रिवाजों का संग्रह है। मुहम्मद अपने जीवन-काल में मुसलमानों के धार्मिक तथा राजनीतिक नेता थे। यहीं से मुसलमानों के 'धर्म-राज्य' Theoracy का उदय होता है।

इस्लाम की उन्नति

मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उठा। एक दल उनके दामाद अली के पक्ष में था। ये लोग कालान्तर में 'शिया' कहलाये। दूसरा दल निर्वाचन के पक्ष में था। ये लोग 'सुन्नी' कहलाये। दोनों दलों में इस प्रश्न को लेकर काफी लड़ाई झगड़े चले। अंत में सुन्नियों की विजय हुई और मुहम्मद के मित्र तथा दाहिने हाथ अबूबकर पहिले 'खलीफा' चुने गये। मुस्लिम जगत के नेता को अब इसी नाम से पुकारा जाने लगा। अबूबकर ने बड़ी बुद्धिमत्ता से कार्य किया। मुसलमानों को आदेश दिया गया कि वे इस्लाम धर्म का प्रचार करें, अन्याय तथा अत्याचार विजित देशों पर न करें। इस्लाम धर्म से विमुख व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के लिये दो उपाय सुझाये गए—एक था इस्लाम धर्म-ग्रहण, दूसरा मृत्यु। कालान्तर में गैरमुस्लिमों को इस्लामी राज्य में एक प्रकार का कर देकर जीवित रहने की आज्ञा दे दी गई। यह कर जजिया था। इस प्रकार विजित जातियों के सम्मुख दो ही शर्तें रखी जाती थीं। एक थी इस्लाम ग्रहण करना और दूसरी जजिया देना। कुछ मुस्लिम इतिहासकारों के मत से जजिया की उत्पत्ति दूसरे प्रकार से हुई। इस्लाम धर्म के अनुसार प्रत्येक मुसलमान को


मुस्लिम साम्राज्य
७५० ई०
स्पेन
उत्तरी अफ्रीका
मिस्र
अरब
मदीना
मक्का
ईरान
आर्मीनिया
काकेशस

देश की रक्षा के लिये सेना में भर्ती किया जा सकता है । किन्तु गैरमुस्लिमों (जिम्मी) को सेना में भर्ती होने के लिये विवश नहीं किया जा सकता । इसके बदले में एक प्रकार का कर उनसे लिया जाता था जिसे जजिया कहते थे । हमारे विचार से यह तर्क ठीक नहीं जँचता क्योंकि एक तो गैरमुस्लिमों का विश्वास ही कम किया जाता था और न उन्हें फौज में भर्ती ही किया जाता था । मगर सभी गैरमुस्लिमों को यह कर देना पड़ता था । एक पाश्चात्य इतिहासकार के मतानुसार जजिया कुरान की इस आयत के आधार पर वसूल किया जाता था, "उन लोगों के साथ युद्ध करो जो प्रलय में विश्वास नहीं करते और न मुहम्मद पर ईमान ही लाते हैं । या तो उन्हें मुसलमान बनाओ अथवा उनसे कर वसूल करो ।"

इस्लाम की सबसे बड़ी शिक्षा है प्रत्येक मुसलमान का समाज में समान स्थान । मक्का से लेकर भारत तक के सब मुसलमान चाहें वे धनी हों अथवा निर्धन, चाहे वे उच्च कुल में जन्मे हों अथवा नीच में—सभी समान हैं । इस्लाम में इस प्रकार पूर्ण रूप से समाजिक समानता है । और इसी समानता के कारण इस्लाम आज भी जीवित है । भ्रातृभाव तथा समानता के ये भाव इस्लाम की सभ्य संसार की सबसे बड़ी देन हैं । क्या ही अच्छा होता यदि इस्लाम अन्य धर्मों के साथ भी वैसा ही भ्रातृभाव तथा समानता दिखलाता जैसी उसने अपने सहधर्मियों के साथ दिखलाई थी ? किन्तु एक बात इससे अवश्य सिद्ध होती है । संसार में आध्यात्मवाद से ही स्थायी शांति स्थापित हो सकती है । अर्थात् धर्म के वास्तविक स्वरूप को ही पहिचान कर मनुष्य में सहनशीलता तथा बन्धुत्व के भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं ।

इन धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत हो इस्लाम ने अरब से बाहर अपना प्रचार किया । कुछ ही वर्षों में फारस, एशिया माइनर, उत्तरी अफ्रीका, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान तथा सिन्ध पर इस्लाम का झंडा फहराने लगा । पहिले रोमन साम्राज्य तथा ईरान (फारस) के आपसी झगड़ों का वर्णन किया जा चुका है । इन झगड़ों से दोनों की शक्ति का ह्रास हुआ और इस्लाम का मार्ग सुगम बन गया । ईरान-विजय के बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ किन्तु यह शहर न जीता जा सका । यदि यह जीत लिया जाता तो सारा योरप इस्लाम के आधीन हो जाता । तथापि सन् ७१५ ई० तक अरबों का राज्य पिरेनीज पर्वत से चीन तक फैला था । किन्तु पिरेनीज पर्वत के दूसरी ओर फ्रांक जाति के राजा चार्ल्स मार्टेल ने

सन् ७३२ ई० में अरबों को टूर्स की लड़ाई में पराजित कर दिया। मुसलमान स्पेन से उत्तर की ओर न बढ़ सके।

(ख) ट्यूटन जातियों की योरप-विजय

रोमन साम्राज्य का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि उसे विदेशी जातियों के आक्रमणों ने बिल्कुल खोखला कर दिया और सम्राट् कान्स्टैन्टाइन को विवश हो रोम के स्थान पर कुस्तुन्तुनिया को अपनी राजधानी बनानी पड़ी थी। इन आक्रमणकारियों में एक जाति ट्यूटन थी। ट्यूटनों का जन्म-स्थान वर्तमान जर्मनी था। ये लोग आर्य्य थे और इनकी भिन्न भिन्न शाखाएं गाथ तथा वांडाल आदि कहलाती थीं। गाथ तथा वांडाल जातियों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की भीत की तरह गिरा दिया। प्रारम्भ में ये लोग भी जर्मनी में रहते थे। वांडाल उत्तरी भाग में बसे थे। सन् ४२९ ई० तक उन्होंने गाल (वर्तमान फ्रांस) तथा स्पेन को रौंद कर अफ्रीका पर अधिकार कर लिया। गाथ लोगों का निवास-स्थान वर्तमान प्रुशा था। सन् १५० ई० में उन्होंने भी घर छोड़ कर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया तथा काले सागर तक के देश को रौंद डाला। सन् २३८ ई० तक उन्होंने रोमन साम्राज्य पर कई आक्रमण किये और उसके कई शहरों को नष्ट कर डाला। सन् २६२ ई० में उन्होंने मकदूनिया, थ्रेस आदि देशों को जीत लिया। रोमन सम्राट् आरलियन ने विवश हो देशिया का प्रान्त उन्हें सौंप दिया। इस समय तक वे दो शाखाओं में बँट चुके थे पूर्वी तथा पश्चिमी। पश्चिमी शाखा ने अलारिक के नेतृत्व में इटली पर आक्रमण किया और रोम को लूटा। अंत में ये लोग स्पेन तथा फ्रांस में बस गये। पूर्वी शाखा ने कुस्तुन्तुनिया तक धावा मारा और सन् ४९३ ई० में अपने राजा थाडोरिक महान् के नेतृत्व में समस्त इटली पर अधिकार कर लिया। पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अंत हो गया यद्यपि नाम के लिये रोमन सम्राट् ही सिंहासन पर सुशोभित थे। थाडोरिक महान् बड़ा योग्य शासक था। सारी सत्ता उसके हाथों में थी। रोम के स्थान पर रेवेन्ना को उसने अपनी राजधानी बनाया। देश में शांति स्थापित की। व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति हुई। डालमातिया प्रदेश में स्थित लोहे की खानों को प्रयोग में लाया गया। कृषि की उन्नति की गई और इस प्रकार इटली धन-धान्यपूर्ण देश हो गया। स्वयं ईसाई होते हुए भी, उसने दूसरे धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वाधीनता दी। यहाँ तक कि उसके कुछ कर्मचारियों ने जब यहूदियों के ऊपर अत्याचार

किया तो इस सम्राट् ने उन्हें मृत्यु-दंड दिया। इस प्रकार उसने इटली में स्वर्ण युग स्थापित करने की चेष्टा की और इसमें उसे सफलता भी मिली।

रोमन साम्राज्य के पतन का एक परिणाम और निकला। अपनी घरेलू आपत्तियों में फँसे रहने के कारण रोम ने अपनी सेना अपने दूरस्थ प्रान्तों से हटा ली। इंगलैण्ड, फ्रांस आदि सब देशों से जैसे ही रोमन सेनाएँ हटीं ट्यूटन जाति की अन्य शाखाओं ने इन देशों को जीत लिया। ऐंग्लिस, सैक्सन तथा जट जातियों ने इंगलैण्ड को जीत लिया, वाडाल तथा बरगंडी निवासियों ने फ्रांस को। इस प्रकार इन आर्य्य जातियों का जाल यूरोप के देशों पर फैल गया।

(ग) नार्मन जाति

एक और प्रसिद्ध आर्य्य जाति जिसने योरप के देशों को जीतने का बीड़ा उठाया नारमन थी। उनका निवास-स्थान स्कैन्डेनेविया था। अपने देश से निकल कर उन्होंने रूस पर अधिकार कर लिया। ये लोग पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर बढ़े। पश्चिम में उन्होंने फ्रांस के नारमंडी प्रान्त पर अधिकार किया। नारमंडी से ये लोग भूमध्य सागर की ओर बढ़े। पहिले वे दूसरे विजेताओं के किराये के टट्टुओं के रूप में रोमन साम्राज्य पर टूटे तत्पश्चात् उन्होंने अपनी निजी सेनाएँ संगठित कीं। कालान्तर में इनकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि सन् १०५३ ई० में पोप तथा रोमन सम्राट् को एकत्रित होकर इनका सामना करना पड़ा। सन् १०८१ ई० में राबर्ट गिसकार्ड के नेतृत्व में नार्मनों ने कुस्तन्तुनिया के साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया किन्तु इटली की कठिनाइयों के कारण उसे अपना निर्णय बदलना पड़ा। वह इटली लौट आया और तीन वर्ष बाद सन् १०८४ ई० में रोम को लूटा। पूर्वी रोमन साम्राज्य पर ग्यारहवीं शताब्दि में तीन और आक्रमण नार्मनों ने किये। सन् १०६६ ई० में नारमंडी के शासक विलियम विजेता ने इंगलैण्ड को जीत कर वहाँ नारमन वंश की नींव डाली।

(घ) हूण जाति

किन्तु रोमन साम्राज्य को जिस जाति ने सबसे अधिक क्षति पहुँचाई वह थी हूण जाति। चीन की सभ्यता का उल्लेख करते हुए यह बताया गया था कि

वहाँ के सम्राटों ने हूणों के आक्रमणों से अपने देश को बचाने के लिये विशाल दीवार बनवाई थी। इसी दीवार के बन जाने से तथा चीन में संगठित और शक्तिशाली राज्य स्थापित होने से हूणों की दाल उधर न गल सकी और उन्होंने उस ओर का विचार छोड़ कर भारत तथा रोम की ओर कूच किया। पहिले पहल उन्होंने रोमन साम्राज्य की ओर ध्यान दिया। रोम पहिले से ही पतनोन्मुख हो रहा था। पहिले तो गोथ लोगों की सेना में भर्ती होकर उन्होंने रोमन साम्राज्य को परेशान किया तत्पश्चात् अटिला के नेतृत्व में उन्होंने पहिले फ्रांस पर सन् ४५१ ई० में आक्रमण किया किन्तु योरप की सभी शक्तियों ने मिलकर उनका मुकाबिला किया। चैलन्स के युद्ध में फ्रांसवासियों ने उन्हें हरा दिया। उस ओर से अपना ध्यान छोड़ कर उन्होंने दूसरे वर्ष सन् ४५२ ई० में इटली को रौंद डाला। वेरोना, पेडुआ तथा मिलान नगरों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। केवल पोप की प्रार्थना पर रोम को नष्ट भ्रष्ट करने का विचार अटिला ने छोड़ दिया। सन् ४५३ ई० में अटिला की मृत्यु हो गई। इसके चालीस वर्ष बाद गोथों का रोम पर अधिकार हो गया।

हूणों की एक शाखा ने पूर्व की ओर प्रस्थान किया। ईसा की दूसरी शताब्दि में इन विदेशियों के आक्रमण की भारत में लहर आयी। यूची, सीथियन, शक आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण किये और कालान्तर में इन्होंने भारत को अपना घर बना लिया। पाँचवीं तथा छठी शताब्दि में जिन लोगों ने भारत पर आक्रमण किया वे श्वेत हूण कहलाते थे। अपने जन्मस्थान पश्चिमी तुर्किस्तान से वे लोग भारी संख्याओं में निकल पड़ते थे और सभ्य संसार को रौंद डालते थे। जिस प्रकार पश्चिमी रोमन सम्राट् को हराने वाला हूण शासक अटिला था उसी प्रकार अब भारत में हूणों का नेता मिहिरकुल था। उसके विचित्र मनोरंजनों का पता इससे ही लग सकता है कि वह हाथियों को पहाड़ियों से नीचे फेंकवा देता था। मिहिरकुल के अत्याचारों से तंग आकर भारतीय नरेशों ने एक संघ बनाया और उसे सन् ५२८ ई० में पराजित किया। हूणों की अवनति का अब एक दूसरा और कारण उपस्थित हो गया। सन् ५६५ ई० में तुर्कों तथा फारिसवालों ने मिल कर श्वेत हूणों को पराजित कर दिया और उनकी शक्ति का एकदम ह्रास हो गया। वे भारतवर्ष की जातियों के साथ उसी प्रकार मिलजुल गए जिस प्रकार योरप में अटिला के साथी आसपास की योरोपीय जातियों में हिलमिल गए थे।

(ङ) तुर्क जाति

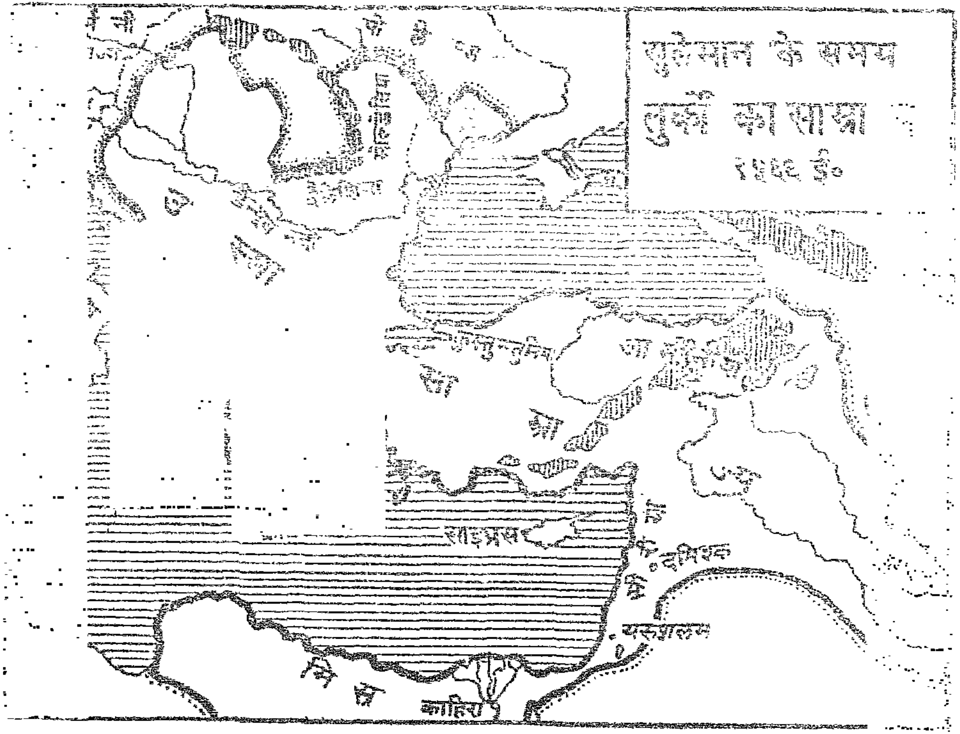
खलीफाओं के शासनकाल का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि उनका पतन सालजुक तुर्कों के बगदाद पर लगातार आक्रमणों के परिणाम स्वरूप हुआ। तुर्क लोग कट्टर सुन्नी थे। फारस (ईरान), फिलस्तीन तथा मिस्र में इस समय शियाओं का बोलबाला था। तुर्कों ने पहिले इन राज्यों को नष्ट किया। तत्पश्चात् यूनानियों से आरमीनिया प्रदेश जीत कर उन्होंने एशिया माइनर पर अधिकार कर लिया। बेचारे पूर्वी रोमन साम्राज्य की दुर्दशा थी। तुर्कों ने सन् १०७१ ई० में कुस्तुनतुनिया की फौजों को हरा दिया। इस विजय का परिणाम इस्लाम के लिये हितकर हुआ। जहाँ पहिले रोमन साम्राज्य मुस्लिम शक्ति के छिन्न भिन्न होने पर अपना लुप्त गौरव फिर से स्थापित करने का स्वप्न देख रहा था वहाँ अब उसे स्पष्ट मृत्यु दिखलाई पड़ने लगी। यह मुस्लिम साम्राज्य की हार न थी अपितु रोमन साम्राज्य की मृत्यु की ओर संकेत था। तुर्कों ने अनातोलिया पर अधिकार कर लिया। सन् १०७६ ई० में यरुशलम पर भी तुर्कों का अधिकार हो गया। रोमन सम्राट् ने पोप से सहायता की प्रार्थना की। इस समय ग्रीगरी सप्तम रोम का पोप था। वह एक योग्य शासक था। उसने चर्च की बहुत सी कुरीतियों को दूर किया था। किन्तु ग्रीगरी इस प्रार्थना का उत्तर सक्रिय रूप में न दे सका। उसके उत्तराधिकारी पोप अरबन द्वितीय ने ईसाई धर्म को संगठित करने तथा आपसी झगड़ों को मिटा कर उसे एकत्रित करने का यह अच्छा अवसर सोचा। इसी समय पीटर नामक एक सन्त क्रास हाथ में लिये फ्रांस तथा जर्मनी में घूमा। उसने तुर्कों द्वारा यरुशलम में किये गये अत्याचारों का समस्त ईसाई प्रदेशों में रोमांचकारी शब्दों में वर्णन किया और यरुशलम की रक्षा के लिये संगठित होने के लिये प्रार्थना की। इस प्रार्थना का परिणाम यह हुआ कि समस्त ईसाई देशों में यरुशलम की रक्षा के लिये सैनिक तैयारियाँ होने लगीं। इस प्रकार मुसलमानों तथा ईसाइयों के धार्मिक युद्ध हुए जिन्हें धर्मयुद्ध (Crusade) कहा जाता है। इन धर्मयुद्धों से यरुशलम की चप्पा चप्पा भूमि रक्त से रँग गई। पहिले धर्मयुद्ध का नेता संत पीटर था। इस सेना में अधिकांश नौसिखिये किसान थे। तुर्कों की असावधानी से ये लोग यरुशलम पर अधिकार करने में सफल हुए। वहाँ का एक राजा नियुक्त हुआ। किन्तु तुरन्त ही देश में अशांति फैल गई। सन् ११८७ ई० में तुर्कों ने ३०००० ईसाइयों को कत्ल करा डाला। किन्तु यरुशलम फिर भी ईसाइयों के हाथ में रहा। अब दूसरा धर्मयुद्ध छिड़ा। इस बार मिस्र के मुस्लिम

शासक सलादीन ने मुस्लिम जगत का नेतृत्व किया। सन् ११८७ ई० में उसने यरुशलम से ईसाइयों को बाहर निकालने का बीड़ा उठाया। उसने इस प्रयत्न में सफलता भी पाई। केवल फिलस्तीन के समुद्र पर और अनटियाख प्रदेश पर ईसाइयों का अधिकार रह गया। यहाँ पर इन धर्मयुद्धों का बहुत संक्षेप में ही वर्णन करना आवश्यक है। सन् १२१२ ई० का धर्मयुद्ध ईसाइयों के मस्तक पर कलंक का टीका है। यह धर्मयुद्ध 'बच्चों के धर्मयुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। भिन्न २ देशों से २०,००० बच्चे इकट्ठे किये गए और यरुशलम की रक्षा के लिये उन्हें फिलस्तीन भेजा गया। बहुत से तो बेचारे मार्ग में ही प्रभु यीशु की शरण चले गये। बहुत से बंदी बना कर दासों की तरह बेचे गये। जो बचे उन्हें रोम के पोप ने उनके घर वापस भेज दिया। इस प्रकार धर्म का यह नशा दोनों धर्मावलम्बियों की आँखों से उतरा। फ्रांस के एक दर्शक ने एक धर्मयुद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है "यरुशलम की मस्जिद के नीचे घुटनों तक खून बह रहा था। घोड़े की बाग तक सड़कों पर रक्त ही रक्त दिखलाई पड़ता था।"

इन धर्मयुद्धों का योरप पर क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन तो हम आगे चल कर करेंगे, यहाँ इतना ही कहना आवश्य है कि ईसाई फिलस्तीन पर अधिकार करने में असफल रहे। मुसलमानों का अधिकार यरुशलम पर सन् १९१८ ई० तक चलता रहा। उस वर्ष भारतीय तथा अँगरेजी सेनाओं ने यरुशलम से मुसलमानों को निकाल बाहर किया।

तुर्कों के इतिहास का वर्णन समाप्त करने से पूर्व एक बात की ओर संकेत करना आवश्यक है। अब तक जिन तुर्कों का हम वर्णन कर रहे थे वे तो थे सेलजूक तुर्क। किन्तु चंगेज खाँ के आक्रमणों से भयभीत होकर पश्चिमी तुर्किस्तान से तुर्कों का एक और समूह एशिया माइनर पहुँचा। एशिया माइनर के अनातोलिया प्रान्त में तुर्क लोग पहिले से ही बसे थे। अपने नवागन्तुकों का सेलजूक तुर्कों ने स्वागत किया और उन्हें अपने ही प्रदेश में बसा लिया। इन तुर्कों को उस्मानी तुर्क कहा जाता है क्योंकि इनका पूर्वज उस्मान नाम का एक सरदार था।

धीरे २ उस्मानी तुर्क प्रसिद्धि में आने लगे। दर्रा दार्दनियाल के मार्ग से लेकर उन्होंने मकदूनिया, यूगोस्लाविया तथा बल्गेरिया पर अधिकार कर लिया। वहाँ के जितने भी निवासी थे वे मुसलमान बना डाले गये और उनकी



सुलेमान के समय तुर्कों का साम्राज्य १५६६ ई०

सहायता से अपना सैनिक संगठन किया। एड्रियानापल को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। ईसाई जनता को निरस्त्र कर दिया गया। कालान्तर में उनका साम्राज्य तार पर्वत से लगाकर रूमानिया तक फैल गया। कुस्तुन्तुनिया के रोमन साम्राज्य को उन्होंने चारों ओर से घेर लिया। इनके पास एक स्थायी सेना थी। जान निसार उसका नाम था। इस सेना की सहायता से उन्होंने कुस्तुन्तुनिया के साम्राज्य के भागों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया। अंत में सन् १४५३ ई० में मुहम्मद द्वितीय की अधीनता में उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया को जीत लिया। इस घटना से समस्त योरप में खलबली मच गई। एक धर्मयुद्ध को संगठित करने की योजना पर विचार हुआ किन्तु धर्मयुद्धों के दिन समाप्त हो चुके थे।

कुस्तुन्तुनिया की विजय से रोमन साम्राज्य का पूर्वी भाग भी नष्ट हो गया। पश्चिमी भाग जिसकी राजधानी रोम थी, तो पहिले ही नष्ट हो चुका था। किन्तु इस विजय से तुर्कों को कोई स्थायी लाभ न हुआ। पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया योरपीय सभ्यता, कला-कौशल, वाणिज्य व्यवसाय तथा समृद्धि का केन्द्र थी। इसे नष्ट करने से इसका धन तथा वैभव भी नष्ट हो गया। तुर्कों के हाथ को रोमन साम्राज्य की बुराइयाँ ही लगीं। वे बुराइयाँ थीं भोग-विलासमय जीवन, रिश्वतखोरी तथा स्वार्थपरायण अधिकारियों की चापलूसी। तुर्कों को इससे ही संतोष करना पड़ा और इसका परिणाम भविष्य में तुर्कों के लिये दुखदायी हुआ। तथापि उस समय तो उनका नक्षत्र अधिकाधिक प्रकाशमान हो रहा था। यूनान तथा मिस्र जीत लिये गए और मिस्र के खलीफाओं का स्थान तुर्कों ने ले लिया। 'शानदार सुलेमान' इस वंश का सबसे बड़ा शासक था। उसने बगदाद, हंगेरी तथा वायना पर अधिकार कर लिया। उसके जहाजी बेड़े ने अलजीरिया तथा ट्यूनिस आदि नगरों को जीत लिया। यह तुर्कों की उन्नति की चरमावस्था थी। सुलेमान की मृत्यु के बाद तुर्की साम्राज्य पतनोन्मुख होने लगा।

(च) मंगोल जाति

मध्य एशिया की अंतिम भ्रमणशील जाति जिसने समस्त एशिया तथा आधे योरप की शांति खतरे में डाल दी, मंगोल जाति थी। ये लोग मंगोलिया में रहते थे और 'चिन' तातारियों के नेतृत्व में इन्होंने उत्तरी चीन को जीत लिया

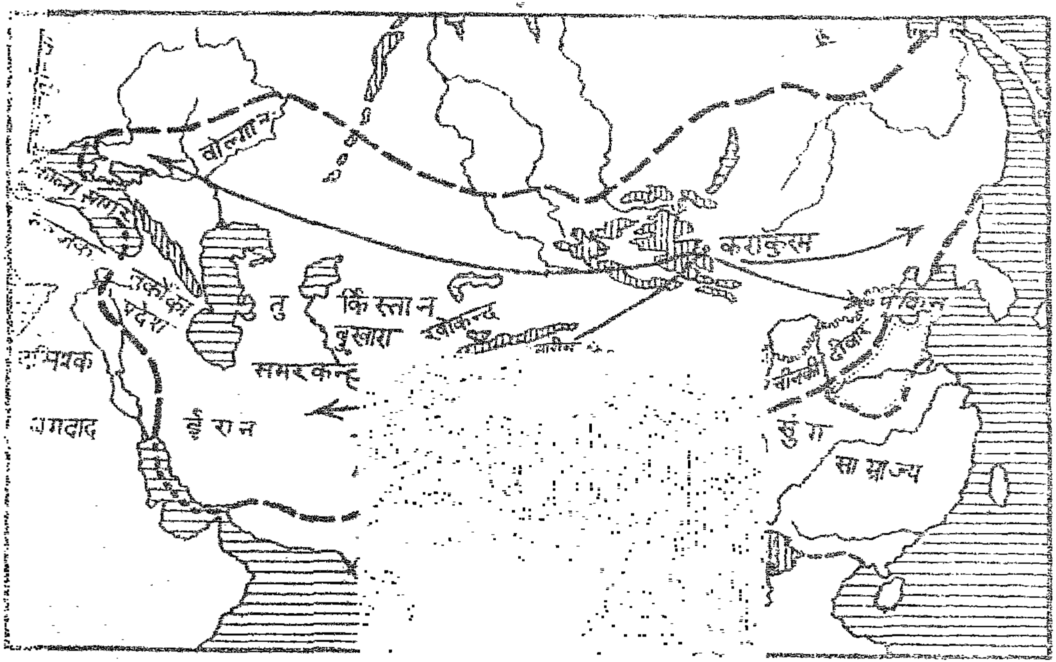
था। अपने घोड़ों पर सवार हो ये लोग इधर-उधर घूमते फिरते थे और बार-हवीं शताब्दि के अंत तक ये एक प्रसिद्ध लड़ाकू जाति बन गये। किन्तु शूर-वीर तथा पराक्रमी होते हुए भी यह जाति संगठन शक्ति के अभाव में कुछ न कर सकी थी। इसको संगठित करना और उसका सफल नेतृत्व करना चंगेज़ खाँ का काम था।

चंगेज़ का जन्म सन् ११५५ ई० में हुआ था। दस वर्ष की आयु में ही वह अनाथ हो गया किन्तु वह धीरे २ उन्नति करता रहा। मंगोल सरदारों की सभा ने उसे अपना नेता चुना और उसे 'खान महान' की उपाधि दी। इस समय उसकी अवस्था पचास से अधिक थी और कोई महत्वपूर्ण सैनिक विजय भी अब तक उसने न की थी किन्तु उसके आगे के जीवन ने सिद्ध कर दिया कि चंगेज़ विश्व के महानतम विजेताओं में से एक था और उसके सम्मुख सीज़र तथा सिकन्दर के कारनामें फीके पड़ जायँगे।

यह तेरहवीं शताब्दि का आरम्भ था। एशिया, योरप तथा अफ्रीका में बड़े बड़े साम्राज्य बने थे और बिगड़ चुके थे। भारत में मुहम्मद गोरी की विजय के पश्चात् दास वंश देहली में राज्य कर रहा था। ईरान का सासानी वंश मुसलमानों के आगे सिर झुका चुका था।

इस समय ईरान तथा ईराक पर खारज़्म को मुसलमानों का अधिकार था। समरकन्द उनकी राजधानी थी। सेलजुक तुर्क बगदाद तथा समरकंद के पश्चिमी भाग के शासक थे। सलादीन के वंशज मिस्र तथा फिलस्तीन पर राज्य कर रहे थे। इधर योरप में भी भिन्न २ शक्तियाँ फल फूल रही थीं। कुस्तुन्तुनिया पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी थी।

बड़ी सावधानी से चंगेज़ ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। पहिले चीन पर आक्रमण किया। मंचूरिया तथा उत्तरी चीन उसके सामने परास्त हुए। पेकिंग तथा उत्तरी चीन पर चंगेज़ खाँ का अधिकार हुआ। तत्पश्चात् काशगर, यारकंद तथा बुखारा भी चंगेज़ की तलवार के आगे झुक गए। समरकंद की शान मिट्टी में मिली गई और दस लाख की आबादी में से केवल ५० हज़ार जीवित बचे। खारज़्म के राजा की पराजय के पश्चात् उसका लड़का जला-लुद्दीन शरण की खोज में इधर उधर गया और उसका पीछा करते हुए चंगेज़ भी भारत पहुँचा किन्तु सौभाग्य से यह बीमारी भारत के ऊपर से टल गई।



चंगेज़ खाँ का साम्राज्य

सेल्जुक तुर्कों को चंगेज़ ने छोड़ दिया। फिर उसने रूस पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक को हराया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले सागर से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक था। चंगेज़ की राजधानी मंगोलिया में करा-कुरम नामक एक छोटा कस्बा था। चंगेज़ खाँ एक सफल विजेता ही नहीं, एक चतुर शासक भी था। उसने किन प्रान्त के एक चतुर व्यक्ति को अपना मंत्री नियुक्त किया। इस मंत्री ने शासन का संगठन बड़ी योग्यता से किया। धार्मिक असहिष्णुता उसे छू तक नहीं गई थी। स्वयं मुसलमान होते हुए भी चंगेज़ ने धार्मिक आवेश में आकर ख्वारज़्म के मुस्लिम शासक के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ा था। इसके कारण तो व्यक्तिगत थे।

चंगेज़ का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ओगताई था। उसने भी विजय के कार्यक्रम को जारी रखा। सन् १२३४ ई० में चीन का किन प्रान्त पूर्णतया जीत लिया गया। सन् १२४० ई० में रूस पर आक्रमण हुआ और लगभग समस्त रूस पर उसका अधिकार हो गया। दूसरे वर्ष पोलैण्ड तथा जर्मनी की सम्मिलित सेनाएँ लिगनज़ नामक स्थान पर पराजित हुईं। चमत्कारी फ्रेडरिक द्वितीय जो पवित्र रोमन साम्राज्य के अधिनायक थे इस चमत्कार के सामने चकित थे। ऐसा मालूम होता था कि सारा योरप विजेता की तलवार का शिकार बन गया किन्तु भाग्य ने उनकी सहायता की। ओगताई की मृत्यु हो गई। योरप की जान में जान आई।

सन् १२५१ ई० में मंगू खाँ 'खान' बना। उसने कुबलाई खाँ को चीन का शासक नियुक्त किया। उसने धीरे २ समस्त सुंग प्रदेश को जीत लिया। पूर्वी मंगोल चीनवासियों में मिल जुल गए। वहाँ पर उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। पश्चिमी भाग में जो लोग बस गए थे वे वहाँ वालों में हिल मिल गए और उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। ईरान, बगदाद, ईराक तथा मध्य एशिया में बसने वालों ने इस्लाम ग्रहण कर लिया। सन् १२५८ ई० में मंगू के भाई हलाकू खाँ ने बगदाद के खलीफाओं का अस्तित्व मिटा दिया। बगदाद के युद्ध में १५ लाख आदमी काम आये। दजला नदी का पानी कई मीलों तक खून से लाल हो गया। खलीफा तथा उसके वंशज तलवार के घाट उतारे गए। ५०० वर्षों से इकट्ठा किया हुआ धन तथा वैभव हलाकू के हाथ लगा। अपनी इस क्रूरता के कारण हलाकू खाँ इतिहास में अमर हो गया। मंगू खाँ की मृत्यु के पश्चात् कुबलाई खाँ मंगोलों का शासक हुआ। उसने पेकिंग को

उसने राजधानी बनाया और चीन के मामलों की ओर अपना पूरा ध्यान लगाया। कालान्तर में दूरस्थ प्रान्तों के मंगोल सरदार स्वतंत्र हो गए। कुबलाई खाँ ने समस्त चीन पर अधिकार कर वहाँ युआन वंश स्थापित किया। उसने टाकिंग, ब्रह्मा और अनाम जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। सन् १२९२ में उसकी मृत्यु हो गई और उसका विस्तृत साम्राज्य पाँच भागों में बँट गया। ये भाग थे :—

१. चीन का साम्राज्य—यह कुबलाई के वंशजों के अधिकार में था। चीन के अतिरिक्त इसमें मंगोलिया, तिब्बत, मंचूरिया तथा कोरिया सम्मिलित थे। २. सुनहले कबीलों (यह मंगोलों का स्थानीय नाम था) का राज्य—इसके अंतर्गत रूस, पोलैण्ड और हंगरी थे। ३. इलखान साम्राज्य—कुबलाई खाँ के भाई हलाकू खाँ ने इसकी नींव डाली थी। बगदाद इसकी राजधानी थी। ईरान, ईराक तथा एशिया माइनर इसके अंतर्गत थे। ४. चग़ताई साम्राज्य—यह तुर्किस्तान में था और उसे महान तुर्की भी कहते थे। ५. साइबेरिया का साम्राज्य—यह मंगोलिया और सुनहले कबीले के राज्य के बीच में था। कुबलाई के वंशज सन् १२८० से १३६८ ई० तक चीन में राज्य करते रहे। मंगोलों के वंशज बाबर ने सन् १५२६ ई० में भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

मंगोलों के शूरवीरतापूर्ण कारनामों का वृत्तान्त जानने के पश्चात् उनकी सभ्यता तथा संस्कृति का जानना भी आवश्यक है।

मंगोल भ्रमणशील तो थे ही। उनका नगर-जीवन से घृणा करना स्वाभाविक ही था। इसी कारण वे तम्बुओं में रहते थे। देशों की लूटमार से जब उन्हें धन तथा भोग-विलास की सामग्रियाँ मिलने लगीं तो उनके डेरे ही बाजारों में बदल गए। यहाँ तक कि दूर दूर के व्यापारी डेरे के इन नगरों में वस्तुओं को बेचने तथा खरीदने के लिये एकत्रित होते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ तथा कलाविद भी इन नगरों में एकत्रित होते थे। एशिया और योरप दोनों एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये थे और दोनों में भारी व्यापार चलता था। मंगोल साम्राज्य विशाल तथा विस्तृत था तथापि इसमें शांति तथा सुप्रबन्ध था।

तेरहवाँ अध्याय

रोमन साम्राज्य का कायाकल्प

प्राक्कथन

पहिले कहा जा चुका है कि कान्स्टैन्टाइन महान् ने रोम के स्थान पर बिज़ैण्टियम को अपनी राजधानी बनाया। यह स्थान इस सम्राट् के नाम पर कुस्तुन्तुनिया कहलाने लगा। इसकी स्थापना सन् ३२६ ई० में हुई थी। अपनी स्थिति के कारण यह स्थान बड़े मार्के का है। दोनों महाद्वीपों (एशिया तथा योरप) के बीच में स्थित होने के कारण यह स्थान राजधानी के लिये सर्वथा उपयुक्त था। समुद्र के किनारे पर बसा होने से बड़े बड़े जहाज़ आसानी से आ जा सकते थे। पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर को व्यापारिक मार्ग यहाँ से जाते थे और ईराक, यूनान, मिस्र आदि व्यापारिक देशों से सीधा सम्बन्ध होने के कारण इसका महत्व और भी बढ़ गया था। कान्स्टैन्टाइन की इच्छा इसे समस्त रोमन साम्राज्य की राजधानी बनाने की थी। किन्तु इस परिवर्तन में एक भारी कमी थी। यदि रोम पूर्वी प्रदेश से दूर था तो कुस्तुन्तुनिया फ्रांस तथा ब्रिटेन जैसे देशों से और भी अधिक दूर था।

इस कठिनाई को दूर करने का एक उपाय निकाला गया। दोहरे सम्राट नियुक्त होने लगे, एक रोम में तथा दूसरा कुस्तुन्तुनिया में। किन्तु यह प्रबन्ध भी स्थायी न रहा। अंत में रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए—पूर्वी तथा पश्चिमी। पश्चिमी साम्राज्य के पतन का इतिहास हम पहिले ही जान चुके हैं। यहाँ पूर्वी का वर्णन किया जायगा।

कहने को यह साम्राज्य रोमन था मगर इसका रोम से कोई सम्बन्ध न था—यद्यपि कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् अपने आपको पश्चिमी भाग का भी स्वामी समझते थे। इसी समय ईसाई धर्म में भी दो भेद हो गए—एक यूनानी तथा दूसरा कैथलिक। रोमन चर्च ईसा की माता मेरी और ईसाई सन्त-महात्माओं की मूर्ति-पूजा का पक्षपाती था। यूनानी कट्टरपंथी (orthodox) धर्म इसका विरोधी था। इस पूर्वी रोमन साम्राज्य का धर्म यूनानी था कैथलिक नहीं। भाषा भी

लैटिन के स्थान पर ग्रीक ही थी। एक प्रकार से यह सिकन्दर महान् के पदों में चलने का प्रयत्न था।

इस पूर्वी साम्राज्य ने पश्चिम की अपेक्षा अधिक साहस तथा शूर-वीरता से काम लिया। पश्चिमी साम्राज्य विदेशियों के आक्रमण के आगे झुक गया किन्तु पूर्वी साम्राज्य ने उनका मुकाबिला साहस के साथ किया। लगभग एक हजार वर्ष तक यह साम्राज्य कायम रहा। विदेशियों के आक्रमण लगातार जारी थे। अटिला हूण ने सम्राट् थेडोसिस द्वितीय को काफी परेशान किया और कुस्तुन्तुनिया पर घेरा डाला किन्तु यह शहर हिमालय की तरह अचल खड़ा रहा। मिस्र के निचले भाग तथा सिकन्दरिया पर इन लोगों का अधिकार था। एशिया माइनर भी उनके साम्राज्य में था।

छठी शताब्दि पश्चिमी योरप के इतिहास में अन्धकार का युग कहलाता है किन्तु जस्टीनियन प्रथम के शासनकाल में यूनानी वैभव को पुनः स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया गया। जस्टीनियन ने उत्तरी अफ्रीका को वांडाल लोगों से और इटली को गाथ लोगों से बलपूर्वक छीन लिया। स्पेन के दक्षिणी भाग को भी उसने जीत लिया। उसने विद्या-प्रचार की ओर भी ध्यान दिया। एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। कुस्तुन्तुनिया में संत सोफिया का गिरजाघर बनवाया (इसे सन् १४५३ ई० में तुर्कों ने मस्जिद में परिवर्तित कर दिया था)। किन्तु उसका सब से बड़ा काम था रोमन कानूनों का संग्रह। इसका महत्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि आगे चलकर यह संग्रह मध्य कालीन कानूनी संग्रहों का आदर्श हो गया। किन्तु उसका एक कार्य आपत्ति जनक था। अपने विश्वविद्यालय को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने के लिये उसने एथेन्स के दर्शन शास्त्र के विद्यालय को बंद करा दिया। यह विद्यालय एक हजार वर्षों से ज्ञान-प्रचार का कार्य कर रहा था।

कुस्तुन्तुनिया तथा ईरान का साम्राज्य

कुस्तुन्तुनिया के इस साम्राज्य का प्रतिद्वन्द्वी और समकालीन ईरानी साम्राज्य था। दोनों साम्राज्यों में कई सादृश्यताएँ थीं। दोनों ही ईराक, एशिया माइनर, मिस्र तथा सीरिया पर अधिकार करना चाहते थे। दोनों ही अनुदार धार्मिक नीति के लिये बदनाम थे। ईरान वाले बलपूर्वक पारसी धर्म का प्रचार कर रहे थे। इधर पूर्वी रोमन शासक बलपूर्वक ईसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। विज्ञान, राजनीति तथा दर्शन शास्त्र दोनों ही देशों में उन्नत दशा में थे

क्योंकि दोनों ही धर्म-प्रचार की आड़ में स्वतंत्र भाव प्रकाशन का गला घोट रहे थे। सम्राट् जस्टीनियन तथा खुसरो प्रथम में छठी शताब्दि में काफी संघर्ष हुए। सातवीं शताब्दि के प्रारम्भ में उनके वंशज हिरेकलस तथा खुसरो द्वितीय ने इस परम्परा को कायम रखा। खुसरो द्वितीय की विजयों का वर्णन ईरान के इतिहास के साथ हो चुका है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उसने दमिश्क, मिस्र आदि देशों को जीत कर अपनी फौजें कुस्तुन्तुनिया के समीप कैलसीडन स्थान तक भेज दीं। तत्पश्चात् हिरेकलस ने ईरानी फौजों को निनीवे स्थान पर हरा दिया। खुसरो गद्दी से उतार दिया गया और ईरानी तथा पूर्वी साम्राज्य में क्षणिक संधि हो गई। यह इन दोनों साम्राज्यों का अंतिम युद्ध था क्योंकि ईरान का साम्राज्य थोड़े ही समय बाद नये विजेताओं द्वारा नष्ट हो गया। ये विजेता अरब के मुसलमान थे। इन विजेताओं ने पूर्वी रोमन साम्राज्य पर भी आक्रमण शुरू कर दिये और इस प्रकार उसके सामने भी जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित कर दिया। इससे पूर्व कि हम इस नई घटना का वर्णन करें योरप की एक प्रसिद्ध घटना की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह है शालीमेन (चार्ल्स महान्) के नेतृत्व में पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना।

पवित्र रोमन साम्राज्य

पहिले पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन का वर्णन हो चुका है। इतिहासकार गिबन के शब्दों में यह मानवजाति के इतिहास में सब से भयंकर घटना थी। (गिबन साहब भूमध्यसागरीय देशों तथा पश्चिमी योरप को ही 'मानव जाति' समझते थे।) इस पतन से उठ कर उन्नतिशील होने में योरप को अनेक वर्ष लगे। किन्तु यह प्रकट था कि योरप में अब भी पुनर्जीवित होने की शक्ति है। इसके प्रमाण टुअर्स (सन् ७३२ ई०) तथा कुस्तुन्तुनिया के युद्ध (सन् ७१७ ई०) थे। इन दोनों युद्धों में योरप ने मुस्लिम शक्ति को हराया था। इस पुनर्जीवन के लिये दो शक्तियाँ उत्तरदायी थीं, एक तो फ्रांक लोगों का नेतृत्व तथा दूसरे ईसाई धर्म का योरपीय देशों में पुनर्जीवन-संचार। फ्रांक लोगों के नेतृत्व को इतिहास में पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना के नाम से पुकारा जाता है और ईसाई धर्म के प्रभाव को पोप का आधिपत्य। दोनों ही घटनाएँ योरप के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। पोप के आधिपत्य का वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा, यहाँ केवल पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना का वर्णन है।

फ्रांक लोग पश्चिमी तथा मध्य योरप में ५वीं शताब्दि से लेकर ९वीं शताब्दि तक सबसे अधिक शक्तिशाली थे। रोमन साम्राज्य की दो प्रमुख प्रणालियों (संगठित शासन तथा एकता) को रोम से लेकर उन्होंने योरपीय देशों में फैलाया। वे लोग वर्तमान फ्रांस, आस्ट्रिया तथा जर्मनी देशों के शासक थे। उस समय इन देशों का स्वतन्त्र अस्तित्व न था। सभी फ्रांक साम्राज्य में सम्मिलित थे। सन् ७६८ ई० में उनका राजा चार्ल्स महान् हुआ। प्रसिद्ध विजेता होने के साथ साथ वह संगठन तथा शासन कार्य में भी निपुण था। खलीफा हारूँ-उल-रशीद का वह मित्र था। सन् ८०० ई० में रोम के पोप लियो तृतीय ने चार्ल्स महान् को पवित्र रोमन सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार योरोपीय इतिहास की एक प्रसिद्ध संस्था 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की स्थापना हुई। पहिले रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के लगभग ३२४ वर्ष पश्चात् फिर रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। इसी कारण इस अध्याय को 'प्राचीन रोमन साम्राज्य का काया-कल्प' कह कर पुकारा गया है। यह साम्राज्य लगभग १००० वर्ष तक योरप में रहा। सम्राट् नेपोलियन ने सन् १८०६ ई० में इसका अंत कर दिया।

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हमने कुस्तुन्तुनिया में पूर्वी साम्राज्य की स्थापना का वर्णन किया था। सन् ८१२ ई० में इस साम्राज्यने नये स्थापित हुए पवित्र रोमन साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली। तथापि उनका अलग अस्तित्व कायम रहा। चार्ल्स महान् के राज्य में इटली, फ्रांस तथा जर्मनी सम्मिलित थे। जर्मनी की छिन्न भिन्न रियासतों को एकत्रित करना उसका ही काम था। सैक्सनी, बवेरिया आदि जर्मन रियासतें स्वतंत्र थीं। उनसब को हरा कर एकता के सूत्र में ग्रथित करना चार्ल्स का ही काम था। किन्तु इस प्रबंध में बहुत सी कमियाँ थीं।

इटली के ऊपर पवित्र रोमन सम्राट् का आधिपत्य नाममात्र का था। उनकी उपाधियाँ आगस्टस् तथा सीज़र थीं किन्तु उनके अधिकारों की उपेक्षा जर्मन रियासतों के छोटे छोटे शासक तक कर देते थे। दूसरे उनकी आमदनी के साधन बड़े थोड़े थे। तीसरे उसके आधीन कर्मचारी उसकी आज्ञापालन के लिये विवश नहीं किये जा सकते थे। उनके पास एक स्थायी सेना भी तो न थी। आवश्यकता के समय प्रत्येक जर्मन सरदार को अपनी अपनी फौजों का कुछ भाग भेजना पड़ता था जिसके ऊपर सम्राट् का आधिपत्य

नाममात्र के लिये था। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी चार्ल्स ने बड़ी योग्यता से शासन किया। सामन्तों तथा सरदारों के सहयोग से शासन कार्य चलाया। प्रत्येक अधीनस्थ देश में उनके ही प्रचलित कानूनों के अनुसार न्याय सम्पादन किया गया। चार्ल्स महान् ने भिन्न भिन्न कानूनों के स्थान पर अपना एक कानून चलाया। उसमें जर्मन, रोमन तथा बाइबिल के सिद्धान्तों का समावेश था। इनके अतिरिक्त सबसे प्रमाणित कानूनी ग्रंथ बाइबिल थी। शालीयेन (चार्ल्स महान्) ने एक विशेष प्रकार के सरकारी अधिकारी नियुक्त किये जिनका काम साधारण सरकारी कर्मचारियों के काम पर सतर्क दृष्टि रखना था। वे देखते थे कि कर्मचारी अन्याय तो नहीं करते। न्याय सम्पादन ठीक तरह होता है अथवा नहीं। पादरी अपने कर्तव्य का ठीक ठीक पालन करते हैं या नहीं। जब तक शालीयेन का शक्तिशाली आधिपत्य इन लोगों के ऊपर रहा तब तक तो ये कर्मचारी सुचारु रूप से कार्य करते रहे किन्तु अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय ये स्वयं प्रजा पर अत्याचार करने लगे।

चार्ल्स का सबसे महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा का प्रचार था। स्वयं बहुत पढ़ा लिखा न होने पर भी चार्ल्स ने विद्या प्रचार में काफी सहयोग दिया और क्लेमेन्ट नामी आइरिश पादरी को बुलाकर उसे राजकुमारों तथा धनिकों के पुत्रों की शिक्षा के लिये नियुक्त किया। वह स्वयं शिष्यों के कार्य को आकर देखता था। बहुत से लेखकों तथा विद्वानों को राज-दरबार में आश्रय मिला। इस कारण वहाँ विद्वानों का ताँता लग गया था। बहुत से ऐतिहासिक तथा साहित्यिक ग्रंथ जो आज योरपीय साहित्य में इतने विख्यात हैं, उसी समय लिखे गये थे और इसका श्रेय स्वयं चार्ल्स को ही था। सन् ७८९ ई० में (पवित्र रोमन सम्राट् होने के पूर्व) उसने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये स्थान स्थान पर पाठशालाएँ खुलवायीं और पादरियों को उत्साहित किया कि वे धनी तथा निर्धन सभी के बच्चों की शिक्षा का ध्यान रखें। एलाशापल में एक प्रसिद्ध गिरजाघर भी बनवाया गया। चार्ल्स महान् इस प्रकार 'महान' पदवी का वास्तविक अधिकारी है। वह मध्य युग का निस्संदेह सबसे बड़ा शासक तथा महानतम व्यक्तियों में से एक है। सन् ८१४ ई० में चार्ल्स की मृत्यु हो गई।

उसकी मृत्यु के पश्चात् विस्तृत फ्रांक साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। अयोग्य शासकों की अयोग्यता से लाभ उठाकर आक्रमणकारियों ने आक्रमण आरम्भ कर दिये। मुसलमानों ने सिसली पर अधिकार कर लिया और दक्षिणी

फ्रांस तथा इटली को रौंद डाला। पूर्व में स्लव तथा हंगरी निवासी आपत्तियाँ ढा रहे थे। नार्मन, डेन तथा वाइकिंग आदि जातियाँ उत्पात मचा रही थीं। मठों को विध्वंस करना और सभ्यता को नष्ट करना इनका मुख्य काम था। इस रक्तपात तथा शक्तिहीनता का परिणाम यह हुआ कि योरप में सामन्त प्रथा का उदय हुआ जिसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा।

ऊपर हमने शालीमेन (चार्ल्स महान्) तथा ख़लीफ़ा हारूँ-उल-रशीद की मित्रता का उल्लेख किया है। ख़लीफ़ा ने पवित्र रोमन सम्राट् को एक बार भेंट स्वरूप एक तम्बू, एक जल-घड़ी, एक हाथी तथा यरुशलम पवित्र धार्मिक गिरजाघर की तालियाँ दीं। तालियों से यह संकेत था कि यदि शक्ति हो तो यरुशलम के पवित्र स्थानों का ताला खोल लो। यह सारे ईसाई जगत के लिये खुली चुनौती थी। देखना अब यह था कि पूर्वी रोमन साम्राज्य तथा पवित्र रोमन साम्राज्य में से कौन ईसाई धर्म की रक्षा कर सकता है। इस प्रकार कुस्तुन्तुनिया तथा रोम के सम्राटों के सामने ईसाई प्रदेशों की रक्षा का प्रश्न था।

तुर्कों का शक्तिशाली होना

पहिले तुर्कों के उदय और उनकी शक्ति का वर्णन हो चुका है। जब कि अरबों की शक्ति का दिवाला निकल रहा था, इन लोगों में इस्लाम ने नवजीवन संचार किया। ग्यारहवीं शताब्दि में वे ईराक़ पहुँचे। और वहाँ से आरमीनिया। एशिया माइनर में स्थित कुस्तुन्तुनिया साम्राज्य को उन्होंने नष्ट कर दिया। सीरिया पर भी अधिकार कर लिया। सन् १०७१ ई० में मेलासगर्द के युद्ध में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया की फौजों को हरा दिया। एशिया से रोमन साम्राज्य मिट गया। नीका स्थान पर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार इस शहर के लिये खतरा उपस्थित हो गया। बिजैण्टियम साम्राज्य के सप्तम माईकेल ईसाई ने समस्त जगत के नेता पोप से सहायता की प्रार्थना की।

ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्मयुद्ध

पहिले ईसाई जगत के दो सम्प्रदायों लैटिन तथा ग्रीक का वर्णन हो चुका है। रोम में लैटिन सम्प्रदाय था और पूर्वी रोमन साम्राज्य में ग्रीक। रोम के पोप ने ग्रीक सम्प्रदाय की इस आपत्ति से लाभ उठाने का यह अच्छा अवसर

सोचा। इस सहायता से वे लैटिन चर्च का आधिपत्य ग्रीक चर्च पर स्थापित कर सकते थे। साथ ही फ्रांक तथा नार्मन लोगों के आपसी झगड़ों को अंत करने का भी यह अच्छा अवसर था। सन् १०९५ ई० में पोप ने यह आज्ञा जारी की कि ऐसे आपसी झगड़ों को बंद किया जाय और तुर्कों से धर्मयुद्ध छेड़ा जाय। संत पीटर ने सर्वसाधारण की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने में भारी सहयोग दिया। पहिला धर्मयुद्ध पूर्णतया जनता का धर्मयुद्ध था। पीटर के नेतृत्व में एक विशाल जनसमूह कुस्तुन्तुनिया होकर यरुशलम पहुँचा किन्तु तुर्कों ने इसे पराजित कर दिया। इन सब धर्मयुद्धों का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। यहाँ एक बात की ओर संकेत करना बहुत आवश्यक है।

लैटिन तथा यूनानी सम्प्रदायों का झगड़ा जो कुछ समय के लिये शान्त हो गया था अब फिर उभरा हुआ ज्ञात होता था। धर्मयुद्धों में भाग लेने वाले लैटिन चर्च के अनुयायी थे और यरुशलम का पादरी यूनानी चर्च का अनुयायी था। विजयी होने के पश्चात् लैटिन चर्च वालों ने यरुशलम के पादरी को तंग करना प्रारम्भ किया। तुर्कों के आधिपत्य में उनकी यह दुर्दशा न थी जो अब होने लगी। आस्मान से गिरा और खजूर में अटका की कहावत चरितार्थ हुई। धर्मयुद्धकारियों को भी पता चला कि वे दो पाटों के बीच में आ गये हैं—एक तुर्क लोग तथा दूसरे कुस्तुन्तुनिया के सम्राट्। कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर एशिया माइनर पर अधिकार कर लिया। किन्तु यह अधिकार क्षणिक था। तुर्कों ने फिर अपनी शक्ति का परिचय दिया और इन स्थानों से ईसाइयों को निकाल बाहर किया। ये धर्मयुद्ध सन् १२६१ ई० तक होते रहे। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् स्वदेश लौटे किन्तु उनकी शक्ति इन युद्धों में उसी प्रकार घट चुकी थी जिस प्रकार ईरानियों के साथ संघर्ष में आने से उनकी शक्ति सातवीं शताब्दि में क्षीण हो चुकी थी। सीरिया, ईराक आदि प्रदेश उनके हाथ से निकल चुके थे। कालान्तर में सेल्जुक तुर्कों के पश्चात् उस्मानी तुर्कों ने चारों ओर से कुस्तुन्तुनिया के राज्य को घेर लिया और उसका पतन अवश्यम्भावी दिखलाई पड़ने लगा। सन् १४५३ ई० में इसका पतन हो ही गया।

कुस्तुन्तुनिया के साम्राज्य की विश्व के लिये देन

अपने एक हजार वर्ष के जीवन में कुस्तुन्तुनिया के साम्राज्य ने क्या किया? इतिहासकार वेल्स के शब्दों में, "कुस्तुन्तुनिया के साम्राज्य के एक

हजार वर्ष इतिहास की अपूर्व घटनाएँ हैं। इसकी शक्ति का परिचय इस बात से भी मिल जाता है कि आक्रमणकारी जातियों के मध्य स्थित होते हुए, एक प्राकृतिक सीमा के अभाव में, भिन्न भिन्न जातियों के होते हुए यह साम्राज्य इतने दिनों तक शान के साथ राज्य करता रहा। यह साम्राज्य इतने दिनों इसलिये जीवित रह सका कि इसके पास धन इकट्ठा करने के पर्याप्त साधन थे, एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित शासन था, शक्तिशाली सेना थी। साथ ही कुस्तुन्तुनिया की स्थिति भी बड़े मार्के की थी। अरबों तथा तुर्कों के आक्रमणों की लहरों को रोक कर इस साम्राज्य ने ईसाइयों को यह अवसर दिया कि वे अपनी शक्ति का संचय कर इस आपत्ति का सामना करने योग्य बन जायें। ईरानियों तथा कार्थेजवासियों के विरुद्ध यूनान तथा रोम को जो विजय और गौरव प्राप्त हुआ था उसके मुकाबिले में कुस्तुन्तुनिया का अरबों तथा तुर्कों के विरुद्ध डंटे रहना किसी भाँति भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।" १

पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व पवित्र रोमन सम्राज्य के इतिहास पर विचार कर लेना आवश्यक है। चार्ल्स महान् के अयोग्य उत्तराधिकारियों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। बहुत सी कठिनाइयों को पार कर सन् ६१६ ई० में एक शक्तिशाली सम्राट् का उदय हुआ। यह था ओटो। जर्मनी के सरदारों द्वारा निर्वाचित होकर वह जर्मनी का राजा हुआ। कालान्तर में उसने आसपास के देशों को जीत लिया। सन् ६६२ ई० में पोप ने उसे पवित्र रोमन सम्राट् का पद दे दिया। योरप के भिन्न २ राष्ट्रों का निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था। इंगलैण्ड तो कभी भी इस पवित्र रोमनसाम्राज्य का सदस्य न था। सन् ९८७ ई० में ह्यू केपट के नेतृत्व में फ्रांस के स्वतंत्र राष्ट्र की नींव पड़ी। यह वंश कुछ परिवर्तनों के साथ १८ वीं शताब्दि तक इस देश में शासन करता रहा। प्रारम्भ से ही फ्रांस के शासकों तथा जर्मन सम्राटों में वैमनस्य के भाव पैदा हुए जो आज तक जारी हैं। लगभग इसी समय रूस भी विश्व के रंगमंच पर आया। सन् ८५० ई० के आसपास रूरिक नामक एक व्यक्ति ने रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय योरप के दक्षिण-पूर्व में बलगेरियन लोग बसने लगे। सरवियनों ने भी वहाँ बसना आरम्भ किया। पवित्र रोमन साम्राज्य तथा नये रूसी राज्य के बीच पोल तथा मगयार (हंगरी के निवासी) अपना राज्य स्थापित करने लगे थे।

1. H. Webster—History of Mankind पृ० २४१-४२.

इस प्रकार जब योरप के नवीन देशों का उदय हो रहा था, ओटो ने पवित्र रोमन साम्राज्य को पुनर्जीवित किया। उसने हंगेरियनों को जर्मनी से निकाल बाहर किया। ओटो के समय में जर्मनी के शासक ही पवित्र रोमन सम्राट् कहलाये जाने लगे। यह प्रथा चार्ल्स महान् के समय से आरम्भ हुई थी और ओटो महान् ने भी उसका अनुसरण किया था। साम्राज्य की स्थापना का वास्तविक उद्देश्य रोम के पोप की सहायता करना और उसकी शक्ति को बढ़ाना था। चार्ल्स महान् को स्वयं पोप ने यह पद दिया था और उसे पूरी आशा थी कि सम्राट् उसके धार्मिक अधिकारों को बढ़ाने में उसकी पूरी पूरी सहायता करेगा। यह पारस्परिक सहयोग का क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि पवित्र रोमन सम्राटों की स्थिति दृढ़ न बन गई। हेनरी तृतीय ने पवित्र रोमन साम्राज्य को पूर्व की ओर बढ़ाया। इस प्रकार जब उनकी स्थिति पूर्णतया दृढ़ हो गई तो उनमें और पोपों में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

पोप तथा रोमन सम्राटों में संघर्ष

ग्यारहवीं शताब्दि में (सन् १०७३—१०८५ ई०) एक पादरी ग्रीगोरी सप्तम के नाम से पोप बना। उसी के समय से सम्राटों तथा पोपों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो काफी समय तक चलता रहा। इस संघर्ष के कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

पोपों की धारणा थी कि रोम के पोप को संत पीटर ने अपने शिष्यों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिया था। इस कारण समस्त धार्मिक मतभेदों का निर्णय तथा सामाजिक नियमों तथा रूढ़ियों की व्याख्या करने का एकमात्र अधिकार पोप को मिला है। पाँचवीं शताब्दि के मध्य तक रोमन सम्राटों ने इन धार्मिक निर्णयों को राजकीय कानूनों का स्थान दे दिया। फिर जब ईसाई धर्मप्रचारक योरपीय देशों तथा यूरोप से बाहर भेजे जाने लगे तो पोप के अधिकार और भी बढ़ गए। शार्लीमेन को पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर सुशोभित करना भी पोप का ही काम था। इससे पोप के पद की प्रतिष्ठा और भी बढ़ी। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्राटों की भौतिक शक्ति से बढ़कर पोप की आध्यात्मिक शक्ति है और सम्राट् की शक्ति पोप पर पूर्णतया आश्रित है। सम्राटों के अधिकार दैवी समझे जाते थे। साधारण नागरिक उनके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठा सकता था। किन्तु सम्राटों का निर्वाचित पद था। इसी कारण उनका आदर सम्राटों से कहीं अधिक था। फिर पोपों के पास इटली में निजी प्रदेश थे। उनका शासन

से स्वेच्छाचारी ढंग से करते थे। अन्न-धान्य की इस प्रकार उनके पास कोई कमी न थी। सम्राट् कान्स्टैन्टाइन ने उनको राजकर में से कुछ हिस्सा देना स्वीकृत किया था। इससे उनकी आमदनी का कोई हिसाब किताब ही न था। यद्यपि पोपों का चुनाव होता था किन्तु उसमें साधारण पादरियों का कोई हाथ न था। ईसाई जगत में 'कार्डिनल' सबसे बड़े पादरी होते थे। इनका एक संघ था और इसे पवित्र संघ (Holy College) कहते थे। एक पोप के मरने पर दूसरे पोप का चुनाव इसी संघ द्वारा होता था। पोपों की तरह सम्राटों का चुनाव हुआ करता था। ये सम्राट् सात बड़े बड़े सरदारों द्वारा चुने जाते थे। इन सरदारों को निर्वाचक सरदार (Elector Princes) कहा जाता था। व्यवहार में शक्तिशाली सम्राट् अपने पुत्र या अपने किसी वंशज को अपना उत्तराधिकारी चुनवा देते थे और वही फिर सम्राट् हो जाता था।

उपर्युक्त कारणों से पोपों की प्रभुता सम्राटों के ऊपर स्थापित हो गई। दसवीं शताब्दि में जब ओटो महान् सम्राट् हुआ तो चर्च में एक और आन्दोलन छिड़ा। इस आन्दोलन का उद्देश्य चर्च को सांसारिक बन्धन से मुक्त कर देना था। ओटो ने इसे स्वीकार कर अपने अधिकारों पर कुठाराघात किया। ग्यारहवीं शताब्दि के पश्चात् योग्य पोपों का तांता लग गया। पोपों का प्रभुत्व धार्मिक मामलों में तो था ही, सांसारिक मामलों में भी वही हो गया जो आत्मा का शरीर से है। जब कभी कोई शासक पोप के निर्णयों की उपेक्षा करता था तो पोप उसे ईसाई धर्म से बहिष्कृत कर देता था। यदि प्रजा उस राजा का साथ देने का साहस करती थी तो पोप द्वारा दूसरी आज्ञा निकलती थी। वहाँ पर कोई धार्मिक संस्कार (विवाह तथा मृत्यु) नहीं हो सकता था। धार्मिक विश्वासों में जकड़ी भोली जनता के लिये यह धमकी ही काफी होती थी। नर्क की प्रज्वलित अग्नि की कल्पना से ही उनकी आत्मा सिहर उठती थी। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पवित्र सम्राट् हेनरी चतुर्थ ने ग्रीगोरी की आज्ञा का विरोध किया। झगड़ा पादरियों के चुनाव पर उठा था। हेनरी अपनी इच्छानुसार पादरियों का चुनाव कराना चाहता था पोप अपनी। अंत में जब समझौता न हो सका तो पोप ने हेनरी को बहिष्कृत कर दिया और सरदारों को दूसरा सम्राट् चुनने का आदेश दिया। हेनरी जानता था कि सरदार दूसरा सम्राट् चुन लेंगे। वह पोप से क्षमा माँगने के लिये शीत काल में आल्प्स पर्वत को पार कर कनौसा पहुँचा। ७२ घंटों तक हेनरी नंगे पैर एक पश्चात्तापी की तरह किले के द्वार पर पड़ा रहा। पोप ने उसे क्षमा कर दिया। इससे पोपों के अधिकार का कुछ अनुमान

किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब ईसाईयों के मुसलमानों से धर्मयुद्ध छिड़े तो उनके संचालन का भार भी पोपों के ऊपर ही पड़ा। इससे उनकी शक्ति और बढ़ गई। इस प्रकार मध्य युग में यह ज्ञात होता था कि बर्बरता तथा असभ्यता के युग में योरप पोपों के आध्यात्मिक नेतृत्व में सभ्यता की प्रगति में सहायक होगा। किन्तु पोपों की स्वेच्छाचारिता, उनकी चरित्रभ्रष्टता, उनका लालच और उनका अभिमान उन्हें ले बैठा। धर्मयुद्धों के संचालन में वे एक-दम असफल रहे। सम्राटों से वे बिल्कुल सहयोग न कर सके। करों से पिसी हुई दरिद्र जनता को उन्होंने भेंड़ की तरह मूड़ा और यह सब किया धर्म की आड़ में और स्वर्ग का लालच दे कर। कहना न होगा कि विद्या तथा ज्ञान ज्योति के प्रकाश में पोपों का वैभव और शान मिट्टी में मिल गई।

किन्तु हमें सम्राटों तथा पोपों के संघर्ष की कहानी को समाप्त करना है। सन् ११५२ ई० में एक प्रतापी सम्राट् हुआ। वह था फ्रेडरिक प्रथम। वह फ्रेडरिक बारबरोसा भी कहलाता है। उसकी अभिलाषा शार्लीमेन तथा ओटो महान् की तरह सम्राट् पद का गौरव बढ़ाने की थी। जर्मन सरदारों द्वारा सम्राट् चुने जाने के पश्चात् उसने पोप को सूचित किया कि वह ईश्वर द्वारा पवित्र रोमन सम्राट् नियुक्त हुआ है। इस प्रकार दोनों का झगड़ा उठ खड़ा हुआ। फ्रेड-रिक ने एक भारी भूल की। इटली के उत्तरी शहरों की स्वाधीनता कम करने का उसने प्रयत्न किया। इससे उसके सामने एक और नई आपत्ति खड़ी हो गई। फिर उसने दक्षिणी प्रदेश के आंतरिक झगड़ों में भाग लेना प्रारम्भ किया। यह पोप को बहुत बुरा लगा क्योंकि इस भाग पर उसका भी अधिकार था। पोप ने फ्रेडरिक को बहिष्कृत तथा पदच्युत कर दिया। सन् १२५० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

पोप इनोसेन्ट तृतीय (सन् ११९८-१२१६ ई०) के समय पोपों की शक्ति चरमा-वस्था को पहुँच गई। इंगलैण्ड के राजा जॉन को इसी सम्राट् ने गद्दी से हटाने की आज्ञा दी थी और उसको इतना अपमानित किया कि उसे पोप की आधी-नता स्वीकार करनी पड़ी। रोम का चर्च एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था बन गई। इसके अपने ही नियम तथा रीति रिवाज थे। उस समय पादरी ही पढ़े लिखे होते थे इसी लिये मुख्य २ पदों पर वे ही नियुक्त होते थे। विशप बेकेट तथा स्टैफन लेंग्टन इसके उदाहरण हैं। न्याय साधारणतः यद्यपि राजकर्मचारी करते थे तथापि अपने पादरियों को सबसे बड़ी अदालत चर्च ही थी। भारी से भारी

अपराधी एक पंक्ति पढ़ देने पर छोड़ दिया जाता था क्योंकि यह धारणा दृढ़ बन गई थी कि केवल पादरी ही पढ़े लिखे हो सकते हैं।

इनोसेन्ट तृतीय के पश्चात् भी पोपों तथा सम्राटों के झगड़े बने रहे। फ्रेडरिक प्रथम के उत्तराधिकारी फ्रेडरिक द्वितीय को भी बहिष्कृत तथा पदच्युत होना पड़ा। सिसली को भी पोपों ने सम्राट् छीन कर फ्रांस के शासक चार्ल्स अंजू को दे दिया। इस प्रकार पवित्र रोमन सम्राटों के पोपों को नीचा दिखाने के प्रयत्न विफल रहे। वे स्वयं जर्मनी के झगड़ों में इतने फँसे थे कि पोप से झगड़ा मोल लेने का उन्हें समय ही न मिलता था। मध्य योरप में राजाओं, महाराजाओं, नवाबों, सरदारों तथा पादरियों के छोटे २ इतने राज्य बन गए, थे कि उनके झगड़ों से अवकाश मिलना ही सम्राटों के लिये असम्भव था।

सोलहवीं शताब्दि में पोप और सम्राट् दोनों ही एक और नई लहर का सामना करने में लग गए। उस नई लहरने योरप की चप्पा चप्पा भूमि में चहल पहल मचाई थी। देश देश के रंगमंच पर एक नया नाटक खेला जाने लगा और उसके प्रवाह में न सम्राट् की दाल गल सकी और न पोप की। यह नई लहर धर्म-सुधार की थी। इस शताब्दि में यद्यपि चार्ल्स पंचम के नेतृत्व में साम्राज्य की शक्ति बढ़ी किन्तु फ्रांस के साथ हुए युद्धों तथा धार्मिक झगड़ों का निर्णय करने में उसकी असमर्थता ने उसकी बनी बनाई बात बिगाड़ दी।

सत्रहवीं शताब्दि में फिर गृहयुद्ध के बादल साम्राज्य पर मँडराये और उसकी शक्ति का ह्रास होने लगा। इस प्रकार जय तथा पराजय से टक्कर लेता हुआ यह साम्राज्य सन् १८०६ ई० तक चलता रहा जब कि इसे नेपोलियन बोनापार्ट ने समाप्त कर दिया।

पवित्र रोमन साम्राज्य की विश्व के लिये देन

अपने एक हज़ार वर्षके जीवनमें इस साम्राज्य ने क्या किया? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है तथापि इसका उत्तर देने से पहिले इसकी आन्तरिक कमजोरियों को ध्यान में रख लेना चाहिये। यह सम्राज्य पवित्र रोमन सम्राज्य कहलाता था। मगर यह न तो पवित्र था, न रोमन और न सम्राज्य। पवित्र इसलिये न था कि इसका नेतृत्व सम्राटों के हाथ में था जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध न था। इतना अवश्य है कि यह पोप की धार्मिक सत्ता तथा सम्राट् की राजनीतिक सत्ता के बीच गठबन्धन था। मगर इस गठबन्धन से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक

होती थी। पोपों ने सदैव ही इस बात की चेष्टा की कि साम्राज्य संगठित और एकत्रित न होने पावे। ऐसा होने पर उनका प्रभुत्व नष्ट होता था। यह साम्राज्य 'रोमन' होने की अपेक्षा जर्मन अधिक था क्योंकि सम्राट् के राज्याधिकार में जर्मनी का ही प्रदेश था, इटली का नहीं। इतना ही नहीं—इटली के झगड़ों में जब कभी उन्होंने भाग लिया, उन्हें मुँह की खानी पड़ी। इटली और जर्मनी में भौगोलिक एकता अवश्य थी। किन्तु राजनीतिक एकता का एकदम अभाव था। ऐसे प्रदेशों को साम्राज्य कहकर उस शब्द की हँसी उड़ाना है। जर्मन सम्राटों को साम्राज्य के बाहर तो आपत्तियाँ थी ही, घर के मामलों में भी उन्हें कम आपत्तियाँ न थीं। सामन्त सरदारों को एकत्रित कर उन्हें नियम पालन का पाठ पढ़ाना यह उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी और इसे पूरा करने में सम्राट् असफल रहे।

यह सब होते हुए भी पवित्र रोमन साम्राज्य ने अराजकता तथा विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को रोकने का भारी प्रयत्न किया। मध्य युग सामन्तशाही का युग था। साम्राज्य में जर्मन सामन्तों का बोलबाला था। उसे नष्ट कर शक्तिशाली सम्राटों ने एकता के भाव उत्पन्न करने में सहयोग दिया। सामन्तों के सामने यह आदर्श रखा कि स्वार्थपरता के अतिरिक्त और भी उदात्त भावनाएँ हैं देश-प्रेम तथा विश्व-प्रेम। कुछ शक्तिशाली सम्राटों जैसे फ्रेडरिक बारबरोसा तथा उसके पौत्र फ्रेडरिक द्वितीय ने ऐसे आदेश जारी किये जिन्हें प्रत्येक भूमिपति तथा सरदार को मानना पड़ता था और जिसके अनुसार उन्हें आपसी लड़ाई झगड़ों को छोड़ शांति तथा प्रेम से रहना पड़ता था। उस समय के भूमिपतियों का समय आपसी युद्धों में ही बीतता था। शूरवीरता प्रकट करने का स्थान युद्ध-स्थल था। साधारण प्रजा की इन युद्धों के समय बुरी हालत होती थी। इन सम्राटों ने इन युद्धों को रोकने के विचार से स्थायी रूप से आदेश जारी किये जिन्हें 'देश शांति' (Land Peace) के नाम से पुकारा जाता था। इस भाँति योरप में मध्य युग में शांति स्थापित करने वाली संस्थाओं में से एक संस्था पवित्र रोमन साम्राज्य भी थी।

चौदहवाँ अध्याय

खलीफाओं का शासनकाल

प्राक्कथन

अरब के मुसलमानों का इतिहास बताते हुए यह कहा गया था कि उन्होंने पिरेनीज़ पर्वत से लेकर चीन तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। पिरेनीज़ पर्वत के उत्तर की ओर बढ़ने का वेग टूर्स की पराजय के पश्चात् कम हो गया था। यह अरबों की शक्ति की चरमावस्था थी। किन्तु जिस उत्साह के साथ अरबों ने इस्लाम-प्रचार का डंका बजाया था वह उत्साह अब ठंडा पड़ने लगा था। अबूबकर की सादगी तथा पवित्रता के स्थान पर अब मुसलमानों में विलासिता ने घर कर लिया था। डेरे तम्बुओं की जगह विशाल राजप्रासाद बनने लगे। खजूर की जगह स्वादिष्ट भोजन उन्हें मिलने लगा। भ्रातृभाव तथा सेवाभाव की जगह स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता ने ले ली। एकता के स्थान पर आपसी फूट का बोलबाला हो गया। इन आंतरिक झगड़ों का परिणाम मुस्लिम शक्ति के लिये हानिकर हुआ। बहुत से झगड़ों के पश्चात् उम्मैया वंश शक्तिशाली हुआ। खिलाफत की बागडोर उनके हाथ में आ गई। दमिश्क इन लोगों की राजधानी थी। यहाँ से वे योरप, एशिया तथा अफ्रीका तीनों महाद्वीपों पर दृष्टि रख सकते थे।

उम्मैया वंश

उम्मैया वंश में प्रसिद्ध शासक खलीफ़ अब्दुल मलिक (सन् ६८५–७०५ ई०) तथा वलीद प्रथम (सन् ७०५–७१५ ई०) थे। इनके समय यह वंश उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गया। वलीद के पुत्र सुलेमान ने कुस्तुन्तुनिया पर घेरा डाला किन्तु पराजित हो उधर से वापस लौट आया। बस यहीं से इस वंश का गौरव क्षीण होने लगा। इस्लाम ने लाखों मनुष्यों को मुसलमान बनाया था। अनेक शहरों तथा राज्यों पर इस्लाम का झंडा फहराया था। इन सब गौरव तथा वैभव ने खलीफाओं में विलासिता उत्पन्न कर दी। वलीद द्वितीय ने तो खुल्लमखुल्ला कुरान का विरोध किया और नमाज़ के स्थान पर सुरा, संगीत तथा सौन्दर्य से स्नेह। मक्का और मदीना में इस विलासिता

के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हुआ। दूसरा वंश जिसे अब्बासी कहते हैं अब इस प्रतियोगता में आगे बढ़ा। अब अब्बास वंश के हाथ खिलाफ़त लगी।

अब्बासी खलीफ़ाओं का शासन

सन् ७४९ ई० में अब्दुल अब्बास इस वंश का पहिला शासक हुआ। मुसलमानों के पूर्वी रोमन साम्राज्य के साथ युद्ध जारी थे। खलीफ़ाओं ने इस समय एक भारी भूल की। दमिश्क के स्थान पर उन्होंने बग़दाद को अपनी राजधानी बनाया। इस परिवर्तन से मुसलमानी साम्राज्य को भारी हानि पहुँची। दमिश्क से वे लोग योरप की समस्याओं को हल कर सकते थे और स्पेन, मिस्र, अफ्रीका के दूरस्थ प्रदेशों पर सतर्क दृष्टि। किन्तु अब उनका ध्यान योरप की अपेक्षा एशिया की ओर अधिक रहने लगा। इस्लाम राज्य की एकता इस परिवर्तन के कारण नष्ट होने लगी। स्पेन तथा मिस्र ने अब्बास के प्रभुत्व को मानने से इन्कार कर दिया। मिस्र के ऊपर तो खलीफ़ा कभी कभी आक्रमण भी कर देते थे किन्तु स्पेन का वे क्या बिगाड़ सकते थे? किन्तु स्पेन के शासकों ने अब्बास वंश से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने लिये काँटे बो लिये। पहिले ही ईसाई प्रदेश मुसलमानों के राज्यों को योरप में फूटी आँख नहीं देख सकते थे। अब स्पेन के एकदम स्वतंत्र हो जाने पर तथा उसे खलीफ़ा से फौजी सहायता न मिलने पर उसका नाश अवश्यम्भावी था। फिर भी उन्होंने फारडोवा में अपना एक स्वतंत्र खलीफ़ा नियुक्त कर लिया। मिस्र ने काहिरा में पहिले ही खिलाफ़त का पद स्थापित कर दिया था।

यह सब होते हुए भी अब्बासी खलीफ़ा बहुत बड़े शासक थे। स्पेन तथा मिस्र के निकल जाने पर भी उनका साम्राज्य काफी विस्तृत था। खलीफ़ा हारूँ-उल-रशीद (सन ७८६—८०६ ई०) के शासनकाल में बग़दाद अपने सौन्दर्य, कला-कौशल तथा विद्या-प्रेम के लिये सभ्य संसार में विख्यात हो गया। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम में दूर दूर तक व्यापार करते थे। किन्तु यह शान-शौकत तथा वैभव केवल बाहरी दिखावट थी। उसके अन्दर खोखलापन था। हारूँ-उल-रशीद की मृत्यु के पश्चात् यह साम्राज्य तितर बितर हो गया। फारस (ईरान), ख़ुरासान तथा सीरिया प्रान्तों के शासक स्वतंत्र हो गए। डूबते हुए खलीफ़ाओं ने तुर्कों की शक्ति का सहारा लिया। उन्हें सेना तथा शासन-प्रबन्ध में ऊँचे ऊँचे पद दिये। आखिरकार तुर्क इस प्रकार पूर्वी प्रदेशों के शासक बन बैठे। खलीफ़ाओं की निर्बलता इतनी बढ़ी कि उन्होंने

सन् १०५८ ई० में समस्त राजनीतिक अधिकार सालजूक तुर्कों को सौंप दिये। अपने हाथों में केवल धार्मिक अधिकार ही रखे। यह व्यवस्था लगभग दो सौ वर्षों तक चलती रही। खलीफा महल के मेयरों की तरह पदारूढ़ रहे किन्तु सन् १२५८ ई० में चंगेज़ खाँ ने अन्तिम खलीफा का वध कर इस व्यवस्था को भी समाप्त कर दिया।

खलीफाओं का राजनीतिक उत्थान पतन का वृतान्त जान लेने के पश्चात् उनके शासन-प्रबन्ध तथा मुसलमानी सभ्यता और संस्कृति पर विचार कर लेना आवश्यक है।

इस्लामी सभ्यता पर एक दृष्टि

मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् लगभग पाँच सौ वर्ष तक मुसलमानों ने सभ्यता की उन्नति में आश्चर्यजनक सहयोग दिया। अरबों की सभ्यता योरप की सभ्यता से कहीं बढ़ी चढ़ी थी। खलीफा विद्या-प्रेमी तथा प्रसिद्ध भवनों के निर्माता थे। कला-कौशल की उन्नति में भी उन्होंने पूरा सहयोग दिया। शासन-प्रबन्ध तथा कर वसूल करने के ढंग पूर्णतया संगठित थे। रोमन साम्राज्य की सड़कों की मरम्मत कराई गई तथा नई सड़कें बनवाई गईं जिनसे आवागमन में सुगमता हुई।

अरबों के आक्रमणों के समय सभ्य संसार में दो प्रमुख विचारधाराएँ विद्यमान थीं—एक थी भारतीय और दूसरी यूनानी। अरबों की अपनी कोई अलग विचारधारा तथा संस्कृति न थी किन्तु उन्होंने यूनानी तथा भारतीय विचारधारा में सहयोग देकर उसके सम्मिश्रण से एक नई देन सभ्य संसार को दी थी। यूनानी ग्रंथों का अनुवाद सीरिया के ग्रंथों से अरबी में किया गया। भारतीय दार्शनिक तथा वैज्ञानिक ग्रन्थों का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी में किया। खलीफाओं ने देश में शांति तथा वैभव स्थापित कर अरब-वासियों को सभ्यता के मार्ग पर डाला। रोमन साम्राज्य के कलाविद् उनके दरबार में रह कर उनकी राजधानी बगदाद, का गौरव बढ़ा रहे थे। सुन्दर भवन निर्माण होते थे। शिक्षा का प्रचार था। बगदाद, काहिरा तथा कारडोवा में प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे। इन विश्वविद्यालयों में दूर दूर से शिक्षार्थी आते थे। अकेले काहिरा के विश्वविद्यालय में १२००० विद्यार्थी थे। बड़े २ पुस्तकालय खोले गये जिनमें हस्तलिखित पुस्तकों का अपूर्व संग्रह था। स्पेन के कारडोवा विश्वविद्यालय में ईसाई विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इन

विद्यार्थियों ने यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर ऑक्सफोर्ड तथा पेरिस विश्वविद्यालयों में ज्ञान-ज्योति फैलाई। जरबर्ट नामक एक ऐसे ही पादरी ने (यही व्यक्ति आगे चल कर पोप सिल्वेस्टर द्वितीय हुआ) योरप में गणित तथा विज्ञान की उन्नति की। अरबों ने बीजगणित का आविष्कार किया। ज्योतिष तथा गणित में भी उनकी उन्नति आश्चर्यजनक थी। इन दोनों विद्याओं में अरब निवासियों ने संस्कृत की पुस्तकों से बहुत सहायता ली थी। उन्होंने यूनानी दार्शनिक अरस्तू के विचारों का अध्ययन किया था। इब्न रश्द नामक एक दार्शनिक ने अपने विचारों की अमिट छाप वर्तमान योरपीय विचार-धारा पर छोड़ी है। इब्न रश्द ने अरस्तू के सिद्धान्तों की विस्तार पूर्वक विवेचना कर यह सिद्धान्त निकाला कि धार्मिक तथा वैज्ञानिक खोज के आधार अलग अलग हैं और सत्य की खोज में धार्मिक कट्टरता तथा पक्षपात बाधा डालते हैं। चिकित्सा शास्त्र से भी उनका परिचय घनिष्ठ था। इब्न सिना अरबों के प्रसिद्ध चिकित्सक थे। इनका जन्म बुख़ारा में हुआ था। रहेज़ एक दूसरा चिकित्सक था। समस्त रोगों के निदान तथा चिकित्सा की प्रणाली यूनानी, अरबी, ईरानी तथा सीरिया के वैद्यक ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये थे। ज्ञान विज्ञान की इस उन्नति का यह परिणाम हुआ कि पुस्तक प्रतिलिपि एक महत्वपूर्ण व्यवसाय हो गया। निर्धन विद्यार्थियों को शिक्षा के लिये २७ विद्यालय थे जहाँ विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी।

विज्ञान तथा कलाकौशल के साथ साथ अरबों ने साहित्य में भी पर्याप्त उन्नति की। इतिहास, जीवनी तथा कविता की पुस्तकें इस समय लिखी गईं। इसके बाद आख्यायिकाओं का युग आया। सहस्ररजनी (अलिफ़लैला) की आकर्षक कहानियों को कौन नहीं जानता? अरबों ने कागज बनाने की रीति चीनियों से सीखी और उसका प्रचार सारे योरप में किया। कागज के अविष्कार ने योरप के ज्ञान के पुनरुद्धार की लहर को बढ़ाने में कितना सहयोग दिया है इसका अनुमान भलीभाँति लगाया जा सकता है।

अरबों में धार्मिक सहिष्णुता थी। इसी कारण भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के विचारों से अपने को अवगत करना और उनसे लाभ उठाना उनका प्रशंसनीय कार्य था। यह बात ईरानियों तथा ईसाइयों की धार्मिक कट्टरता से एकदम भिन्न थी जहाँ विचार प्रकाशन की स्वाधीनता पर पूरी पाबन्दियाँ थीं और चर्च के विरुद्ध किसी विचार के कहने वाले को प्राणदण्ड दिया जाता था।

अरबों का व्यापार काफी उन्नत था। चीन से बाल्टिक सागरीय प्रदेशों

भारत, अफ्रीका आदि दूरस्थ देशों से काफ़िलों द्वारा व्यापार होता था। समुद्र पर जहाजों द्वारा व्यापार होता था। कुस्तुन्तुनिया पर उन्होंने सामुद्रिक मार्ग से आक्रमण किये थे। उनके जहाज़ भारत, फारस की खाड़ी और भूमध्य सागरीय प्रदेशों को आते जाते थे। उनके व्यापार से बग़दाद मालामाल हो गया था। बुख़ारा, समरकन्द तथा बग़दाद में जो व्यापारिक मेले यथा-समय लगते थे उसमें प्रायः सभी देशों के लोग भाग लेते थे। किन्तु जब अरबों को तुर्कों ने पराजित कर अपना राज्य स्थापित किया तो इस बढ़ी चढ़ी सभ्यता तथा संस्कृति का नाश हो गया। इन लोगों ने अरब सभ्यता के केन्द्रों को नष्ट कर दिया। ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य का अंत हो गया। केवल स्पेन ही तुर्कों के आक्रमण से बच सका और वहाँ पर लोगों की सभ्यता कई शताब्दियों तक फूलती फलती रही और योरप के देशों को मार्ग दिखलाती रही।

इस प्रकार अरबों के इतिहास तथा सभ्यता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन बड़े उत्साह के साथ प्रारम्भ किया तथापि कालान्तर में भोग-विलास में पड़ने से उनकी शूरवीरता जाती रही। दूसरी मुख्य बात हमें यह ज्ञात होती है कि प्रारम्भ की प्रजातंत्री परम्पराओं के स्थान पर उनमें स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता आ गई। तीसरे ध्यान देने की बात यह है कि उनका साम्राज्य उन्नति की चरमावस्था पर पहुँचने के पश्चात् बहुत से छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। जहाँ तक अरबों की विश्व सभ्यता के लिये देन का सम्बन्ध है वहाँ हम इतना ही कह सकते हैं कि अरबों ने अज्ञान के उस युग में योरप को ज्ञान सिखाया। अपने आधीन जातियों की सभ्यताओं के प्रमुख तत्वों को ग्रहण कर उन्होंने एक अलग संस्कृति को जन्म दिया और उसकी देन से एशिया तथा योरपीय देशों को ऋणी बनाया। जब कभी योरपवासियों को ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता अनुभव] हुई, उन्होंने मूर निवासियों के साहित्य के पृष्ठों को टटोला और उनसे लाभ उठाया। यहाँ तक कि जब १५वीं शताब्दि में विद्या के पुनरुद्धार की लहर आई तो इस लहर के इस आश्चर्यजनक रूप में आगे बढ़ने का कारण यह था कि अरबवासियों ने ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं को अब तक जीवित रखा था। खोज की भावना को ज्यों का त्यों बनाये रखा था। इसका परिणाम यह हुआ कि आगे के अनुसन्धानों तथा आविष्कारों का मार्ग सरल हो गया। यही मुस्लिम सभ्यता की सबसे बड़ी देन योरप को है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

मध्यकालीन भारत

प्राक्कथन

हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में छोटे छोटे राजपूती राज्य स्थापित हो गए। केन्द्रीय शक्ति के शिथिल होने से फिर भारत की राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई। अपनी अपनी डफली पर अपना अपना राग अलापा जाने लगा। हर्ष के समकालीन अरब के पैग़म्बर मुहम्मद ने अरब में एक नवीन धार्मिक जोश उत्पन्न कर उसे विश्व-विजय के लिये प्रेरित किया। पचास ही वर्षों में स्पेन से लगा कर अफ़गानिस्तान तक इस्लामी झंडा फहराने लगा। भारत में अरबों का प्रवेश सिन्ध प्रान्त से हुआ। किन्तु इससे आगे इस्लाम न बढ़ सका। अफ़गानों ने नये धर्म को भारत में फैलाने के विचार से भारत पर आक्रमण किये। मुहम्मद गोरी के हाथों राजपूतों की हार हुई। कुतुबद्दीन ने सन् १२०६ ई० में अपना स्वतंत्र वंश चलाया। सन् १२०६ से १५२६ ई० के तक के तीन सौ बीस वर्षों में से १५० वर्ष तक अफ़गानी और तुर्की सल्तनत देहली में दृढ़ता पूर्वक शासन करती रही किन्तु फिर हिन्दुओं के स्वाधीनता प्रेम ने अपना परिचय दिया। मेवाड़ के नेतृत्व में उत्तरी भारत ने हिन्दू सत्ता स्थापित करने का बीड़ा उठाया; दक्षिण में विजयनगर ने अपना झंडा फहराया। तीन सौ वर्षों का इस्लामी शासन हिन्दुओं के साहस तथा स्वाधीनता प्रेम को नष्ट न कर सका। फिर भी हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक सम्बन्ध के होने से एक नई विचारधारा 'भक्ति-मार्ग' प्रवाहित हुई। अल्लाह, राम, केशव एक समझे गए। फिर हुई तैमूर के वंशजों की देहली में स्थापना। किन्तु विजयनगर फिर भी हिन्दुत्व की ध्वजा फहराता रहा और जब उसका विनाश हुआ तो 'हिन्दू-पद-पातशाही' के स्थापन का कार्य छत्रपति शिवाजी को मिला। आलमगीरी शासन की जड़ को शिवाजी 'सूबे' ने खोखला कर दिया और स्वयं आलमगीर की कब्र दक्षिण में बनी। जिस इस्लाम ने स्पेन से लेकर काहिरा, इराक़, ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान को जीत लिया था उसी इस्लाम को गंगा-जी के दुआबे में आकर शांति मिली। इस अध्याय में पहिले हम राजपूतों तथा विजयनगर के साम्राज्य का वर्णन करेंगे तत्पश्चात् तीन सौ

वर्षों के इस्लामी शासनकाल का सिंहावलोकन, फिर मध्यकालीन सभ्यता तथा संस्कृति का वर्णन।

राजपूतों का इतिहास

यद्यपि सातवीं शताब्दि के मध्य में भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई थी किन्तु फिर भी भारत में योरप जैसी सामन्तयुग की अराजकता नहीं फैली थी। इतिहासकार वेल्स के विचार से "जब कि योरप के देशों में सातवीं, आठवीं, नवीं शताब्दियों में अराजकता का बोलबाला था, भारत, चीन तथा अरब में अपेक्षाकृत शांति थी।" बात यह थी कि राजपूत राजे आपस में लड़ते झगड़ते थे किन्तु प्रजा की रक्षा करना आक्रमणकारियों ने भी अपना कर्त्तव्य समझा था। इन राजपूत राज्यों में से प्रमुख गूजर, चंदेल, तोमर, प्रतिहार, राठौर तथा चौहान वंश थे। दक्षिण भारत में चालुक्य, पल्लव, चोल आदि वंश थे। सबसे पहला मुसलमानी आक्रमण सिंध के मार्ग से हुआ। राजा दाहिर ने आक्रमणकारियों का वीरता पूर्वक सामना किया परन्तु परास्त हुआ। सिंध से मुसलमानों ने कई बार आगे बढ़ने का यत्न किया किन्तु गूजरों के राजा नागभट्ट ने उन्हें हरा दिया और इस्लाम से भारत २७५ वर्षों के लिये सुरक्षित हो गया। किन्तु राजपूतों ने कभी आने वाली आपत्ति का अनुमान नहीं किया। किसी जाति के जीवन में वह काल सबसे बड़ी आपत्ति का होता है जब वह कूपमण्डूक वाली नीति का सहारा लेकर अपने को सुरक्षित समझने लगती है। राजपूतों की भी यही दशा रही। उनकी राजनीतिक दशा एकदम बिगड़ी हुई थी। प्रजा से उनका विशेष सम्बन्ध न था और न प्रजा को उनसे कोई सहानुभूति। शासन-प्रबन्ध चलाने वाले अवसरवादी थे। ऐसी हालत में राजपूतों का भारत एक संगठित मुस्लिम शक्ति से लोहा लेने के लिये पूर्णतया अयोग्य था।

भारत पर मुसलमानों के आक्रमण

भारत की विदेशी नीति अफ़गानिस्तान की राजनीतिक दशा से पूरी तरह जकड़ी हुई रही है। जब जब अफ़गानिस्तान में अशांति तथा कमज़ोर शासक रहे भारतवर्ष सुरक्षित था किन्तु जब भी अफ़गानिस्तान में शक्तिशाली शासक हुए भारत की स्वतंत्रता के लिये खतरा उत्पन्न हुआ। दसवीं शताब्दि में सुबुक्तगीन के शक्तिशाली वंशज ग़ज़नी में शासन करने लगे। पंजाब के राजा जयपाल ने इस संकट का सामना करने के लिये राजपूतों का एक संघ

बनाया। किन्तु उसकी पराजय हुई। पंजाब अफ़गानी राज्य का भाग बन गया। महमूद ग़ज़नी ने तदनन्तर आक्रमणों का तांता लगा दिया। मुसलमानों ने असंख्य धन लूटा, मंदिरों को विध्वंस किया और भारतवर्ष की वास्तुविद्या को नष्ट करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह सब भारत के इतिहास में एक आकस्मिक तथा क्षणिक घटना थी। महमूद की असंख्य सेना का सामना राजपूतों ने डट कर किया। धार के राजा भोज ने महमूद का सामना किया और महमूद को दूसरे मार्ग से लौटने के लिये विवश किया।

भारत में इस्लाम का झंडा

महमूद के पश्चात् दूसरे अफ़गान विजेता मुहम्मद ग़ोरी ने भारतीय विजय के कार्यक्रम को अपने हाथ में लिया। उस समय के राजपूत राजे व्यक्तिगत रूप से अपनी शूरवीरता तथा साहस के लिये प्रसिद्ध थे किन्तु सामूहिक रूप से ये कुछ भी न थे। परम पराक्रमी तथा शूरवीर होते हुए भी वे राजनीतिक विवेक से शून्य थे। जयचंद्र सिद्धराज गूजरों का प्रसिद्ध राजा था। उनमें तथा चौहान वंश के राजाओं में मित्रता थी। चौहान उस समय अजमेर में राज्य करते थे। अजमेर के अतिरिक्त देहली में भी चौहानों का राज्य था। कन्नौज में राठौर वंश के राजा जयचंद्र का राज्य था। कहना न होगा कि इस राज्यों में आपसी फूट इतनी अधिक थी कि इनमें से कोई भी मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध राजपूतों का नेतृत्व करने के योग्य न था। मुहम्मद इस सब परिस्थिति से अवगत था। सन् ११९१ ई० में तराइन के मैदान में राजपूतों पर टूट पड़ा किन्तु राजपूती शौर्य के आगे आक्रमणकारियों के छक्के छूट गए। युद्ध-भूमि से भागते ही बना। सन् ११९२ ई० में फिर युद्ध हुआ। राजपूती संगठन इस समय तक हवा हो गया था। पृथ्वीराज का शौर्य मुस्लिम धर्मान्धता के आगे पराजित हुआ। तेरहवीं शताब्दि के मध्य तक उत्तरी भारत के प्रमुख भाग बंगाल, मालवा तथा उज्जैन मुसलमानों के हाथ में आ गए। इस प्रकार राजपूती शासन के स्थान पर उत्तरी भारत में अफ़गानी शासन स्थापित हो गई। किन्तु किसी जाति की स्वाधीन होने की [illegible] बिल्कुल नष्ट नहीं होती जब तक उसमें अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का लेशमात्र भी पुट बना रहता है। राजपूती विरोध की भावना को प्रज्वलित रखने का बीड़ा अब चित्तौड़ के सिसोदिया वंश ने उठाया। 'हम्मीर का हठ' इतिहास प्रसिद्ध हो गया। चित्तौड़ के जौहरों की प्रज्वलित अग्नि भारतीय ललनाओं के स्वाधीनता-प्रेम का संदेश युग युग को सुना आप अमर हो गईं और हम में बलिदान का मंत्र फूँक गईं।

देहली के सुल्तान

यहाँ पर मुस्लिम सल्तनत का वर्णन करना अनुचित न होगा। तीन सौ बीस वर्षों के समय में (सन् १२०६–१५२६ ई०) तक भारत पर पाँच मुस्लिम राजवंशों ने शासन किया—१. दास वंश (इस वंश को इस नाम से पुकारना सर्वथा अनुपयुक्त है) २. खिलजी वंश ३. तुग़लक वंश ४. सैय्यद वंश तथा ५. लोदी वंश। इन मुस्लिम शासकों के सामने कई समस्याएं थीं। इनमें से ये मुख्य हैं— १. हिन्दुओं की विद्रोही भावना का यथासमय जागृत हो जाना २. स्वयं मुस्लिम अमीरों के सत्ता हड़पने के प्रयत्न ३. उत्तरी पश्चिमी सीमा पर लगातार होने वाले मंगोलों के हमले। इनमें से पहिली समस्या बड़ी भयावह थी। इस समस्या का निराकरण एक ही प्रकार से हो सकता था। शासन-प्रबंध के ऊपरी ढाँचे को छोड़ बाकी और बातों का प्रबंध देशी लोगों की सहायता से किया जाय। इसलिये सुल्तानों ने कर-वसूली का काम, हिसाब किताब रखना तथा शासन-व्यवस्था की अन्य सब बातों का प्रबन्ध हिन्दुओं के ही हाथ में रहने दिया। अलाउद्दीन के शासनकाल की घटनाओं से सिद्ध होता है कि इनके पर अधिक कर उनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये ही लगाया था। दूसरी समस्या भी कम गम्भीर न थी। प्रत्येक मुसलमान अमीर सुल्तान बनने के स्वप्न देखता था और राजा के विरुद्ध षडयन्त्र करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता था। अलाउद्दीन ने उनके आपसी मेल-जोल तथा सामाजिक जीवन को नष्ट करने के उद्देश्य से उन्हें राजा की आज्ञा बिना विवाह करने तथा एकत्रित होने की मनाही कर दी थी। तीसरी समस्या का वर्णन हम मंगोलों के अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा। कि चंगेज़ खाँ के आक्रमण से लेकर तैमूरलंग के आक्रमण तक देहली के सुल्तानों को मंगोली बुखार चढ़ा रहता था। मंगोल बड़े निडर तथा निर्दयी थे। इनके आक्रमणों के डर से पश्चिमोत्तर प्रदेश की किलाबन्दी की गई और योग्य से योग्य सैनिक अधिकारी को वहाँ का शासक नियुक्त किया जाने लगा। एक शासक ने इस आपत्ति से पीछा छुड़ाने के लिये राजधानी परिवर्तन ही श्रेयस्कर समझा। किन्तु फिर भी यह समस्या हल न हो सकी। इसका अंत उसी समय हुआ जब मंगोल स्वयं भारत के सिंहासन पर सुशोभित हो गए।

अब हम संक्षेप में दिल्ली के इन सुल्तानों का वर्णन करेंगे। मुस्लिम शासन के संस्थापक कुतुबउद्दीन को छोड़ कर दास वंश में दो और प्रसिद्ध शासक हुए—इल्तुतमिश तथा बलबन। इल्तुतमिश पहिला मुस्लिम शासक था

जिसने बगदाद के खलीफा का आधिपत्य स्वीकार किया और 'सुल्तान पद' प्राप्त किया। बलबन का दरबार मध्य एशिया भर में अपनी सजधज और शान शौकत के कारण प्रसिद्ध हो गया। अमीर खुसरो इसके यहाँ प्रसिद्ध कवि था। खिलजी वंश का एक शासक अलाउद्दीन बड़ा प्रसिद्ध हुआ। उसने दक्षिण भारत को जीत कर मुस्लिम सल्तनत में शामिल किया। बाजार की वस्तुओं के भाव नियुक्त कर आर्थिक जीवन पर नियंत्रण किया। तुग़लक वंश का राजा मुहम्मद तुग़लक अपनी विचित्र योजनाओं के कारण इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। इसके समय में अफ्रीका निवासी एक यात्री भारत आया। उसने भारत का बड़ा सजीव वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। यह यात्री इब्न बतूता था। उसके उत्तराधिकारी फ़ीरोज ने प्रजा की भलाई के लिए बहुत बड़ा काम किया। यमुना नदी से नहरें निकलवा कर पंजाब के पूर्वी सुनसानी इलाके को हरा भरा बनाया। किन्तु उसके उत्तराधिकारियों को एक बड़ी भारी आपत्ति का सामना करना पड़ा। वह आपत्ति तैमूरलंग का भारतीय आक्रमण था। उसके आक्रमण के पश्चात् भारतीय मुस्लिम शासन के सूत्र ढीले पड़ गए। सैयद वंशीय राजाओं के राज्य की सीमा देहली से कुछ मील दूरी पर पालम नामक ग्राम तक थी। लोदियों ने फिर मुस्लिम शासन के एकीकरण का बीड़ा उठाया किन्तु अधिक सफलता न मिली। अंत में जहीर उद्दीन मुहम्मद बाबर ने सन् १५२६ ई० में पानीपत के युद्धक्षेत्र में इब्राहीम लोदी को हरा कर मुग़ल वंश का राज्य भारत में स्थापित किया।

अपने ३२ वर्षों के जीवन में दिल्ली के सुल्तानों ने क्या किया? मानव सभ्यता की दृष्टि से शासकों ने कोई उल्लेखनीय कार्य इस काल में नहीं किया। किन्तु शासकों से अलग कबीर, जायसी, रसखान आदि संतों ने संतप्त हिन्दू जाति के आँसू पोंछे, उनके राग-रंग, संयोग-वियोग में उनका साथ दिया और दोनों जातियोंमें सांस्कृतिक एकता उत्पन्न की। इसका वर्णन तो हम और विस्तार पूर्वक यथास्थान करेंगे। हाँ, शासकों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका काम भारत में एक सैनिक शासन बनाये रखना तथा भारत की नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उन्नति-अवनति में कोई सहयोग न देना था। कुछ धर्मान्ध सुल्तान निष्क्रिय नीति के स्थान पर मूर्तियाँ तोड़ने का, जजिया कर[1] वसूल करने का, 'जिहाद' बोलने का कार्यक्रम अपने शासन-काल में और शामिल कर लेते थे अन्यथा निष्क्रिय नीति तो कहीं गई ही न थी।

[1] प्रारम्भ में ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे।

विजयनगर का गौरव

ऊपर अलाउद्दीन की दक्षिण विजय का वर्णन हो चुका है। अलाउद्दीन की यह दक्षिण-विजय क्षणिक थी। जिस दक्षिण में आलमगीर की कब्र बन गई वह भला शक्तिहीन तुगलकों का आधिपत्य कैसे सहन कर सकता था? उनकी सैनिक शक्ति भले ही विजेताओं के आगे झुक जाती हो किन्तु उनकी संस्कृति सदैव उनका साथ देती थी। अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय के कुछ वर्षों बाद सन् १३३६ ई० में विजयनगर साम्राज्य की नींव पड़ी। इससे पहिले ही ट्रावनकोर के शासक मुसलमानों को अपने देश से निकाल चुके थे। विजयनगर ने दक्षिण भारत का नेतृत्व स्वीकार किया। विजयनगर के उत्तर में बहमनी राज्य के स्थापित होने से उसकी उत्तर की ओर वृद्धि रुक गई और इन दोनों में पारस्परिक संघर्ष जारी रहे। इससे विजयनगर के सम्राट् सदैव सतर्क रहते थे और पूरी सैनिक तैयारी में लगे रहते थे। कृष्णदेव राय इस वंश का सबसे बड़ा राजा था। उसका राज्यकाल इस वंश की उन्नति की चरमावस्था थी। उसने उड़ीसा को जीता और बीजापुर के सुल्तान को हराया। वह स्वयं विद्वान तथा कलाविद् था। पुर्तगालवासियों से उसके सम्बन्ध बड़े मित्रतापूर्ण थे। ईरान तथा अन्य विदेशों से उसके यहाँ दूतों का आना जाना लगा रहता था। वह मध्य युग का सबसे बड़ा शासक था। दक्षिण के मुसलमानी राज्य विजयनगर के इस वैभव को फूटी आँख भी न देख सकते थे। सन् १५६५ ई० में उन्होंने एकत्रित हो विजयनगर पर आक्रमण कर दिया। राजा की पराजय हुई और विजयनगर को जला दिया गया। अनेक इतिहासकारों का विचार है कि सन् १५६५ ई० की पराजय के पश्चात् विजयनगर का गौरव नष्ट हो गया किन्तु यह धारणा निर्मूल है। विजयनगर का वैभव एक वंश के उत्थान-पतन से जुड़ा हुआ न था। वह तो दक्षिणी भारत की राष्ट्रीय भावनाओं का प्रतीक था, हिन्दू राष्ट्र की भावनाओं का मूर्तरूप था। विजयनगर फिर हिन्दू संस्कृति तथा सभ्यता का केन्द्र हो गया। कालान्तर में केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गई। विजयनगर का ह्रास हुआ किन्तु उससे पहिले ही छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू-गौरव-पुनरुद्धार का बीड़ा उठा लिया था।

विजयनगर साम्राज्य सैनिक आधार पर संगठित था। मुस्लिम विरोध का नेतृत्व करने के कारण उसका ऐसा होना स्वाभाविक था। तथापि हिन्दू संस्कृति, संस्कृत भाषा के पुनर्जीवित करने का कार्यक्रम यहाँ पूरे वेग से चल

रहा था। वैष्णव धर्म का प्रचार विजयनगर वंश के साथ सम्बद्ध है। उस समय के मंदिरों तथा मठों को दान स्वरूप जो द्रव्य दिया गया था वह इन लोगों तथा प्रजा के धर्मपरायण होने का अच्छा प्रमाण देता है। संस्कृत में सायण ने वेदों की टीका लिख कर एक महत्वपूर्ण कार्य किया।

विजयनगर साम्राज्य में प्रजा की दशा सुख-सम्पन्न थी। अनेक पुर्तगाली तथा मुस्लिम इतिहासकारों के कथनों से इस बात की पुष्टि होती है। अब्दुर रज़्ज़ाक का कथन है कि "यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया में किसी जगह पर इसकी बराबरी का शहर न तो आँखों से देखा न कानों से सुना। हरेक बाजार के कोने पर ऊँचे महराबदार फाटक और शानदार गेलरियाँ हैं लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" देश के वैभव का वर्णन करता हुआ वह लिखता है "इस देश में हरेक पेशे के व्यापारी और कारीगरों की दूकान एक ही जगह हैं। जौहरी लोग अपने लाल, मोती, पन्ना खुल्लम खुल्ला बाजार में बेचते हैं।" इटली यात्री पेज़ विजयनगर के विषय में लिखता है "यह शहर रोम के बराबर बड़ा है और देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।"[१]

विजयनगर का व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। ईरान तथा अन्य पश्चिमी देशों से व्यापार करने के लिये ३०० से अधिक बन्दरगाह थे। पुर्तगालवालों के धनी होने का कारण विजयनगर साम्राज्य के साथ व्यापार ही था। कहना न होगा कि तालीकोट के सन् १५६५ ई० के युद्ध में विजयनगर की हार होने से इस व्यापार को भारी क्षति पहुँची।

मध्यकालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति

राजनीतिक इतिहास को देख लेने के पश्चात् हम उस समय की सभ्यता तथा संस्कृति पर विचार करेंगे किन्तु इससे पूर्व एक और बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। हिन्दू धर्म पर लगातार प्रहार होते थे किन्तु फिर भी हिन्दू धर्म हिमालय की भाँति अचल खड़ा था। हिन्दू होना सभी दृष्टियों से आपत्तिजनक था। आर्थिक दृष्टि से हिन्दू को जज़िया तथा यात्रा कर देने पड़ते थे जिससे साधारण मनुष्य का कचूमर निकल जाता था। सामाजिक दृष्टि से उसका मुस्लिम राज्य में कोई सम्मान न था। बर्नी के शब्दों में नम्रता तथा सहनशीलता हिन्दुओं के मुख्य भूषण समझे

---

१ ज० ला० नेहरू की 'विश्व इतिहास की झलक, से उद्धृत' पृ० ३६७।

जाते थे। राजनीतिक दृष्टि से मुसलमान बननेवाले के सामने उन्नति का मार्ग खुला था। काफ़ूर तथा खुसरो मुसलमान होते ही उन्नति के शिखर पर पहुँच गये थे। यह सब होते हुए भी हिन्दुओं ने दृढ़ता पूर्वक चोटी तथा यज्ञोपवीत की रक्षा की। संयुक्त प्रान्त की जनता का १४ प्रतिशत ही मुस्लिम बन पाया और इस स्थान पर मुसलमानों का आधिपत्य सबसे अधिक रहा था। हाँ, एक भारी हानि अवश्य हुई। हिन्दुओं ने अपने सामाजिक रीति-रिवाजों के बन्धन को और कड़ा कर दिया। बाल-विवाह की प्रथा जारी हुई। पर्दे का रिवाज पैदा हुआ। कालान्तर में वैदिक युग की गार्गी, मैत्रेयी तथा अनुसूया अदृश्य हो गईं। जात-पांत के बन्धन और कठोर होने से हिन्दुओं की दूसरी जातियों को अपने में मिला लेने की शक्ति न रह गई। किन्तु इतनी ही गनीमत थी कि वह अपने को जीवित रख पाई।

इस्लाम के भारत से चले जाने की कोई सम्भावना न थी। वह भारत का एक अंग बन गया। इस्लाम ने भी सीख लिया कि समस्त हिन्दुओं को मुसलमान नहीं बनाया जा सकता। दोनों सभ्यताओं ने एक दूसरे के सम्पर्क में आने की चेष्टा की। यदि भारत में कारडोवा, बगदाद तथा काहिरा जैसे मुस्लिम संस्कृति के केन्द्र भारतमें स्थापित हो जाते, यदि अफ़गान तथा तुर्क सरदारों ने धार्मिक मामलों में अरबों की सी सहिष्णुता अपनायी होती तो दोनों जातियों का सांस्कृतिक गठबन्धन और भी अधिक दृढ़ हो जाता। दोनों का हृदय परिवर्त्तन और भी अधिक सुखदाई होता। किन्तु तुर्कों तथा अफ़गानों की धर्मान्धता से दोनों जातियों में कटुता पैदा हो ही गई। उस कटुता को दूर करने के लिये हिन्दू तथा मुस्लिम संतों ने सराहनीय उद्योग किया। पहिले ही हिन्दुओं में 'धर्म-सुधार' की लहर उठ रही थी। शंकराचार्य ने ३२ वर्ष की अवस्था में भारत विजय कर अद्वैतवाद का डंका बजाया था। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक एकता का ढिंढोरा सारे विश्व में पीट दिया। बद्रीनाथ, पुरी, द्वारिका तथा शृंगेरी (भारत के उत्तर, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में) में चार मठ स्थापित किये और प्रत्येक मठ में एक एक शंकराचार्य्य नियुक्त किया। समस्त भारत में हिन्दू धर्म की प्रधानता थी। बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म में सम्मिलित हो गया था। काश्मीर से कन्याकुमारी तक शिव, विष्णु तथा देवी की पूजा होने लगी। परमात्मा, जीवात्मा, माया तथा अवतारवाद के सिद्धान्तों को सब सम्प्रदायों ने मान लिया था। शंकराचार्य्य के पश्चात् जयदेव, रामानंद, मीराबाई, कबीर, नामदेव, संत ज्ञानेश्वर ने भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। जयदेव का 'गीत गोविन्द' भक्ति का

एक अनुपम स्रोत है। रामानन्द का प्रचार-केन्द्र काशी था। उनके अनुयायी कबीर ने एक ओर दोनों धर्मों (हिन्दू तथा इस्लाम) को मिलानेका प्रयत्न किया और दूसरी ओर गुरु नानक ने पंजाब में यही लहर फैलाई। चैतन्य ने हिन्दू समाज में एक नवीन चेतना जाग्रत की। इस्लाम का एकेश्वर वाद यद्यपि हिन्दुओं को पहिले से ही ज्ञात था, अब पूर्णतया अपना लिया गया। शिव, कृष्ण, देवी आदि नाम उसी एक शक्ति के द्योतक थे। कबीर के भजनों से इस विचारधारा की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है और कबीर का प्रभाव सर्वसाधारण के ऊपर सबसे अधिक था।

इस 'भक्ति धारा' का सबसे व्यापक प्रभाव देशी भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। हिन्दी, गुजराती, बंगला, मराठी, मैथिली आदि भाषाओं में भक्ति रस के कवियों ने अपनी रचनाएँ लिखीं। बंगला में चंडीदास की कविता, राजस्थानी में मीरा के पद, मैथिली में विद्यापति की कोमल पदावली भारतीय भाषाओं की अमर निधि बन गईं। संस्कृत साहित्य में भी इस समय महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। सायण की वेदों की टीका के अतिरिक्त जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने आर्य्य संस्कृति को जैन धर्म से सम्बद्ध करने का सफल प्रयत्न किया। रामायण महाभारत कालीन तथा अन्य प्रचलित परम्पराओं को साहित्यिक रूप देकर हेमचन्द्र ने बाल्मीकि, व्यास तथा शंकराचार्य्य के कार्य्य को पूरा किया और हिन्दू संस्कृति की एकता को अमर बना दिया। इस्लाम के आने से हमारे सामाजिक जीवन का रूप, रंग तथा आकार बदलना चाहिये था। सामाजिक नियमों को समय काल के अनुसार परिवर्तित करने का बीड़ा स्मृतिकारों ने उठाया। देवल, मेदाधिति ने स्मृतियों पर अपनी टीकाएँ लिखीं। विज्ञानेश्वर का मिताक्षर दसवीं शताब्दि में लिखा गया था। प्रायश्चित के नये नियम बना कर हिन्दू धर्म से बहके हुए बन्धुओं को फिर से मिलाने के कुछ नियम बनाये गए। इस प्रकार मुस्लिम विजय हमारी संस्कृति के ऊपर विजय न थी। हमारी संस्कृति पूर्ववत् अविचल तथा अपराजित थी। भक्ति मार्ग में निस्संदेह इस्लाम की सूफी परम्परा तथा हिन्दू भक्ति मार्ग का अद्भुत सम्मिश्रण था। जायसी, कबीर, रसखान आदि मुस्लिम कवियों ने इस भक्ति धारा में हिन्दू संतों का साथ दिया। मूर्तिपूजा तथा आडम्बरों पर आक्रमण हुआ। अल्लाह, राम, ईश्वर को एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप समझा गया। इस सांस्कृतिक एकता से देशी भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन मिला। यदि हम भारत में मध्य युग सोलहवीं शताब्दि तक मानें तो हमें एक और महापुरुष से परिचय

करना होगा। हिन्दी-भाषा-कानन का वह सबसे विशाल वृक्ष है। निराश्रित तथा संतप्त हिन्दु जाति को वह आशा तथा उज्जवल भविष्य का संदेश सुनाता है। अकबर के भौतिक साम्राज्य के स्थान पर वह हिन्दू जाति के हृदय पर अपना साम्राज्य स्थापित करता है। वह महापुरुष है हुलसी का पुत्र तुलसी। रामचरितमानस उसकी अमर कृति है। हिन्दू जाति का गौरव, उसकी संस्कृति की रक्षा तथा उसकी मर्यादा के निर्वाह का कार्य्य इस महापुरुष ने अद्वितीय योग्यता के साथ सम्पादित किया।

मध्यकालीन भारत में कला-कौशल तथा वास्तुविद्या ने भी आश्चर्यजनक उन्नति की। कुतुब की लाट, जौनपुर के मशर्की सुल्तानों की बनवाई हुई जामा मस्जिद, मान्डू तथा अहमदाबाद की अन्य मस्जिदें इस काल की प्रमुख इमारतें हैं। इनकी शैली हिन्दू तथा मुस्लिम शैलियों का अद्भुत मिश्रण है। जफरनामे में वर्णित एक घटना से पता चलता है कि तैमूर ने कई सहस्र कलाकार अपने दरबार में एकत्रित किये थे। उसका विचार समरकन्द में एक विशाल मस्जिद बनवाने का था। भारत से प्रस्तर कला में निपुण कलाकार बुलवाये गए थे। मार्शल के मतानुसार जब मुसलमान ईरान तथा कुस्तुन्तुनिया के विशाल भवनों को देख कर भारत आये और यहाँ आकर उस शैली का भारतीय शैली से मुकाबिला किया तो दोनों में जो बातें उन्हें अच्छी लगीं उसी के समिश्रण से हिन्दू-मुस्लिम शैली की नींव पड़ी। मुस्लिम सुल्तानों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं ने भी भवन निर्माण कार्य्य में सहयोग दिया। कोनार्क का सूर्य मंदिर इस समय का अद्वितीय मंदिर है। चित्तौड़ गढ़ का विशाल स्तम्भ ट्राजन (रोम) के विशाल स्तम्भ का स्मरण दिलाता है। यह शुद्ध हिन्दू शैली के अनुसार बना है। रामपुर का प्रसिद्ध मंदिर हिन्दू कला का सुन्दर नमूना है। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम शैली के साथ साथ हिन्दुओं की अपनी स्वतंत्र शैली विद्यमान थी। जौनपुर के सुल्तान विद्या-प्रेमी थे। उनके यहाँ दूर दूरसे विद्वान आश्रय लेते थे। फारसी, अरबी का बोलबाला था। इसके अतिरिक्त स्थानीय कर्मचारी विद्वानों को आश्रय देकर विद्या तथा ज्ञान की उन्नति में सहयोग देते थे।

मुसलमानों को इतिहास लिखने का चाव था। इस युग का इतिहास हमें मुस्लिम इतिहासकारों के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। जियाउद्दीन बर्नी, फरिश्ता, इब्नबतूता तथा अमीर खुसरो इस युग के प्रसिद्ध इतिहासकार हैं। हिन्दुओं की कल्हण की 'राजतरंगिणी' इतिहास की अपूर्व पुस्तक है।

इस अध्याय को समाप्त करते हुए हम दो चार बातों का और उल्लेख करेंगे। भारत पर इस्लाम विजय से उसकी संस्कृति, सभ्यता तथा आचार-विचार पर कोई भारी प्रभाव नहीं पड़ा। कृषकों ने अपनी कृषि पूर्ववत् जारी रखी। पुजारियों ने शिक्षण-कार्य ज्यों का त्यों रखा। हिन्दू व्यापारियों तथा बनियों ने अपना व्यापार तथा लेन-देन भी पूर्ववत् चलाया। गाँवों की पंचायतें अब भी कार्य कर रही थीं। मुस्लिम विजेताओं की सेना ने केन्द्रीय स्थानों को जरूर हथिया लिया था; भारतीय राजाओं तथा ज़मीदारों को नष्ट कर उनकी जागीरें अपने अमीरों और जागीरदारों में बाँट दी थीं। भारत विजय के पहले उत्साह में अवश्य उन्होंने हिन्दुओं के साथ सख्तियाँ की थीं। राजनैतिक सत्ता के जाने से ऊँची पदवीधारियों को जरूर दुःख पहुँचा था। मंदिरों के नष्ट होने से उनके हृदय को अवश्य ठेस पहुँची थी किन्तु फिर भी मुस्लिम विजय का भारत पर प्रभाव इंगलैण्ड की नार्मन विजय से अधिक न हुआ। मुट्ठी भर विजेताओं के लिये यह सम्भव न था कि वे हिन्दुओं के सहयोग के बिना शासन-प्रबन्ध चला लेते। इसलिये पटवारी, खजाँची तथा अमीन लोग फिर भी हिन्दू ही नियुक्त होते थे। न्याय सम्पादन का विभाग अवश्य काजियों को सौंप दिया गया था और वे लोग शरियत के अनुसार न्याय करते थे किन्तु हिन्दुओं के उत्तराधिकार के प्रश्न तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान अब भी उनकी पचायतों द्वारा ही होते थे। सम्भव हो सकता था कि यदि तैमूर के वंशजों ने अपना राज्य स्थापित न किया होता तो मेवाड़, विजयनगर तथा अन्य हिन्दू राज्य फिर अपने को देश का शासक बना लेते और मुस्लिम विजेताओं की वही अवस्था हो जाती जो इससे पहिले कुशन, यूची, हूण, सिथियन आदि जातियों की हुई थी।

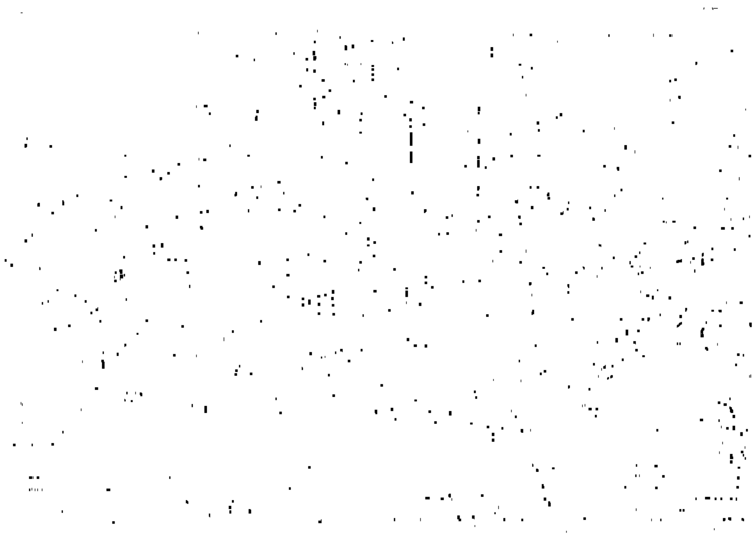
सोलहवाँ अध्याय

मध्यकालीन चीन

प्राक्कथन

नवें अध्याय में प्राचीन चीन का इतिहास बताते हुए यह कहा गया था कि पूर्व ऐतिहासिक काल से लेकर ईस्वी सन् की ७ वीं शताब्दि तक चीन ने सभ्यता के भिन्न भिन्न अंगों में आश्चर्यजनक उन्नति की। चीन तथा भारत में सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। भारत से चीन बहुत से बौद्ध धर्म-प्रचारक पहुँचे और चीन से भारत बौद्ध ग्रन्थों की खोज में तथा भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित पवित्र स्थानों के दर्शनों के लिये चीनी यात्री आये। सबसे प्रसिद्ध यात्री जो भारतवर्ष आया वह ह्वान सांग था। उस समय जब कि चीन में विदेश यात्रा निषिद्ध थी यह विद्वान चोरी से छिप कर राज-प्रहरियों की आँखें बचा कर भारत आ पहुँचा और वहाँ पर उसने हर्ष के राज्य दरबार में आश्रय लिया। अपनी भारत-यात्रा का वर्णन उसने सजीव भाषा में किया है। हिन्दुस्तान में कई वर्ष रहने के पश्चात् वह उत्तरी पर्वत प्रदेश से होता हुआ चीन वापस लौटा। उस समय चीन में तंग राजवंश का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ था और उनकी राजधानी सी-आन-फू कला तथा संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र थी। चीन की सभ्यता का स्थान उस युग की सभ्यताओं में काफी ऊँचा था और चीन से आने के कारण ह्वान सांग का आदर्श बहुत ऊँचा रहा होगा। तथापि उसने भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति की भरपूर प्रशंसा की है।

तंग वंश के समय चीन सभ्यता की चरमावस्था पर था। किन्तु सन् ६०७ ई० में तंग वंश अपनी चरित्रगत दुर्बलताओं के कारण नष्ट होगया। सन् ९६० ई० में सुंग वंश का राज्य चीन में स्थापित हुआ। सुंग वंश १२ वीं शताब्दि तक राज्य करता रहा। मंगोल लोगों ने सुंग वंश का अंत कर चीन में युआन वंश स्थापित किया। युआन वंश का राज्य भी सन् १३६८ ई० में नष्ट हो गया। उसके पश्चात् चीन का एक वंश मिंग सन् १६४४ ई० तक राज्य करता रहा। उस वर्ष चिंग वंश चीन में स्थापित हुआ और उसका राज्य चीन में सन् १९११ ई० तक रहा। मिंग वंश के समय चीन में विद्या का प्रचार हुआ। कला-



ह्युंग च्वांग का चीन से भारत में आने का मार्ग ६२९-६४५ ई०

कौशल की उन्नति हुई । चीनी के बर्तन अपनी सुंदरता के लिये एशिया तथा योरप में प्रसिद्ध हो गये । चित्रकला की भी अद्भुत उन्नति हुई । विदेशियों से भी सम्बन्ध स्थापित हुए । इस अध्याय में पहिले हम चीन का इतिहास वर्णन करेंगे तत्पश्चात् उसकी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास ।

मध्यकालीन चीन का इतिहास

तंग वंश का राज्य सन् ६१८ ई० में प्रारम्भ हुआ । चीन में फिर से एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हुई । चीन के इतिहास में यह युग शांति, समृद्धि तथा वैभव का युग था । जिस प्रकार हन वंश अपने गौरव तथा समृद्धि के लिये उत्तर में प्रसिद्ध था उसी प्रकार तंग वश दक्षिणी चीन में प्रसिद्ध था ।

तंग वंश की महत्वपूर्ण घटना सम्राज्ञी वू का शासनकाल था । एक अल्प वयस्क राजकुमार के संरक्षक की तरह उसने शासन की बागडोर संभाली और बड़ी योग्यता तथा दृढ़ता से शासन किया । सन् ६६४ ई० में उसने दैवी सम्राज्ञी की उपाधि धारण की और सन् ६९६ ई० में सर्वशक्तिमान परमेश्वर की । फिर भी उसने एक अच्छा नियम बनाया जिसके अनुसार ऊँचे पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती थी । स्त्री पुरुष का भेदभाव मिटा दिया गया । इसी वंश में मिंग हांग नामक एक राजा हुआ जिसने साहित्य की उन्नतिमें सहयोग दिया और विद्या के प्रचार के लिये प्रत्येक गांव में पाठशालाएँ खुलवाईं । संगीत की शिक्षा के लिये भी एक विद्यालय खुलवाया गया । उसके युद्धों तथा उसकी अपव्ययिता के कारण प्रजा पर भारी कर लादे गये जिससे प्रजा में असंतोष पैदा हुआ और फिर विद्रोह भी होने लगे । उसके समय चीन में विलासिता का राज्य था—स्वेच्छाचारी शासक प्रजा को तंग करते थे । प्रजा ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया । सम्राट् गद्दी छोड़ कर भागा । उसका पुन सिंहासनारूढ़ हुआ ।

सुंग वंश का शासन

तंग वंश के पश्चात् सुंग वंश का राज्य स्थापित हुआ । सुंग वंश के समय कितान निवासी तातारों ने चीन प्रदेश पर अधिकार कर लिया । उत्तरी चीन के अधिकांश भाग को रौंद डाला । चीनी सम्राटों ने हार कर उत्तरी भाग इन्हीं लोगों को सौंप दिया । सुंग वंश के समय के दार्शनिकों, कवियों,

इतिहासकारों तथा शूरवीरों की गाथाओं के वर्णन से पृष्ठ भर जायँगे । यहाँ केवल दो का वर्णन करना पर्याप्त होगा । एक तो था आन शीह और दूसरा चू शी । आन शीह एक प्रसिद्ध सुधारक था । अपनी विद्वता के कारण वह सम्राट् का विश्वासपात्र बन गया । उसने अपने राजनीतिक सुधारों के कार्य को अपने हाथ में लिया । कन्फ्यूशस के सिद्धान्तों की व्याख्या की गई । कर कम करने के विचार से उसने प्रत्येक वर्ष की पैदावार के तीन भाग किये । एक भाग कर देने के लिये, दूसरा जिले की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये तथा तीसरा भाग राज्य द्वारा काश्तकार से ऋण की तरह ले लिया जाता था और उसे आवश्यकता पड़ने पर वापस मिल जाता था अन्यथा उसका उपयोग कमी पड़ने वाले प्रान्तों के लिये होता था । जिस घर में दो व्यक्ति हों उनमें से एक को सैनिक बनना होगा ऐसा नियम भी उसने बनाया । सारी भूमि की नाप कराई गई और करों को अधिक नियमानुसार बनाया गया । परीक्षा-प्रणली में भी इस व्यक्ति ने सुधार किये—शैली की अपेक्षा परीक्षार्थियों के व्यावाहारिक ज्ञान की योग्यता जाँची जाती थी । किन्तु उसके सुधार समय से पहिले हुए थे इसीलिये जनता ने उन्हें पसंद न किया । आन शीह को अपने पद से हटना पड़ा ।

चू शी ने कन्फ्यूशस के धार्मिक ग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं । चीनवासियों में भौतिकवाद की भावना उत्पन्न करना भी उसी का काम था । परमात्मा की कल्पना उसने सिद्धान्त के रूप में की । परमात्मा के स्थान पर इस जगत पर उसने भौतिक तत्त्वों के आधिपत्य का प्रचार किया । उसने चीनी धर्म में से दैविक तत्त्वों को निकाल कर उसे एक व्यावहारिक तथा भौतिक रूप दिया ।

मंगोलों का राज्य

सुंग वंश के अयोग्य शासकों को गद्दी से हटा कर मंगोल वंश का राज्य चीन में स्थापित हुआ । कुबलाई खाँ उनका नेता था । पहिले मंगोलों को किन तारतारों को उत्तरी चीन से निकालने के लिये आमंत्रित किया गया था किन्तु फिर मंगोलों ने चीन छोड़ने का नाम न लिया । उत्तरी चीन के साथ साथ दक्षिणी चीन पर भी अधिकार कर लिया । कुछ समय पश्चात् वे चीन में इतने हिल मिल गये कि मंगोल के स्थान पर उनका वंश युआन कहा जाने लगा । इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि युआन वंश आसानी से चीन में स्थापित हुआ । सुंग वंशवालों ने पग पग पर नये आक्रमणकारियों का

सामना किया। कुबलाई खाँ ने अपने शासनकाल में प्रजा के लिये कई कार्य किये। पीली नदी का उद्गम स्थान ज्ञात किया गया और उस पर व्यापार आरम्भ किया। बैंकों में नोट जारी किये गये, इम्पीरियल एकेडेमी की स्थापना हुई तथा तिथि-पत्र में सुधार हुआ। किन्तु युआन वंश के भारी करों से जनता पिसने लगी। प्रजा के असंतोष ने भयंकर रूप धारण किया। मंगोलों को चीन से निकालने का बीड़ा एक निर्धन अनाथ ने उठाया। अपने माता पिता की मृत्यु के पश्चात् चू आश्रयहीन तथा धनहीन था। सिर मुड़ा कर वह बौद्ध धर्म का एक भिक्षु बन गया। किन्तु उसकी रगों में वीरता के भाव भरे थे। जब युआन वंश के विरुद्ध उसके मठ के समीपवर्ती प्रान्त ने युद्ध का बीड़ा उठाया तो चू ने सहर्ष उनका नेतृत्व स्वीकार किया। उसे सफलता मिली। नानकिंग उसके हाथ लगा। वहाँ उसने अपनी राजधानी स्थापित की। पेकिंग भी उनके हाथ लगा। चू चीन की गद्दी पर बैठा। हुंगवू की उपाधि उसने धारण की। नानकिंग के स्थान से पेकिंग में अब उसकी सरकार आ गई। इस स्थान पर हैनलिन कालेज स्थापित हुआ। साम्राज्य के कानूनों को फिर से इकट्ठा किया गया। न्याय, शासन-प्रबंध को अधिक सुव्यवस्थित रूप दिया गया। अधिकांश मंगोल शासक केवल कर वसूल कर और शांति स्थापित कर ही संतुष्ट हो गए थे। उन्हें इन बातों की क्या चिंता थी?

हुंगवू की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र गद्दी पर बैठा। किन्तु उसके चाचाओं ने उसकी आधीनता स्वीकार न की। कई स्थानों पर विद्रोह हुए। इन विद्रोहों में इस शासक की (चीनवेन उसकी उपाधि थी) हार हुई। उसका चाचा इन विद्रोहों में विजयी हुआ। 'युंगलो' उपाधि धारण कर वह चीन का शासक हुआ। उसने योग्यता से शासन किया। देश में शांति स्थापित की। सीमान्त प्रान्तपर सौभाग्य से कोई आक्रमण न हुए, इसी कारण देश में शांति तथा वैभव का राज्य रहा।

युंगलो प्रसिद्ध सैनिक होने के साथ साथ साहित्य-प्रेमी भी था। केवल एक ही उदाहरण उसके नाम को चीनी इतिहास में अमर रखने के लिये पर्याप्त है। उसने चीनी भाषा में ज्ञानकोष तैयार कराये। २२,८७७ पुस्तकें ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर लिखी गईं। विषयों की सूची में ही ६० ग्रंथ लिखे गये थे। इससे पहिले सम्राट् हुंगवू ने एक और ज्ञानकोष तैयार कराया जिसमें ११००० पुस्तकें थीं। इनमें लगभग ३६ करोड़ ६० लाख शब्द

होंगे। इसके सम्मुख ब्रिटेन का ज्ञानकोष (Encyclopedia Britanica) भी फीका पड़ जाता है। ये ग्रन्थ हस्तलिखित थे। उन पुस्तकों की तीन प्रतिलिपियाँ तैयार की गई थीं। एक प्रतिलिपि तो मिंग वंश के अंत के साथ ही नष्ट हो गई। दूसरी चीन की सन् १९०७ ई० की क्रांति में। केवल एक ही बची है और उसी से उस समय के चीनवासियों के महान् कार्य का पता चलता है।

युंगलो के उत्तराधिकारी निर्बल थे। उनके समय तारतारों ने फिर चीन पर आक्रमण किये और उत्तरी प्रान्त पर अधिकार कर लिया। चेंगटंग के शासनकाल में "मिंग वंश के समय का चीनी भौगोलिक वृत्तान्त" लिखा गया। चेंगटंग के उत्तराधिकारी चेंघवा के समय पेकिंग से पीहो तक नहर निकाली गई। चेंगटी के समय चीन में योरप निवासियों का प्रवेश हुआ। पुर्तगालवासी सन् १५११ ई० में चीन के दक्षिणी किनारे पर पहुँचे। भारतवर्ष की तरह पुर्तगालवासियों ने चीन में भी अन्धाधुन्धी प्रारम्भ कर दी। चीनियों को बलपूर्वक ईसाई बनाना, उनके गाँवों में आग लगा देना, स्त्रियों पर बलात्कार—ये सब पुर्तगाली जीवन की दैनिक घटनाएँ हो गईं। कहना न होगा कि चीनियों ने इन सब बातों से तंग आकर सब विदेशियों का आगमन अपने देश में निषिद्ध कर दिया। किन्तु मेटोरिक्की नामक पादरी ने अपनी पवित्रता तथा सादगी से लोगों को इतना प्रभावित किया कि उसका पेकिंग में हार्दिक स्वागत हुआ। उसने चीन के तिथि-पत्र का सुधार किया। विज्ञान तथा भूगोल की शिक्षा दी तथा चीनी भाषा में योरप के ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसकी लेखन-कला से सम्राट् तथा चीन का विद्वद्वर्ग इतना प्रभावित हुआ कि वह आजन्म चीन में आदर तथा सम्मान के साथ रहा। सन् १६१० ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

सोलहवीं शताब्दि के अंतिम भाग में चीन को एक नई आपत्ति का सामना करना पड़ा। कोरिया जो अब तक चीन के आधीन था जापानी आक्रमण का शिकार बना। चीन तथा जापान में युद्ध चलते रहे। जापान का सम्राट् हिदेयोशी जिसकी उपाधि 'कोवाक' थी, चीन के विरुद्ध कई वर्षों तक युद्ध करता रहा। अंत में हिदेयोशी की मृत्यु होने से जापानी सेना स्वदेश लौट गई किन्तु उससे पहिले ही जापानी कोरिया से बहुतसा धन लूट ले गए थे। यह जापान का कोरिया के साथ पहिला परिचय था।

इस वंश का अंतिम शासक योग्य था किन्तु परिस्थितिवश उसे गद्दी से हटना पड़ा। अधिक करों के भार से जनता पिसी जाती थी—हिजड़ों का दरबार में बोलबाला था। देश में उपद्रव हुए और उपद्रवों का नेतृत्व किया एक योग्य सेनापति ने। राजधानी में खलबली मच गई। खजाना खाली था। सेना में भगदड़ मच गई। अंत में ६ अप्रैल सन् १६४४ ई० को पेकिंग ने विजेताओं के सामने घुटने टेक दिये। सम्राट् ने आत्महत्या कर ली। मिंग वंश का अंत हुआ और चिंग वंश की स्थापना।

मध्यकालीन चीन की सभ्यता तथा संस्कृति

राजनीतिक इतिहास जान लेने के पश्चात् चीन की सभ्यता और संस्कृति का अध्यन आवश्यक है। पहिले तंग वंश के शासनकाल की उन्नति का वर्णन हो चुका है तंग वंश के राजा मिंग हांग ने प्रत्येक गाँव में एक एक पाठशाला खुलवाई। विद्वानों का आदर कर साहित्य की उन्नति में सहयोग दिया। उसके संगीत-प्रेम का वर्णन पहिले ही हो चुका है। तंग वंश के पश्चात् सुंग वंश के राजाओं ने चीन में वैभव तथा शांति का युग स्थापित किया जिसकी तुलना चीन के इतिहास के किसी भी युग से सफलता पूर्वक की जा सकती है। इस वंश में अनेक विद्वान, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक तथा कवि हुए। कनफ्यूशस के सिद्धान्तों की व्याख्या इसी युग में की गई जिसे चीनवासी आज भी प्रमाणित मानते हैं। पहिले हम आन शीह नामक सुधारक का वर्णन कर चुके हैं। वह इतना विद्वान समझा जाता था कि उसकी लेखनी कागज के ऊपर उड़ती हुई ज्ञात होती थी। उसने भूमि की नाप फिर से कराई और करों की व्यवस्था भी ठीक की। उसका विचार भूमि को पैदावार के अनुसार बाँटने का था जिससे प्रत्येक प्रकार की भूमि पर अलग अलग कर लगाया जा सके। इस सुधार में उसे सफलता न मिल सकी। सैनिक संगठन ठीक करने के विचार से उसने प्रत्येक घर से एक आदमी का फौज में भर्ती होना अनिवार्य कर दिया। फौज के लिये अच्छे घोड़े प्राप्त करने के विचार से नागरिकों को बाध्य किया कि अपने यहाँ घोड़े रखें। उनका व्यय सरकार से मिलता था।

सुंग वंश के पहिले दो शासकों के शासनकाल में छापे की कला में सुधार हुए। पुस्तकों की भी भरमार होने लगी। चीन के क्रमबद्ध इतिहास का लिखना भी इस समय से प्रारम्भ हुआ। तीसरे सम्राट् के शासनकाल में चीनी के

बर्तनों के कारखाने किंग-टी-चीन नामक स्थान पर स्थापित हुए। चीनी बर्तनों का यह सबसे प्रसिद्ध कारखाना आधुनिक समय में भी माना जाता है। चीनी के बर्तन, रेशम तथा मसाले बाहर भेजे जाते थे। मसाले इस देश में पैदा न होते थे किन्तु मलक्का द्वीप मसालों के लिये उस समय प्रसिद्ध था और वहाँ से ये मसाले चीन के बाहर भेजे जाते थे। चाय का प्रचार इस देश में था यद्यपि इसे बाहर नहीं भेजा जाता था।

मंगोलों के शासनकाल में चीन की उन्नति होती रही। कुबलाई खाँ ने विदेशी होते हुए भी चीन की संस्कृति की रक्षा की। जनता के साथ सभ्यता पूर्ण व्यावहार किया गया। न्याय सम्पादन की सुन्दर व्यवस्था की गई। कुबलाई ने चीन के राष्ट्रीय सहित्य को प्रोत्साहन दिया। उसके समय में योरप निवासी महान् यात्री मार्को पोलो चीन आया था। उसकी यात्राओं का वर्णन सजीव भाषा में प्रकाशित हुआ और उससे योरपवासियों की आँखें खुल गईं।

कुबलाई खाँ चीन का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ मंगोल शासक था। किसी भी विदेशी का चीन में इतना सम्मान नहीं हुआ जितना कुबलाई खाँ का। जनता उसे अपना पिता समझती थी। चीन की राजनीतिक संस्थाओं में उसने कोई परिवर्त्तन नहीं किया—उनके धार्मिक रीति-रिवाज भी ज्यों के त्यों रहे। राज्यपदों पर नियुक्त करने में पक्षपात नहीं दिखाया गया। देशवासियों से उपज का दसवाँ भाग कर स्वरूप लिया जाता था। यंत्रों के बनाने वालों को कोई कर न देना पड़ता था। नवें दिन राजकीय कारखानों तथा भवनों की मरम्मत करना ही उनका कर्त्तव्य था। पेकिंग उसकी राजधानी थी। यह उस समय का धनाढ्य तथा सम्पन्न नगर था। नगर में बहुत सी दूकानें थी जिनमें ईरान तथा अरब से लाया हुआ सामान भरा रहता था। आवागमन के साधन सुगम थे। मंगोलों का समस्त मध्य एशिया तथा ईरान इराक़ पर इतना रोब था कि काफ़िलों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में कोई कष्ट न होता था। साम्राज्य के अंतर्गत व्यापार की इतनी उन्नति हुई कि कुबलाई को बैंक नोट जारी करने पड़े। नोटों पर कुबलाई स्वयं अपने हस्ताक्षर करता था और जाली नोट बनाने वाले को मृत्यु-दंड दिया जाता था। नोट शहतूत की छाल के अंदर के छिलके के बने होते थे। इससे पहिले किसी भी चीनी सम्राट् ने व्यापार में इतनी रुचि न दिखलाई थी। कैन्टन से पेकिंग को मिलाते हुए एक नहर निकलवाई गई। चीन के व्यापार में एक भारी असुविधा थी। आवागमन के

लिये अच्छी सड़कों का एकदम अभाव था। कुबलाई ने एक लाख सत्तर हज़ार मज़दूर लगा कर चीनों की नदियों को नहरों द्वारा मिला दिया। एक दूसरा लाभ इन नहरों से यह भी हुआ कि बहुत सी जगह जो पानी भरे रहने के कारण बेकार बन गई थी अब उसका पानी इस नहर में निकाल दिया गया जिससे वह भूमि कृषि योग्य बन गई। कुबलाई ने इस प्रकार चीन की भारी सेवाएँ कीं और उसका स्थान चीन के इतिहास में काफ़ी ऊँचा है।

मार्कोपोलो की यात्रा

कुबलाई खाँ के राज्य-शासन के वृत्तान्त को समाप्त करने से पूर्व मार्को पोलो के ग्रन्थ से तत्कालीन चीन की स्थिति की दशा को यहाँ उद्‌धृत करना असंगत न होगा। पोलो लिखता है "दक्षिणी चीन की राजधानी किनसाई नगर बहुत विशाल तथा शानदार है। इस नगर में भिन्न भिन्न प्रकार के कुल मिलाकर १२००० पुल हैं। इन पुलों में से अधिकांश इतने ऊँचे हैं कि उनके बीच से होकर बड़े बड़े जहाज निकल सकते हैं। यदि ये बड़े बड़े पुल न होते तो आवागमन में इतनी सुविधा न होती।" नगर निवासियों का वर्णन करता हुआ वह लिखता है "यहाँ के निवासी शांतिप्रिय तथा आज्ञा-पालक हैं। पुलिस शांति स्थापित रखने में बड़ी कठोर है। यहाँ के शहरों में परिश्रमी कारीगर रहते हैं जो अपने अपने पेशों में पूर्णतया दक्ष हैं।"

मंगोल साम्राज्य चीन सागर से लगाकर साइबेरिया तक फैला हुआ था तथा एशिया के पूर्वी किनारे से लगाकर पश्चिम में पोलैण्ड तक फैला था। इस विस्तृत साम्राज्य पर चंगेज़ के वंशज राज्य करते थे और वे सभी कुबलाई के आधीन थे।

मिंग वंश के समय की सभ्यता

मध्यकालीन चीन का अंतिम वंश मिंग था। इसका अन्त सन् १६४४ ई० में हुआ। इस वंश के संस्थापक हुंगवू ने नानकिंग को अपनी राजधानी बनाया। साहित्य तथा कला की उन्नति की। विद्या का प्रचार किया। फौजदारी कानून की कठोरता को कम किया। देश की आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थिति का निरीक्षण किया और नये आधार पर कर लगाये गये। मुद्रा की दर नियत की। नोटों तथा सिक्कों को समान समझा गया। हिजड़ों को ऊँचे पदों पर नियुक्त होने से रोक दिया गया। बौद्ध धर्म तथा लाओ त्ज़े का धर्म दोनों राज्य

धर्म स्वीकार किये गए। हैनलिन कालेज की स्थापना भी इसी समय हुई जिसने उच्च शिक्षा के प्रचार में इतना सराहनीय कार्य किया। एक और सुधार उल्लेखनीय है। बौद्ध मठों के व्यभिचार को रोकने के लिये उसने यह आज्ञा निकाली कि कोई स्त्री भिक्षुणी नहीं बन सकती और न कोई पुरुष ४० वर्ष की आयु से पहिले भिक्षु बन सकता था।

इसी वंश के शासनकाल में तैमूरलेन ने चीन-विजय करने के विचार से इस देश की ओर प्रस्थान किया किन्तु सन् १४०५ ई० में मृत्यु हो जाने के कारण वह अपनी अभिलाषा पूर्ण न कर सका। तथापि तारतारी यथासमय चीन के आक्रमणों के मंसूबे करते रहे। शक्तिशाली शासकों के सामने तो उनकी चल नहीं पाती थी किन्तु निर्बल शासकों के सामने वे अवश्य चीन पर छापे मारते थे। इस प्रकार अपने शासनकाल के ३०० वर्षों में चीन को इस आपत्ति से छुटकारा न मिल सका।

पंद्रहवीं शताब्दि ईसवी में योरप में सामुद्रिक मार्ग ज्ञात करने तथा अपरिचित देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रतियोगिता आरम्भ हुई। चीन भी इस प्रभाव से अछूता न रह सका। पुर्तगालवासी सबसे पहिले इस देश में पहुँचे। सोलहवीं शताब्दि के मध्य में वे मकाओ स्थान पर अपनी व्यापारिक कोठी स्थापित करने में सफल हुए। पुर्तगाल के पश्चात् स्पेन ने अपने जहाज़ चीन में भेजे। उनका केन्द्र मनिल्ला था जो प्रशान्त महासागर में फिलिपाइन द्वीप में स्थित था। स्पेन के जेसूट पादरियों को चीन में चर्च स्थापित करने की आज्ञा मिल गई। तत्पश्चात् हालैण्डवासी भी चीन पहुँचे। इन तीनों योरपीय जातियों में व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण चीन में संघर्ष हुआ। चीन के शासकों की इन्होंने बिल्कुल पर्वाह न की। नगरों तथा देश के शासन-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। चीन की आंतरिक शांति विक्षुब्ध हो गई और उसने इन विदेशियों के साथ कठोर बर्ताव आरम्भ कर दिया।

चीन की सभ्यता की विश्व के लिये देन

अपने इस एक हज़ार वर्ष के जीवन में चीन ने क्या किया? विश्व इतिहास के लिये उसका क्या महत्व है? ऊपर के पृष्ठों को देखने से ज्ञात होगा कि यद्यपि चीन को विदेशियों के आक्रमण का सामना करना पड़ा तथापि इस

युगमें व्यापारिक, कला-कौशल, उद्योग-धन्धों तथा साहित्य की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। पहिले दो सुधारकों का वर्णन हो चुका है। एक सुधारक वांग-एन-शीह का उल्लेख यहाँ करना अनावश्यक न होगा क्योंकि उसके सुधार आधुनिक युग के राजनीतिक सुधारों से मिलते जुलते हैं। उसने आँकड़ों को एकत्रित करने के लिये एक कमेटी बनाई, व्यापार को राष्ट्र के नियंत्रण में करने का प्रयत्न किया, कृषकों को तकावी दी, बलपूर्वक सैनिक भर्ती की प्रथा जारी की, आय कर जारी किया। सुंग वंश की सांस्कृतिक देन का उल्लेख करते हुए इतिहासकार सूदहिल के ये शब्द उल्लेखनीय हैं "उनकी देन अमर साहित्यिक ग्रन्थ हैं जो सभ्य संसार की अमर निधि हैं। अनेक इतिहासकारों, दार्शनिकों तथा कवियों की कृतियाँ इस देश के इतिहास में अमर रहेंगी। शिक्षा का प्रचार हुआ तथा कारीगरों ने स्वर्ण, रजत तथा अन्य धातुओं की सुन्दर वस्तुएँ तैयार कीं। चीनी की बनी वस्तुएँ बड़ी सुन्दर होती थीं। लेखनकला तथा चित्रकला की अपूर्व उन्नति हुई। नये प्रकार के हथियार बने, जहाज़ बनाने की कला में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। "सुधारों तथा उन्नति का यह तांता मिंग वंश के समय में भी बना रहा। इतिहासकार वेल्स का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि मध्ययुग में जब कि योरप में अराजकता तथा अज्ञान का बोलबाला था, भारत तथा चीन में अपेक्षाकृत शांति थी। विशेषतया चीन अपनी उन्नति में आश्चर्यजनक रूप से आगे बढ़ा रहा था। उसके कुतुबनुमा का आविष्कार योरपीय मल्लाहों का पथ-प्रदर्शक बना। शांतिप्रिय चीनियों के बारूद के आविष्कार ने मध्यकालीन योरप को एक अमोघ अस्त्र दिया जिससे मध्यकालीन संस्था सामन्त प्रथा का अंत होकर आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। यही चीन की विश्व सभ्यता के लिये सबसे बड़ी देन है।

सत्रहवाँ अध्याय

मध्यकालीन योरप

प्राक्कथन

ईस्वी वर्ष की पाँचवीं शताब्दि में पश्चिमी रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। सन् ५०० ई० से लेकर लगभग सन् १५०० ई० तक का युग योरप के इतिहास में मध्य युग कहलाता है। एक हजार वर्ष का यह समय भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहिले पाँच सौ वर्षों में आक्रमणकारियों ने पूर्वी तथा मध्य योरप के देशों में अपना आतंक जमाया। इस समय की दुर्व्यवस्था को रोकने का साधन पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना थी। किन्तु फिर भी अराजकता का बोलबाला समस्त योरप में रहा। पिछले पाँच सौ वर्षों में यद्यपि आक्रमणकारियों का भय योरप को न रहा, तथापि शासन-सूत्र को सुव्यवस्थित होने में काफी समय लगा। इन पिछले पाँच सौ वर्षों में सामन्त प्रथा ने योरप को जकड़ लिया। अराजकता के उस युग में तथा राजनीतिक सत्ता के छिन्न भिन्न होने की दशा में देश में शान्ति स्थापित रखने का केवल यही एक साधन था। इन्हीं वर्षों में पश्चिमी ईसाई प्रदेशों को एक नई शक्ति का सामना करना पड़ा। वह शक्ति इस्लाम की थी। इस्लाम ने स्पेन तक अपना अधिकार कर लिया। कालान्तर में ईसाईयों तथा मुसलमानों में यरुशलम के अधिकार के लिये युद्ध हुए जिन्हें इतिहास में 'धर्मयुद्ध' कहा जाता है। सामन्त प्रथा ग्यारहवीं, बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में अपनी उन्नति की चरमावस्था पर रही किन्तु फिर पोप के शक्तिशाली होने से, नगरों में धनाढ्य तथा व्यापार-कुशल मध्यम वर्ग के अधिकारारूढ़ होने से धर्म-युद्धों के कारण तथा नये आविष्कारों से सामन्तशाही युग का अन्त हुआ। इन सब परिवर्तनों से मध्ययुग का योरप में ठहरना असम्भव हो गया। सन् १४५३ ई० में तुर्कों के कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने से मध्ययुगकालीन सभ्यता का अंत हुआ। विद्या का पुनरुद्धार हुआ और वर्तमान योरोपीय इतिहास का श्रीगणेश। फिर भी सामन्तशाही संस्थाएँ सामाजिक, राजनितिक तथा आर्थिक जीवन में ज्यों की त्यों योरप के कई देशों (जैसे फ्रांस) में रहती आईं। उनके समाप्त होने के लिये दूसरे विस्फोट की आवश्यकता थी और वह

विस्फोट था फ्रांस की राज्य-क्रांति। इन सब घटनाओं का वर्णन यथास्थान किया जायगा। इस अध्याय में केवल मध्यकालीन योरप की सभ्यता का वर्णन किया जायगा।

ईसाई धर्म के दो सम्प्रदाय तथा मठों का प्रभुत्व

रोमन साम्राज्य का इतिहास बताते समय यह वर्णन किया गया था कि रोमन सम्राट् कान्स्टैन्टाइन ने ईसाई धर्म को राज्य धर्म बना लिया था। इसके बाद सम्राटों तथा धर्माधिकारियों के प्रयत्न से योरप के मुख्य मुख्य देशों में ईसाई धर्म का प्रचार हो गया किन्तु ईसाई धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में ही यूनानी तथा लैटिन नाम के दो सम्प्रदाय बन गये थे। इन दोनों में पारस्परिक वैमनस्य बना रहता था। किन्तु फिर भी दोनों सम्प्रदायों में एक ऐसा वर्ग पैदा हो रहा था जो सांसारिक झमेलों से विरक्त रह अपनी मुक्ति का मार्ग अपने आप निकालने के प्रयत्न में लगा रहता था। इस वर्ग के मानने वालों ने अपने अलग मठ बनाये जिनमें भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ दोनों रहते थे। इनके अपने अलग संघ होते थे। कालान्तर में यह आंदोलन इतना प्रबल हो गया कि उसका प्रभाव योरप के समस्त देशों में हो गया। अंधकार के उस युग में भिक्षु ही लोग पढ़ लिख सकते थे। उनके आस-पास ऐसे लोग एकत्रित होने लगे जो भिक्षु न हो कर सांसारिक जीवन में बँधे रहते थे। आस-पास के छोटे छोटे बच्चे भी इन स्थानों पर एकत्रित होने लगे। शिक्षा का प्रचार हुआ और इन स्थानों से सभ्यता तथा संस्कृति की लहर आस-पास के देशों में फैलने लगी। इन संतों में त्याग तथा निष्काम सेवा की लगन रहती थी। इन संघों का नियमानुसार संगठन करना संत बेनिडिक्ट का काम था। सांसारिक सुखों को लात मार वह तपस्वी मानव जाति की सेवा के लिये निकल पड़ा और कैसिनो पर्वत पर आकर उसने अपना मठ स्थापित किया। घोर तपस्या का वह विरोधी था किन्तु शारीरिक परिश्रम का वह पक्षपाती था। भोगविलास तथा आलस्य का वह कट्टर शत्रु था। धर्म-प्रचार के साथ साथ उसने बर्बर शासकों पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डाल उनमें दया तथा प्रेम के भाव उत्पन्न किये। यह संघ पश्चिमी संघ के नाम से विख्यात है। इस संघ ने भविष्य में ईसाई धर्म के प्रचार में प्रशंसनीय कार्य किया। पोप ग्रीगोरी महान् पोप होने से पहिले इस संघ का भिक्षु रह चुका था। उसने इंगलैण्ड तथा अन्य पाश्चात्य योरपीय प्रदेशों में ईसाई धर्म का प्रचार किया। ग्रीगरी से पहिले

बेनिडिक्ट के समान एक और भिक्षु अपनी साधुता तथा विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध हो चुका था। वह था केसीडोरस। उसका संघ बेनिडिक्ट के संघ से भिन्न था किन्तु उसने शिक्षा-प्रचार तथा पुस्तक-लेखन में आश्चर्यजनक कार्य किया। पुराने ग्रन्थों का सम्पादन तथा अनुवाद कराया गया। सूर्य-घड़ी तथा जल-घड़ी बना कर उसने अंधकार के उस युग में विज्ञान का प्रचार किया। व्याकरण तथा अन्य विषयों पर बालोपयोगी पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार बेनि-डिक्ट से अधिक उसने सामाजिक जीवन के पुनर्संगठन तथा पुनर्निमाण का कार्य किया। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में योरप के सभी देशों में संघों की स्थापना हुई। विद्या तथा ज्ञान का प्रचार हुआ। पुस्तकों का सम्पादन तथा लेखन हुआ। सामाजिक जीवन में अधिक दया तथा उदारता लाने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार ये मठ तथा संघ मध्य काल में सभ्यता-प्रचार के मुख्य केन्द्र हो गए। इन मध्यकालीन पाठशालाओं से भविष्य में योरप के मुख्य मुख्य विश्वविद्यालयों का सूत्रपात हुआ। आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज तथा पेरिस विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ था। इससे रोमनों के स्थापित किये हुए विद्यालय नष्ट हो चुके थे।

जिस प्रकार पश्चिम में ईसाई धर्म के संघों ने सभ्यता-प्रचार में सहयोग दिया उसी प्रकार पूर्वी प्रदेश (वह प्रदेश जहाँ यूनानी चर्च का बोलबाला था तथा जहाँ यूनानी भाषा ही चर्च की भाषा थी) में संघों द्वारा सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार हुआ। सम्राट् जस्टीनियन ने कुस्तुन्तुनिया में एक विश्वविद्यालय खुलवाया था यद्यपि उसने प्राचीन यूनान के एक विद्यालय को जो एथेन्स में कई शताब्दियों से कार्य कर रहा था, नष्ट करा दिया था। दूसरा मुख्य भेद जो इन दोनों के धार्मिक संगठन में था वह यह था कि पश्चिम में पोप तथा सम्राट् के झगड़ों से पश्चिमी संसार तंग था जब कि पूर्वी साम्राज्य में सम्राट् सर्वशक्तिमान तथा स्वेच्छाचारी था।

पश्चिमी चर्च का संगठन तथा सम्राटों और पोपों के झगड़े

पश्चिमी चर्च का नेता रोम का पोप था। रोम का पोप संत पीटर का उत्तराधिकारी होने के कारण ईसाई जगत में सबसे अधिक सम्मान का अधिकारी हो गया। ग्रीगोरी के समय से पोप के पद का गौरव तथा सम्मान बहुत बढ़ गया। पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना

के पश्चात् दोनों में (सम्राट् तथा पोप में) संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। पहिले इन झगड़ों के कारणों को बताया जा चुका है। फिर भी इस झगड़े को समझने के लिये झगड़े के कारणों का समझना आवश्यक है। पहिला कारण था पोप के अधीनस्थ कार्डिनल बिशप तथा अन्य चर्च के पदाधिकारियों की नियुक्ति। सम्राट् का विचार था कि इनकी नियुक्ति सम्राट् की उपस्थिति में हो किन्तु पोप अपने अधिकारों को किसी दूसरी सत्ता को सौंपने के लिये प्रस्तुत न था। पोप के आधीन इटली प्रदेश का कुछ भाग था। सम्राट् के विचार से पोप का स्थान एक सामन्त जैसा था और उसे सम्राट् के बन्धन में रहना चाहिये था किन्तु पोप भला इस बन्धन को कैसे सहन कर सकता था? दोनों में संघर्ष उपस्थित हुआ। पोप के पास दो अमोघ अस्त्र थे। इनके प्रयोग से बड़े से बड़े सत्ताधारी को परास्त कर सकता था। एक था सम्राट् को ईसाई धर्म से बहिष्कृत करना और दूसरा था ईसाई देशों में धार्मिक कृत्यों तथा संस्कारों को रोक देने की आज्ञा जारी करना। इधर सम्राटों के पास भी कई साधन पोपों के विशेषाधिकारों में हस्तक्षेप करने के मौजूद थे। पहिले तो पोपों के चुनाव की कोई ठीक व्यवस्था न थी। चुनाव प्रणाली के नियमों की ठीक व्याख्या न होने से कई पदाधिकारियों में झगड़ा चलता था। सभी विधिवत् पोप चुने जाने का दावा करते थे। इसका निर्णय कराने के लिये सभी पदाधिकारी सम्राट् के पास पहुँचते थे और वे बंदर का सा न्याय करने में न हिचकते थे। दूसरा साधन यह था कि प्रत्येक पोप की मृत्यु के पश्चात् प्रश्न उठता था कि कौन पोप बने? इन झगड़ों से सम्राट् लाभ उठाने में संकोच क्यों करते? यह सब होते हुए भी कई पोप इतने योग्य निकले कि उन्होंने सम्राटों को नाकों चने बिनवा दिये। पहिले पोप ग्रीगोरी के हेनरी चतुर्थ से हुए झगड़ों का वर्णन हो चुका है। कहना न होगा कि पोपों ने 'बहिष्कार' तथा 'संस्कार-निषेध' (Excommunication and Interdiction) के अस्त्रों का प्रयोग कर जनता की धार्मिक भावना से पूरा पूरा लाभ उठाया और अपना उल्लू सीधा किया। किन्तु बार बार प्रयोग होने से ये अस्त्र भी भोथरे पड़ गए और पोपों को ज्ञात हुआ कि यह अस्त्र बिल्कुल बेकार बन गए हैं।

ग्रीगोरी महान् के अतिरिक्त एक और बड़ा पोप ईसाई जगत् का नेता बना। यह पोप था इनोसैन्ट तृतीय। उसका झगड़ा सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय से हुआ। सिंहासनारूढ़ होने के समय फ्रेडरिक अल्पवयस्क था। इनोसैन्ट उसका अभिभावक था। वयस्क होने पर इनोसैन्ट ने कई शर्तें फ्रेडरिक के

सामने रक्खीं किन्तु उसने एक भी स्वीकार न की । इस समय पोप की मृत्यु हो गई । पोप के उत्तराधिकारी ग्रेगोरी नवम् ने सम्राट् को बहिष्कृत कर दिया । पोप की इस धमकी का उत्तर उसने सिसली जाकर दिया । सम्राट् ने योरप के समस्त राजाओं को सम्बोधित करते हुए एक पत्र लिखा जिसमें उनसे पोप के विरुद्ध एकत्रित होने की प्रार्थना की । चर्च के बढ़े हुए धन का भी उल्लेख किया गया । इसके पश्चात् सम्राट् फ्रेडरिक 'धर्मयुद्ध' के लिये रवाना हुआ । मिस्र पहुँच कर सुल्तान से उसने संधि की और यरुशलम का राज्य अपने आधीन किया । वह इटली लौटा । पोप की सेनाओं को देश से बाहर खदेड़ दिया और स्वयं पोप को विवश किया कि वह बहिष्कार-आज्ञा को वापस ले । बहिष्कार तथा संस्कार-निषेध बेकार साबित हुए । इस प्रकार सम्राट् तथा पोपों के आपसी संघर्षों से पोपों की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा और उनकी शक्ति पतनोन्मुख होने लगी । फिर जब पोप ने सम्राट् को बहिष्कृत किया तो सम्राट् ने समस्त योरप के राजाओं को पत्र लिखा जिसमें उनकी विलासिता, स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता का वर्णन किया गया और उन्हें सुझाया गया कि जनता की भलाई के लिये चर्च की सम्पत्ति को हथिया लें । कहना न होगा कि योरप के शासकों ने इस नीति को थोड़े ही समय पश्चात् अपना लिया ।

फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् कुछ वर्षों के लिये पोपों को शांति मिली । किन्तु कुछ ही समय बाद उनका फ्रांस के शासकों से झगड़ा हो गया । फ्रेडरिक द्वितीय के समय जर्मनी की एकता छिन्न भिन्न हो गई और फ्रांस के राजा ने जर्मनी का पक्ष लेकर सम्राटों का विरोध किया । पोपों ने फ्रांस का समर्थन किया । सिसली तथा नेपिल्स आदि इटली के नगरों पर फ्रांस का अधिकार हो गया और फ्रांस का राजा चार्ल्स महान् की तरह पवित्र रोमन सम्राट् बनने के स्वप्न देखने लगा । किन्तु जब जर्मनी में हैप्सबर्ग वंश का राज्य स्थापित हो गया तो पोप की सहानुभूति भी फ्रांस की अपेक्षा उस देश की ओर झुकी । बानीफेस अष्टम् के पोप बनते ही फ्रांस तथा इटली में झगड़े आरम्भ हुए । पोप ने फ्रांस के राजा को बहिष्कृत करने की धमकी दी और पोप को फ्रांसीसी सेनापति ने अनाग्नी नामक स्थान पर कैद कर लिया । पोप को यद्यपि दो दिन के बाद छोड़ दिया गया किन्तु इस अपमान का उसे इतना दुःख पहुँचा कि वह थोड़े ही दिनों पीछे मर गया । इस घटना से एक बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है । पोपों के इस अपमान से जनता तनिक भी विक्षुब्ध न हुई थी । यहाँ तक कि फ्रांस के राजा ने तो अपनी प्रजा के परामर्श से पोप के विरुद्ध यह कदम उठाया था ।

महान विच्छेद

चौदहवीं शताब्दि में भी पोपों के नैतिक ह्रास का क्रम जारी रहा। पोप क्लीमेन्ट पञ्चम ने रोम के स्थान पर फ्रांस में एविगनन नामक स्थान को अपनी राजधानी बनाया। यह स्थान पोप को सौंप दिया गया था और यहाँ पर पोप सन् १३७७ ई० तक शासन करते रहे। सन् १३७७ ई० में पोप ग्रीगोरी ग्यारहवाँ फिर रोम आया किन्तु चर्च की एकता तो पहिले ही नष्ट हो चुकी थी। रोमन चर्च में महान् विच्छेद (Great Schism) हो चुका था। फ्रांस के शत्रु पोलैण्ड, इंगलैण्ड तथा उत्तरी योरप के देश रोम के पोप को स्वीकार करते थे। स्काटलैण्ड, स्पेन तथा पुर्तगाल फ्रांस के पोप को। दोनों पोप एक दूसरे को ईसाई धर्म का विरोधी और शत्रु समझते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी दशा में योरप के देश धार्मिक विचारों में अपने स्वतंत्र विचार रखने लगें और पोप तथा प्रजा के बीच की खाई दिन पर दिन चौड़ी होती जाये। सोलहवीं शताब्दि में जब मार्टिन लूथर ने पोप के विरुद्ध आवाज़ उठाई तो यह शताब्दियों से छुपी हुई पोपों की विलासिता तथा स्वेच्छाचारिता के असली स्वरूप का केवल भण्डाफोड़ ही था। उसका नैतिक पतन तो बहुत पहिले हो गया था।

इस अध्याय को प्रारम्भ करते समय यह बताया गया था कि मध्यकालीन अराजकता को नष्ट करने के लिये योरप में दो संस्थाओं का उदय हुआ। एक थी सामन्त प्रथा तथा दूसरी चर्च की सत्ता। यहाँ हम सामन्त प्रथा का वर्णन करेंगे।

योरप में सामन्त प्रथा

इस प्रथा के अनुसार राजा समस्त भूमि का मालिक होता था। वह अपनी भूमि को सैनिक तथा अन्य सेवाओं के बदले में बड़े बड़े सरदारों में बाँट देता था। प्रत्येक सरदार अथवा भूमिपति अपनी भूमि को इसी प्रकार अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में बाँट देता था। इस प्रकार इस सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन में सबसे उच्च स्थान राजा का और सबसे नीचा स्थान दासों का था। राजा को अपनी शक्ति तथा सहायता के लिये भूमिपतियों पर आश्रित रहना पड़ता था, भूमिपतियों को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर, इसी प्रकार इस पारस्परिक अधीनता का क्रम समाज में जारी

था। प्रत्येक भूमिपति के अपने किले होते थे। अपनी अलग सेनाएँ होती थीं। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों तथा सेवकों के जान-माल की रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। इस प्रकार अराजकता के उस युग में जहाँ केन्द्रीय शक्ति बिल्कुल नहीं के बराबर थी, स्थानीय कर्मचारियों तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने प्रदेश में शांति स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया था और क्योंकि शासन-प्रबन्ध के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये अधिकारों का होना आवश्यक है इसीलिये इन भूमिपतियों को ये अधिकार भी मिले थे। अतएव उस समय के लिये यह प्रथा उपयुक्त थी। इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। किसी एक राजा अथवा शासक ने एक स्थान पर बैठ कर ऐसे नियम नहीं बनाये थे। आवश्यकतानुसार आप ही आप समाज में यह प्रथा उत्पन्न हो गई थी और इसने तत्कालीन परिस्थिति में लाभदायक कार्य किया। उस समय प्रत्येक देश में संगठित शक्ति का अभाव था। एक कानून का भी अभाव था। केवल बाइबिल के कानून जरूर थे जो सभी ईसाइयों को एकता के सूत्र में ग्रथित किये हुए थे अन्यथा एक ही देश में भी कई कानून थे। धार्मिक मामलों का निर्णय चर्च में होता था। सामाजिक मामलों में रूढ़ियों के अनुसार निर्णय दिया जाता था। अपराधियों को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये अग्नि तथा उबलते जल को हाथ पर रखना पड़ता था। कोई घाव न होने पर अथवा निश्चित समय में घाव ठीक हो जाने पर अपराधी को निरपराधी समझा जाता था अन्यथा अपराधी समझ कर सजा मिलती थी। जब दो अपराधियों में यह निर्णय नहीं हो पाता था कि किसने अपराध किया है तो दोनों को द्वन्द्व-युद्ध के लिये प्रेरित किया जाता था और हारने वाले को अपराधी तथा विजेता को निर्दोष समझा जाता था।

राजपूत कालीन भारतवर्ष की तरह योरप में बहुत से शूरवीर असहायों की सहायता, स्त्रियों की रक्षा को अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। बाहरी शत्रुओं से रक्षा करने वालों तथा आंतरिक व्यवस्था कायम रखने वाले इन सैनिकों का दल मध्य युग की एक बड़ी कमी को पूरा कर रहा था। इनके अपने निजी नियम होते थे जिनका पालन वे बड़ी तत्परता तथा ईमानदारी से करते थे।

सामन्त प्रथा के दोष

किन्तु सामन्त प्रथा में बहुत से दोष भी थे। संगठित तथा एकत्रित शक्ति के स्थान पर अराजकता का बोलबाला था! प्रत्येक सामन्त विवादग्रस्त प्रश्न

का निर्णय कानून की अपेक्षा तलवार की सहायता से करता था। सामन्त प्रथा ने स्थानीय भूमिपतियों को राजनीतिक तथा न्याय सम्बन्धी अधिकार देकर सामाजिक उच्छृंखलता को कानूनी रूप दे दिया था। प्रत्येक देश में एक राजा के स्थान पर अनेक छोटे छोटे राजाओं का राज्य था। राजा को आपत्ति पड़ने पर अपने भूमिपतियों के ऊपर सैनिक सहायता के लिये आश्रित रहना पड़ता था। ये भूमिपति कभी कभी शक्तिहीन राजा के विरुद्ध एकत्रित हो विद्रोह कर दिया करते थे और उसे इच्छानुसार शर्तें मानने के लिये विवश करते थे। ऐसी परिस्थिति में शक्तिशाली राज्यों का उत्थान तथा उन्नति असम्भव थी। केवल इंगलैण्ड ही इस नियम का अपवाद था। वहाँ के राजाओं ने भूमिपतियों की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को कुचल दिया और देश को एकत्रित कर एक शासन तथा एक नियम की सृष्टि की। किन्तु वहाँ भी भूमिपतियों ने शक्तिहीन शासकों को कम परेशान न किया था। सौभाग्य से वहाँ शक्तिहीन शासकों के होते हुए भी भूमिपतियों की स्वच्छन्द शक्ति तथा सत्ता का विकास हुआ किन्तु सामूहिक रूप से प्रतिनिधि-सत्तात्मक-प्रणाली (Representative Government) का सूत्रपात हुआ।

सामन्त प्रथा से लाभ

इन दोषों के होते हुए भी सामन्त प्रथा राजनीतिक दृष्टि से स्थानीय प्रदेश में न्याय-सम्पादन कार्य में सहायक हुई; सैनिक दृष्टि से देश की रक्षा का प्रश्न सुगम बन गया; आर्थिक दृष्टि से कृषि कार्य सुलभ बन गया। साथ ही जनता में यथास्थान लोकमत के विचारों का भी उदय हुआ। शूरवीरता की भावना उत्पन्न हुई और उनके चरित्र का विकास हुआ। नैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से इसका प्रभाव कुछ कम न था। भूमिपतियों ने एकत्रित होकर सन् १२१५ ई० में राजा जोन की स्वेच्छाचारिता को कम किया। महास्वतंत्रता पत्र इस संगठन का परिणाम था जिसके आधार पर इंगलैण्ड में लोकमत प्रवृत्तियों का विकास अधिक स्वच्छन्दता पूर्वक हो सका।

सामन्त प्रथा का नाश

सामन्त प्रथा का विनाश कैसे हुआ? पंद्रहवीं शताब्दि में बहुत से ऐसे कारण पैदा हो गए जिनमें इस अराजकता का अंत हो गया। सबसे पहिला कारण था बारूद का आविष्कार। बारूद के आगे मध्यकालीन वीरों की शूरवीरता हवा हो गई। किन्तु बारूद का रखना भूमिपतियों के बस की बात न थी। राजा लोग ही केवल बारूद के प्रयोग से लाभ उठा सकते थे। कहना

न होगा कि भूमिपतियों के हाथ से राजनीतिक सत्ता निकल कर राजाओं के हाथ में आ गई। रोमन कैथोलिक चर्च ने भी इस अराजकता को दूर करने का यत्न किया था। मठों में ज्ञान का प्रचार होता था और भूमिपतियों को नियम पालन का पाठ पढ़ाया जाता था। साथ ही चर्च के अधिकार के सामने सभी को सिर झुकाना पड़ता था। विद्या के पुनरुद्धार की लहर के सामने भूमिपतियों की स्वेच्छाचारिता तथा अराजकता नष्ट हो गई और उसका उदय जनमत पर आश्रित राष्ट्रीय सरकारों के रूप में हुआ। किन्तु सामन्त प्रथा को हटाने में सबसे अधिक स्तुत्य कार्य नगरों ने किया। नगरों में व्यापार तथा वाणिज्य की उन्नति होने से मध्यम वर्ग की शक्ति बढ़ी और उस वर्ग ने अपने लिये राजनीतिक तथा व्यापारिक अधिकार प्राप्त करने के लिये राजा को धन दिया। इस धन से राजा ने भूमिपतियों की सेनाओं के स्थान पर स्थायी सेनाएँ रक्खीं, उन्हें नये ढंग से शिक्षा दिलाई और बारूद के उपयोग से उन्होंने भूमिपतियों पर विजय प्राप्त की। किन्तु बहुत से देशों में संगठित मध्यम जाति का विकास न हुआ था। वहाँ सामन्त प्रथा अवश्य असमानता के आधार पर चलती रही किन्तु उसे भी फ्रांस की राज्यक्रांति के झोंके ने सन् १७८६ ई० में उड़ा दिया।

नगरों का विकास

नगरों का विकास योरप के इतिहास में मध्य युग में ही हुआ था। सबसे पहिले योरप की अधिकांश जनता देहातों में रहती थी। किन्तु जैसे जैसे असभ्य आक्रमणकर्त्ता योरप में बसते गए, नगरों का निर्माण होता गया। अराजकता का सामना करने के लिये छोटे छोटे कस्बे अपने अपने संघ बना लिया करते थे। बहुत से उद्योग-धंधों का भी विकास सभ्यता के इन केन्द्रों में होता था। धन के बल से उन्होंने राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त कर लिये और अपनी स्थानीय सेनाओं का भी संगठन किया। उनकी शक्ति बढ़ती गई। उनके निवासियों को मध्यम वर्ग का स्थान मिला और कालान्तर में यही मध्यम वर्ग निरंकुश शासकों के स्थान पर प्रजातंत्री शासन स्थापित करने में सहायक हुआ। कहना न होगा कि इस मध्यम वर्ग को शक्ति तथा अधिकार राजा से ही भूमिपतियों के विरुद्ध मिले थे। भूमिपतियों के नष्ट होने पर राजाओं ने इनसे टक्कर लेने का प्रयास किया किन्तु मुँह की खाई।

इन नगरों के संगठन के दो रूप थे—आंतरिक तथा बाह्य। आंतरिक रूप में नगरों ने अपने अपने पेशे के अलग अलग गुट बनाये थे; बाह्य रूप से

उनके संगठन का उद्देश्य व्यापार-वृद्धि तथा रक्षा थी। भिन्न भिन्न पेशों ने अपने अलग अलग गुट बनाये थे जिनकी सहायता से वे राजा से अपने पेशे के लिये विशेषाधिकार प्राप्त करते थे। अपने पेशे के हितों को सुरक्षित रखना भी इनका उद्देश्य था। इसकी व्यापारिक शाखाएँ योरप के भिन्न भिन्न नगरों में थीं। दक्षिणी योरप के लगभग सभी प्रसिद्ध नगर इटली में बसे हुए थे। वेनिस, जिनोवा, फ्लोरेन्स अपने व्यापार के कारण प्रसिद्ध थे। वेनिस भूमध्य सागर का प्रसिद्ध व्यापारिक स्थान उसी प्रकार हो गया जैसे रोमन साम्राज्य के समय में कार्थेज, एथेन्स तथा रोम रहे थे। इटली के प्रजातन्त्र नगरों में फ्लोरेन्स अपने व्यवसाय, कार्यकुशलता तथा योग्यता के कारण मध्य युग का सबसे प्रसिद्ध स्थान हो गया। दांते, पैट्रार्क आदि कवि भी यहीं पैदा हुए थे। ये नगर अपने वैभव, कला-कौशल तथा वाणिज्य के कारण इटली की सभ्यता और संस्कृति के प्रसिद्ध स्थान बन गए।

चर्च

इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने बताया था कि मध्यकालीन अराजकता को नष्ट करने में चर्च ने भारी काम किया था। चर्च का प्रभाव इस बात से ही जाना जा सकता है कि मध्यकालीन योरप के अधिकांश देशों के मंत्री चर्च के पादरी ही हुआ करते थे। टामस वूल्जे, बेकट आदि ऐसे ही पादरी राजनीतिज्ञ थे। कारण स्पष्ट है। विद्याध्ययन पहिले पुजारियों के ही हाथ में था। चर्च लोगों का पूजा के लिये एकत्रित होने का ही स्थान न था अपितु शिक्षा का भी केन्द्र था। इन चर्चों में धार्मिक शिक्षा लैटिन भाषा के माध्यम से दी जाती थी। चर्च ने सामन्त युग की अराजकता तथा निर्दयता को सफलतापूर्वक रोका। एक प्रथा जिसे 'दैविक क्षणिक संधि' कहा जाता था जारी की गई। इसके अनुसार सामन्तों तथा युद्ध करने वालों को ईश्वर के नाम पर आदेश दिया जाता था कि वे कुछ समय के लिये युद्ध बंद कर दें, मठों का विध्वंस न करें, कृषकों तथा युद्ध में भाग न लेने वालों को न सतायें। सामन्तों तथा योद्धाओं को कम से कम बाह्य रूप से [illegible] भोग करना पड़ता था और निर्दयतापूर्वक प्राप्त किया [illegible] लौटाना पड़ता था। चर्च ने ही असभ्य विजेताओं को ईसाई बना कर सभ्यता का पाठ पढ़ाया; चर्च के ही आश्रय में मध्यकालीन विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। चर्च में शिक्षित धार्मिक पुरुष ही न केवल योरोपीय देशों की बागडोर अपने हाथ में रखते थे अपितु ज्ञान तथा सत्य की

लोगों में भी अपना जीवन बिता देते थे। मध्यकालीन विचारधारा तथा संस्थाओं पर सतर्क दृष्टि रखना भी चर्च का ही काम था। चर्च ने इस प्रकार योरप को मध्य युग से निकाल वर्तमान युग की ओर ले जाने में सराहनीय कार्य किया। शताब्दियों के अज्ञानान्धकार के बीच चर्च अपनी विशाल सेना के सहयोग से ईसाई जगत् के हृदय पर राज्य स्थापित कर रहा था; सामन्त युग की रक्त-पिपासा तथा शत्रुता के भावों के स्थान पर चर्च लोगों में पवित्रता, सच्चरित्रता तथा भाईचारे के भाव उत्पन्न कर रहा था। यद्यपि चर्च के नेता—पोप योरप को आध्यात्मिक सूत्र में बाँधने में असफल रहे थे तथापि चर्च ने सामन्त युग के अंधकार तथा बर्बरता को दूर करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

किन्तु चर्च में कालान्तर में बहुत से दोष आ गए। पादरियों का जीवन विलासमय तथा आलस्यपूर्ण हो गया। वे स्वार्थी तथा लालची हो गए। विरोधियों को कुचलने में अनावश्यक कठोरता दिखलाई गई। जो धर्मयुद्ध मुसलमानों के विरुद्ध छेड़े गए थे उन्हें अब चर्च के विरोधियों के विरुद्ध छेड़ने की सलाह दी गई। संत फ्रांसिस के अनुयायियों को चर्च ने सताया था। इंगलैण्ड में विकलिफ ने बाइबिल का अनुवाद अंगरेजी में कर पोप का खण्डन किया। इस प्रकार रोमन कैथोलिक चर्च में विच्छेद होना अवश्यम्भावी ज्ञात होने लगा।

पिछले अध्यायों में हमने धर्मयुद्धों का वर्णन कर दिया है। यहाँ उनके कारणों तथा घटनाओं को दोहराना अनावश्यक है। केवल संक्षेप में ही उनका वर्णन पर्याप्त होगा। ये धर्मयुद्ध ईसाइयों द्वारा मुसलमानों से ईसाइयों के पवित्र धार्मिक स्थान यरुशलम को लेने के लिये मध्य युग में किये गये थे। इन युद्धों का नेतृत्व पवित्र रोमन सम्राटों ने पोपों के आशीर्वाद से ग्रहण किया था। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् की प्रार्थना पर ईसाई जगत ने एकत्रित हो अपने धर्म का झंडा यरुशलम पर फिर से फहराने के लिये यह आन्दोलन हुआ था। लगभग तीन शताब्दियों तक ये धर्मयुद्ध होते रहे। इन युद्धों में असंख्य निरपराध प्राणियों की जानें गईं तथा भयंकर रक्तपात हुआ। आखिर इन धर्मयुद्धों का परिणाम क्या हुआ?

ईसाई जगत में एक धार्मिक कारण को लेकर प्रजा का युद्ध के लिये तत्पर होना एक असाधारण घटना थी। यह योरप के इतिहास में सब से पहिला अवसर था। यह पहिला अवसर था जब सर्वसाधारण किसी अन्याय का

अतिकार करने के लिये एकत्रित हुए हों तथा जान की बाजी लगाने को तैयार हुए हों। किन्तु जनमत की इस पुकार का अंत बड़ी दयनीय परिस्थिति में हुआ। पहिले धर्मयुद्ध का संचालन जनता ने स्वयं किया। भीड़ के दो समूह रास्ता न जानने के कारण हंगरी पहुँचे। वहाँ के निवासियों को मुसलमान समझ वे उन पर टूट पड़े और अंत में वहाँ के निवासियों ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया। किन्तु एक समूह ने जिसका नेतृत्व स्वयं संत पीटर कर रहा था, यरुशलम पहुँच कर उस पर अपना अधिकार कर लिया। जनता का 'धर्म-युद्ध' इस प्रकार समाप्त हुआ। तदनन्तर कई और भी धर्मयुद्ध रहे किन्तु उन सब का परिणाम कुछ भी न निकला। यरुशलम पूर्ववत् मुसलमानों के हाथ में रह गया।

ईसाइयों की इस पराजय में भी हमें कुछ लाभदायक परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। इतिहासकार ट्रेवेलियन के शब्दों में "योरप के राष्ट्रों तथा जातियों ने पूर्व की ओर बढ़ने की उत्कट अभिलाषा इन धर्मयुद्धों के रूप में प्रकट की। इस युद्धों के परिणामस्वरूप योरप को न तो यरुशलम ही मिल सका और न ईसाइयों के दोनों सम्प्रदाय ही एकत्रित किये जा सके। इनके स्थान पर योरप-वासियों ने पूर्वी देशों से कला-कौशल, विज्ञान तथा ज्ञान की बहुत सी बातें सीखीं—वे वस्तुएँ सीखीं जिनसे संत पीटर को आंतरिक घृणा थी।" एक दूसरे इतिहासकार के शब्दों में "धार्मिक क्षेत्र में पोप का आधिपत्य कम हो गया; ईसाई धर्म में बहुत सी अन्य धर्मों की बातों का समावेश हो गया। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में विभिन्न वर्गों में अधिकाधिक समानता के भाव उदित होने लगे—किसानों के युग युग के बन्धन कट गए; श्रमिकों ने अपने स्वतंत्र संघ बनाये तथा व्यापार और वाणिज्य की उन्नति हुई। राजनीति के क्षेत्र में इन धर्मयुद्धों का प्रभाव यह हुआ कि समाज में तीन वर्ग (उच्च, मध्यम तथा निम्न) बन गए। अधिकांश भूमिपतियों के नष्ट होने से केन्द्रीय शासन का अधिकार बढ़ गया; लिखित कानूनों का श्रीगणेश हुआ तथा नियमानुसार न्याय सम्पादन होने लगा। संस्कृति के क्षेत्र में, दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विचारक धर्मयुद्धों के पश्चात् ही पैदा हुए। अरबों के सम्पर्क में आने से एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ; रहस्यवाद भी अधिक वैज्ञानिक रूप में हमारे सामने आया; प्राचीन भाषाओं का अध्ययन अधिक गहराई के साथ होने लगा; इतिहास-लेखन तथा भूगोल को भी एक नया प्रोत्साहन मिला; देशी

भाषाओं की कविता का श्रीगणेश हुआ; गोथ प्रस्तरकला की उन्नति हुई तथा चित्रकला में भी अधिक परिष्कृत रुचि उत्पन्न हुई।"[1]

मध्यकालीन योरपीय सभ्यता और उस पर पूर्व का प्रभाव

मध्यकालीन योरप की प्रमुख संस्थाओं का इतिहास जान लेने के पश्चात् वहाँ की सभ्यता का अवलोकन आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि मध्यकाल अशांति तथा अराजकता का युग था। किन्तु फिर भी इस काल में चर्च के अधिकारियों ने अपना सभ्यता-प्रचार का कार्य जारी रखा। इन विद्वानों ने यूनानी विद्वान अरस्तू के विचारों का लैटिन भाषा से देशी भाषाओं में अनुवाद किया। कहना न होगा कि अरस्तू के ग्रन्थों का विनाश ग्रीक भाषा में विदेशियों के आक्रमणों के परिणाम स्वरूप हो चुका था। किन्तु अरबों ने अपनी भाषा में उनका अनुवाद सुरक्षित रख छोड़ा था। अब स्पेनवासियों ने अरबी से उनका अनुवाद लैटिन भाषा में किया। अरब के विद्वान जो कारोडोवा तथा तोल्डो विश्वविद्यालयों में मौजूद थे, अब भी अरबी साहित्य में ग्रन्थ लिख रहे थे और ईसाइयों में ज्ञान का प्रचार कर रहे थे। पहिले शार्लमेन चार्ल्स महान् के विद्या-प्रेम तथा विद्या-प्रचार का वर्णन किया जा चुका है। विद्या-प्रचारक होने के नाते उसकी गणना विश्व के महान् उपकारकों में की जाती है। उसने स्थान स्थान पर विद्या-प्रचार के लिये विद्यालय खुलवाये। योरप के देशों में सुख तथा शांति स्थापित होने के पश्चात् चर्चों तथा मठों द्वारा संचालित शिक्षा अपर्याप्त सिद्ध हुई। व्यापारिक समुदाय ने धार्मिक शिक्षा को अपर्याप्त समझ अपने स्वतंत्र विद्यालय खोले। ये ही विद्यालय कालान्तर में विश्वविद्यालयों में परवर्तित हो गए। ऐसे विश्वविद्यालयों में से एक सेलर्नो का विश्वविद्यालय था जहाँ उच्च कोटि की वैद्यक की शिक्षा दी जाती थी। पेरिस का विश्वविद्यालय धर्मशास्त्र के लिये और बोलोना का विश्वविद्यालय कानून की शिक्षा के लिये प्रसिद्ध हो गए। ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय भी इसी समय स्थापित हुए। पीटर एबलार्ड, अलबर्टस मेगनस तथा रोजर बेकन उस समय के प्रसिद्ध विचारक थे। पीटर इतना लोकप्रिय अध्यापक था कि उसकी कक्षाओं में ५००० विद्यार्थी एकत्रित होते थे। अलबर्टस को उसकी विद्वत्ता के कारण 'दूसरा अरस्तू' कहा जाता था। रोजर बेकन अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध था। रसायनशास्त्र तथा गणितशास्त्र में उसकी असाधारण रुचि थी। संत आगस्टाइन

[1] देखिये—The Legacy of Islam, पृष्ठ ५१।

की पुस्तक परमात्मा का नगर (The City of God) मध्य युग में जनसाधारण का पथ-प्रदर्शन करती रही। उसने लिखा 'विश्व के महानतम नगर (रोम) नष्ट हो गया है किन्तु परमात्मा का नगर (स्वर्ग) अमर है।' उसका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रायश्चित्त' है जिसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में है। मध्य युग का सबसे प्रतिभाशाली कवि दांते था। उसका जन्म फ्लोरेन्स में सन् १२६५ ई० में हुआ था। उसका महाकाव्य सभ्य संसार के लिये अमर देन है। दांते के अतिरिक्त पैट्रार्क चौसर तथा मालोरी मध्य युग के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने मध्यकालीन योरप का चित्र बड़ी सजीव भाषा में खींचा है। विद्या की इस उन्नति की अपेक्षा अधिक महत्वशील वस्तु वैज्ञानिक भावना का उदय था। चर्च इस भावना का कट्टर शत्रु था। रूढ़िवाद के समर्थक पादरी भला कैसे इस ज्ञान तथा तर्क को सहन कर सकते थे ? किन्तु फिर भी यह भावना योरप में घर करती ही जा रही थी और इंगलैण्ड के रोजर बेकन ने वैज्ञानिक विचारधारा तथा भावना की नींव डाल दी था। कहना न होगा कि योरप में तर्क की यह भावना पूर्व के सम्पर्क से ही प्राप्त हुई थी। अरब-वासियों ने अपने प्रभाव से योरप की धर्मान्धता तथा कट्टरता पर कुठाराघात किया था। अरबों के सम्पर्क से योरप ने कई नवीन बातें सीखीं। स्वयं ज्ञान तथा संस्कृति का पुनरुद्धार भी अरबों के ही प्रभाव के कारण सफलीभूत हो सका। अरबों ने यह ज्ञान चीन तथा भारतवर्ष से सीखा था और उसे सुरक्षित रख योरप को उस समय उस ज्ञान से परिचित किया जब उसे इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी।

अठारहवाँ अध्याय

मंगोल साम्राज्य की उन्नति तथा पतन

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में मंगोल जाति का इतिहास बताते हुए यह कहा गया था कि मंगोलों का साम्राज्य कुबलाई खाँ की मृत्यु के बाद पाँच भागों में बँट गया। कालान्तर में ये पाँचों वंश अलग अलग अपनी उन्नति करते रहे। इन वंशों में से एक वंश भारतवर्ष में भी स्थापित हुआ और उसने लगभग दो शताब्दियों तक भारतवर्ष पर शासन किया। इसी मंगोल वंश की इलखान शाखा ने ईरान, ईराक़ तथा सीरिया में अपना राज्य स्थापित किया। तैमूर इस वंश का ही शासक था जिसने सभ्य संसार पर इतना आतंक जमाया था। उसका साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया से लगाकर देहली तक फैला हुआ था। मिस्र का सुल्तान भी उसके आधीन था। इस अध्याय में हम संक्षेप में इन साम्राज्यों का इतिहास, तत्पश्चात् मंगोल साम्राज्य का वास्तविक रूप और उसके पतन का इतिहास देखेंगे।

कुबलाई खाँ के चीन में बस जाने के पश्चात् उसने अपने वंश का नाम युआन वंश रख लिया। चीनी इतिहासकारों ने भी उसका उल्लेख अपने राष्ट्रीय सम्राट् की तरह किया है एक विदेशी की तरह नहीं। युआन वंश चीन में सन् १३६८ ई० तक राज्य करता रहा। उस वर्ष चीन में युआन वंश का अंत करके मिंग वंश की नींव डाली गई। इस वंश ने सन् १६४४ ई० तक राज्य किया। तथापि कुबलाई खाँ के समय की एक प्रसिद्ध घटना का वर्णन करना आवश्यक है। वह घटना है मार्को पोलो की चीन-यात्रा। मंगोलों को दूसरे देशवासियों से ज्ञान की नई बातें सीखने का भारी चाव था। कुबलाई खाँ के दरबार में वेनिस के दो व्यापारी निकोलो पोलो तथा मैफियो पोलो आये। उन्होंने कुबलाई खाँ से ईसाई धर्म ग्रहण करने का आग्रह किया। कुछ समय पश्चात् वे योरप लौटे। खान ने पोप को यह संदेश भिजवाया कि वह ७०० विद्वान पादरी चीन भेजे। किन्तु पोप आपसी झगड़ों में इतना लगा था कि इस बात की ओर वह उचित ध्यान न दे सका। किन्तु दूसरी चीन-यात्रा

में एक विश्वविख्यात यात्री मौजूद था, वह यात्री मार्को पोलो था । मार्को पोलो और उसके चचे चीन के लिये स्थल मार्ग द्वारा चले । अपनी एशिया की यात्रा में उन्हें ३½ वर्ष लगे । फिलस्तीन होकर ये लोग आरमीनिया आये । वहाँ से ईराक होकर ईरान की खाड़ी में पहुँचे । यहाँ उन्हें भारतीय व्यापारी भी मिले थे । ईरान से बलख, काशगर तथा खुतन होते हुए रेगिस्तानों को पार कर वे चीन पहुँचे । उनके पास सोने की तख्ती पर खुदी हुई कुबलाई खाँ की आज्ञा थी और यही उनका पासपोर्ट था । मार्को पोलो सत्रह वर्ष तक चीन में रहा । वह एक प्रान्त का शासक भी नियुक्त हुआ था । पोलो अपने देश समुद्र मार्ग से लौटे । चीन से सुमात्रा पहुँचे । वहाँ उस समय बौद्ध साम्राज्य था । सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत के बन्दरगाह कायल में ठहरे । यह स्थान पांड्य राज्य में था । ये लोग भारतवर्ष में कई वर्षों तक रहे । पोल लोग ईरान होते हुए कुस्तुन्तुनिया पहुँचे और वहाँ से अपने देश में पहुँच गए । मार्को की यात्रा का वर्णन बड़ी सजीव भाषा में लिखा गया है । उसने बर्मा, चीन तथा भारत के धन तथा वैभव का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया । पहिले इस पर लोगों को विश्वास न हुआ किन्तु फिर भारत की खोज में योरपवासी इधर उधर रवाना हुए । यहीं से योरपवासियों की समुद्र-यात्रा का स्वर्ण-युग प्रारम्भ होता है । अपनी पारस्परिक फूट तथा ईर्ष्या को छोड़ उन्होंने भारत की सम्पत्ति तथा वैभव की खोज प्रारम्भ की ।

युआन वंश का चीन में अंत हो जाने से एशिया तथा योरप के पारस्परिक सम्बन्ध का ताँता टूट गया । स्थल का मार्ग अब सुरक्षित न था और जल पर तो यात्रा करने का किसी को अभी साहस ही क्या हो सकता था ?

तिब्बत के उत्तर में जो मंगोल राज्य करते थे उनका राज्य छिन्न भिन्न होने लगा । पूर्वी तुर्किस्तान को चीनियों ने उनसे छीन लिया । तिब्बत का सम्बन्ध चीन से अधिकाधिक घनिष्ठ होता जा रहा था, तुर्किस्तान से नहीं । सुनहले कबीले के मंगोल जो रूस, पोलैण्ड तथा हंगरी में राज्य करते थे अब भी भ्रमणशील जीवन को ही पसंद करते थे । मंगोलों के आधीन बहुत से देशों सामन्त तथा सरदार थे जो छोटे छोटे सरदारों से कर वसूल के 'बड़े खान' के पास भेजते थे । कालान्तर में मास्को का ड्यूक इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने सन् १४८० ई० में मंगोलों के आधिपत्य को अस्वीकार कर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया । उनकी शक्ति बढ़ती रही और उसने

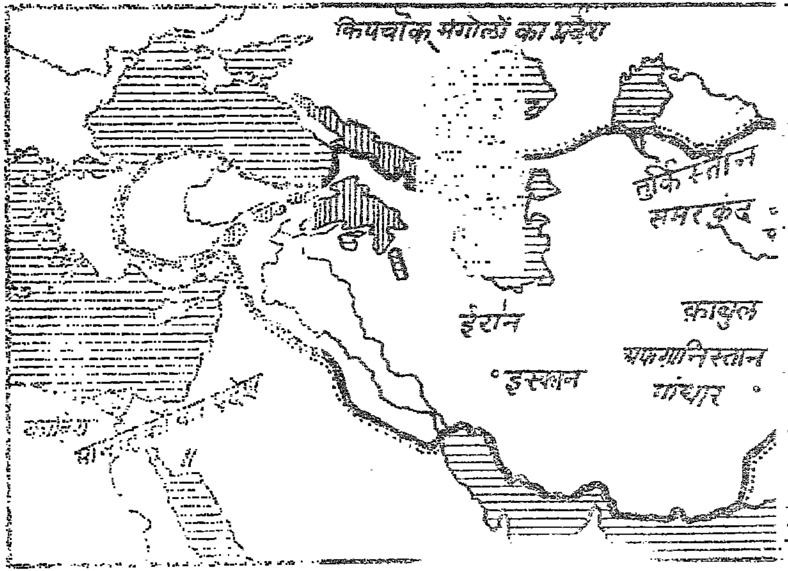
कुस्तुन्तुनिया को तुर्की साम्राज्य के सामने नई समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। इवान तृतीय ने अपने को कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् घोषित कर दिया। रूस के सम्राटों ने ज़ार की उपाधि धारण की। मंगोलों के पदचिन्हों पर चलने के कारण रूस के ज़ारों ने निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता का मार्ग ग्रहण किया। ज़ारों ने लेटिन चर्च के स्थान पर यूनानी चर्च को रूस में स्थापित किया। किन्तु रूस के आधीन प्रान्त पोलैण्ड अब भी लेटिन चर्च का मानने वाला था। यहाँ का शासक अपने को पवित्र रोमन सम्राट् के आधीन समझता था। यहाँ की भाषा भी लेटिन थी। कहना न होगा कि दो पड़ोसियों का सभ्यता तथा संस्कृति में इतना विभिन्न रहना दोनों के ही लिये हितकर न था—विशेषतया कमज़ोर पोलैण्ड के लिये।

फ़ारिस, इराक तथा सीरिया के इलखानों का इतिहास इस दृष्टि से रोचक है कि इन्होंने चंगेज खाँ की वसीयत को भली प्रकार निबाहा। अर्थात् सभ्यता को नष्ट कर विजित प्रदेशों को भ्रमणशील लोगों के रहने योग्य बनाया। हलाकू खाँ ने जब इराक पर आक्रमण किया था तो उसने इस नीति को पूर्णतया अपनाया था। हलाकू के सेनापति की इच्छा मिस्र को भी उजाड़ देने की थी किन्तु फिलस्तान में मृत्यु हो जाने से उसकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। हलाकू के वंशज तैमूर ने देहली से कुस्तुन्तुनिया तक अपना राज्य स्थापित किया और इस सब प्रदेश को रौंद डाला। नर-मुण्डों के विशाल स्तूप बनाने का इसे बड़ा चाव था। इसफहान विजय के पश्चात् ७०००० मनुष्यों के मुण्डों से एक स्तूप तैयार कराया गया था। देहली के आत्मसमर्पण के पश्चात् भी उसने एक लाख कैदियों को मरवा डाला था।

मंगोल[1] वंश की एक शाखा ने भारत विजय कर मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। बाबर ने (जो अपनी माँ की ओर से चंगेज़ खाँ का वंशज था) सन् १५२५ ई० में अफ़गान सुल्तान इब्राहीम लोदी को हरा कर अपना राज्य भारत में स्थापित किया। किन्तु बाबर अपने साम्राज्य की जड़ को दृढ़तापूर्वक भारत में न जमा पाया था कि उसकी मृत्यु हो गई। उसके कार्य को उसके पौत्र अकबर ने पूरा किया। भारत के इतिहास में अकबर का स्थान बहुत

---

१. मंगोलिया के आदिम निवासी होने के कारण ये लोग मङ्गोल कहलाते थे। इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पश्चात् मङ्गोलों को मुग़ल कहा जाने लगा।



तैमूरलंग का साम्राज्य

ऊँचा है। भारत में उसने देश ही विजय नहीं किये किन्तु एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की भी नींव डाली। जिन जिन देशों में मंगोलों ने अपना राज्य स्थापित किया था वहाँ पर वे केवल कर वसूल करने में ही अपने कार्य की इति श्री समझते थे। प्रजा की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था को जानने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। सुनहरे कबीलों तथा चीन के युआन वंश की भी यही दशा थी। किन्तु अकबर ने एक नया आदर्श अपनाया। उसने हिन्दुस्तानियों को एकता के सूत्र में ग्रथित कर एक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया। उस राष्ट्र में धर्म तथा सम्प्रदाय को स्थान न था। अकबर की नीति का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल भारत में अब भारतीय समझे जाने लगे, ठीक उसी प्रकार जैसे कुबलाई खाँ के वंशज चीन में चीनी समझे जाते थे। दूसरे, अकबर की नीति के परिणाम स्वरूप राजपूतों का एक वर्ग विशेष इस प्रकार बँध गया कि उसने अपना रक्त-पसीना बहा मुग़ल सत्ता को भारत में कायम रहने में सहयोग दिया। भारत के बाहर मंगोल शासन-प्रबन्ध को केवल एक पेशा समझते थे। बाह्य शांति स्थापित कर और कर वसूल कर वे संतुष्ट हो जाते थे। देहली के सुल्तानों ने भी यही नीति बरती थी किन्तु अकबर ने अपनी प्रजा के हर्ष तथा शोक, संयोग तथा वियोग में सहयोग दे एक सुदृढ़ शासन प्रणाली स्थापित की। हिन्दुओं को न तो अब जज़िया देना होता था और न यात्रा-कर। यद्यपि मुग़ल दरबार में अभी मुसलमान दरबारियों का बोलबाला था तथापि हिन्दू यह नहीं समझ सकते थे कि वे अपनी ही जन्मभूमि में विदेशी की तरह रह रहे हैं तथापि उनका साम्राज्य में इतना ही अधिकार है कि वे केवल कर देते रहें। अकबर ने इस उदार नीति को इसलिये अपनाया था कि भारतीयों की सरकार भारत में स्थापित हो। इस प्रकार अकबर ने अपने उत्तराधिकारियों को विरासत में तीन बातें सौंपी और यही तीन बातें उसकी नीति की विशेषताएँ हैं— १. राष्ट्रीय राज्य की स्थापना, २. हिन्दुओं के साथ सहयोग, ३. भारतवर्ष की एकता। अकबर के सभी वंशजों ने तीसरी नीति को अपनाया किन्तु पहिली दो नीतियों को औरंगज़ेब ने छोड़ दिया और उसका परिणाम मुग़ल साम्राज्य का अंत ही हुआ। अब हम संक्षेप में जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब की शासन-नीति का वर्णन करेंगे।

जहाँगीर ने बाह्य रूप में अकबर की नीति को जारी रखा किन्तु ईरानी महिला नूरजहाँ से विवाह कर लेने के कारण उसके दरबार में ईरानी सरदारों का बोलबाला रहा। उसकी दक्षिण नीति ज्यों की त्यों रही।

शाहजहाँ ने दक्षिण जीतने का प्राण-पण से उद्योग किया। दक्षिण के सुल्तानों को मुग़लों की आधीनता स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा। किन्तु अपने पूर्वजों के स्थानों को जीतने की उसकी अभिलाषा असफल रही। बल्ख़ को वह न जीत सका। कन्दहार पर भी ईरान वालों ने अपना अधिकार कर लिया। भारत की विदेशी सीमा इस प्रकार एक ओर से अरक्षित रह गई। कालान्तर में इसी ओर से भारत के लिये ख़तरा उत्पन्न हो गया। शाहजहाँ का काल मुग़ल राज्य में उसकी प्रसिद्ध इमारतों के कारण एशिया भर में विख्यात हो गया। एक शताब्दि की शांति और समृद्धि के कारण मुग़ल राज्य संसार के धनी राज्यों में गिना जाने लगा। इस धन का उपयोग भवन निर्माण में हुआ। आगरे का ताजमहल, दिल्ली का लाल क़िला, जामा मस्जिद तथा मोती मस्जिद उसके समय की प्रसिद्ध इमारतें हैं। ताजमहल विश्व की सबसे सुन्दर इमारत है।

शाहजहाँ के पुत्र औरंगज़ेब ने फिर से भारत में इस्लामी राज्य स्थापित करने का उद्योग किया। अकबर की नीति पर कुठाराघात हुआ। सन् १६६९ ई० में यह राजाज्ञा हुई कि काफ़िरों के सब स्कूलों तथा मंदिरों को नष्ट कर दिया जाय। सन् १६७४ ई० में जजिया को फिर से हिन्दुओं से वसूल करने की आज्ञा हुई। औरंगज़ेब समझता था कि नीची श्रेणी के अधिकांश पदाधिकारी हिन्दू हैं इसी लिये यह आज्ञा हुई कि समस्त पदों पर हिन्दू नियुक्त किये जावें। बहुत से कानूनगो तथा पेशकार हिन्दू ही थे। औरंज़ेब ने आज्ञा दी कि अधिकाधिक हिन्दू पदाधिकारियों को इस्लाम धर्म ग्रहण करने के लिये बाध्य किया जाय। कहना न होगा कि इन सब आज्ञाओं से हिन्दुओं की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिली। इसी समय औरंगज़ेब ने मारवाड़ के सिंहासन पर महाराणा यशवंत सिंह के पुत्र के उत्तराधिकार को अस्वीकृत कर दिया। हिन्दू जाति के स्वाधीनता-प्रेम ने पलटा खाया। महाराष्ट्र जाति ने शिवाजी के नेतृत्व में 'हिन्दू पद पादशाही' स्थापित करने का बीड़ा उठाया। मुग़ल सम्राट् अपने ही खोदे हुए कूएँ में गिर गया। उत्तर में सिक्ख तथा जाट, दक्षिण में मरहठे, राजपूताने में राजपूत सभी मुग़ल साम्राज्य की जड़ खोदने में लगे थे। औरंज़ेब की नीति भारतवर्ष का एकीकरण करने की थी और इसी नीति को कार्यान्वित करने में उसने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी। किन्तु उसकी एकता का आधार अकबर की उदार नीति न थी; वह तो सुन्नी मुसलमानी

झंडे के नीचे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और आसाम से लेकर काबुल तक का भारत लाना चाहता था किन्तु यह आदर्श पूर्णतया असफल रहा ।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मंगोलों की शासन-प्रणाली का वर्णन और उसकी आलोचना असंगत न होंगे । मंगोलों ने, जहाँ कहीं वे गये अपने अतिरिक्त किसी और ऊँची सत्ता को स्वीकार न किया । उनकी उपाधि खाँ अथवा बादशाह होती थी । दिल्ली के सुल्तानों की तरह वे खलीफाओं के आधीन रह कर शासन करना न जानते थे । उनकी सत्ता सर्वोच्च थी । उनके साथ बहुत से सरदार होते थे जो अपने स्वाभिमान का बड़ा ध्यान रखते थे । उत्तराधिकारी का नियम स्पष्ट न होने के कारण राजा के मरने पर बहुधा उत्तराधिकार के लिये युद्ध हुआ करते थे । इन युद्धों में सरदारों को अपनी मनोकामना पूरी करने का अच्छा अवसर मिलता था । मंगोलों का जीवन प्रारम्भ में भ्रमणशील था किन्तु कालान्तर में धनी और वैभवपूर्ण स्थानों में बसने के कारण उनमें सजधज तथा दिखावट से रुचि उत्पन्न हो गई । भारतीय मुग़लों का दरबार शान शौकत में एशिया में अद्वितीय था । विलासिता तथा वैभव का बोलबाला था । कालान्तर में इस विलासिता तथा आलस्य ने मुग़ल सरदारों को निकम्मा बना दिया । तलवार बर्छी का स्थान सुरा, संगीत तथा सौन्दर्य ने ले लिया । भिन्न भिन्न देशों में बस कर उन्होंने अपने और विजित देशों के बीच की खाई को पाटने की कभी कोशिश न की जिसका परिणाम यह हुआ कि मंगोलों की स्मृति आक्रमणकारियों के ही रूप में रहती आई । भारत में यद्यपि अकबर ने एक नवीन शासन-नीति को अपनाया था, 'जनता का शासक' बनने की चेष्टा की थी किन्तु तत्पश्चात् जब औरंगज़ेब ने उस उदार नीति को पलट दिया तो मुग़ल साम्राज्य का भारत से भी अंत हो गया ।

विश्व सभ्यता के लिये मंगोलों अथवा मुग़लों की क्या देन है ? चंगेज़ खाँ के आक्रमण से लेकर औरंगज़ेब के समय तक लगभग पाँच सौ वर्षों का समय एशिया तथा योरप के इतिहास का एक मुख्य काल है । यद्यपि मंगोलों ने सभ्यता को नष्ट किया था, नगरों को उजाड़ा था, नरमुण्डों के स्तूप बनवाये थे, फिर भी उन्होंने अपने साम्राज्यों में जो विश्व में सबसे अधिक विस्तृत थे, शांति तथा सुरक्षा स्थापित कर एशिया तथा योरप में पारस्परिक सम्पर्क बनाये रखा । दोनों महाद्वीपों में एक नवीन जीवन तथा एक नवीन स्फूर्ति का संचार किया । भारतीय मुग़लों ने अपने तीन शताब्दियों के शासन-काल में कला-कौशल तथा

व्यापार की उन्नति की। समुद्र मार्गों के ज्ञात होने से योरपीय देशों के व्यापारी भारतवर्ष में आये और भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का प्रचार योरप में किया। इस प्रकार सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के मंगोल (मुगल) राजाओं ने योरप के देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध जारी रखा; भवन-निर्माण तथा ललित-कलाओं की उन्नति में सहयोग दे अपने सभ्यता-प्रेम का परिचय दिया। इनमें से कुछ शासक—जैसे बाबर—तो बड़े कला तथा सौन्दर्य प्रेमी थे। बाबर की आत्म-कथा (तुजुके बाबरी) एक अनुपम तथा सजीव वर्णन है जिसमें लेखक ने अपनी चरित्रगत दुर्बलताओं का वर्णन बड़ी ईमानदारी के साथ किया है।

उन्नीसवाँ अध्याय

जापान का इतिहास तथा सभ्यता

प्राक्कथन

अब तक हमने जापान की सभ्यता का वर्णन नहीं किया है। इसका कारण केवल यही है कि जापान के प्राचीन इतिहास के विषय में इतिहासकारों की जानकारी बहुत कम है। उसके प्राचीन इतिहास की जानकारी हमें या तो चीनी ग्रंथों में वर्णित घटनाओं से मिलती है अथवा जापान की परम्पराओं से। जापान में लेखन-कला तथा छापे का प्रचार सन् २८४ ई० से पूर्व नहीं हुआ था। अतएव जो कुछ भी इससे पहिले का जापानी इतिहास है वह कथा-कहानियों के रूप में चला आता था। उनकी इतिहास की सबसे प्राचीन पुस्तक 'प्राचीन घटनाओं का वर्णन' है जिसे सम्राट् टेंथू ने आठवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध में पूरा कराया था। इसके पश्चात् दूसरी पुस्तक 'जापान का इतिहास' लिखी गई। जापानी लेखकों ने चीन के दर्शन तथा विचारधारा को ग्रहण कर लिया। कालान्तर में दर्शन और विचारधारा ही क्या जापानियों के जीवन के प्रत्येक अंग पर चीनी प्रभाव की अमिट छाप लग गई। जापान में बौद्ध धर्म भी चीन से ही आया। इसने 'शिन्टो' धर्म के स्थान पर अपना अधिकार किया। चीनी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं की नकल हुई। यहाँ तक कि देश का नाम भी चीन से ही आया है। पहिले यह नाम चीनी भाषा में 'वाई निपन' था। इसका ही विकृत रूप जापान है। कहने को जापान में सम्राट् होते थे किन्तु सत्ता सब फूजीवारा वंश के हाथ में था। सम्राटों ने इस दशा से ऊब कर मठों में आश्रय लिया। फूजीवारा वंश ने जापान में जमींदारी वर्ग स्थापित किया। इन जमींदारों को 'दाइम्यो' (बड़े नाम वाले) कहा जाता था। सन् ११५६ ई० में फूजीवारा वंश के प्रभुत्व का नाश हुआ। सन् ११९२ ई० में एक दूसरे वंश ने राजनीतिक सत्ता हथिया ली। यहीं से 'शोगुन प्रणाली' प्रारम्भ हुई। शोगन एक उपाधि थी और इसके धारण करने वाले के हाथ में सर्वोच्च सत्ता रहती थी। चीन से अनुकरण करने की प्रवृत्ति अब भी जारी थी। जापानी सभ्यता पर इस प्रकार चीनी सभ्यता की अमिट छाप लग गई। उसकी सभ्यता का दूसरा अंग शिन्टो धर्म है जिसने बौद्ध धर्म में भी आवश्यक

हेर-फेर कर उसे 'जापानी' बना लिया। मध्यकाल युग की सबसे मुख्य संस्था सामन्त प्रथा थी जिसका प्रभाव उस समय आकर नष्ट हुआ है जब जापान ने योरप की सभ्यता की पूर्णतया नकल कर सम्राट् को बन्धन से छुड़ा लिया। इस अध्याय में बहुत संक्षेप में हम जापान के प्राचीन इतिहास का सिंहावलोकन कर उसकी सभ्यता के प्रमुख अंगों पर विचार करेंगे।

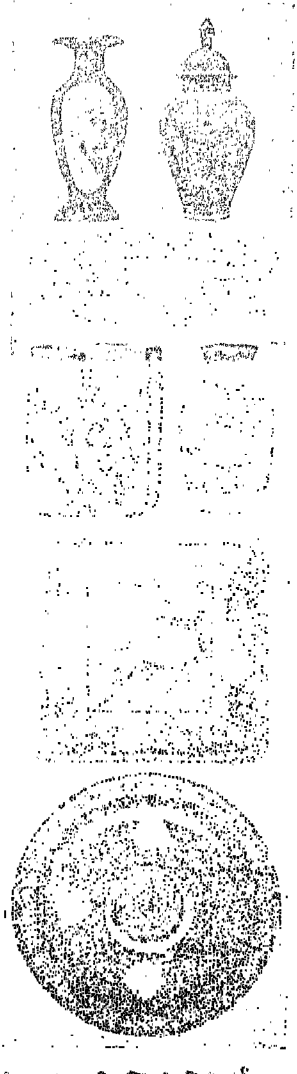
जापान का प्राचीन इतिहास

पूर्व ऐतिहासिक काल की जानकारी हमें बहुत कम है। इतना अवश्य ज्ञात है कि कोरिया की ओर से मंगोल जाति ने जापान पर आक्रमण किया। इस जाति के राजा का नाम जिम्मू था। आक्रमणकारियों को देश के मूलनिवासियों से पग पग पर युद्ध करना पड़ा। अनेक बाधाओं के पश्चात् जिम्मू ने काशीवारा स्थान को जो यामातो प्रान्त में था अपनी राजधानी बनाया। यहीं से जापान का इतिहास आरम्भ होता है। यह घटना ६६० ई० पू० की है। जापान का सम्वत् भी यहीं से आरम्भ होता है। इस राजा ने ७५ वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। उसने अपनी राजधानी बदल डाली। इस प्रकार सन् ७०६ ई० तक जापान के सम्राट् अपनी राजधानी न सही तो कमसे कम राजप्रासाद अवश्य बदल डालते थे। एक और बर्बर प्रथा ने इन लोगों में घर कर लिया। सम्राट् अथवा अन्य पदवीधारियों के मरणोपरान्त उनके साथ उनके नौकर-चाकरों को भी दफ़ना दिया जाता था। यह प्रथा सन् ६४६ ई० में समाप्त हुई जब कि उन नौकर-चाकरों की मूर्तियाँ ही मृतकों के शरीरों के साथ दफ़नाई जाने लगीं। सन् ७०० ई० में इस प्रथा का भी अंत हो गया।

सन् २०२ ई० में जापान ने कोरिया पर आक्रमण करने का बीड़ा उठाया। कोरिया उस समय तीन भागों में बँटा हुआ था। तीनों के राजाओं ने जापान की आधीनता स्वीकार कर ली। कोरिया से सम्बन्ध स्थापित होने के पश्चात् चीन से भी जापान का सम्बन्ध स्थापित हुआ। सन् ५२५ ई० में बौद्ध धर्म के अनुयायी चीन से जापान पहुँचे। उन्होंने जापान सम्राट् को बौद्ध बना लिया। कालान्तर में सारे जापान में बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया। बौद्ध धर्म ने समस्त जापानी सभ्यता का दृष्टिकोण बदल दिया। बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन एक माया थी। इससे जापान के इतिहास का रंग-रूप ही बदल गया। राजनीति तथा देशभक्ति के स्थान पर धर्म का बोलबाला हो गया। इस लोक के स्थान पर परलोक सुधारना धर्म का मुख्य लक्ष्य बन गया।

जापान पर चीन का प्रभाव

बौद्ध धर्म के प्रचार के पश्चात् चीन के साथ सम्पर्क और भी घनिष्ठ हो गया। इससे चीन का प्रभाव जापानी सभ्यता पर बढ़ता चला गया। विशेषतया सन् ६०० ई० से लेकर सन् ७०० ई० तक चीन का प्रभाव बहुत प्रबल रहा। चीनियों के सम्पर्क से जापानी देवताओं की संख्या में अभिवृद्धि हुई। बौद्ध धर्म में अहिंसा का प्रमुख स्थान है। पहिले जापान निवासियों के लिये मांस वर्जित था किन्तु कुछ समय पश्चात् उन्हें मांस खाने की अनुमति मिल गई। चीन के प्रभाव से जापान में पीतल, ताँबा तथा रेशम का काम होने लगा। चीनी लेखन-कला का जापान में प्रयोग हुआ तथा चित्रकला की भी उन्नति हुई। चीन से कुशल जुलाहे, कुम्हार तथा चीनी के बर्तन बनाने में विशेषज्ञ जापान आते रहे और जापान में इन उद्योग-धन्धों का प्रचार करते रहे। शहतूत के कीड़ों से रेशम उत्पन्न किया जाने लगा। किन्तु जीवन के इन क्षेत्रों में उन्नति करने के साथ जापानियों ने साहित्यिक उन्नति में विशेष सहयोग नहीं दिया। चीन तथा कोरिया से लेखक भी जापान पहुँचते थे जहाँ उन्हें ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था। जापान का इतिहास इन्हीं लोगों द्वारा लिखा गया था। चीन की तरह जापान की लिखित भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न है। वर्तमान समय में जापान में यह आंदोलन जोर पकड़ने लगा है कि रोमन लिपि अपनाई जाय किन्तु इस विचार के समर्थकों की



जापानी मिट्टी के बर्तन

संख्या अभी थोड़ी ही है। जापान का सर्वप्रथम साहित्य काव्य के रूप में था। इस कविता में लय, तुक तथा अलंकार का कोई स्थान न था। संगीत तथा नृत्य का प्रचार था। बौद्ध धर्म तथा शिंटो धर्म दोनों में पूजा के समय संगीत तथा नृत्य होता था। इस प्रकार बुनने, बर्तन बनाने, लिखने, चित्रकारी तथा संगीत में जापान पर चीन का स्थायी प्रभाव रहता आया। वास्तु-विद्या तथा चित्रकला पर भी चीन का प्रभाव पर्याप्त था। झोंपड़ों के स्थान पर अब लकड़ी से पटे हुए मकान बनने लगे। चढ़ाई का भी प्रयोग होने लगा। आदिवासी अब भी गुफाओं में रहते थे।

चीन का प्रभाव वेश-भूषा पर भी पड़ा। धनिकों के वस्त्र रेशम के बने होते थे और साधारण जनता भूसा, छाल तथा पशुओं की खाल के वस्त्र बना कर निर्वाह करती थी। साधारण लोग पैदल चला करते थे किन्तु सरकारी लोग घोड़ों तथा पालकियों में यात्रा करते थे। यह रिवाज भी चीन से सीखा गया था। कुछ समय पश्चात् जापानी सम्राट् चीन के राजाओं की तरह दो पहियों वाली गाड़ी में आने जाने लगे।

सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव चीन का जापान पर यह पड़ा कि कानून का महत्व लोगों की दृष्टि में बढ़ गया। समाज शास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक समाज के प्रारम्भिक युग में परम्परा द्वारा कानूनों की सृष्टि हो जाती है। जापान-वासियों की अपने पूर्वजों में भारी श्रद्धा थी। मृतकों की आत्मा का सम्मान देवताओं की भाँति होता था। इन लोगों ने जिन नियमों को बनाया था उनका पालन समाज में बड़े आदर के साथ होने लगा। किन्तु बात यहाँ तक ही न थी। जापानियों ने चीन की परम्पराओं की अंधाधुंध नकल प्रारम्भ कर दी। इस अनुकरण प्रवृत्ति से जापान की सभ्यता का विकास रुक गया। ईस्वी सन् की छठी शताब्दि में बौद्ध धर्म के प्रभाव से कानूनों में सुधार हुआ और भारी सजाओं के स्थान पर हलकी सजाएँ हो गईं। युद्ध में विजयी होने पर चीनी सिपाही विजितों की नाक काट कर लाते थे। जापान ने भी इस प्रथा का अनुकरण किया। यह प्रथा वहाँ सोलहवीं शताब्दि तक रही।

जापानियों का कानूनी ग्रंथ डेकवा है। इसमें कानूनों की अपेक्षा नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन अधिक है। यह बात भी चीन से ही सीखी गई थी। सन् ६४५ ई० में चीन का प्रभाव और भी व्यापक हुआ। अधिकारियों की उपाधियाँ तथा दर्जे चीन जैसे ही कर दिये गये। चीन से

सुधारक भी जापान पहुँचे। बौद्धधर्म का बोलबाला हो गया; स्वयं सम्राट् एक विदेशी धर्म का अनुयायी हो गया। चीनी सम्राटों की भाँति जापानी शासकों ने भी अपने राजप्रासाद पर एक बक्स लटकवा दिया जिसमें प्रार्थी अपनी शिकायत लिख कर डाल सकता था। एक सम्राट् की मृत्यु होने पर दासों को मुक्त कर दिया जाता था। ये सब प्रथाएँ चीन से ही जापान में आई थीं।

एक और व्यापक प्रभाव की ओर दृष्टि डालना अनुचित न होगा। चीन में सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती थी किन्तु जापान में पहिले से ही सम्राटों तथा धनिकों के हाथ में सभी अधिकार थे। सम्राटों की तो उत्पत्ति ही ईश्वरीय समझी जाती थी। जब नये कानूनों के अनुसार धनिकों की स्वाधीनता तथा सत्ता पर प्रहार हुआ तो उन्होंने अधिक जोर के साथ अपने विशेषाधिकारों की रक्षा की माँग रखी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सम्राटों की सत्ता पर हाथ साफ किया। जापान को इस तरह दोनों प्रकार से हानि हुई। वहाँ चीन की तरह शासनाधिकार एक नौकरशाही वर्ग के हाथ में आ गया जब कि सम्राटों के विशेषाधिकारों को छीन कर सामन्तों ने अपनी अपनी डफली पर अपना अपना राग अलापना शुरू कर दिया। यहीं से जापान में सामन्त प्रथा का युग प्रारम्भ होता है।

जापान में सामन्त प्रथा

सामन्त प्रथा जापान में उस समय प्रारम्भ हुई जब आदि निवासियों को विवश होकर शासकों के यहाँ सेवा करनी पड़ती थी। फिर भी जापान की सामन्त प्रथा तथा योरप की सामन्त प्रथा में बड़ा भारी अंतर था। योरप में भूमिपति का भूमि पर पूरा अधिकार था। जापान में इसके विपरीत सम्राट् प्रत्येक समय भूमि का स्वामी समझा जाता था। किन्तु उसका यह अधिकार था केवल नाम-मात्र का। तीन प्रसिद्ध वंशों का राज्य-शासन में बोलबाला था। १. फूजीवारा—इसका प्रभाव राज-दरबार तथा केन्द्र में बहुत था; २. टेरा वंश—इसका प्रभाव दक्षिणी प्रदेश पर था; ३. मिनामोटो वंश—इसका प्रभाव उत्तरी प्रदेश पर था। फूजीवारा ने इन दोनों को एक दूसरे के विरुद्ध लड़ा कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि की। जापान के इतिहास में इस प्रकार राजनीतिक प्रभुत्व के लिये गृह-युद्ध आरम्भ हुए। इन गृह-युद्धों में जापान को भारी क्षति पहुँची। इन युद्धों में अंत में मिनामोटो वंश को सफलता मिली। इस वंश के सरदार को सम्राट् ने 'शोगन' उपाधि दी।

ऊपर कहा जा चुका है कि चीन की उस प्रणाली को जापान में भी अपनाया गया जिसके अनुसार सरकारी पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती थी। इस प्रणाली ने जापान में कोढ़ में खाज वाली कहावत चरितार्थ कर दी। पहिले ही यहाँ सम्राटों को ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था; पहिले ही सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता फौजी अधिनायकों (शोगनों) के हाथ में आ चुकी थी, अब इस प्रणाली से एक ओर तो नौकरशाही का बोलबाला था (समय व्यतीत होने पर योग्यता के स्थान पर सिफारिश तथा चाटुकारी ही पद प्राप्त करने के मुख्य साधन बन गये) दूसरी ओर सत्ताहीन सम्राट्।

शोगनों का प्रभुत्व कई शताब्दियों तक रहा। किन्तु यह उपाधि परम्परागत न हो सकी। एक ही वंश में योग्य शासकों का होना असम्भव था। इस कारण भिन्न भिन्न वंशों से शोगन नियुक्त होने लगे। कुछ काल पश्चात् शोगनों के हाथ से भी राजनीतिक सत्ता निकल कर अफसरों के हाथ में आ गई। इस प्रकार राजनीतिक सत्ता के हेर-फेर में एक दूसरा वर्ग 'सेमूराई' उत्पन्न हो गया। यह एक सैनिक वर्ग था। इसका काम देश में शांति स्थापित रखना था। सामन्तों को छोड़ कर इस वर्ग का समाज में सबसे अधिक आदर था। जापानी सभ्यता तथा चीनी सभ्यता में यही अंतर है। जापानी स्वभावतः लड़ाके तथा उदण्ड हैं, चीनी स्वभावतः शांतिप्रिय। 'सेमूराई' को बुशीदो-नियम-संग्रह को मानना पड़ता था। इस नियम-संग्रह की दो विशेषताएँ थीं—स्वामिभक्ति तथा पवित्रता। स्वामिभक्ति की व्याख्या थी सेमूराई को अपने अधिकारी की आज्ञा मानना। अपने अधिकारी की सेवा में सेमूराई को अपने प्राणों की बाज़ी लगानी पड़ती थी। देशसेवा तथा स्वामिभक्ति के लिये उसे अपना तन-मन-धन बलिदान करने के लिये कटिबद्ध रहना पड़ता था। यह वर्ग भारतवर्ष के क्षत्रिय वर्ग से मिलता जुलता था।

सेमूराई वर्ग का धर्म (ज़ेन सम्प्रदाय)

सेमूराई वर्ग को अधिक आज्ञापालक तथा शूरवीर बनाने के विचार से जापान में ज़ेन सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ। यह बौद्ध धर्म की एक शाखा थी। इस धर्म के विचार से मनुष्य जीवन क्षणिक है—माया है। मृत्यु का आलिंगन शूरवीर को साहस के साथ करना चाहिये। नैतिक दृष्टि से इस धर्म ने जापानी सभ्यता को अधिक दयाहीन बना दिया। न्याय तथा करुणा के भाव समाज से विलीन हो गये: केवल अंतःकरण की शुद्धि और हृदय की पवित्रता पर ज़ोर दिया जाता था। ज़ेन सम्प्रदाय शिन्टो धर्म तथा बौद्ध धर्म का

समन्वय था। बौद्ध धर्म को जापान ने 'जापानी' (सैनिक) रूप देने की चेष्टा की थी। शिन्टो धर्म में आज्ञापालन तथा देशभक्ति ही मुख्य तत्व थे। इस धर्म में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का समन्वय होने से ज़ेन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण बड़ा संकीर्ण था। मौलिक अधिकारों के लिये इसमें कोई स्थान न था। सर्व साधारण को कोई अधिकार न मिल सके। सैनिक नियन्त्रण का बोलबाला होने से समाज में केवल कर्त्तव्य-पालन ही मुख्य वस्तु बन गया। अधिकारों का प्रश्न या तो सरदारों के लिये था अथवा सेमूराई वर्ग के लिये। स्वाभिभक्ति की इस कल्पना ने राष्ट्रीय तथा नैतिक सभी दृष्टियों से देश का अहित किया। सेमूराई को अपने अधिकारियों की सेवा में तन-मन-धन बलिदान करना पड़ता था किन्तु अधिकारी का सेमूराई के प्रति कोई कर्त्तव्य न था। सेमूराई के अधिकार स्त्री तथा बच्चों पर अपरिमित थे किन्तु स्त्री तथा बच्चों के प्रति उसका कोई कर्त्तव्य न था। इन कारणों से सेमूराई वर्ग समाज में अप्रिय हो गया। नर-हत्या करने में उन्हें कोई संकोच न होता था। यह नैतिकता नहीं बर्बरता थी। इस नैतिकता पर आधारित समाज की कल्पना भलीभाँति की जा सकती है।

सामन्त प्रथा के दोष

यद्यपि योरप में भी मध्य युग में सामन्त प्रथा का बोलबाला था तथापि जापान को इस संस्था ने पूरी तरह अपने बन्धन में जकड़ लिया। यहाँ तक कि धर्म तथा नैतिकता को भी उसके आधीन होना पड़ा। सामन्त प्रथा ने छोटे से वर्ग का समाज में प्रभुत्व स्थापित कर दिया। अधिकांश लोग अधिकारहीन थे। यद्यपि सामाजिक जीवन में नियंत्रण था किन्तु यह नियंत्रण केवल निम्न श्रेणी के लोगों के ऊपर था। भूमिपति का अपने आश्रित दासों के जीवन तथा सम्पत्ति पर अधिकार था, भूमिपति की आज्ञापालन के ही लिये वे जीवित थे और भूमिपति इच्छानुसार उन्हें बेच सकता था। सामन्त प्रथा के अंतर्गत न तो सामाजिक नियमों और न व्यक्तिगत नियमों के ही लिये भूमिपतियों के हृदय में कोई सम्मान था। भूमिपतियों की उच्छृंखलता इतनी बढ़ गई कि किसी की सुन्दर स्त्री समाज में सुरक्षित न थी। सामन्तों के यहाँ दर्जनों स्त्रियाँ रहती थीं। समाज में जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत पग पग पर चरितार्थ होती थी। न्याय सम्पादन कार्य में रिश्वतखोरी का बाजार गर्म था।

शिन्टो धर्म

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक और संस्था का वर्णन करना आवश्यक है। यह संस्था जापान का शिन्टो धर्म है। यह जापान का सबसे पहिला धर्म है। बौद्ध धर्म तथा कनफ्यूशस का धर्म तो बाद में जापान में जाकर फैले थे। इस धर्म की विशेषता यह है कि इसमें किसी भी प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाज नहीं हैं। न इसकी नीति को निर्धारित करनेवाला कोई नीति-संग्रह ही है। मोटो ओरी नामक एक लेखक ने अठारहवीं शताब्दि में लिखा था कि शिन्टो धर्म में नीति का कोई संग्रह नहीं है। नैतिकता तो चीनी ग्रन्थों में ही पाई जाती है क्योंकि चीनी स्वयं नैतिकता से विमुख हैं। जापनियों को नीति के संग्रह की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनके विचार से प्रत्येक जापानी नैतिक मार्ग पर चल रहा है यदि वह केवल अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है।

इस विचारधारा का जापान के ऊपर स्थायी प्रभाव पड़ा है। सम्राट् को धार्मिक, सामजिक, राजनीतिक तथा नैतिक सभी अधिकारों का स्रोत समझा जाता है। सम्राट् जापानियों के नैतिक जीवन का पथ-प्रदर्शक है। उसके अधिकार ईश्वर-प्रदत्त हैं इसीलिये उसे किसी धर्माधिकारी की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है। कालान्तर में कनफ्यूशस के धर्म तथा बौद्ध धर्म के जापान में आ जाने से वहाँ की इस विचारधारा को काफी धक्का लगा। सम्राट् को बाध्य होकर पर्दे की आड़ लेनी पड़ी किन्तु शिन्टो धर्म के फिर से शक्तिशाली होने पर सम्राट् को फिर से प्राचीन गौरवपूर्ण स्थान पर सुशोभित कर दिया गया। इस धर्म के प्रभाव का ही कारण है कि जापान में सम्राटों को साधारण व्यक्ति की नाई नहीं समझा जाता। वे इस संसार में ईश्वर के प्रतिनिधि समझे जाते हैं।

बीसवाँ अध्याय

बृहत्तर भारत

प्राक्कथन

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति भारत से बाहर उसके पड़ोसी देशों, लंका, ब्रह्मा, मध्य एशिया, पूर्वी द्वीपसमूह आदि देशों में फैल गई। अशोक के बौद्ध धर्म के साथ साथ भारत की सभ्यता तथा संस्कृति दूर २ के देशों में जाकर फैली। तीसरी शताब्दि ई० पू० में लंका में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। उसी समय भारतवासी ब्रह्मा तथा स्याम में भी बस गए। ईस्वी सन् की पहिली शताब्दि में दक्षिणी अनाम में भारतीय राज्य स्थापित हुआ। पूर्वी द्वीप-समूह को भारतीय 'स्वर्ण देश' (स्वर्ण द्वीप) समझते थे और उसके व्यापार तथा वाणिज्य से लाभ उठाते थे। बौद्ध तथा जैन आख्यायिकाओं में इन देशों का बार बार प्रसंग आया है जिससे ज्ञात होता है कि व्यापारी लोग इन देशों में आते-जाते थे। दूसरी शताब्दि में तो इन देशों में से कई पर भारतीय राजनीतिक सत्ता स्थापित हुई। चीन के इतिहास में मलाया प्रायद्वीप, जावा, कम्बोडिया, अनाम के साथ भारतीय राजनीतिक सम्बन्धों का उल्लेख है। भारतीय राजे वहाँ दूसरी शताब्दि तक राज्य करते रहे। गुप्तकाल तो इस सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध का स्वर्ण-युग ही था। हमारे पास ऐसे निश्चित प्रमाण हैं जिससे हम इस युग के उपनिवेशों का इतिहास सविस्तार लिख सकते हैं। इस राजनीतिक सम्बन्ध के साथ साथ भारत का मध्य एशिया के देशों—खोतान, तुर्किस्तान आदि से सांस्कृतिक सम्बन्ध तो अशोक के समय से ही जारी था। रोमन साम्राज्य से भी व्यापार तथा वाणिज्य बहुत प्राचीन समय से ही हो रहा था। इस अध्याय में पहिले इस औपनिवेशिक इतिहास का परिचय दिया जायगा तत्पश्चात् भारत की संस्कृति तथा सभ्यता का उन देशों पर प्रभाव। हाँ, एक बात हम यहीं स्पष्ट कर देना चाहते हैं। भारतवासियों के ऊपर कूपमंडूकता का दोष दूसरी शताब्दि ई० पू० से लेकर सम्राट् हर्ष के समय तक नहीं थोपा जा सकता। यही हमारे उपनिवेश स्थापित करने तथा वाणिज्य-व्यापार की उन्नति की चरमावस्था थी।

भारतवासियों का अन्य देशवासियों से सम्बन्ध व्यापार द्वारा प्रारम्भ हुआ। यद्यपि बहुत पुराने सम्बन्धों का हमें पता नहीं लग सका है तथापि इतना अवश्य है कि भारत का उल्लेख यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल (Old Testament) में आया है। ८०० वर्ष ई० पू० में भारत का मिस्र, अरब, फ्यूनीशिया तथा इराक़ से व्यापारिक सम्बन्ध था। चौथी-शताब्दि ई० पू० में व्यापार तथा सामुद्रिक उन्नति में काफी उन्नति हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय सामुद्रिक व्यापार की उन्नति के लिये जो समिति बनी थी उससे प्रकट होता है कि सामुद्रिक व्यापार उस समय उन्नति पर था। इस सामुद्रिक शक्ति की सहायता से भारतवर्ष ने वर्तमान मसाले के द्वीपों को जीत लिया था। भारत तथा चीन का व्यापार स्थल तथा जल मार्गों से होता था। ईसवी सन् की पहली शताब्दि में अफ्रीका के समुद्रतट पर एक भारतीय उपनिवेश के स्थापित होने का वर्णन मिलता है। यूनानी मल्लाह के एक वृत्तान्त से पता चलता है कि भारतीय समुद्रतट पर बहुत से बंदरगाह थे जहाँ से विदेशों के साथ व्यापार चलता था। भारत से मुख्यतया मसाले, इत्र, औषधियाँ, सूती कपड़े, रेशम, नील, हाथी दाँत आदि वस्तुएँ विदेशों में जाती थीं। दूसरे देशों से सोना, ताँबा, जस्ता, जवाहरात और जड़ी-बूटियाँ मँगाई जाती थीं।[1] रोमन इतिहासकार प्लाइनी के कथनानुसार भारत में रोम से प्रत्येक वर्ष करोड़ों रुपये भारतीय सामान के बदले में आते थे। भारत में भी बहुत से सिक्के रोमन सम्राटों के मिले हैं जिनसे इस कथन की पुष्टि होती है।

किन्तु भारतीय औपनिवेशिक साम्राज्य का स्वर्णयुग गुप्तकाल है। दूसरी शताब्दि तक भारत का आधिपत्य मलाया प्रायद्वीप, जावा, कम्बोज (वर्तमान कम्बोडिया) तथा अनाम में स्थापित हो गया। कम्बोज तथा कोचीन-चीन में हिन्द राज्य बहुत प्राचीन समय से स्थापित थे। कम्बोज द्वीप में सबसे पहिले सभ्यता का श्रीगणेश कौन्डिन्य नामक राजा ने किया जो ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। इस देश में एक प्रसिद्ध राजा हुआ जिसने एक जहाजी बेड़ा बनाया और उसकी सहायता से समीपवर्ती दस देशों को जीत लिया। स्याम तथा मलाया प्रायद्वीप भी जीत लिये गये। इस प्रकार यह सर्व-प्रथम हिन्दू साम्राज्य था। कम्बोज के भारत तथा चीन से राजनीतिक सम्बन्ध थे। यहाँ के एक राजा जयवर्मन ने सन् ४८४ ई० में नागवर्मन नामक व्यक्ति

---

१ देखिये Periplus of the Erithrean Sea.

को दूत बना कर चीन भेजा। इसकी रिपोर्ट से ज्ञात होता कि इस देश के निवासियों का धर्म शैव था। बौद्ध धर्म के अनुयायी भी इस देश में रहते थे। बौद्ध धर्म तथा शैव धर्म के अतिरिक्त वैष्णव धर्म भी यहाँ प्रचलित था। जयवर्मन की स्त्री द्वारा अंकित कराये गए ऐसे संस्कृत लेख मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति किस प्रकार इस देश में फैल गई थी। अंगकोर इस देश की राजधानी थी। अपने वैभव तथा समृद्धि के कारण यह नगर शानदार अंगकोर के नाम से प्रसिद्ध था। इसके पास ही अंगरकोरवाट का प्रसिद्ध मंदिर था। इसकी लम्बाई १ मील तथा चौड़ाई भी १ मील है।

हिन्दचीन में दूसरा प्रसिद्ध द्वीप चम्पा था। यह द्वीप कम्बोज के पूर्व में था। उन्नीसवीं शताब्दि तक यह देश इसी नाम से पुकारा जाता था जब कि अनाम वंश के राजा ने चम्पा से हिन्दू राजा को निकाल दिया और यह देश अनाम कहा जाने लगा। यहाँ का सबसे पहिला राजा श्रीमार था। चम्पा के उत्तर में चीनी साम्राज्य था। चम्पा के राजाओं ने चीनी साम्राज्य के टोंनकिन प्रदेश पर कई आक्रमण किये। इन आक्रमणों में नाविक शक्ति का मुख्य हाथ था। भारतीय वीरों के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन चीनी ग्रंथों में मिलता है। कालान्तर में इस देश में श्रीभद्र वर्मन नामक एक शासक हुआ। वह वेदों का बड़ा पंडित था। उसने एक शिवमंदिर बनवाया। कुछ वर्षों तक चीन तथा चम्पा में युद्ध चलते रहे किन्तु फिर दोनों में संधि हो गई।

इन दो प्रसिद्ध राज्यों के अतिरिक्त अन्य कई छोटे छोटे राज्य उस समय हिन्द महासागर तथा प्रशान्त सागर में थे। तीसरी शताब्दि में एक ऐसे राज्य का वर्णन है जिसकी राजधानी प्रोम थी। स्याम में द्वारावती नामक एक प्रसिद्ध राज्य था। इस केन्द्र से हिन्दू संस्कृति का प्रचार मलाया प्रायद्वीप में हुआ। जावा में हिन्दू राज्य की स्थापना दूसरी शताब्दि में हुई। चीनी यात्री फाहियान जो अपनी भारत-यात्रा के पश्चात् यहाँ सन् ४१४ ई० में आया, लिखता है कि जावा में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला था। जावा के समीप वाली द्वीप में भी एक हिन्दू राजा का राज्य था। उसने सन् ५१८ ई० में चीन को दूत भेजे थे। सुमात्रा में हिन्दू राज्य की स्थापना भारतीय पल्लवों ने ईस्वी सन् की पहली और दूसरी शताब्दि में की। श्रीविजय यहाँ की राजधानी थी। श्रीविजय उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा। इसमें मलाया, फिलीपाइन, बोर्नियो, सेलीबीज, जावा तथा फारमूसा

के आधे भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार इस साम्राज्य का विस्तार समस्त मलेशिया पर था। साम्राज्य की रक्षा के लिये समुद्री किनारे पर किलाबन्दी किये हुए बंदरगाह थे। बोर्नियो द्वीप में भी हिन्दू राज्य की स्थापना ईसवी सन् की चौथी शताब्दि में हुई। सन् ४०० ई० के लगभग प्रस्तर खण्डों पर अंकित संस्कृत लेखों से पता चलता है कि राजा मूलवर्मन ने अपने दानवीर होने के कारण काफी ख्याति प्राप्त की थी। वर्तमान उपनिवेशों के विरुद्ध इन उपनिवेशों की स्थापना राज्यनीति के परिणाम स्वरूप नहीं हुई थी। न इनका आधार ही रक्तशोषण था। उपनिवेशों को 'दुधारी गाय' समझने की कल्पना तो वर्तमान युग की देन है। उस समय के उपनिवेश तो हिन्दू संस्कृति तथा सभ्यता के प्रचार-स्थान थे और वहाँ हिन्दुत्व की भावना फैलाने के साधन। बोर्नियो, जावा, अनाम, कम्बोडिया तथा मलाया प्रायद्वीप में प्राप्त लेखों से पता है कि भारत की भाषा, साहित्य, धर्म, राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन इन उपनिवेशों में फूली फली। पौराणिक धर्म तथा धार्मिक परम्पराओं का वहाँ बोलबाला था। ब्राह्मण धर्म तथा हिन्दू सामाजिक संगठन का सच्चा स्वरूप इन देशों में दिखलाई पड़ता था। उनकी आख्यायिकाओं में हिन्दू देवता इन्द्र, वरुण, विष्णु तथा एरावत के वृत्तान्त सम्मिलित हैं। उनके चित्रों में हिन्दू चित्रकला की की अमिट छाप है। उनके हमारे जैसे ही महीने थे। नदियों म चंद्रभागा तथा गोमती उल्लेखनीय हैं। हिन्दू संस्कृति की रक्षा और उसका निर्वाह इन साहसी पुरुषों ने जाकर विदेश में किया था। भारतीय संस्कृति की विजय-दुन्दुभी इन देशों में बजाई थी। बोर्नियो तथा मलाया प्रायद्वीप में बहुत से देवी-देवताओं के चित्र मिले हैं। देवताओं के अस्त्र—शंख चक्र, गदा, पद्म तथा त्रिशूल भी चित्रों में अंकित हैं। हमारी तरह गंगाजी में भी उनकी श्रद्धा थी। उनके मृतक जलाये जाते थे और उनकी अस्थियाँ कलशों में रखकर समुद्र में प्रवाहित की जाती थीं। हिन्दू धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म भी इस प्रदेश में फैला हुआ था। चीनी ग्रन्थों में वर्णित एक घटना से पता चलता है कि काश्मीर का एक राजकुमार गुणवर्मन जावा पहुँचा और वहाँ पहुँच कर उसने राजमाता को बौद्ध बनाया। तदनन्तर राजा ने भी यह धर्म स्वीकार कर लिया। थोड़े ही समय पश्चात् समस्त जावा द्वीप में बौद्ध धर्म फैल गया। जावा से यह राजकुमार नान्किंग पहुँचा।

हिन्दू सभ्यता का प्रभाव उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ा था। हमें ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्मशास्त्र के

अनुसार उनकी ८ मंत्रियों की सभाएँ होती थीं। राजा युद्धों का संचालन हाथियों पर बैठ कर करते थे। युद्ध के अवसर पर शंख तथा भेरी ध्वनि होती थी।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मलाया प्रायद्वीप की सभ्यता का अधिक विस्तार से वर्णन करना अनुचित न होगा। इस युग में सामुद्रिक तथा व्यापारिक उन्नति में यहाँ के निवासियों ने आश्चर्यजनक रूप से सहयोग दिया। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह प्रायद्वीप चीन तथा पश्चिम संसार से व्यापार करने का प्रसिद्ध केन्द्र था। भूमि के अंदर से निकले हुए बहुत से मंदिर, प्रस्तर मूर्तियाँ तथा बौद्ध धार्मिक स्थानों के चिन्ह लगभग ईस्वी सन् की चौथी तथा पाँचवीं शताब्दि के ज्ञात होते हैं। एक स्वर्ण का आभूषण भी मिला है जिस पर विष्णु की मूर्ति बनी हुई है। इन सब चिन्हों से ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर हिन्दू देवताओं तथा देवियों का पूर्ण सत्कार था और उनकी पूजा श्रद्धा पूर्वक होती थी। हिन्दुओं के सामाजिक नियम जैसे जाति व्यवस्था, वर्णाश्रम प्रथा आदि सामाजिक संगठन के नियम वहाँ उसी प्रकार थे जैसे भारतवर्ष में। हिन्दू राजाओं की तरह वहाँ के राजाओं में भी दिग्विजय का रिवाज था और अश्वमेध यज्ञ की प्रथा थी।

किन्तु हिन्दू संस्कृति की सबसे बड़ी छाप जिन बातों से ज्ञात होती है वे हैं वहाँ के मंदिर। अंगकोरवाट जो कम्बोडिया में था और बोरोबुदूर जो जावा में था ऐसे स्थान थे जहाँ के मंदिर अपने सौन्दर्य तथा अनुपम चित्रकला के कारण प्रसिद्ध हो गए। द्रविड़ों के मंदिरों के विरुद्ध अंगकोरवाट का प्रसिद्ध मंदिर कई आँगनों के पार करने के बाद दिखलाई पड़ता है। बहुत सी सीढ़ियाँ पार करने के पश्चात् आराध्य देव के दर्शन होते हैं। बोरबूदर का मंदिर भी ऐसा ही दर्शनीय स्थान है। सात मंजिलों के ऊपर बनाया गया यह मंदिर अपनी प्रस्तर कला से दर्शन को कौतूहल में डाल देता है। विशाल गैलरियाँ ही ऐसी हैं कि यदि उन्हें एक पंक्ति में स्थित किया जाय तो २ मील लम्बा स्थान घेरेंगी। कलाविज्ञ फर्ग्यूसन की सम्मति में "बोरोबदूर के निर्माता पश्चिमी भारत से यहाँ बुलाये गये होंगे। [illegible]। अन्य गुफाओं की चित्रकला और यहाँ की चित्रकला में इतना सादृश्य है कि जावा तथा पश्चिमी भारत के कलाकारों का निस्संदेह ही एक स्थान से धार्मिक प्रेरणा मिली ज्ञात होती है।"

जो कुछ भी हो यह भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भारी विजय थी। उस समय जब भारत को मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ रहा था इन लोगों ने हिन्दू कला, हिन्दू चित्रकारी, सभ्यता तथा राजनीतिक सत्ता को ज्यों के त्यों कायम रखा और हिन्दू संस्कृति इन स्थानों पर पूर्ववत् फलती-फूलती रही।

इक्कीसवाँ अध्याय

नई दुनिया की पुरानी सभ्यता — माया

प्राक्कथन

अब तक हमने एशिया, योरप तथा अफ्रीका की सभ्यताओं का वर्णन किया है। अमेरिका की सभ्यता का उल्लेख अब तक हुआ ही नहीं है। अधिकांश व्यक्तियों की यह धारणा रही है की कोलम्बस की अमेरिका खोज के पश्चात् ही उस महाद्वीप में सभ्यता का प्रचार हुआ। यह धारणा एकदम असत्य तथा निर्मूल है। हमारे पास ऐसे प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ईसा के जन्म से सहस्रों वर्ष पूर्व अमेरिका में मंगोल तथा आर्य्य जाति के लोग जा कर बसे थे और इन्होंने वहाँ की सभ्यता में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इस सभ्यता के तीन केन्द्र थे---मेक्सिको, यूकटन प्रान्त तथा पेरू। मेक्सिको की सभ्यता इनमें सबसे पुरानी थी। इस सभ्यता ने पुरानी दुनिया से अलग रह कर अपने को उन्नत किया, कृषि तथा पशु-पालन के साथ साथ धातु का प्रयोग सीखा, अपनी स्वतंत्र लिपि चलाई तथा साहित्य और कला में भी पर्याप्त उन्नति की। हाल के अनुसन्धानों से ज्ञात होता है कि उनके चित्र तथा खुदाई के काम जो इमारत के छज्जों पर बनाये गये थे काफी सुन्दर थे। मंदिरों की दीवारों पर चित्रित चित्रों में गृह-कार्य में संलग्न महिलाओं के चित्र सम्मिलित हैं। यद्यपि इस देश का क्रमबद्ध इतिहास अधिक ज्ञात नहीं है तथापि इन पृष्ठों में पहिले उनके इतिहास का वर्णन किया जायगा तत्पश्चात वहाँ की सभ्यता का।

अमेरिका का प्राचीन इतिहास

ऐसा प्रतीत होता है कि पहिले अमेरिका तथा एशिया दोनों महाद्वीप स्थल मार्ग से जुड़े हुए थे। स्थल मार्ग के अतिरिक्त समुद्र मार्ग से भी भारत-वासियों का मेक्सिको आना जाना सिद्ध होता है। हिन्दुओं के महाकाव्य महाभारत से सिद्ध होता है कि अमेरिकावासियों ने महाभारत संग्राम में भाग लिया। अर्जुन का विवाह उलूपी नामक एक अमेरिकन राजकुमारी के साथ हुआ था। अमेरिका का नाम उस समय पाताल था। सोने की प्रचुरता के कारण यह देश इसी नाम से विख्यात था। पुराणों में भी एक वैभव पूर्ण तथा सुन्दर

देश का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मेक्सिको में हुई खुदाई से गणेश तथा इन्द्र की मूर्तियाँ निकली हैं। हिन्दुओं के सामाजिक आचार विचार तथा शिक्षा-प्रणाली भी इस देश में प्रचलित थी जिससे सिद्ध होता है कि अमेरिका में सर्वप्रथम पहुँचने वाले लोग भारतवर्ष के आर्य थे। मेक्सिको संग्रहालय के अध्यक्ष प्रो० रामो मेना का कथन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है "यहाँ के प्राचीन निवासियों की आकृति भारतवर्ष के निवासियों से मिलती जुलती है। इन लोगों की वेश-भूषा, भवन-निर्माण-कला आदि से ज्ञात होता है भारत का प्रभाव इस देश पर अमिट है। माया भाषाएँ भी संस्कृत से निकली हुई ज्ञात होती हैं।"[1] मेक्सिको सरकार द्वारा प्रकाशित वहाँ के इतिहास से भी प्रकट होता है कि भारतीय आर्यों के समूह इस देश में आकर बसे और यहाँ पर अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार किया। इतिहासकार हीविट के कथनों से प्रकट होता है कि प्राचीन हिन्दू लोग संसार के भिन्न भिन्न भागों में व्यापार के लिये पहुँचते थे और वहाँ अपनी सभ्यता फैलाते थे। जो भी हो यह ऐतिहासिक सत्य है कि अमेरिका की प्राचीन सभ्यता भारतीय तथा मंगोलों के वहाँ जाकर बसने के परिणाम स्वरूप ही उन्नत तथा परिष्कृत हुई। एशिया से मंगोलिया निवासी भी यहाँ पहुँचे थे। चीनी ग्रंथों में एक बौद्ध भिक्षु का वृत्तान्त मिलता है जिसने अमेरिका के मध्य स्थित देश को पाँचवीं शताब्दि में जाकर देखा था। सम्भवतः वह देश पेरू रहा हो। प्राचीन भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि ६१३ ई० पू० से मेक्सिको सम्वत् प्रारम्भ हुआ था। किन्तु हाल के अनुसन्धानों से पता चलता है कि मेक्सिको तथा गाटेमाला के बीच १५०० ई० पू० में पेलेन्क्यू नामक नगर स्थापित हुआ था। पेलेन्क्यू धनिकों तथा पुजारियों का निवासस्थान था। यहाँ उन्होंने विशाल भवन तथा मंदिर बनवाये थे। दूसरी प्रसिद्ध तिथि जो हाल की खोजों से ज्ञात हुई है सन् ६४४ ई० है। सम्भवतः यहाँ के इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना की स्मृति-तिथि हो। यह तिथि एक प्रस्तर पत्र पर अंकित मिली है। सम्भवतः यह पत्र इस भवन के निर्माण-काल का निर्देशक हो। यह भी ज्ञात होता है कि इन सभ्यताओं के भिन्न भिन्न केन्द्र थे। कई भाषाएँ थीं तथा प्रत्येक भाषा का अलग साहित्य था। उक्समल, लाबुआ, मायापान, चाओ आदि वहाँ के प्रसिद्ध नगर थे। कालान्तर में भिन्न भिन्न राज्यों ने मिल कर एक संघ बनाया।

---

१ देखिये Chamanlal, "Hindu America", पृष्ठ ७ तथा ८

मायापान उस संघ की राजधानी थी। इसी कारण इस संघ को मायापान संघ भी कहते हैं। ईसा की दसवीं शताब्दि में यह संघ मध्य अमेरिका में बहुत शक्तिशाली था। लगभग सन् ११९० ई० में यह संघ नष्ट हो गया। अन्य नगर राज्य पूर्ववत् फूलते-फलते रहे। सन् १२९० ई० के लगभग आजटेक जाति के लोगों ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। आजटेकों की सभ्यता में बलिदानों का मुख्य स्थान था। प्रत्येक वर्ष पुरोहितों की आज्ञा से सहस्रों मनुष्यों की बलि होती थी। जीवित मनुष्यों को काट देना और उनका हृदय निकाल लेना उनकी निर्दयता प्रगट करते हैं। ये लोग कुशल सैनिक थे। इनका राज्य सैनिक आधार पर संगठित था। सैनिक बस्तियों की स्थान स्थान पर स्थापना हुई। लगभग दो सौ वर्ष तक यह सैनिक शासन कायम रहा। "टनोच्टिटलन" नामक शहर इनकी राजधानी थी। थोड़े ही समय पश्चात् यह शहर अपने वैभव तथा समृद्धि के कारण अमेरिका का सर्वश्रेष्ठ नगर हो गया। सन् १५१९ ई० में जब यह राज्य अपनी उन्नति की चरमावस्था पर था तब स्पेन निवासी कोर्टेज (Cortez) ने इस स्थान पर अपना अधिकार कर डाला और इस सभ्यता को पूर्णतया नष्ट कर दिया।

इस महाद्वीप की सभ्यता का तीसरा केन्द्र पेरू था। इस देश में 'इनका' लोगों का राज्य था। 'इनका' एक प्रकार के ईश्वरीय राजा थे। पेरू तथा मेक्सिको की सभ्यताएँ एक दूसरे से पूर्णतया अपरिचित थीं। पेरू निवासी आलू का प्रयोग करते थे किन्तु मेक्सिको के निवासी आलू के प्रयोग से अपरिचित थे। स्पेन के एक आक्रमणकर्ता पिजारो ने सन् १५३० ई० में इस प्रदेश पर आक्रमण किया। 'इनका' को धोखे से बंदी बना लिया गया। पेरू निवासी डर गए और उन्होंने विदेशियों की आधीनता स्वीकार कर ली। पेरू स्पेन साम्राज्य का एक भाग बन गया।

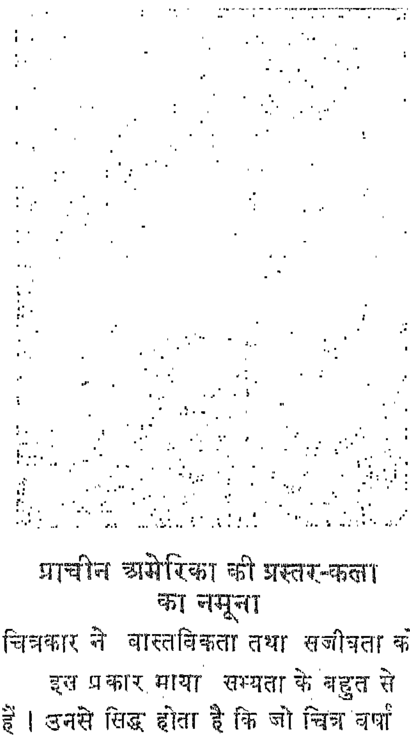
इस देश का इतिहास जान लेने के पश्चात् हम वहाँ की सभ्यता का वर्णन करेंगे।

माया सभ्यता का वर्णन

पहिले कहा जा चुका है कि यह सभ्यता इस महाद्वीप में उत्तर की ओर से प्रविष्ट हुई और दक्षिण की ओर बढ़ते बढ़ते इसके तीन केन्द्र मेक्सिको, यूकटन तथा पेरू बन गए। माया जाति प्राचीन अमेरिकावासियों में सब से अधिक

शिक्षित तथा सभ्य थी। इनकी सभ्यता की बहुत सी बातें हिन्दुओं से मिलती जुलती हैं। कुमारी कन्या के साथ बलात्कार करने वाले को मृत्यु-दंड मिलता था। मायापान संघ के एक शासक ने अपने भाई को निर्दयतापूर्वक मरवा डाला था क्योंकि उसने एक कुमारी के साथ बलात्कार किया था। वे लोग प्रातःकाल जल्दी उठ जाते थे। स्त्रियाँ उठते ही आटा पीसती थीं। इस आटे से वे हिन्दुओं की सी चपातियाँ बनाती थीं। भोजन भी हिन्दुओं के भोजन के सदृश था। स्वच्छता पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। स्नान, ध्यान तथा पूजा-पाठ यथानियम होते थे। हिन्दुओं की नाईं उनकी पंचायतें होती थीं। सहकारिता तथा सहयोग की भावना से घर का सब काम-काज चलाया जाता था। एक विचित्र प्रथा की ओर संकेत करना अनुचित न होगा। विवाह होने के पश्चात् प्रत्येक मनुष्य को अपने ससुर के यहाँ एक वर्ष तक रहना पड़ता था और उसका काम-काज भी करना पड़ता था। इसी बीच में वह एक बच्चे का पिता हो जाता था। वैसा होने पर उसे अपने ससुर से भूमि का कुछ भाग मिल जाता था। यह भाग उसके गुज़ारे के लिये पर्याप्त होता था। यहाँ वह अपना स्वतंत्र घर बना लेता था और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करता था। माया संघ के लोग कुशल कलाकार थे। उनके बनाये हुए मिट्टी के बर्तन, उनकी बुनाई तथा रँगाई उच्च कोटि की होती थी। फ़सल को बोते और काटते समय पशुओं की बलि का रिवाज था। धार्मिक अवसरों पर सर्प की मूर्ति बनाई जाती थी जिससे ज्ञात होता है कि ये लोग सर्प की पूजा करते थे। इन लोगों में पुजारियों का बड़ा सम्मानित स्थान था। जादू-टोनों में उनका विश्वास था। यह सब होते हुए भी ज्योतिष विद्या में उन्होंने काफी निपुणता प्राप्त कर ली थी। उनकी गणित ज्योतिष बिल्कुल ठीक उतरती थी। बेबीलोन के निवासियों की अपेक्षा वे अपने वर्षों की गणना करने में अधिक बुद्धिमान थे। उन्होंने गृह-निर्माण-कला में काफी उन्नति की। किन्तु प्रस्तर-भवन-निर्माण तथा मन्दिरों को चित्रों द्वारा सुन्दर बनाने में इनकी दक्षता सराहनीय थी। चित्र प्राकृतिक दृश्यों के होते थे। मनुष्यों, देवताओं तथा पौधों के चित्र बड़े सजीव रूप में बनाये गये हैं। माया सभ्यता के चित्रकार एक प्रकार के लेखक थे जो भिन्न भिन्न चित्रों की सहायता से तत्कालीन प्रमुख घटनाओं को अंकित किया करते थे। एक प्रस्तर खण्ड पर इस प्रकार उनका सम्वत् खुदा हुआ मिला है। इससे सन् ६४४ ई० बनता है। यहाँ की लेखन-कला से मनुष्यों तथा पशुओं के सिर से संख्याओं तथा तिथियों का बोध होता था। समय-द्योतक ऐसे चित्र

उभरे हुए पत्थरों पर भी अंकित किये जाते थे। मैक्सिको के प्राच्य शास्त्र के विशेषज्ञ अलबर्टो लीलियर ने ऐसे प्रस्तर खण्ड का पता चलाया है जिसकी चौड़ाई २४ मीटर तथा ऊँचाई ३.२५ मीटर थी। एक प्रस्तर खण्ड मध्य में है तथा दो उसके दायें बायें। मध्यवर्त्ती प्रस्तर पर शिल्पकार ने एक ऐसे उत्सव को अंकित किया है जिसमें सिंहासनारूढ़ तीन व्यक्ति भाग ले रहे हैं। यह शिल्प-कला अत्यन्त सुन्दर तथा उच्च कोटि की है। ये चित्र पत्थर पर इतनी सुन्दरता से खुदे हुए हैं कि कागज पर पेन्सिल से खिन्चे हुए चित्रों के समान सुन्दर तथा सजीव ज्ञात होते हैं। चित्रों में चित्रकार ने वास्तविकता तथा सजीवता को मूर्त रूप दे दिया है।



प्राचीन अमेरिका की प्रस्तर-कला का नमूना

इस प्रकार माया सभ्यता के बहुत से चिन्ह हमें मैक्सिको से प्राप्त हुए हैं। उनसे सिद्ध होता है कि जो चित्र वर्षा तथा वायु के थपेड़ों से नष्ट किये जाने के पश्चात् भी अपना इतना सौन्दर्य बनाये हुये हैं वे अपने मौलिक रूप में कितने सुन्दर रहे होंगे। भविष्य में हमारी जानकारी इन प्राचीन निवासियों के विषय में अधिक हो जाने से हमें उनकी सभ्यता के विषय में और भी नई बातें ज्ञात हो सकेंगी। किन्तु जो कुछ भी हमें ज्ञात है उसके आधार पर उनकी सभ्यता को हम साधारण कोटि की नहीं कह सकते। विशेषतया उनकी प्रस्तर-कला तो हमें आश्चर्य में डाले बिना नहीं रह सकती।

अजटेकों की सभ्यता

ऊपर कहा जा चुका है कि मायापान संघ के पश्चात् अजटेकों ने सभ्यता की वृद्धि में सहयोग दिया। अजटेकों ने भी सभ्यता-प्रचार का क्रम उसी प्रकार जारी रखा जैसा कि पहिले माया लोगों ने रखा था। तिथि-पत्रों में उन्होंने कई सुधार किये। चित्र-कला में भी वे प्रवीण थे। मिट्टी के बर्तन बनाने में उन्होंने

काफी दक्षता प्राप्त कर ली। सोने के आभूषण बनाने में भी उनकी प्रवीणता दिखलाई पड़ती है। स्पैनिश यात्री डायज़ ने जो अमेरिका का वृत्तान्त लिखा है वह इन लोगों की कला-कुशलता को भलीभाँति प्रकट करता है। वह लिखता है "मेक्सिको नगर में सुन्दर प्रासाद तथा झीलें हैं। उन झीलों पर सुन्दर पुल बने हैं। देवदारु के वृक्षों की लकड़ी तथा प्रस्तर के बने उनके भवन कितने सुन्दर ज्ञात होते थे। उनके घरों में धन-धान्य की प्रचुरता थी। सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात का ढेर लगा था। बाजारों में भिन्न भिन्न प्रकार की शाक-भाजियाँ, मांस-मछली, अंडे तथा मदिरा उनकी सम्पन्न अवस्था को प्रकट करते थे। उनके नगर में विशाल प्रस्तर के कटे हुए मंदिर बने हुये थे।" इन सब बातों से प्रकट होता है कि उस समय जब योरप में अंधकार का साम्राज्य था इन लोगों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को काफी उन्नत कर लिया था।

भौतिक क्षेत्र में ही अज़टेकों ने उन्नति की हो सो बात नहीं है। उन्होंने गणित, ज्योतिष, वास्तुविद्या, कविता तथा लेखन-कला में भी भारी उन्नति की थी। राज्य की ओर से शिक्षा अनिवार्य्य कर दी गई थी। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पर अज़टेक के नागरिक पूरा ध्यान रखते थे और उसे उच्चतम बनाने का प्रयत्न करते थे। पाँच वर्ष की आयु प्राप्त करते ही बच्चों को पुरोहितों के सुपुर्द कर दिया जाता था कि वे उन्हें योग्य नागरिक बना दें। युवकों को सच बोलने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था। माटज़ूमा नामक सम्राट् ने शिक्षा को भारी प्रोत्साहन दिया। युद्ध-कला में प्रवीण होते हुए भी इसने न्याय-सम्पादन तथा वैभव-वृद्धि में सराहनीय कार्य किया। न्याय-सम्पादन का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। प्रत्येक गवाह को परमात्मा को साक्षी समझ कर गवाही देनी पड़ती थी। देश-द्रोहियों, परस्त्रीगामियों तथा धार्मिक पदाधिकारियों का अपमान करने वालों को मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी जाती थी।

यह थी अमेरिका की प्राचीन सभ्यता जिसे लालची और लुटेरे योरप-वासियों के आगे पराजित होना पड़ा और जिसकी आधीनता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु विजताओं की विजय उस भारी संस्कृति तथा सभ्यता को किस प्रकार नष्ट कर सकती थी जिसका बीज अनेक युगों पहिले भारतवर्ष से लाकर इस महाद्वीप में बोया गया था। यदि यह तथ्य स्वीकार कर लिया जाता है कि दोनों देशों से आज से बहुत समय पहिले सांस्कृतिक सम्बन्ध बना हुआ था तो यह मानना पड़ेगा कि वह समय दूर नहीं है जब दोनों को अपने पूर्वजों के गौरव का स्मरण होगा और दोनों अधिकाधिक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क में ग्रथित होंगे।

बाईसवाँ अध्याय

मध्यकालीन सभ्यताओं पर एक दृष्टि

प्राक्कथन

पिछले अध्यायों में हम ने मध्यकालीन विश्व का संक्षेप में वर्णन किया है। यहाँ भिन्न भिन्न देशों की मध्यकालीन सभ्यताओं का दिग्दर्शन कराना असंगत न होगा। योरप के इतिहास में इस काल का सूत्रपात बर्बर जातियों के आक्रमण के रूप में हुआ। जो कुछ उन्नति पुरातन कालीन सभ्यता ने की थी उसे इन जातियों ने नष्ट कर दिया। सभ्यता की प्रगति केवल रुकी ही नहीं अपितु उसके ह्रास के चिन्ह भी दृष्टिगोचर होने लगे। जिस रोमन साम्राज्य ने यूनानी सभ्यता की रक्षा तथा उन्नति की थी उसी साम्राज्य को इन बर्बर जातियों के सम्मुख नत-मस्तक होना पड़ा। ऐसा प्रतीत होता था कि इन आक्रान्ताओं के सामने यूनान की विद्या तथा कला-कौशल नष्ट हो जायँगे। किन्तु ऐसा न हुआ। समय ने पलटा खाया। विजेताओं ने नई सभ्यता को अंगीकार किया। उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर इस धर्म का दूर दूर प्रचार किया। सभ्यता की नदी का स्रोत फिर बहने लगा। पवित्र रोमन साम्राज्य ने फिर एक धर्म संघ की स्थापना कर पोप के धार्मिक तथा सम्राट् के राजनीतिक नेतृत्व में फिर से योरप का पथ-प्रदर्शन किया। किन्तु यह नेतृत्व शक्तिशाली न था। सम्राट् का अधिकार नाम मात्र का था। हाँ, एक बात बड़ी अच्छी तरह हो सकती थी। यदि सम्राट् तथा पोप सहकारिता की भावनाओं से कार्य करते तो योरप की अराजकता अवश्य नष्ट हो जाती। किन्तु यहाँ तो अपनी अपनी प्रभुता का प्रश्न था। परिणाम यह हुआ कि दोनों में संघर्ष हुआ। कभी इस पक्ष की और कभी उस पक्ष की विजय होती। इस संघर्ष से लाभ उठाया सामन्तों तथा छोटे छोटे राजाओं ने। योरप में सामन्त प्रथा का बोलबाला रहा। यह सामन्त प्रथा थी क्या? अराजकता तथा दुर्व्यवस्था का यह कानूनी स्वरूप था। अर्थात् सामन्तों तथा सरदारों को एकत्रित होकर सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह करने का कानूनी अधिकार मिला हुआ था। इस सामन्त प्रथा ने कई शताब्दियों तक योरप को अपने चंगुल में फँसाये

रहा। किन्तु आखिरकार अनेक कारणों से सामन्त प्रथा का भी योरप से अन्त हो गया। उन सब परिस्थितियों का पहिले वर्णन हो चुका है।

अन्धकार के युग में तथा मध्यकाल में सभ्यता की क्या दशा रही? यह बात निर्विवाद है कि यद्यपि अन्धकार के युग में सभ्यता की प्रगति में कुछ बाधाएँ आई थीं तथापि मध्यकाल में सभ्यता की उन्नति का क्रम पूर्ववत् चलता रहा। ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल में पोप के अनुचित हस्तक्षेप के होते हुए भी अपनी ज्योति को बुझने न दिया। रोजर बेकन, ल्योनार्डो डा विन्सी, विकलिफ आदि ने भौतिक विज्ञान तथा अन्तःकरण की स्वाधीनता का संदेश मध्यकालीन विश्व को सुनाया। मध्यकालीन युग में अन्धकार अवश्य था किन्तु यह अन्धकार सूर्योदय से पूर्व का अन्धकार था जिसके पश्चात् ज्ञान रूपी सूर्य ने अज्ञान-तिमिर को नष्ट कर विश्व में अपना प्रकाश फैलाया। यदि यह ऐतिहासिक सत्य है कि प्रत्येक परिवर्तन से पहिले उसके कारण उपस्थित हो जाते हैं तो यह बात निस्संदेह सत्य है कि आधुनिक युग के बीज मध्यकाल में ही बो दिये गये थे। भूत, वर्तमान तथा भविष्य एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि वर्तमान की जड़ भूतकाल में है तथा वर्तमान का फल भविष्य में। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वर्तमानकालीन उन्नति का सूत्रपात मध्ययुग में ही हो गया था। छापे की कला का प्रचार चीन से अरब होता हुआ योरप पहुँच गया था। इस आविष्कार ने मानव जाति की अपूर्व सेवा की है। जर्मनी तथा इंगलैण्ड में इसका प्रचार होने के पश्चात् तो ज्ञान-प्राप्ति के साधन सर्वसाधारण के लिये उपलब्ध हो गए। सामन्त प्रथा के नष्ट होने में नगरनिवासियों ने भारी सहयोग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शहरों में एक वर्ग ऐसा बन गया जो कार्य-कुशल तथा धनाढ्य था। कालान्तर में यही वर्ग मध्यम वर्ग कहलाया जाने लगा। इसी वर्ग ने पहिले राजा का साथ सामन्त प्रथा को नष्ट करने में दिया। फिर राजाओं की निरंकुशता दूर करने का बीड़ा भी इसी वर्ग ने उठाया। सामन्तों तथा सरदारों के हाथ से सत्ता निकल कर इनके हाथ में आ गई और पूँजीवाद का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार मध्य युग के पश्चात् वर्तमान युग का श्रीगणेश हुआ।

मध्य युग में योरप को सभ्यता प्रचार में एक नई शक्ति से सहायता मिली। वह शक्ति थी इस्लाम। इस्लाम ने एशियाई देशों को जीत कर मिस्र तथा उत्तरी अफ्रीका को जीतने के पश्चात् स्पेन पर आक्रमण किया और उसे जीत कर इस्लामी

साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। कालान्तर में स्पेन इस्लामी सभ्यता का केन्द्र हुआ। अरबों ने यूनानी ग्रन्थों का अध्ययन किया। उनके ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया। कुछ समय पश्चात् अरबी के अनुवाद को योरपीय भाषाओं में अनूदित किया गया। इस प्रकार अरबों द्वारा योरपवासियों को अपने प्राचीन मनीषियों के भाव जानने का अवसर मिला। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि स्पेन में काराडोवा का विश्वविद्यालय अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के लिये विख्यात हो गया और उसकी अमिट छाप योरप के विश्वविद्यालयों पर पड़ी। अरबों ने बहुत सी बातें भारतवर्ष से भी सीखीं। इस प्रकार भारतवर्ष तथा एशिया की संस्कृति अरबों द्वारा योरप पहुँची तथा वहाँ वालों की पथप्रदर्शक बनी।

योरप की सभ्यता को देखने के पश्चात् एशियाई सभ्यता का वर्णन करना आवश्यक है।

एशियाई देशों की सभ्यता का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि जब कि मध्य युग योरप में अंधकार का युग था एशिया में अपेक्षाकृत शांति तथा समृद्धि थी। यद्यपि एशिया को भी हूणों, अरबों, मंगोलों तथा तुर्कों के आक्रमणों का शिकार बनना पड़ा था तथापि एशिया ने अपनी अद्भुत चेतना-शक्ति का परिचय दिया। आक्रान्ताओं तथा विजितों में सांस्कृतिक आदान प्रदान हुआ और विजेता विजितों के साथ हिल मिल गए। चीन में कुबलाई खाँ और भारत में अकबर दो ऐसे शासक थे जिन्होंने विदेशी होते हुए भी विजितों के साथ सहानुभूति दिखलाई और उनके संयोग-वियोग, राग-रंग में भाग लिया। समय व्यतीत होने पर पुराने घाव भर गए और दोनों के सामञ्जस्य से नई सांस्कृतिक धाराएँ प्रकट हुईं। भारत की 'भक्ति' धारा इसी समन्वय का दूसरा नाम थी।

नई जातियों की इस उथल-पुथल तथा विजयों के पश्चात् भी मध्यकालीन विश्व उन सब कारनामों से वंचित रहा जो आधुनिक युगमें पश्चिमी जगत की एक विशेषता हो गई। मध्य युगमें विजेता रक्त बहाने में संकोच नहीं करते थे किन्तु उसके पश्चात् वे उस देश में बस जाते थे अथवा लूटमार कर लौट जाते थे। आधुनिक युग का साम्राज्यवाद तथा आर्थिक रक्त-शोषण उस युग में न था। "गोरी चमड़ी वालों का भार" जैसी वस्तु उस युग में न थी। धर्म

के नाम पर अवश्य रक्तपात मध्य युग में होते थे किन्तु इन सब के लिये भी धर्म के अतिरिक्त और भी कारण उपस्थित हो जाते थे।

यदि यह पूछा जाय कि मध्य युग में एशिया ने सभ्यता-प्रचार के लिये क्या किया तो इसका उत्तर यही निकलेगा कि एशिया योरप से आगे ही था। चीन को छापे की कल तथा कुतुबनुमा के आविष्कारों का उल्लेख हो ही चुका है। इसके अतिरिक्त भारतीयों की ज्योतिष, बीजगणित तथा चिकित्सा शास्त्र की उन्नति योरपीय देशों तथा सभ्य संसार के लिये अमूल्य देन सिद्ध हुई जिनसे आगे का मार्ग एकदम स्पष्ट हो गया और सभ्यता की प्रगति में भारी सहायता मिली।

पुरातन सभ्यताओं के मुख्य स्थानों-भारत, चीन, ईरान तथा मध्यकालीन सभ्यताओं के मुख्य स्थान अरब, मंगोलिया तथा तुर्किस्तान के विषय में एक शब्द यहाँ और कहना असंगत न होगा। ये सब देश अपनी सभ्यताओं के कारण इस युग तक प्रमुख स्थान विश्व में ग्रहण करते रहे किन्तु जो नई लहर व्यापार, वाणिज्य-व्यवसाय तथा विज्ञान की आ रही थी उसमें इन देशों ने कोई तत्परता नहीं दिखलाई। इसका परिणाम यह हुआ कि इन देशों को मुँह की खानी पड़ी और योरप के देश इनसे सभ्यता तथा उन्नति में बाजी मार ले गए। 'गुरु गुड़ ही रहा और चेला शक्कर हो गया' वाली कहावत एशिया तथा योरप के इतिहास से भलीभाँति प्रकट होती है।

परिशिष्ट

दुहराने के लिये प्रश्न

१. प्राचीन पाषाण काल तथा उत्तर पाषाण काल की सभ्यताओं की तुलना कीजिये ।

२. "मानव सभ्यता की उन्नति प्रकृति के साथ संघर्ष करने के कारण ही हुई है ।" इस कथन को स्पष्टतापूर्वक समझाइये ।

३. दजला फरात की घाटी में सभ्यता की उन्नति किन कारणों से हुई ?

४. सुमेरिया तथा बेबीलोन की सभ्यताओं का वर्णन इन शीर्षकों के आधार पर कीजिये:— (१) राजनीतिक संगठन (२) सामाजिक दशा तथा धर्म, (३) कला-कौशल ।

५. हम्बूरावी के कानूनी संग्रह की विशेषताएँ बताइये और इसकी तुलना सोलन तथा लाइकरगस के बनाये हुए संग्रहों से कीजिये ।

६. प्राचीन मिस्र में सभ्यता की उन्नति किन कारणों से हुई ?

७. अखनाटन ने मिस्र के धार्मिक जीवन में क्या परिवर्तन किये ? उसकी असफलता के कारण समझा कर लिखिये ।

८. मिस्रवासियों के धार्मिक विश्वासों को विस्तारपूर्वक बताइये । इन-विश्वासों का कला-कौशल तथा वास्तु-विद्या पर क्या प्रभाव पड़ा ?

९. मिस्र की सामन्त प्रथा पर अपने विचार स्पष्टतापूर्वक लिखिये ।

१०. प्राचीन मिस्र की सभ्यता की तुलना सिंधु नदी की घाटी की सभ्यता से कीजिये ।

११. मोहंजदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों से भारतीय इतिहास के ऊपर जो नया प्रकाश पड़ा है उसे विस्तारपूर्वक समझाइये । इस काल की सभ्यता को किस नाम से पुकारना उचित होगा ?

१२. यूनान तथा ईरान के पारस्परिक झगड़ों के कारण विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये । यूनान की आंतरिक स्थिति पर इन झगड़ों का क्या प्रभाव पड़ा ?

१३. "प्राचीन यूनान को योरप की सभ्यताओं की जननी कहना पूर्णतया उचित है।" स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

१४. प्राचीन यूनान की विश्व सभ्यता के लिये क्या देन रही ?

१५. रोमन साम्राज्य के राजनीतिक संगठन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१६. रोम तथा कार्थेज के पारस्परिक युद्धों के कारण विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।

१७. फ्यूनीशिया के निवासियों ने मानव सभ्यता की उन्नति में क्या सहयोग दिया ?

१८. एशिया निवासियों की सभ्यता का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।

१९. "यहूदियों की सभ्यता की सब से बड़ी देन संकीर्ण तथा उग्र राष्ट्रीयता के भाव हैं।" आलोचनात्मक दृष्टि से इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

२०. रोमन साम्राज्य के पतन के कारणों को विस्तार पूर्वक समझाइये।

२१. "यदि यूनानियों की सभ्यता का आधार बुद्धिवाद था तो रोमवासियों की सभ्यता का आधार कुशल राजनीति थी।" स्पष्ट कीजिये।

२२. भगवान बुद्ध के उपदेशों की तुलना कन्फ्यूशस के सिद्धान्तों से कीजिये।

२३. भारतीय सभ्यता की विशेषताएँ विस्तार पूर्वक बताइये।

२४. आर्यों के सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन की तुलना प्राचीन यूनानियों के सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन से कीजिये।

२५. "किसी भी देश के पास अपनी प्राचीनता पर गर्व करने के उतने कारण नहीं हैं जितने भारतवर्ष के पास।" स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

२६. चीन के राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन की तुलना आर्यों के राजनीतिक तथा सामाजिक संगठन से कीजिये।

२७. लाओज़े तथा कन्फ्यूशस के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये। चीन के सामाजिक जीवन पर इनका क्या प्रभाव पड़ा ?

२८. चीन की सामन्त प्रथा की तुलना योरप की सामन्त प्रथा से कीजिये।

२९. ज़ुरथुस्त के धार्मिक सिद्धान्तों का स्पष्टतापूर्वक वर्णन कीजिये।

३०. खारा के राजनीतिक संगठन का वर्णन विस्तार पूर्वक कीजिये। इस संगठन का तत्कालीन सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३१. इस्लाम के मुख्य मुख्य सिद्धान्त विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये। इस्लाम की विश्व सभ्यता के लिये क्या देन है ?

३२. हूणों, तुर्कों तथा मंगोलों के आक्रमणों का एशिया तथा योरप पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३३. खलीफा हारूं-उल-रशीद के समय की बग़दाद की सभ्यता का वर्णन विस्तार पूर्वक कीजिये। विश्व सभ्यता के लिये अरब सभ्यता की क्या देन रही ?

३४. पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना के कारण समझाइये और इसकी तुलना प्राचीन रोमन साम्राज्य से कीजिये।

३५. पूर्वी रोमन साम्राज्य की स्थापना किन परिस्थितियों में हुई ? किन आपत्तियों का इस साम्राज्य को सामना करना पड़ा ?

३६. पूर्वी रोमन (कुस्तुन्तुनिया के) साम्राज्य को सासानी साम्राज्य से किन कारणों से युद्ध करने पड़े ? इन युद्धों का दोनों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३७. चार्ल्स महान (शार्लमेन) के सभ्यता-प्रचार तथा शासन-प्रबंध का वर्णन विस्तार पूर्वक कीजिये।

३८. मुस्लिम आक्रमणों के समय भारत की राजनीतिक दशा का वर्णन कीजिये। मुस्लिम विजय का भारतीय सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३९. विजयनगर के राजनीतिक संगठन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

४०. चीन तथा भारतवर्ष के सन् ५०० ई० से लेकर सन् १५०० ई० तक के सांस्कृतिक सम्बन्ध पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

४१. चीन पर मंगोली शासन का क्या प्रभाव पड़ा ? इस प्रभाव की तुलना अन्य मंगोल शासकों के प्रभाव से कीजिये।

४२. मध्यकालीन योरप की सभ्यता का वर्णन कीजिये। इस सभ्यता की तुलना एशियाई देशों की तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक दशाओं से कीजिये।

४३. भारत के मुग़ल शासकों की शासन-नीति की तुलना देहली के सुल्तानों की शासन-नीति से कीजिये।

४४. योरप की सामन्त प्रथा के गुण-दोष विस्तार पूर्वक बताइये। किन कारणों से योरप की सामन्त प्रथा का नाश हुआ?

४५. जापान की सभ्यता पर चीनी सभ्यता का क्या प्रभाव पड़ा?

४६. जापान की सामन्त प्रथा की विशेषताएँ बताते हुए वहाँ के सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन की तुलना चीन के सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन से कीजिये।

४७. "जिस समय भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति विदेशियों के आक्रमण के कारण संकट में थी, भारत के बाहर उसकी रक्षा मलेशिया तथा बृहत्तर भारत में होती रही।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

४८. प्राचीन अमेरिका की सभ्यता पर भारतवर्ष की सभ्यता का क्या प्रभाव पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर दीजिये।

४९. योरपवासियों के अमेरिका पर आक्रमण करने के समय वहाँ वालों की सभ्यता की क्या दशा थी?

५०. संक्षिप्त ऐतिहासिक टिप्पणियाँ लिखिये :—

लेखन-कला, बारूद का आविष्कार, सुकरात का बलिदान, शंकराचार्य का वेदान्त-प्रचार, मिस्र के पिरेमिड, ईसाईयों तथा मुसलमानों के धर्मयुद्ध, रोमन चर्च में महान विच्छेद, सिकन्दरिया के विश्वविद्यालय, माराथान का युद्ध, यहूदियों की बाइबिल (Old Testment), मार्कोपोलो की यात्रा, हलाकू खाँ, एथेन्स का प्रजातंत्र, काराडोवा, टूअर्स का युद्ध, हिड्डियों का व्यापार तथा रोमन साम्राज्यवाद।

प्रमुख तिथियाँ

तिथि	घटना
लगभग ४५०० ई० पू० से २००० ई० पू०	सुमेरिया की प्रभुता ।
,, ३२०० ई० पू० से १६३९ ,, ,,	मिस्र में फेराहों का शासन ।
,, ३००० ई० पू०	सिंधु की घाटी की सभ्यता की उन्नति ।
,, २००० ई० पू०	आर्य्यों का भारत पर आक्रमण ।
,, २००० ,, ,, से १२०० ,, ,,	हिट्टियों की सभ्यता का उदय तथा उन्नति ।
,, २००० ,, ,, से १००० ,, ,,	एजिया की सभ्यता का उदय तथा उन्नति; नौसास नगर की स्थापना ।
,, २७५० ई० पू०	सारगोन प्रथम द्वारा अकेडिया-सुमेरिया राज्य की स्थापना ।
,, १९०० ई० पू० से १६०० ,, ,,	बेबीलोन की प्रभुता ।
,, २८५० ,, ,,	चीन में सम्राटों का उदय ।
,, १६०० ,, ,, से १००० ,, ,,	मिस्र में साम्राज्यवादी युग ।
,, १४५० ,, ,,	हिट्टियों का निनीवे पर अधिकार कर लेना ।
,, १०९५ ,, ,,	हजरत मूसा का जन्म ।
,, १७५० ,, ,,	चीन में शांग वंश की स्थापना ।
	चीन में चाऊ वंश की स्थापना ।
,, ८०० ,, ,,	कार्थेज की स्थापना ।
,, ७५३ ,, ,,	रोम की स्थापना ।
,, ७५३ ,, ,,	यूनानियों का सिसली में जा कर बसना ।
,, ६०८ ,, ,,	मिस्र के राजा नीको का जूदा के राजा जोशिया को हरा देना ।
,, ६०६ ,, ,,	कैल्डिया के साम्राज्य की स्थापना ।

तिथि	घटना
,, ५३९ ,, ,,	सीरस का बेबीलोन पर अधिकार और ईरानी साम्राज्य की स्थापना।
,, ५२५ ,, ,,	केम्बसीज की मिस्र-विजय।
,, ५२१ ,, ,,	दारा का ईरान का शासक होना।
,, ४९० ,, ,,	माराथान की लड़ाई और दारा की पराजय।
,, ४८० ,, ,,	थर्मापोली तथा सेलेमिस के युद्धों में ईरानियों की पूर्ण पराजय।
,, ४२८ ,, ,,	पेरीक्लीज़ की मृत्यु।
,, ३३२ ,, ,,	सिकन्दर का मिस्र पर आक्रमण।
लगभग ३२६ ई० पू०	झेलम का युद्ध और पुरू की पराजय।
,, ३२३ ,, ,,	सिकन्दर की मृत्यु।
,, ३२१ ,, ,,	चंद्रगुप्त की भारत में सम्राज्य-स्थापना।
,, २२० ,, ,,	शी ह्वांग टी का चीन का सम्राट् होना।
,, १४६ ,, ,,	कार्थेज का नष्ट होना।
,, ४४ ,, ,,	जूलियस सीज़र का वध।
,, ४ ,, ,,	ईसा की वास्तविक जन्म-तिथि।
३० ई०	ईसा को फाँसी।
२२० ई०	चीन में हान वंश का अंत।
३१२ ई०	कान्स्टैन्टाइन का सम्राट् होना।
४५१ ई०	अटिल्ला हूण का फ्रांस पर आक्रमण
४५३ ई०	अटिल्ला की मृत्यु।
४५५ ई०	वेन्डलों का रोम को भस्म कर देना।
५२८ ई०	हूणों के राजा मिहिरकुल का गुप्त सम्राटों द्वारा पराजित होना।
५७० ई०	मुहम्मद का जन्म।
६२२ ई०	हिजरी सन् का प्रारम्भ होना॥

तिथि	घटना
६२५ ई०	ह्वान सांग की भारत-यात्रा ।
६३२ ई०	मुहम्मद की मृत्यु-अबूबकर का खलीफा बनना ।
७७१ ई०	शार्लमेन का शासक होना ।
७८६ ई०	हारूं-उल-रशीद का ख़लीफा होना ।
६६० ई०	चीन में शुगं वंश की स्थापना ।
६६९ ई०	मिस्र में पृथक खलीफाओं की स्थापना ।
१०७३ ई०	ग्रीगोरी का पोप होना; सम्राटों तथा पोपों के झगड़ों का सूत्रपात ।
१०७७ ई०	हेनरी का कनौसा में प्रायश्चित ।
१०९६ ई०	धर्मयुद्धों का प्रारम्भ होना; पहिले धर्मयुद्ध में जनता की हार ।
११८७ ई०	सलादीन का मिस्र का सुल्तान बनना ।
१२०६ ई०	कुतुबउद्दीन द्वारा भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना ।
१२१८ ई०	चंगेज़ खाँ के आक्रमणों का प्रारम्भ होना ।
१२४० ई०	मंगोलों की रूस-विजय ।
१२४१ ई०	मंगोलों की साइलेशिया-विजय ।
१२८० ई०	कुबलाई खाँ का चीन का शासक होना ।
१३७८ ई०	रोमन कैथोलिक चर्च में महान विच्छेद ।
१३९८ ई०	तैमूर का भारत पर आक्रमण ।
१४५३ ई०	उस्मानी तुर्कों का कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लेना; योरप में विद्या का पुनरुद्धार तथा नवीन युग का प्रारम्भ ।

द्वितीय खण्ड

(आधुनिक विश्व)

आधुनिक विश्व

पहला अध्याय

आधुनिक युग का सूत्रपात

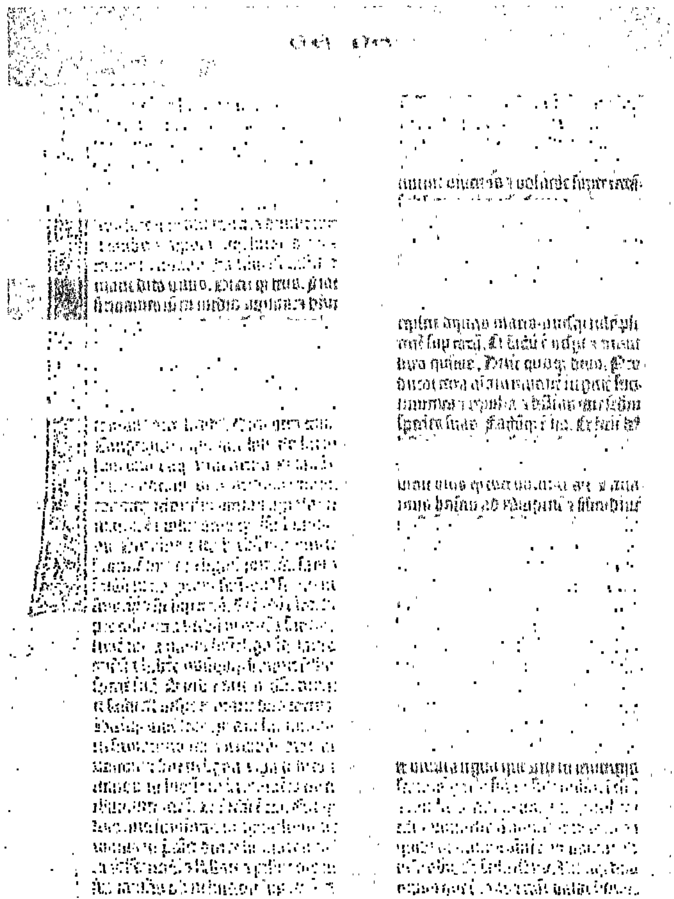
प्राक्कथन

मध्यकालीन सभ्यता के वर्णन को समाप्त करते हुए उन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया गया था जिनके परिणामस्वरूप योरप तथा एशियाई प्रदेशों में नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि कोई निश्चित तिथि मध्य काल से वर्तमान काल को पृथक् करने के लिये नहीं कही जा सकती तथापि इतना निश्चित है कि पन्द्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में तथा मध्य तक वे प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगीं जिनका उदय वर्तमान युग में हुआ। कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में जर्मनी में छापे की कल का प्रचार नवीन युग का द्योतक था। अन्य इतिहास-कारों की सम्मति में गोला-बारूद का आविष्कार नये परिवर्त्तन का सूचक था। इसके विपरीत कुछ लोगों की सम्मति में सन् १४५३ ई० में उस्मानी तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार नये युग का परिचायक था। हमारी सम्मति में ये सब कारण एक दूसरे के पूरक हैं, विपरीत नहीं। इतना स्पष्ट है कि अब से योरप में वह नवीन धारा बह चली जिसका उदय वर्तमान काल में हुआ और जिसके कारण अज्ञान अंधकार का नाश तथा ज्ञान का प्रकाश हुआ। इस परिच्छेद में हम नवीन युग की मुख्य २ प्रवृत्तियों यथा विद्या का पुनरुद्धार, धर्मसुधार, नवीन देशों की खोज आदि का वर्णन कर अंत में इसकी विश्व-सभ्यता को क्या देन रही इस विषय पर विचार प्रकट करेंगे।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा मानववाद

पिछले अध्यायों में यह बतलाया गया है कि मानव सभ्यता प्रगतिशील होने के साथ २ भूत काल से अपना अटूट सम्बन्ध बनाये हुए है। वर्तमान की जड़ भूत में है। यही दशा योरप के पुनरुद्धार की थी। ज्ञान का पुनरुद्धार रोम तथा ग्रीक की सांस्कृतिक देन तथा विशेषताओं का नवीन संस्करण था। अर्थात् जो विचार अज्ञान के युग में लुप्त हो गए थे उनका पुनरुद्धार पन्द्रहवीं शताब्दि के आरम्भ से हुआ। तुर्कों के कुस्तुन्तुनिया पर अधिकारकर लेने से यूनानी विद्वान इधर उधर जान बचा कर भागे। कुछ लोगों ने दक्षिणी इटली में

जाकर शरण ली। इन विद्वानों के पास यूनानी विचारकों की हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह मौजूद थे। इटलीवासियों को स्वभावतः यूनानी विचारधारा में अधिक रुचि उत्पन्न हुई। इस नवीन विचारधारा से प्रभावित होनेवाले कुछ विद्वानों के नाम हम मध्यकालीन सभ्यता का वर्णन करते समय बतला चुके हैं। इटली



छापे की कला का आविष्कार

के प्रसिद्ध कवि दान्ते तथा पेट्रार्क के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस युग की एक विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। मध्य युग के अध्ययन का विषय ईसाई धर्मग्रन्थ तथा साधु-सन्तों के उपदेश थे। केवल बायबिल ही पाठ्य-पुस्तक थी। उसका अध्ययन तथा मनन ही शिक्षा का प्रमुख अंग था। विचारकों को अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता न थी। धर्म की आज्ञा से नवीन विचारधारा के समर्थकों को मृत्यु के घाट उतार दिया गया था। किन्तु अब इस लहर ने एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। वह प्रवृत्ति थी मानववाद। अर्थात् अब यह उचित समझा गया कि वे ही विषय पढ़ाये जाने चाहियें जिनका सम्बन्ध मानवजाति से है—अर्थात् मनुष्य के राग-द्वेष, शोक-सन्ताप, संयोग तथा वियोग ही साहित्य के प्रमुख अंग होने चाहियें। इस प्रकार यह नवीन प्रवृत्ति मानववाद के नाम से विख्यात हुई क्योंकि अब यह सिद्धान्त प्रतिपादित होने लगा कि मनुष्य ही सारे सांसारिक व्यापारों का मापदण्ड है।

विद्या के इस पुनरुद्धार का वर्णन उस समय तक अपूर्ण है जब तक कि उसमें इस युग का प्रतिनिधित्व करने वाले कवियों तथा लेखकों का वर्णन न हो। ऊपर पेट्रार्क का उल्लेख हो चुका है। पेट्रार्क की कृतियों को समझना पुनरुद्धार की इस लहर को समझना है। यद्यपि उसका जन्म मध्य युग में हुआ था तथापि उसने यह सत्य भलीभाँति समझ लिया था कि यदि योरपीय संस्कृति की रक्षा और उसका निर्वाह करना है तो प्राचीन साहित्य का अध्ययन अवश्य करना होगा। प्राचीन लेखकों की कृतियों का वह बड़ा प्रेमी था। उसका शिष्य बोकासियो था जिससे इंगलैंड के कवि चॉसर को काव्य-प्रेरणा मिली। यद्यपि धर्माधिकारियों का दृष्टिकोण इस धारा के प्रतिकूल था तथापि कुछ पोपों ने इस नवीन विचारधारा का स्वागत किया और उसे प्रोत्साहन दिया। पोप निकोलस पंचम, जुलियस द्वितीय तथा लियो दशम के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। लियो के आधिपत्य में रोम पुनरुद्धारकालीन सभ्यता तथा ज्ञान का प्रमुख केन्द्र बन गया। जब कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ और इस पर कुछ लोगों को दुःख हुआ तो इन विद्वानों ने कहा, "यूनान का पतन नहीं हुआ है—यूनान कुस्तुन्तुनिया को छोड़कर इटली आ गया है।" इस कथन से रोम के कार्य का अनुमान लगाया जा सकता है। इस युग के विद्वानों ने संस्कृति तथा ज्ञान के प्रति जो अदम्य उत्साह प्रदर्शित किया, आविष्कारकों ने जिन वस्तुओं का आविष्कार किया, चतुर नाविकों ने जिन नवीन देशों का पता लगाया, धर्म सुधारकों ने जो मानसिक स्वाधीनता प्राप्त की उस सब का परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं

शताब्दि योरप के इतिहास का स्वर्ण युग बन गया। ज्ञान तथा विज्ञान की इस आश्चर्यजनक उन्नति में प्रत्येक देश ने अपना कुछ न कुछ सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार यह युग योरप का अत्यन्त महत्वपूर्ण युग समझा जाता है।

रोजर बेकन तथा उसकी प्रयोगात्मक शैली के सम्बन्ध में दो शब्द और। यह योरप का सर्वप्रथम विचारक था जिसने वादविवाद के स्थान पर प्रयोगात्मक शैली को अपनाया। सत्य को जानने के लिए जिज्ञासु के पास दो साधन हैं—एक है वादविवाद, दूसरा प्रत्यक्ष अनुभव। वैज्ञानिक प्रत्येक सत्य को अनुभव तथा प्रयोग की कसौटी पर कसता है और तब उसे स्वीकार करता है। दांते तथा पेट्रार्क की भावना और रोजर बेकन की प्रयोगात्मक शैली ने समस्त युग के ऊपर अपनी अमिट छाप डाली। माइकेल एन्जेलो, कोपरनिकस, गेलीलियो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चीनियों द्वारा छापे की कल के आविष्कार तथा कागज बनाने की कला ने इस नवीन विचारधारा को सर्व साधारण के लिये सुगम बनाने में स्तुत्य कार्य किया। इन वैज्ञानिकों के अतिरिक्त साहित्यिकों तथा लेखकों का वर्णन ऊपर हो चुका है। फिर



कापरनिकस

भी कुछ और साहित्यिकों तथा लेखकों का उल्लेख यहाँ पर आवश्यक है। शेक्सपीयर इंगलैंड के इस युग के सर्वोच्च नाट्यकार तथा कवि थे। सर्वान्टीज़ स्पेन के गल्प-लेखक थे। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक थे रेबीलेस तथा मान्टेन। अंगरेजी लेखक फ्रांसिस बेकन इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखक थे। भारतवर्ष के कौटिल्य मैकियावैली ने अपनी पुस्तक 'राजकुमार' (Prince) में तत्कालीन योरोपीय राजनीतिक नैतिकता का अच्छा चित्र खींचा। प्रसिद्ध लेखक जान ड्रिंकवाटर के कथनानुसार "अंगरेजी लेखक शेक्सपीयर, फ्रांसीसी लेखक रेबीलेस तथा स्पेनवासी सर्वान्टीज़ इस पुनरुद्धार विचारधारा के तीन प्रकाण्ड पण्डित थे।"

इस काल की सर्वोत्कृष्ट काल्पनिक रचना अंगरेजी लेखक सर टामस मूर

की प्रसिद्ध पुस्तक युटोपिया है। लेखक ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा एक ऐसे जगत की कल्पना की है जिसमें पूर्णरूपेण मानसिक तथा बौद्धिक स्वच्छन्दता है और किसी भी प्रकार का अभिशाप अथवा कलंक मानव समाज पर नहीं है।

साहित्य तथा विज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् कला के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा। रोम में सन्त पीटर का गिरजाघर नवीन शैली के अनुसार बनाया गया। मध्यकालीन शैली की अपेक्षा इस काल की शैली अधिक सुन्दर, कलात्मक तथा परिष्कृत थी। राफल तथा लानार्डो डा विन्सी के चित्र सभ्य संसार की अब भी अमूल्य निधियाँ समझी जाती हैं।

भौगोलिक खोज

ज्ञान के पुनरुद्धार की इस लहर का प्रभाव योरपवासियों पर एक और प्रकार से भी पड़ा। तुर्कों के कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने से स्थल द्वारा योरप से एशिया जाना असम्भव हो गया। नाविकों तथा व्यापारियों ने अब समुद्र द्वारा एशिया पहुँच कर वहाँ के व्यापार से लाभ उठाना चाहा। पुर्तगाल के राजकुमार हेनरी 'नाविक' ने अफ्रीका का सामुद्रिक मार्ग खोज निकाला।

कप्तान डाइज़ ने सन् १४८६ ई० में उत्तमाशा अंतरीप का चक्कर काटा। इससे पहले कुतुबनुमा का आविष्कार हो चुका था। उसकी सहायता से विशाल समुद्रों को पार करना आसान हो गया। रात्रि के समय उसी से दिशाओं का ज्ञान हो जाता था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मसाले के देशों को खोज निकालने की चाट योरप को लगी हुई थी और उसी चाट के परिणाम स्वरूप भारत तथा मसाले के द्वीपसमूह को पहुँचना आसान हो गया। इन नाविकों में सबसे प्रसिद्ध स्थान कोलम्बस, वास्को डिगामा तथा मेगलन का है। कोलम्बस जिनोआ का एक नाविक था। स्पेन के राजदरबार में पहुँच कर उसने सन् १४९२ ई० में भारत के लिये प्रस्थान किया। अनेक आपत्तियों का सामना करने के पश्चात् वह अमेरिका के समुद्र-तट पर पहुँचा। वह अभी इस भ्रम में था कि जिन द्वीपों का उसने पता लगाया है वे भारत के पूर्ववर्ती द्वीप हैं; इसी कारण उसने उन्हें पूर्वी द्वीपसमूह कह कर पुकारा। यद्यपि कोलम्बस अमेरिका महाद्वीप के पूर्ववर्ती द्वीपों में सर्व प्रथम पहुँचने वाला योरोपियन था किन्तु उसका इतना सौभाग्य न था कि इस महाद्वीप का नाम उसके नाम पर पड़े। ऐसा सौभाग्य सन् १४९७ में अमेरिगो को प्राप्त हुआ। अमेरिगो के नाम से इस महाद्वीप का नाम अमेरिका हो गया। मेगलन अपने जहाज द्वारा प्रशांत महासागर को पार कर फिलिपाइन द्वीप-समूह पहुँचा। यद्यपि उसकी मृत्यु हो गई

तथापि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके अन्य साथियों ने संसार की परिक्रमा की ; तीसरा प्रसिद्ध नाविक वास्को डि गामा पुर्तगाल का निवासी था। उत्तमाशा अंतरीप होकर वह सन् १४९८ ई० में भारतवर्ष के बन्दरगाह कालीकट पहुँचा और वहाँ पर पुर्तगालवासियों के लिये व्यापारिक अधिकार प्राप्त किये। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस खोज में स्पेन तथा पुर्तगाल ने प्रमुख भाग लिया। सन् १४९३ ई० में पोप की एक आज्ञा से खोज किये हुए देश दो भागों में बँट गये। आंध्र महासागर से होकर एक रेखा खींच दी गई। इसके पूर्व का देश पुर्तगाल को मिला और पश्चिमी स्पेन को।

इस नवीन संसार में योरोपीय नाविकों के पहुँचने से पहिले सभ्यता तथा संस्कृति की क्या दशा थी ? पिछले अध्याय में बताया जा चुका है मेक्सिको तथा पीरू की सभ्यता विजेताओं की सभ्यता से कहीं अधिक उन्नत तथा परिष्कृत थी। योरोपवासियों के कारनामों से पश्चिमी सभ्यता का नग्न रूप इन देशवासियों को देखने को मिला। स्पेनवासियों ने अपनी निर्दयता में हूणों तथा मंगोलों को मात कर दिया। अफ्रीका से हब्शी दासों को पकड़ कर अमेरिका पहुँचाया गया और उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किया। इस कार्य को सफलतापूर्वक करने वाला अंगरेजी नाविक कप्तान हाकिन्स था। कहना न होगा कि इस निर्दयता के सामने मेक्सिको तथा पीरू की फलती-फूलती सभ्यता नष्ट हो गई। कला, कौशल तथा वैभवपूर्ण स्थान ऊसर तथा श्मशान बन गए। स्पेन निवासी लालची तथा असभ्य थे। उनको केवल रुपये की अभिलाषा थी। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। स्पेनिश सेनापति पिज़ारो ने इनकाओं के नेता अताहालपा को बन्दी बना लिया और उसे वचन दिया कि यदि वह स्वर्ण से भरा एक कमरा दे देगा तो उसे स्वतंत्र कर दिया जायगा। ऐसा ही किया गया किन्तु प्रतिज्ञा फिर भी अपूर्ण रही। यह था स्पेन का लालच और असत्य।

योरप में धर्म-सुधार

इस नवीन विचारधारा ने योरपवासियों के धर्म पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। मध्य युग में पोपों तथा पादरियों का प्रभुत्व अकथनीय था। केवल बाइबिल ही अध्ययन का विषय था और उसका भी वह अर्थ प्रामाणिक था जिसे पादरी तथा पोप

देखिये परिच्छेद २१

बतायें। योरप की भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद न होने से सर्वसाधारण उसके ज्ञान से अपरिचित थे। पोपों के अधिकारों के सामने महान सत्ताधारी सम्राट् तक थर्राते थे। बहिष्कृत करने का अमोघ अस्त्र उनके पास था। प्रत्येक देश से असंख्य धन पोप के खजाने में आता था जहाँ पर उसका दुरुपयोग होता था। पोपों तथा पादरियों की विलासिता का कहना ही क्या? धनीमानी पुरुष तथा सम्राट् भी उनके वैभव के आगे तुच्छ थे। यद्यपि कुछ पोपों ने सादगी तथा सदाचार का उच्च आदर्श ईसाई जगत के सम्मुख रखा था तथापि अधिकांश पोपों की नैतिक भ्रष्टता सर्वसाधारण को चुभने लगी। हालैण्ड के प्रमुख विद्वान इरास्मस ने पोप की साधुता की खिल्ली उड़ाई। अंगरेजी विचारक विकलिफ ने भी रोमन कैथोलिक चर्च के दोषों को सर्वसाधारण के सम्मुख रखा। हस नामक एक विद्वान् ने प्रेग विश्वविद्यालय में विकलिफ के सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए एक उपदेश दिया जिस पर उसे पोप द्वारा जीवित जलाये जाने की आज्ञा हुई। हस का बलिदान निष्फल नहीं गया। लोगों को पोपों के आडम्बर तथा विलासिता का पता चल गया।

रोमन कैथोलिक धर्म का सबसे बड़ा विरोधी मार्टिन लूथर था। वह जर्मनी का निवासी था। विटनबर्ग विश्वविद्यालय में वह धर्मशास्त्र का प्रोफेसर था। एक बार उसने रोम की यात्रा की। पोप के आडम्बर तथा राजसी आडम्बर से उसे बड़ा धक्का लगा। इसी समय पोप ने रोम में संत पीटर का गिरजाघर बनवाना आरम्भ किया। इसमें रुपया अनुमान से अधिक व्यय होता दिखाई दिया। पोप ने आज्ञा दी कि धन के बदले में ईसाई जनता को क्षमा-पत्र बेचे जावें और इस प्रकार प्राप्त हुए धन से चर्च की सहायता हो। लूथर ने इस बिक्री को बाइबिल की भावना के विपरीत बताया। उसे ईसाई धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया किन्तु उसने इस आज्ञा को जला दिया। सौभाग्य से जर्मनी की कुछ रियासतों ने लूथर का पक्ष लिया।



मार्टिन लूथर

इस प्रकार उसका उत्साह बढ़ गया और उसने अधिक निर्भीकता से पोप का खण्डन किया। लेकिन चर्च में इस प्रकार दो दल हो गये—रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट (लूथर के अनुयायी)।

यह विरोध धार्मिक होने के साथ-साथ राजनीतिक भी था। बात यह थी कि प्रत्येक योरोपीय देश को रोमन पोप का बन्धन अखरता था। अपने देश से रोम धन जाता हुआ वे फूटी आँखों न देख सकते थे। पोप के बहिष्कार करने तथा निषेध-आज्ञाओं से भी ईसाई जगत थर्रा गया था। प्रो. हर्नशा के शब्दों में, "मार्टिन लूथर का विद्रोह जर्मनों का रोम के पोपों के विरुद्ध था; सर्वसाधारण का धार्मिक अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध था; पोपों का रुपये को पानी की तरह बहाने के विरुद्ध तथा पोपों की नैतिक भ्रष्टता के विरुद्ध था जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्षमा-पत्रों की बिक्री के रूप में दिखलाई पड़ा।"[1]

इस धर्म-सुधार का एक भयावह परिणाम निकला, वह परिणाम योरप के इतिहास पर एक अमिट कालिमा है। यह निश्चित हुआ कि जर्मनी में दो धर्म रहेंगे, एक तो रोमन कैथोलिक तथा दूसरा मार्टिन लूथर द्वारा प्रचलित प्रोटेस्टेन्ट। किन्तु जो राजा का धर्म होगा वही उसकी प्रजा का धर्म होगा।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार कैथोलिक शासक की प्रजा का धर्म भी कैथोलिक हो गया। तथा प्रोटेस्टेन्ट शासक का धर्म ही प्रजा का धर्म हो गया। इस प्रकार योरोप में उन धार्मिक युद्धों का सूत्रपात हुआ जिसके कारनामों से योरप का इतिहास रँगा पड़ा है। धार्मिक असहिष्णुता अब उन लोगों का एक भूषण हो गया जिनके धर्म-प्रवर्त्तक ने उपदेश दिया था 'यदि कोई तेरे सीधे गाल पर चाटा मारे तो बायाँ उसकी ओर कर दे'।

इससे पूर्व कि हम इन धार्मिक युद्धों का वर्णन करें हमें जर्मनी के अतिरिक्त अन्य देशों के धर्म-सुधार पर एक दृष्टि डालनी चाहिये।

स्विटज़रलैण्ड से इसी समय ज्वंग्ली नामक धर्म-सुधारक ने धर्म-सुधार का बीड़ा उठाया। फ्रांस के धर्म-सुधार का नेता काल्विन था। स्काटलैण्ड में यह कार्य नॉक्स ने किया। इन सब सुधारकों ने अपने चर्च का संगठन लोक, काल तथा परिस्थिति के अनुसार किया। इन सब देशों के विपरीत इंगलैण्ड का धर्म-सुधार राजा की कामुकता तथा सौन्दर्य-प्रेम के कारण हुआ। एक विशेषता इन सब सुधारों की ध्यान देने योग्य है। सबों को पोप की अधीनता आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों से खटकती थी। सभी पोप के आधिपत्य से मुक्ति चाहते थे।

---

१. देखिये A first book of world History, पृष्ठ १५२

२. Cujus regio ejus religio.

सभी देशों में राष्ट्रीय चर्च स्थापित हुए तथा सभी देशों में धर्म की प्रज्वलित अग्नि में विरोधी धर्मावलम्बियों को झोंक दिया गया। इस प्रकार सभी देशों में असहिष्णुता का बोलबाला था। इस असहिष्णुता के परिणाम स्वरूप योरप की चप्पा चप्पा भूमि रक्त से रंग गई और धर्म के नशे में सभ्यता तथा संस्कृति की बातें हवा हो गईं।

प्रतिवादात्मक-सुधार आन्दोलन तथा जेसूट संघ

जब योरप के मुख्य-मुख्य देशों में नवीन धर्मों का प्रचार हो गया तो रोम के पोप को अपनी स्थिति सँभालने की फिक्र पड़ी। पोप को इस कार्य में भारी सहायता जेसूट लोगों ने दी। जेसूट संघ का जन्मदाता इगनेसस लायाला था। यह स्पेन का एक वीर सैनिक था। युद्ध में घायल होने के पश्चात् इसने प्रण किया कि जीवित रहने पर वह यीशु की सेवा में अपना शेष जीवन बितायेगा। उसने यीशु के नाम पर जेसूट संघ बनाया। यह संघ यीशु के सेवकों का था जिन्होंने अपना जीवन ईसाई धर्म की सेवा में बिताने का प्रण ले लिया था। पोप ने इस संघ के कार्य की प्रशंसा की और उन्हें उन देशों में भेजा जहाँ धर्म सुधार हो चुका था। जेसूट पादरियों ने साम, दाम, भेद तथा दंड से फिर उन देशों में कैथोलिक धर्म का प्रचार किया जो धर्म-सुधार को स्वीकार कर चुके थे। जेसूट पादरी योरप के अतिरिक्त विदेशों में भी गये। मिङ्ग वंश के शासनकाल में वे चीन भी पहुँचे। इस प्रकार उन्होंने बहुत सी असभ्य जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। भारत तथा अमेरिका में भी जेसूट पादरियों का आगमन हुआ। इन लोगों ने सब से महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि जहाँ जहाँ भी वे गए वहाँ पर उन्होंने स्कूल तथा कालेज खुलवाये और लोगों में शिक्षा-प्रचार किया। जेसूटों के अतिरिक्त रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार ट्रेंट की कौन्सिल ने किया। इस कौन्सिल ने कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों का सम्पादन तथा व्याख्या की। प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों के आक्षेपों का भी उत्तर दिया तथा रोमन कैथोलिक धर्म के बहुत से दोषों को भी दूर किया। इसके अतिरिक्त पोपों ने निषेध-आज्ञाओं का भी सहारा लिया। एक आज्ञा तो कैथोलिक धर्म के विरोधी साहित्य के विषय में थी और दूसरी आज्ञा से धर्म-सुधारकों को मृत्यु दण्ड की सजा दी जाती थी।

धर्म-सुधार तथा कैथोलिक धर्म के पुनरुद्धार के प्रयत्नों का वर्णन करने के पश्चात् हम सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के धर्मयुद्धों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि योरप में धर्म-सुधार के पश्चात् असहिष्णुता का बोल-बाला था। धर्म के नाम पर जीवितों का जलाया जाना, परधर्मावलम्बियों पर भाँति २ के अत्याचार करना आदि ऐसी ऐसी बातें थीं जो उस समय के योरप को सभ्य संसार की दृष्टि में गिरा देती हैं और जिनके होने से योरप के मुख पर अमिट कालिमा पुती हुई है।

योरप में धर्म-युद्ध

सबसे पहला धर्मयुद्ध हालैण्ड में हुआ। वहाँ के प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों ने कैथोलिकों के विरुद्ध युद्ध ठान लिया। यह युद्ध धर्म तथा राष्ट्रीयता का अपूर्व सम्मिश्रण था। योरपीय विद्वानों के विचार से यहीं से वर्तमान राष्ट्रीयता का जन्म होता है यद्यपि इस राष्ट्रीयता में धर्म का पुट था। यह युद्ध सन् १५६० से १६०० ई० तक रहा और अनेक आपत्तियों के पश्चात् हालैण्ड निवासियों ने स्पेन के आधिपत्य से मुक्ति पाई। ठीक इसी समय फ्रांस के ह्यूनाट लोगों ने अपनी धार्मिक स्वाधीनता के लिये युद्ध किया। इन युद्धों के कारनामों में 'संत बारथोलोम्यू दिवस' का कत्लेआम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसकी उपमा संसार की थोड़ी ही घटनाओं से दी जा सकती है। सन् १६१८ ई० में जर्मनी में एक बड़ा विस्फोट फूट पड़ा। यह इतिहास में तीस वर्षीय युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। इस युद्ध ने जर्मनी को तबाह कर दिया। देश अगणित भागों में बँट गया जिनमें प्रभुत्व के लिये संघर्ष होते थे। इंगलैण्ड में भी असहिष्णुता का बोलबाला लगभग इसी समय रहा जिसके कारण बहुत से प्यूरिटन लोग इंगलैण्ड छोड़ कर अमेरिका जा बसे। कैथोलिक लोग भी राजनीतिक असुविधाओं के शिकार बने रहे और सन् १८३० ई० तक किसी कैथोलिक के लिये यह असम्भव था कि वह अंगरेजी पार्लिमेन्ट का सदस्य हो सके। धार्मिक सहिष्णुता उस समय के लोगों को छू तक नहीं गई थी। ईसाई जगत ने उसी समय धार्मिक सहिष्णुता को अपनाया जब सभी देशों ने असहिष्णुता के ऊपर आचरण कर लिया और उसे अपनी परिस्थिति के लिये सर्वथा अनुपयुक्त पाया।

उपसंहार

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि ज्ञान के पुनरुद्धार तथा धर्म-सुधार का विश्व सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा? ऊपर हमने यह बताया है कि वर्तमान युग का सूत्रपात पन्द्रहवीं शताब्दि से योरप में हो गया था। मध्यकालीन युग की बहुत सी विशेषताएँ यथा अराजकता, विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ, सामन्त प्रथा आदि इस समय नष्ट हो गई थीं। संगठित

राष्ट्रीय शासकों का प्रादुर्भाव हुआ और राजाओं की शक्ति प्रत्येक देश में बढ़ी। कागज तथा छापे की कल के आविष्कार से योरप के सभी देशों में ज्ञान का प्रचार हुआ और अज्ञान का नाश। इस ज्ञानधारा का प्रभाव नवीन देशों की खोज पर भी पड़ा। योरप के समुद्रवर्ती देश प्रसिद्धि में आये और उन्होंने संसार के वाणिज्य तथा व्यापार से पूरा २ लाभ उठाया अपने देश को समृद्धिशाली बनाया। तदनन्तर इस ज्ञानधारा का प्रभाव धर्म-सुधार में प्रकट हुआ। पोप का आधिपत्य और प्रभुता नष्ट हो गई। गुरुवाद तथा धर्मान्धता का स्थान तर्क तथा स्वतंत्रता ने ले लिया। भौतिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों और नियमों का निर्माण हुआ। चर्च ने जिस ज्ञान को बलपूर्वक रोक रखा था अब उसे स्वच्छन्दता पूर्वक फूटने का सुअवसर मिला। विचारकों ने अपनी लेखनियाँ सँभालीं, वैज्ञानिकों ने अपनी प्रयोग-शालाओं में नये-नये अनुसन्धान किये। रूढ़िवाद का खण्डन जोरों से हुआ और योरप में एक आश्चर्यजनक युग का सूत्रपात हुआ। मार्टिन लूथर के विरोध के परिणाम स्वरूप योरप दो प्रमुख धार्मिक दलों में बँट गया। एक दल था रोमन कैथोलिक और दूसरा था प्रोटेस्टेन्ट। इन दोनों दलों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता रही और योरप के प्रत्येक देश में हत्याएँ, जीवितों का जलाया जाना, देश-निकाला आदि घटनाएँ साधारण हो गईं। तथापि कुछ धर्म-प्रचारकों जैसे जैसूटों ने विद्या की उन्नति में सहयोग दिया। देश-विदेशों में अपनी शिक्षण संस्थाएँ खोलीं। प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों को भी शिक्षा के पवित्र कर्त्तव्य की ओर आकर्षित किया और फिर से एक बार संसार में ईसा के सिद्धान्तों को प्रचलित करने का सफल प्रयास किया। तथापि उस समय की बर्बरता का पलड़ा इन सेवाओं की अपेक्षा कहीं अधिक भारी है और यह निष्पक्ष रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि सहिष्णुता जैसी वस्तु सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दि के योरप को ज्ञात ही न थी।

दूसरा अध्याय

योरप में राष्ट्रीयता

प्राक्कथन

वर्तमान युग की प्रमुख विशेषता है राष्ट्रीय राज्यों का स्थापना। वैसे तो प्राचीन काल में ही राष्ट्रीयता का उदय होना आरम्भ हो गया था----यहूदी लोग एक भावना में ग्रथित होने के कारण अपने को एक राष्ट्र समझने लगे थे तथापि वर्तमान राष्ट्रीयता का जन्म उस समय से समझा जाता है जब हालैण्ड-वासियों ने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया और एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का बीड़ा उठाया। पहिले कहा जा चुका है कि इस भावना में धर्म का पुट मौजूद था। धार्मिक कारणों के अतिरिक्त औपनिवेशिक कारणों से भी योरपवासी राष्ट्रीयता के मार्ग पर अग्रसर हुए। अर्थात् धार्मिक अत्याचारों से दुःखी होकर भिन्न धर्मावलम्बी देश छोड़ विदेशों में जा बसे। साथ ही उपनिवेश स्थापित करने की लालसा से भी बहुत से साहसी यात्री विदेशों में जाकर पहुँचे और वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित किये। सत्तरहवीं शताब्दि औपनिवेशिक साम्राज्यों का प्रभातकाल था। एशिया, अफ्रीका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीपों में योरपवासी जाकर बस गए और इन देशों से व्यापार स्थापित किया। किन्तु उपनिवेश स्थापित करने की भावना के पीछे भी राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा कार्य कर रही थी। अर्थात् इंगलैण्डवासी समझते थे कि अंगरेज़ी जाति विश्व में खूब फले-फूले और धन-धान्यपूर्ण रहे। फ्रांस तथा हालैण्ड वाले भी ऐसा ही समझते थे। इस प्रकार योरपीय देशों में राष्ट्रीयता की एक प्रकार से होड़ सी लगी हुई थी जिसके परिणाम स्वरूप व्यापार तथा व्यवसाय की वृद्धि हुई। नई-नई वस्तुओं का आविष्कार हुआ। फिर भी योरप ने इन नवीन देशवासियों तथा नवीन जातियों के साथ अपना व्यवहार बड़ा क्रूर बना लिया। उपनिवेश स्थापित करने की लालसा से नैतिक भ्रष्टता का बोलबाला हो गया। राजनीतिक हत्याएँ, डकैतियाँ, रक्तशोषण तथा लूट-खसोट राष्ट्रीयता के नाम पर होने लगीं। गुलामों का व्यापार भी उचित ठहराया गया और उसका औचित्य सभ्य संसार के सम्मुख रखा गया। इस

अध्याय में हम पहिले राष्ट्रीयता की व्याख्या करेंगे तत्पश्चात् योरप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता का विकास और फिर राष्ट्रीयता की विश्व सभ्यता के लिये देन।

राष्ट्रीयता क्या है ?

विभिन्न विचारकों ने राष्ट्रीयता की व्याख्या विभिन्न ढंगों से की है। कुछ लोगों की सम्मति में भौगोलिक एकता ही राष्ट्रीयता का प्रतीक है। कुछ लोगों के अनुसार जातिगत पवित्रता ही राष्ट्रीयता की परिचायक है। अन्य विद्वानों की सम्मति में सांस्कृतिक एकता ही राष्ट्रीयता का एक चिह्न है। हमारी सम्मति में सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा भाषा सम्बन्धी एकता तथा जातिगत पवित्रता सभी बातें राष्ट्रीयता की भावना में सहायक होती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता उस भावना का नाम है जिसका आधार सांस्कृतिक एकता है जिससे प्रभावित हो एक ही भाषा-भाषी, एक ही प्रकार के ऐतिहासिक संस्कारों में पले हुए तथा एक ही राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उद्देश्य रखने वाले व्यक्तियों का समूह अपने राष्ट्र की उन्नति में सहयोग देता है। यह भावना कालान्तर में इतनी दृढ़ हो जाती है कि राष्ट्रीयता के नाम पर बड़े से बड़े बलिदान करने पर व्यक्ति उतारू हो जाते हैं। देश-प्रेम तथा राष्ट्र-प्रेम का यह गठबन्धन मानव जाति के इतिहास में एक अपूर्व घटना रही है। राष्ट्रीयता के नाम पर योरप की पराधीन जातियों ने भारी से भारी संकट उठाये। इटली की एकता तथा स्वाधीनता का इतिहास विश्व इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। फ्रांस तथा अमेरिका की राज्य-क्रांतियाँ विश्व इतिहास की अमूल्य निधियाँ हैं। किन्तु त्याग, बलिदान, देश-प्रेम जैसे उदात्त गुणों के साथ-साथ राष्ट्रीयता ने संसार में रक्तपात फैलाने, लूट मचाने और अन्याय की स्थापना होने में भी भारी सहयोग दिया है। राष्ट्रीयता की इन सब काली करतूतों से विश्व का इतिहास भरा पड़ा है। राष्ट्रीयता का अर्थ देखने के पश्चात् अब हम योरप में राष्ट्रीयता किस प्रकार फैली इसे देखने का प्रयास करेंगे।

योरप में राष्ट्रीयता का उदय तथा उपनिवेशों की स्थापना

पिछले अध्याय में हमने योरपवासियों के उपनिवेश स्थापित करने का वर्णन किया है। कोलम्बस, वास्को-डि-गामा की यात्राओं के पश्चात् सभी प्रमुख योरपीय जातियों ने अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ बनाईं। साहसी नाविकों की सहायता से उन्होंने नये नये देशों का पता लगाया। इन कम्पनियों में इङ्गलैण्ड तथा हालैण्ड की व्यापारिक कम्पनियाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। एशिया के

धनधान्य पूर्ण देश जैसे भारत, चीन, ईरान आदि अपने वैभव के कारण पहिले से ही विख्यात थे। इन कम्पनियों के प्रतिनिधि इन देशों में पहुँचे। व्यापारिक कोठियाँ खोलने के लिये इन देशों के शासकों से प्रार्थनाएँ कीं। प्रार्थनाएँ स्वीकृत भी हुईं और कोठियाँ स्थापित करने का क्रम बड़े वेग से आगे बढ़ा। कालान्तर में व्यापार के साथ साथ विदेशियों ने उस स्थान की राजनीतिक हलचलों से भी लाभ उठाया। विशेषतया औरङ्गजेब की मृत्यु के पश्चात् विदेशियों को भारत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का स्वर्ण अवसर मिला। देशी राजाओं की आड़ में उन्होंने अपना स्वार्थ सीधा किया। भारत के अतिरिक्त और भी एशियाई प्रदेशों में यही नाटक खेला गया। जापान ने जब यह करिश्मा देखा तो उसने विदेशियों को अपने यहाँ आना एकदम बंद कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जापान दो शताब्दियों तक सभ्य संसार के लिये बंद रहा। चीन में भी ये व्यापारी तथा धर्म-प्रचारक पहुँचे। वहाँ ऐसी पाबन्दी न होने से कभी अफीम की सहायता से कभी और राजनीतिक चालों से उस देश की आंतरिक व्यवस्था तथा व्यवसाय व्यापार पर विदेशियों ने अपना अधिकार कर लिया। यही नाटक अफ्रीका में खेला गया। हब्शी लोगों को दास बना कर बेचना अङ्गरेजों, पुर्तगालियों तथा स्पेनवासियों का मुख्य व्यवसाय हो गया। इस व्यापार से इन देशों ने पूरा पूरा लाभ उठाया। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ तक अफ्रीका की चप्पा-चप्पा भूमि इन विदेशियों के अधिकार में आई।

औपनिवेशिक विस्तार का योरप की राष्ट्रीयता पर क्या प्रभाव पड़ा? निष्पक्ष विचारक उपर्युक्त घटनाओं के वर्णन से यह भलीभाँति समझ सकता है कि औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रभाव योरपीय राष्ट्रीयता पर बहुत अधिक पड़ा। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। स्पेन ने नये संसार के धन तथा व्यापार से भारी लाभ उठाया। किन्तु स्पेन अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण हालैण्ड को संतुष्ट न रख सका। उधर उसने कैथोलिक धर्म का नेतृत्व कर इंगलैण्ड से भी वैर मोल ले लिया। इंगलैण्ड ने स्पेन की आपत्तियों से लाभ उठा कर हालैण्ड की सहायता की। इंगलैण्ड जानता था कि स्पेन के योरपीय समस्याओं में व्यस्त रहने से वह औपनिवेशिक साम्राज्य की ओर ध्यान न दे सकेगा। स्पेन ने इसका बदला आर्मेडा भेज कर दिया। आर्मेडा का इंगलैण्ड पर आक्रमण हुआ किन्तु इंगलैण्ड ने आर्मेडा को हरा दिया। यह घटना सन् १५८८ ई० की है। इससे सिद्ध होता है कि औपनिवेशिक विस्तार तथा धर्म एक दूसरे से किस प्रकार जुड़े हुए थे। इंगलैण्ड की दूरदर्शिता ने समझ लिया कि स्पेन के निर्बल होने का अर्थ

है उसके औपनिवेशिक साम्राज्य का शिथिल होना। यही हुआ भी। स्पेन तथा पुर्तगाल दोनों अपनी धर्मान्धता तथा संकीर्णता से योरपीय देशों के मामलों में फँसे रहे। उनका पतन अवश्यम्भावी था। उनके पतन से लाभ उठा कर इंगलैण्ड तथा हालैण्ड ने अपना व्यापार और उपनिवेश स्थापित किये। दोनों में व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता रही। कभी विजय किसी पक्ष की रहती और कभी किसी पक्ष की। इस झगड़े का अंत हुआ हालैण्ड के राजा विलियम का इंगलैण्ड पर सिंहासनारूढ़ होने से। मगर इस समय इङ्गलैण्ड का एक और प्रतिद्वन्द्वी सामने आ गया। वह था फ्रांस। फ्रांस और इङ्गलैण्ड की यह व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता लगभग १५० वर्षों तक चलती रही। इसका अंत उस समय हुआ जब सन् १८१५ ई० में नेपोलियन वाटरलू के युद्ध में परास्त हुआ। फ्रांस की इंगलैण्ड को हरा कर उसके व्यापार तथा औपनिवेशिक साम्राज्य पर अधिकार करने की लालसा धूल में मिल गई।

इस व्यापारिक तथा औपनिवेशिक संघर्ष के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में यह प्रतिद्वन्द्विता खूब बढ़ चढ़ कर रही और इसने राष्ट्रीयता की भावना को प्रज्वलित करने में काफी सहायता दी। यह भावना धर्म-सुधार के पश्चात प्रारम्भ हुई और कालान्तर में इतनी बढ़ गई कि जहाँ कहीं योरप की जातियाँ इकट्ठी हो जातीं वहीं पारस्परिक संघर्ष तथा वैमनस्य अनिवार्य हो जाते। परिमाण स्वरूप भारत, अफ्रीका तथा उत्तरी अमेरिका में इन्हीं कारणों को लेकर कभी इंगलैण्ड तथा फ्रांस में, कभी फ्रांस तथा हालैण्ड में, कभी हालैण्ड तथा इंगलैण्ड में भारी युद्ध हुए और इन युद्धों में व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता के साथ साथ राष्ट्रीयता की भावना भी प्रबल रूप से सहयोग देती रही।

राष्ट्रीयता की भावनाओं को उन्नत करने वाली प्रवृत्तियों को देखने के पश्चात हम विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता का क्या रूप रहा और किस प्रकार राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई इसका वर्णन करेंगे।

योरप में राष्ट्रीय राज्य

इंगलैण्ड—अन्य योरपीय देशों की अपेक्षा इंगलैण्ड में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना कुछ शीघ्रता से हुई। तेरहवीं शताब्दि में राजा जॉन से प्रजा ने महास्वतंत्रतापत्र पर हस्ताक्षर कराये। यहीं से अंग्रेजी स्वाधीनता का क्रमिक विकास प्रारम्भ होता है। सन् १४८५ ई० में ट्यूडर वंश की स्थापना से यहाँ एक शक्तिशाली राजवंश का राज्यकाल प्रारम्भ हुआ। ट्यूडर शासकों ने मध्यम वर्ग को प्रोत्साहन दिया। वे शक्तिशाली सामन्तों तथा सरदारों का नाश चाहते थे क्योंकि उनसे राज्यशान्ति

को सदैव भय लगा रहता था। पार्लिमेन्ट में भी मध्यम वर्ग का प्रवेश होने लगा। पहिले तो पार्लिमेन्ट राज्यशक्ति पर आश्रित थी किन्तु धीरे-धीरे उसने अपने अधिकारों की दुहाई दे कर राजा की निरंकुशता का विरोध आरम्भ कर दिया। ट्यूडर वंश के पश्चात यह विरोध और भी बढ़ गया। इसी समय स्टुअर्ट वंश की स्थापना इंगलैण्ड में हुई। दैवी अधिकारों की दुहाई दे कर इन शासकों ने राज्यशक्ति की जड़ अपने आप खोदनी प्रारम्भ की। इस वंश के राजा जेम्स प्रथम का विचार था कि राजा के अधिकार ईश्वर प्रदत्त हैं। पृथ्वी पर वह ईश्वर का प्रतिनिधि है। स्वेच्छाचारी शासकों की स्थापना प्रजा के पापाचार के कारण संसार पर होती है। अत्याचारी शासन से छुटकारा पाने का एक सम्भव है प्रजा सत्कर्म करे, आज्ञा-पालन की ओर ध्यान दे जिससे ईश्वर प्रसन्न हो अगली बार योग्य शासक को संसार में भेजे। जेम्स का पार्लिमेन्ट से आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कारणों को लेकर संघर्ष हुआ। इसी संघर्ष के बीच जेम्स की मृत्यु हो गई। चार्ल्स को जेम्स के राजनीतिक सिद्धान्तों का फल भोगना पड़ा। पार्लिमेन्ट की शक्ति बढ़ती गई। उसका विरोध भी प्रबल हुआ। प्यूरिटन धर्मावलम्बियों की पार्लिमेन्ट में अधिकता होने से संघर्ष बढ़ता ही गया। पारस्परिक तनातनी ने सन् १६२९ ई० में भयानक रूप धारण कर लिया। दोनों पक्षों ने तलवार का सहारा लिया। दैवी अधिकारों के समर्थक चार्ल्स को सन् १६४९ ई० में फाँसी के तख्ते पर झूल जाना पड़ा। ठीक उसी प्रकार जैसे लगभग १५० वर्ष पश्चात् फ्रांस का राजा लुई १६वाँ फाँसी के तख्ते पर झूल गया था। किन्तु इन दोनों के बलिदानों में अंतर था। चार्ल्स तो शासकों के दैवी अधिकारों की बलिवेदि पर शहीद हुआ; लुई को अपनी अस्थिर नीति के कारण जान से हाथ धोने पड़े।

चार्ल्स के प्राणदण्ड के पश्चात् इंगलैण्ड में प्रजातंत्र स्थापित हुआ। किन्तु अंगरेजी चरित्र अभी विकसित नहीं हुआ था, इसीलिये प्रजातंत्र असफल हुआ। उसका अंत एक स्वेच्छाचारी सैनिक नेता क्रॉमवेल की तानाशाही के रूप में हुआ। क्रॉमवेल ने विदेशों में अपनी धाक जमाई, इंगलैण्ड को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रखा, आंतरिक शांति स्थापित की और वाणिज्य व्यवसाय को बढ़ाया। किन्तु थी यह सैनिक स्वेच्छाचारिता ही। पार्लिमेन्ट तथा नियमानुमोदित शासन हवा हो गए। इंगलैण्ड को दस जिलों में बाँट दिया गया और प्रत्येक जिले का शासक एक मेजर जनरल था। जनता ऐसे प्रजातंत्र से ऊब गयी। सन् १६६० ई० में पुनः राज्य-स्थापन द्वारा चार्ल्स प्रथम का पुत्र चार्ल्स

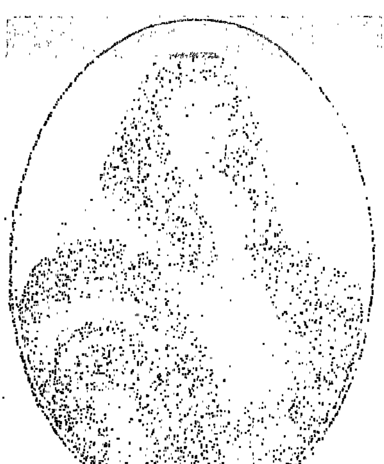
द्वितीय इंगलैण्ड का शासक हुआ। उसने भी स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली को अपनाना चाहा। किन्तु प्रजा के विरोध का वह सदैव ध्यान रखता था। जिस किसी बात को प्रजा नहीं चाहती थी उसे वापस लेने में उसे संकोच न होता था। उसके भाई जेम्स द्वितीय में यह गुण न था इसी कारण उसे इंगलैण्ड छोड़ कर फ्रांस को हवा खानी पड़ी। इंगलैण्ड में गौरवपूर्ण क्रांति हुई और नियमानुमोदित शासन-प्रणाली की स्थापना। अधिकारपत्र के स्वीकृत होने से सर्वसाधारण के राजनीतिक तथा धार्मिक अधिकार सुरक्षित हुए। इसके पश्चात् इंगलैण्ड में प्रजातंत्री संस्थाओं का विकास तथा उन्नति हुई। छापेखाने की स्वतंत्रता मिली। धार्मिक सहिष्णुता दिखलाई गई। भाषण-स्वतंत्रता भी नागरिकों को मिली। देश की शासन-प्रणाली की बागडोर राजा के हाथ से निकल कर पार्लिमेन्ट द्वारा निर्वाचित मंत्रियों के हाथ में आ गई। फिर भी इंगलैण्ड में सन् १६८९ से १८३२ ई० तक उच्च जनतंत्र ही रहा। राजनीतिक सत्ता कुछ सम्पन्न प्रभावशाली तथा धनाढ्य नागरिकों के हाथ में थी। फिर भी निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन की अपेक्षा इंगलैण्ड में अधिक उदार शासन-प्रणाली थी यद्यपि इसे प्रजातंत्र कह कर पुकारना उस शब्द की खिल्ली उड़ाना है।

हालैण्ड—ठीक इंगलैण्ड की नाई इस देश में भी उच्च जनतंत्र प्रणाली की स्थापना हुई। हालैण्ड पहिले स्पेन के आधीन था। समस्त नीदरलैण्ड (हालैण्ड और बेलजियम) पर स्पेन का आधिपत्य था। स्पेन के राजा कट्टर रोमन कैथोलिक थे जब कि हालैण्ड के निवासी प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बी थे। स्पेन ने बलपूर्वक प्रोटेस्टेण्ट धर्म को दबाना चाहा। प्रोटेस्टेण्टों ने अपने धर्म तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिये तलवार उठाई। स्पेन के सम्राट् फिलिप द्वितीय ने नृशंसतापूर्वक हालैण्डवासियों के आन्दोलन को दबाना चाहा किन्तु असफल रहा। विलियम 'शान्त' के नेतृत्व में सन् १६०९ ई० में स्वतंत्र डच राज्य की स्थापना हुई किन्तु इसे स्वीकृति मिली सन् १६४८ ई० में। नीदरलैण्ड का दक्षिणी भाग (बेलजियम) अब भी स्पेनिश साम्राज्य का भाग बना रहा और वहाँ वैसी ही कट्टरता तथा स्वेच्छाचारिता बनी रही। हाँ, हालैण्ड ने अपनी शासनप्रणाली का संगठन इंगलैण्ड के आदर्श पर किया। वहाँ पर कानून वाली एक सभा थी जिसका नाम स्टेट्स जनरल था। वह सभा राजा के ऊपर नियंत्रण रखती थी और शासन-प्रबंध को चलाने के लिये मंत्रियों को चुनती थी जो इसके लिये प्रत्येक बात में उत्तरदायी थे। फिर भी हालैण्ड की सरकार प्रजातंत्र शासन-प्रणाली से कोसों दूर थी।

फ्रांस—इस प्रकार इंगलैण्ड तथा हालैण्ड दोनों देशों में निरंकुश शासन-प्रणाली अपने आप को स्थापित करने में असफल रही। हां, फ्रांस में उसे अवश्य सफलता मिली। यद्यपि फ्रांस में भी मध्ययुग में पार्लिमेन्ट से मिलती जुलती एक सभा थी जिसे स्टेट्स जनरल कहते थे फिर भी वहाँ के धनिकों तथा सरदारों को इतनी शक्ति नहीं मिल पाई थी जिससे वे राजा की निरंकुशता को कम कर सकें। एक और अंतर दोनों देशों की सभाओं में था। वैसे ही प्रारम्भ में अंगरेजी पार्लिमेन्ट के भी तीन भाग थे—१. लार्डों की सभा, २. सर्वसाधारण की सभा तथा ३. पादरियों की सभा। किन्तु वहाँ के साधारण पादरियों ने कालान्तर में यह सोचा कि उनका हित इसी में है कि वे साधारण सभा के साथ मिल कर चलें। वे इस प्रकार सर्वसाधारण सभा के सदस्य हो गए। बड़े-बड़े पादरी भूमिपतियों के साथ मिलकर लार्ड सभा के सदस्य हुए। फ्रांस में तीनों सभाएँ अलग-अलग रहीं। तीनों में पारस्परिक वैमनस्य होने से किसी की शक्ति न बढ़ सकी। राजा की शक्ति प्रमुख बनी रही। हाँ, इंगलैण्ड के विद्रोहों की भाँति वहाँ भी समय समय पर विद्रोह होते रहे। ऐसे विद्रोहों को वहाँ फ्रान्डे कहा जाता था। इन विद्रोहों ने राजा की स्वेच्छाचारिता को कम करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह विरोध इंगलैण्ड के विरोधी दल की भाँति संगठित न था। न उसमें एकता ही थी। इंगलैण्ड के विपरीत फ्रांस के शासक स्टेट्स जनरल को बिना बुलाये भी शासन कर सकते थे। इंगलैण्ड में केवल ११ वर्ष तक (सन् १६२९—१६४० ई०) निरंकुश शासन रहा जब कि फ्रांस में एक बार राजाओं ने १७५ वर्षों तक बिना स्टेट्स जनरल को बुलाये ही शासन किया (सन् १६१४ से १७८९ ई० तक)। ग्यारह वर्ष की निरंकुशता के बाद पार्लिमेन्ट ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये शस्त्र उठाये किन्तु फ्रान्डे (राजनीतिक विद्रोह) कभी खुल्लमखुल्ला न हुए थे। कारण स्पष्ट था। न तो फ्रांसवासियों में इतनी लगन ही थी और न स्वार्थहीनता ही। इंगलैण्डवासियों को धर्म से भी प्रेरणा मिलती थी। यहाँ तक कि इंगलैण्ड का गृह-युद्ध प्यूरिटन क्रांति के नाम से प्रसिद्ध है। फ्रांस में इस भावना का भी एकदम अभाव था। परिणाम स्पष्ट है। सन् १६५२ ई० में फ्रान्डे के समर्थक परास्त हुए और फ्रांस में पूर्णरूपेण निरंकुशता स्थापित हुई। फ्रांस की निरंकुशता अन्य योरपीय देशों के लिये आदर्श का काम करती रही। बलपूर्वक कर लादे जाते थे। निर्धन जनता इन करों के भार से पिसी जाती थी। बिना किसी अपराध के सर्वसाधारण को जीवन भर जेलखानों में डाले रखा जाता था। सम्राटों की शान बढ़ाने के लिये युद्ध किये

जाते थे। इङ्गलैण्ड के राजा जेम्स तथा चार्ल्स की तरह यहाँ के राजा भी अपने आपको ईश्वर के लिये उत्तरदायी मानते थे—प्रजा के लिये नहीं। सम्राटों का वैभव और शान लुई के राज्यकाल में अपनी चरमावस्था को पहुँच गई। लुई ने सन् १६४३ से १७१५ ई० तक शासन किया। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसकी अभिलाषा फ्रांस की सीमा राइन नदी और पिरेनीज़ पर्वत (स्पेन में) तक स्थापित करने की थी। चार्ल्स महान् (शार्लमेन) की तरह उसकी अभिलाषा योरप में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने की थी। धार्मिक मामलों में उसकी नीति बड़ी अनुदार तथा कट्टर थी। प्रोटेस्टेन्ट धर्म को वह फूटी आँखों न देख सकता था। शासन सम्बन्धी बातों में वह किसी के परामर्श तथा हस्तक्षेप को सहन नहीं कर सकता था। उसका दावा था कि वह स्वयं राज्य है।[1]

किन्तु लुई की महत्त्वाकांक्षा और सब भावनाओं की अपेक्षा अधिक प्रबल थी। उसे इङ्गलैण्ड, हालैण्ड तथा आस्ट्रिया से युद्ध करने पड़े। इन युद्धों से प्रजा की दशा बड़ी खराब हो गई। वैभव तथा शान-शौकत का नशा उसकी आँखों पर चढ़ रहा था। उसने वर्साई में एक सुन्दर भवन निर्माण कराया। इसमें वैभव तथा विलासिता की सामग्री का अपूर्व संग्रह था। वर्साई की शान योरप भर में ही नहीं विश्व भर में प्रसिद्ध हो गई। इसकी तुलना केवल भारत के मुगल शासकों की शान से ही की जा सकती है। तथापि उसने साहित्य तथा कला की उन्नति में भी भारी सहयोग दिया। मालियर तथा रैसीन के नाटक अपनी मौलिकता के कारण योरप भर में प्रसिद्ध हो गए। सेन्ट साइमन के रोचक ऐतिहासिक ग्रन्थ भी इसी समय लिखे गए। किन्तु इस सम्राट् की धार्मिक नीति फ्रान्स के लिए घातक सिद्ध हुई। फ्रांस में ह्यूनाटों को सताया गया। विवश हो उन्हें फ्रांस छोड़ अन्य देशों में शरण लेनी पड़ी। ये लोग



लूई चौदहवाँ

[1] 'La etat c'est moi' I am the State.

इंगलैण्ड, हालैण्ड आदि देशों में बस गये। इंगलैण्ड के रेशमी कपड़े का व्यापार चमक उठा।

लुई चौदहवें के पश्चात् उसका पौत्र लुई पन्द्रहवाँ सिंहासनारूढ़ हुआ। राज्य-दरबारों तथा राजा सुन्दरियों के केश-पाश में अपना अमूल्य समय तथा धन पानी की भाँति बहाने लगे। फ्रांस ऋण के दलदल में अधिकाधिक फँसता गया। उसके समय वाल्टेयर नामक लेखक ने अपनी कृतियों से तत्कालीन राज्य-दरबार की खिल्ली उड़ाई। वाल्टेयर इंगलैण्ड भी गया था और वहाँ के निवासियों की स्वाधीनता का मुकाबिला उसने फ्रांसवासियों की स्वाधीनता से किया। न्यूटन जैसे विद्वान का उसके ऊपर भारी प्रभाव पड़ा और उसने फ्रांस में आकर ज्ञान-प्रचार के कार्य में सहयोग दिया। उस समय फ्रांस में विश्वकोष का सम्पादन हुआ। इसका सम्पादन डाइडोरट ने किया था। डाइडोरट तथा वाल्टेयर से भी अधिक शक्तिशाली लेखक रूसो था। रूसो ने अपनी पुस्तक "सामाजिक इकरारनामे" में जनतंत्र-प्रणाली का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। कहना न होगा कि इन सब विचारों का प्रभाव फ्रांस की जनता के ऊपर पड़ा और उसने सन् १७८९ ई० में राज्यतंत्र का तख्त पलट कर क्रांति का सूत्रपात किया।

प्रशा तथा रूस—फ्रांस के अतिरिक्त राज्यतंत्र की शान प्रशा तथा रूस में स्थापित हुई। प्रशा में हाहेनजालर्न वंश का राज्य था। इस वंश का अंत प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् हुआ। इस राजवंश का पहिला महान शासक फ्रेडरिक विलियम प्रथम था। फ्रांस के शासक लुई चौदहवें के पग-चिन्हों का अनुसरण कर उसने प्रशा में स्वेच्छाचारी शासन स्थापित किया। उसके पुत्र ने प्रशा के राजा की उपाधि ग्रहण की। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक फ्रेडरिक महान् था। उसने साइलेशिया प्रान्त आस्ट्रिया से छीन लिया। पोलैन्ड के भाग को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। इस देश की जन-संख्या तीन गुनी हो गई। उसकी सेना योरप में सब से अधिक संगठित थी। धन-धान्य-पूर्ण होने के साथ साथ प्रशा ने साहित्य तथा कला की उन्नति में भी सहयोग दिया। पोट्सडम स्थान पर वर्साई जैसी राजधानी का निर्माण हुआ। फ्रेडरिक की सबसे बड़ी विशेषता थी कि उसे धार्मिक पक्षपात छू तक नहीं गया था। जिन ह्युनाटों को लुई चौदहवें ने फ्रांस से निकाल दिया था, उनका स्वागत फ्रेडरिक ने अपने दरबार में किया। राज्य धर्म प्रोटेस्टेन्ट होते हुए भी कैथोलिकों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया।

सन् १६९६ ई० से पूर्व रूस एक ऐसा देश था जिसके पास न कोई बन्दरगाह था न कोई जहाज़ और न संगठित सेना। उस वर्ष पीटर महान् वहाँ का राजा हुआ। पीटर ने पश्चिमी योरपीय देशों का दौरा कर उनसे नई बातें सीखीं। जहाज़ बनाने की कला सीखी, वैज्ञानिकों तथा कलाविदों के सहयोग से उसने आधुनिक रूस की महानता का बीजारोपण किया। जहाज़ी बेड़े का निर्माण हुआ; फौज का संगठन अधिक वैज्ञानिक ढंग पर हुआ। अपने देशवासियों के पुराने रीति-रिवाजों को उसने बलपूर्वक छुड़ाया। मास्को के स्थान पर सन्त पीटरबर्ग को अपनी राजधानी बनाया। अन्य समकालीन शासकों की भाँति पीटर स्वेच्छाचारी था। अपने विरोध का वह किसी भाँति सहन नहीं कर सकता था। अनेक सरदारों तथा भूमिपतियों को उसने स्वयं मौत के घाट उतारा था। तथापि उसके सुधारों का प्रभाव यह हुआ कि रूस एक शक्तिशाली देश हो गया। पीटर के प्रयत्न से रूस का सम्पर्क बाल्टिक सागर से हो गया। रूस की मनोकामना पूरी हुई। दक्षिण की ओर बढ़ने का परिणाम यह हुआ कि उसे तुर्की के विरोध में आना पड़ा। इस विरोध के परिणाम स्वरूप योरप में पूर्वी समस्या का जन्म हुआ जिसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा।



पीटर महान्

पीटर की नीति कैथराइन द्वितीय ने जारी रखी। इस सम्राज्ञी ने प्राणपण से रूस को योरप की प्रमुख शक्ति बनाने का यत्न किया। कैथराइन स्वेच्छाचारिता की नीति पर आचरण करती थी। पीटर तथा कैथराइन के उद्योग से रूस पूर्वी योरप में सबसे अधिक शक्तिशाली देश हो गया। वहाँ पर ज़ार सन् १९१७ ई० तक निरंकुशता से शासन करते रहे। ज़ारशाही का अंत होने के बाद रूस में साम्यवादी शासन स्थापित हुआ।

पुर्तगाल तथा स्पेन — पिछले अध्याय में बताया गया था कि योरप की सामुद्रिक उन्नति की ओर अग्रसर करने का स्तुत्य कार्य पुर्तगाल तथा स्पेन ने प्रारम्भ किया था। पुर्तगाल के शासक प्रिंस हेनरी नाविक ने अफ्रीका तथा पूर्वी प्रदेश का सामुद्रिक मार्ग ज्ञात करने में नाविकों को काफी सहयोग दिया था। इस सहयोग के परिणाम स्वरूप पूर्वी प्रदेशों का व्यापार पुर्तगाल के हाथ लगा। भारत तथा अफ्रीका के व्यापार से पुर्तगाल अधिकाधिक धनाढ्य होता गया। वास्को-डि-गामा ने भारत पहुँच कर व्यापार प्रारम्भ किया। एलबुकर्क ने जो पुर्तगाली प्रदेश का शासक था, योग्यता से शासन किया। किन्तु पुर्तगालवासियों ने धार्मिक कट्टरता का आश्रय लेकर अपने पतन का बीज बो दिया। कुछ दिनों तक तो उसकी धर्मान्धता चलती रही और उसे सफलता भी मिली किन्तु कुछ ही समय पश्चात उसे मुँहकी खानी पड़ी। सन् १५८० में पुर्तगाल तथा स्पेन के सिंहासन मिल जाने से पुर्तगाल का स्वतंत्र अस्तित्व लगभग नष्ट हो गया और उसे अपनी विदेशी नीति के लिए परमुखापेक्षी होना पड़ा। पुर्तगाल व्यापार तथा व्यवसाय को इससे भारी धक्का लगा। साठ वर्ष के पश्चात् यह गठबन्धन समाप्त हुआ किन्तु इससे पहिले ही पुर्तगाल के हाथ से पूर्वी व्यापार का एकाधिपत्य निकल कर योरप की अन्य जातियों के हाथ में पहुँच चुका था। इस प्रकार पुर्तगाल का देश भिन्न भिन्न अवस्थाओं से गुजरने के बाद फिर सन् १८०८ ई० में स्पेन के फिर आधीन हो गया। नेपोलियन के योरोपीय युद्धों के समय स्पेन तथा पुर्तगाल दोनों अपने आन्तरिक मामलों में इतने फँस गये कि वे अपने दक्षिणी अमेरिका स्थित साम्राज्य की ओर ध्यान न दे सके। इस परिस्थिति से लाभ उठा कर ब्रेजिल, पेरू, मेक्सिको आदि प्रदेशों ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। स्पेन तथा पुर्तगाल के साम्राज्यों का अन्त हुआ।

आधुनिक युग के आरम्भ होने के समय स्पेन योरप में अत्यन्त शक्तिशाली प्रदेश था। वर्तमान हालैण्ड तथा बेलजियम उसके अधीन थे। अमेरिका के उपनिवेशों से उस देश में असंख्य द्रव्य आता था। स्पेन के राजा कैथोलिक धर्म का नेतृत्व कर रहे थे। इस कारण उन्होंने प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बी इंगलैंड विरुद्ध युद्ध छेड़ दिये। इंगलैंड ने बदला लेने का अच्छा अवसर सोचा। स्पेन हालैंड के विद्रोह को शान्त करने में व्यस्त था। इंगलैंड ने उसे रुपये तथा सेना से सहायता दी। इंगलैंड की सहायता से हालैंड को स्वाधीनता मिली। स्पेन भला इंगलैंड को किस प्रकार क्षमा कर सकता था? उसने एक जहाजी बेड़ा (आर्मेडा) लेकर सन् १५८८ ई० में इंगलैण्ड पर आक्रमण किया किन्तु मुँह की

खाई । बस यहीं से स्पेन का ह्रास आरम्भ होता है । इंगलैण्ड ने स्पेन के अमेरिका स्थित साम्राज्य का अंत करके ही दम लिया । सन् १५८८ ई० से स्पेन की प्रभुता नष्ट हुई और इंगलैण्ड की सामुद्रिक प्रभुता का युग प्रारम्भ हुआ । स्पेन का नाश इस प्रकार अपनी कट्टर धार्मिक असहिष्णुता के परिणाम स्वरूप हुआ । उसकी प्रजा का अधिकांश भाग उसके अत्याचारों से दुःखी होकर प्रोटेस्टेन्ट देशों में जा बसा । स्पेन की शक्ति तो क्षीण होती जा ही रही थी । फ्रांस के राजा लुई चौदहवें ने स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध में अपने पौत्र को वहाँ का शासक नियुक्त कराया । स्पेनवासियों ने उस शासक का समर्थन किया । किन्तु इंगलैंड तथा हालैंड ने इस उत्तराधिकार को न माना । फ्रांस और इंगलैंड में स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर युद्ध हुए और स्पेन बेचारे को विवश हो इन युद्धों में सम्मिलित होना पड़ा । यहाँ पर यह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि स्पेन के साम्राज्य में अमेरिका के उपनिवेशों के अतिरिक्त बेल्जियम तथा इटली के कुछ भाग भी सम्मिलित थे । लुई चाहता था कि उसके पुत्र को स्पेन की गद्दी मिलने से पिरेनीज़ पर्वत स्पेन को फ्रांस से अलग नहीं कर सके और साथ ही उसको स्पेन का विस्तृत साम्राज्य भी मिल जाये । स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि लुई का पुत्र वहाँ का राजा हो गया । स्पेन पर दूसरा संकट सन् १८०८ से १८१३ ई० तक रहा । नेपोलियन ने स्पेन की गद्दी पर अपना अलग उम्मीदवार खड़ा किया । स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना ने जोर लगाया । उधर इंगलैंड ने अच्छा अवसर जान स्पेनवासियों की सहायता की । फ्रांस की पराजय हुई । नेपोलियन के विरुद्ध राष्ट्रीयता की यह पहली विजयी थी । स्पेन से विद्रोह की यह भावना समस्त योरोपीय देशों में फैल गई । राष्ट्रीयता का अमोघ अस्त्र योरपवासियों के हाथ लगा ।

पवित्र रोमन साम्राज्य

पहिले हम पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना का वर्णन कर चुके हैं । इस साम्राज्य की स्थापना पोप की छत्रछाया में हुई थी और इसका उद्देश्य समस्त योरोपीय देशों को संगठित रखना था । यह साम्राज्य सम्राट् चार्ल्स पञ्चम की अध्यक्षता में उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गया । शार्लमान के पश्चात यह सबसे बड़ा रोमन सम्राट् था । इसके अधीन समस्त मध्य योरप, अमेरिका के उपनिवेश, इटली का अधिकांश भाग तथा नीदरलैण्ड थे । चार्ल्स हैप्सबर्ग वंश का था । कालान्तर में अधिकांश सम्राट् इसी वंश के हुए । वियना उनकी राजधानी थी ।

चार्ल्स को कई आपत्तियों का सामना करना पड़ा। जर्मनी का धर्म-सुधार उसीके शासनकाल में हुआ। तुर्कों ने हंगरी पर आक्रमण कर उसे जीत लिया तथा वायना तक जा धमकने के मंसूबे बाँधे। चार्ल्स ने वीरता से इस आपत्ति का सामना किया किन्तु जर्मनी की अन्य रियासतों ने उसका साथ नहीं दिया। धार्मिक भेद-भाव इतने अधिक थे कि उनमें सहयोग होना असम्भव था। अंत में चार्ल्स ने सिंहासन त्याग अपना साम्राज्य अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दिया। जर्मनी का प्रदेश उसने अपने भाई फर्डीनेन्ड को दे दिया। स्पेन तथा नीदरलैण्ड का प्रदेश अपने पुत्र फिलिप को दे दिया। यद्यपि रोमन साम्राज्य सन् १८०६ ई० तक बना रहा तथापि उसका वह वैभव जो चार्ल्स पञ्चम के समय था हवा हो गया। अब तो वह एक प्रकार का संघ था जिसके सदस्य स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। यह संगठन बहुत कुछ मरहठा संघ से मिलता-जुलता है। आपसी सहयोग संघ के सदस्यों में नाम मात्र को न था। पोप के शक्तिहीन होने से इस साम्राज्य की पवित्रता तो पहिले ही नष्ट हो चुकी थी, अब सम्राट् के निर्बल होने से उसकी शान तथा वैभव भी नष्ट होने लगा। जो कुछ बची खुची शान थी उसे सम्राट् नेपोलियन बोनापार्ट ने नष्ट कर दिया।

योरोपीय राष्ट्रीयता की विश्व-सभ्यता के लिए देन

इस प्रकार धार्मिक तथा राजनीतिक कारणों और नये देशों की खोजों से योरप में राष्ट्रीयता की भावना का सूत्रपात हुआ। यह क्रम सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों तक जारी रहा और अठारहवीं शताब्दि तक पहुँचते-पहुँचते जर्मनी तथा इटली को छोड़ योरप के सभी देश एकता के सूत्र में ग्रथित हुए और उनमें एक धर्म, एक भावना तथा एक राष्ट्रीय शासक की स्थापना हुई। इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, हालैण्ड ने इस भावना को भली-भाँति ग्रहण कर सामुद्रिक तथा व्यापारिक उन्नति की ओर अपना ध्यान बँटाया।

योरोप में राष्ट्रीयता की भावना इस प्रकार उत्पन्न हो गई। इस भावना ने विश्व सभ्यता की उन्नति के लिए क्या किया? इसमें सन्देह नहीं कि इङ्गलैण्ड तथा हालैण्ड में नियमानुमोदित शासन की स्थापित हुई। सर्वसाधारण के अधिकारों की रक्षा के लिए तलवारें उठाई गयीं तथा निरंकुश सत्ता को समाप्त किया गया। नये देशों की खोज होने से पूर्व तथा पश्चिम में अधिक निकट तथा गहरा सम्पर्क स्थापित हुआ। मार्को पोलो का पूर्व से सम्पर्क स्थल द्वारा हुआ था। अब समुद्री मार्ग के ज्ञात होने से दोनों का सम्पर्क अधिक घनिष्ट हुआ। योरप के भिन्न-भिन्न देशों में जहाँ अस्पष्ट राष्ट्रीय भावनाएँ थीं उनके स्थान पर अधिक भौगोलिक

एकता तथा गहरा सम्पर्क स्थापित हुआ। महत्त्वाकांक्षी तथा उत्साही सम्राटों ने इस भावना की वृद्धि में सहयोग दिया। अनेक वीरों तथा वीरांगनाओं ने हँसते-हँसते मातृ-भूमि के उद्धार के लिये अगणित कष्ट सहे। फ्रांस की जॉन आफ़ आर्क ने अपने देशवासियों को एक नूतन जीवन तथा उच्च ध्येय प्रदान किया। हालैण्डवासियों ने स्पेनवासियों की संगीनों का मुकाबिला किया। धार्मिक क्षेत्र की शहादत का तो कहना ही क्या? शहीदों ने हँसते-हँसते अपने को आगों की लपटों में झोंक दिया और अपने रक्त से धार्मिक स्वाधीनता के वृक्ष को सींचा। यह सब होते हुए भी धर्म के नाम पर जो रक्त बहाया गया, निरपराध लोगों की जो जानें गईं, प्रतिस्पर्द्धा की जो भावनाएँ पैदा हुईं, धर्म के नाम पर जो अत्याचार हुए, उन सब के आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमी राष्ट्रीयता विश्व के लिये एक दोषरहित देन नहीं रही। संसार के हित-साधन के साथ-साथ मानव जाति का बहुत कुछ अहित भी इसी संकीर्ण धार्मिक राष्ट्रीयता द्वारा ही हुआ है।

तीसरा अध्याय

योरप में तर्कवाद

प्राक्कथन

पिछले दो अध्यायों में आधुनिक युग के सूत्रपात का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि ज्ञान-प्रचार की नई लहर से कई नई प्रवृत्तियाँ योरप में प्रकट हुई। धर्मसुधार, नवीन देशों की खोज तथा राष्ट्रीयता की भावना अपने-अपने रूप में महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं किन्तु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु—जिसे योरोपीय ज्ञान-प्रचार की लहर ने उत्साहित किया—नवीन विचार-प्रणाली है जिसके प्रभाव से योरप में तर्कवाद का बोलबाला रहा। जहाँ पहले पोप की आज्ञानुसार ही विचारधाराओं का प्रचार हो पाता था वहाँ अब योरप के विचारक अपनी तर्कना तथा बुद्धि से अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का हल निकालने लगे। यह हल व्यापारवाद, तर्कवाद तथा ज्ञानवाद के नाम से योरप में प्रसिद्ध है और इसके परिणाम स्वरूप जीवन के सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। विज्ञान के आविष्कारों तथा चकाचौंध ने योरपवासियों के मस्तिष्क में एक क्रांति उत्पन्न कर दी जिसका परिणाम यह हुआ कि मध्यम वर्ग ने अधिक जागरूकता से सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का नेतृत्व करना प्रारम्भ कर दिया। फ्रांस में ज्ञानकोष के सम्पादित होने के अवसर पर विचारकों को एक स्थान पर एकत्रित होने और पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान का अवसर प्राप्त हुआ। समाचारपत्रों के छपने से इस विचारधारा को सर्वसाधारण तक पहुँचने में सहायता मिली। लोकमत इस प्रकार अधिक शिक्षित बनने लगा। इस विचार-क्रांति में व्यावसायिक तथा कृषि-क्रांतियों ने सराहनीय सहयोग दिया और इसी के परिणाम स्वरूप अमेरिका तथा फ्रांस की राज्यक्रांतियाँ सफलतापूर्वक हो सकीं। व्यावसायिक तथा कृषि-क्रांति को सफल बनाने में वैज्ञानिक आविष्कारों ने मुख्य कार्य किया। इन आविष्कारों के बिना यह कार्य कदापि नहीं हो सकता था। इन पृष्ठों में हम पहले वैज्ञानिक आविष्कारों, फिर कृषि तथा व्यावसायिक क्रांतियों का वर्णन कर तत्पश्चात् उनके परिणामों जैसे व्यापारवाद, पूँजीवाद, ज्ञानवाद मध्यम वर्ग का उदय तथा वैज्ञानिक विचारधारा के प्रादुर्भाव पर विचार कर उसका विश्व सभ्यता में क्या स्थान है इस पर विचार प्रकट करेंगे।

योरप में भौतिक विज्ञान की उन्नति

सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में योरपीय विज्ञान की उन्नति का क्रम आरम्भ हुआ। रोजर बेकन ने जिस वैज्ञानिक तथा प्रयोगात्मक प्रणाली को जन्म दिया था उसका फल योरपीय देशों में दिखलाई पड़ा, विशेषतया इंगलैंड में फ्रांसिस बेकन की प्रयोगात्मक प्रणाली ने शिक्षित वर्ग को आकर्षित किया। चार्ल्स द्वितीय ने रायल सोसायटी की स्थापना की। इस सोसाइटी ने वैज्ञानिक भावना देश में उत्पन्न करने में सराहनीय कार्य किया। अनेक विद्वानों को आश्रय तथा प्रोत्साहन देकर इस सोसाइटी ने इङ्गलैण्ड को उस उन्नति की ओर अग्रसर कर दिया जो औद्योगिक क्रांति के कारण उसे मिली। अनेक देशों की खोज होने के कारण व्यापार तथा वाणिज्य की उन्नति हुई। धर्म के स्थान पर अब व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर अपना ध्यान बँटाया। कहना न होगा कि इङ्गलैण्ड की जलवायु तथा स्थिति ने इन सब वैज्ञानिक परिवर्त्तनों में बहुत सहयोग दिया। औद्योगिक क्रांति जिसका आधार वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से व्यापारिक वस्तुओं का निर्माण करना था इङ्गलैण्ड में इसी कारण सफल हो सकी कि वहाँ कोयला तथा लोहे की खानें साथ-साथ थीं। इनसे मशीनों के निर्माण तथा उन्हें कार्य में परिणत करने में सहायता मिली। इङ्गलैण्ड योरप से अलग था। इसी कारण यह योरप के लड़ाई-झगड़ों से अपने को अलग कर इस वैज्ञानिक उन्नति की ओर अपना ध्यान पूरी तरह लगा सका।

इस प्रकार प्राचीन लेखकों की पुस्तकों—जिनमें यूक्लिड की रेखागणित और टालमी का ज्योतिषशास्त्र सम्मिलित था—की सहायता से तथा रोजर बेकन की प्रणाली को अपनाकर योरपीय विज्ञान की उन्नति हुई। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आइज़क न्यूटन ने इस उन्नति में पर्याप्त सहयोग दिया। विलियम हार्वे नामक अंगरेज ने रक्त के संचालन का सिद्धान्त स्थिर किया। रसायनशास्त्र, विद्युतशास्त्र, जन्तुशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन की नींव भी अठारहवीं शताब्दि में पड़ी।

इस वैज्ञानिक उन्नति का सबसे व्यापक प्रभाव यह हुआ कि योरप में तर्क की भावना की अभिवृद्धि हुई। प्रत्येक देश में वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना होने से सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से होने लगा। दूसरा परिणाम यह निकला कि वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग व्यापार, उद्योग-धन्धों की उन्नति में होने लगा। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक

आविष्कारों के उपयोग से सामुद्रिक मार्गों को पार करने में और विदेशों की यात्रा करने में सुगमता हुई। संक्षेप में यदि यह कहा जाय कि वर्तमान युग की प्रमुख विशेषता वैज्ञानिक आविष्कारों की सफलता है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। विज्ञान के आविष्कारों का एक परिणाम यह निकला कि औद्योगिक क्रांति सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सकी जिसके परिणामस्वरूप इङ्गलैण्ड आदि देशों में तैयार किया हुआ माल बाहर भेजा जाने लगा और वहाँ से कच्चा माल आने लगा। यह था औद्योगिकवाद तथा औपनिवेशिक साम्राज्यवाद जो आगे चल कर विश्व के लिए इतना दुखदायी हुआ। कालान्तर में इसी साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप विश्व में युद्धों का तांता लग गया और सैनिकवाद ने विश्व में अपना आतंक जमा लिया। इन सब घटनाओं का वर्णन आगे चलकर किया जायगा। यहाँ इस वैज्ञानिक उन्नति के दो परिणामों—कृषि-क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति—की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

कृषि-क्रांति और उसके प्रभाव

मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता भोजन है। अनाज का उत्पादन सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही मनुष्य का सर्वप्रथम कार्य रहा है। प्राचीन तथा मध्यकाल की सभ्यताएँ उन्हीं स्थानों पर फूली-फली थीं जहाँ आसानी से अन्न उपजाया जा सके। कृषि-कार्य भी पुराने ढंग से चला आता था। विद्या के पुनरुद्धार के साथ-साथ जहाँ मनुष्य ने धार्मिक तथा विचार-विनिमय के क्षेत्र में उन्नति की वहाँ उसने कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति में भी सहयोग दिया। साधारण लेखक इस बात की भूल करते हैं कि आधुनिक युग में केवल व्यवसाय तथा वाणिज्य की ही उन्नति हुई है। वस्तु स्थिति इस प्रकार है कि व्यवसाय तथा वाणिज्य की उन्नति के साथ साथ कृषि की उन्नति भी बहुत आवश्यक थी। इङ्गलैण्ड में जहाँ अठारहवीं शताब्दि में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ वहाँ कृषि-क्रांति का भी प्रादुर्भाव हुआ था। इस प्रकार दोनों क्रांतियों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध था। आधुनिक युग के प्रारम्भ होने के साथ-साथ योरप में व्यापारिक तथा आर्थिक क्रान्तियाँ हुईं। पहिले हमने नये देशों की खोज और उनके साथ हुए व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख किया था। इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप विश्व में व्यापारिक तथा आर्थिक क्रांतियाँ हुईं। व्यापारिक तथा आर्थिक क्रांतियों ने मध्यकालीन कृषि-प्रथा का नाश हुआ। पहिले जहाँ लगान के बदले में अनाज, सूत आदि दिया जाता था वहाँ अब मुद्रा का प्रयोग होने लगा। भूमिपतियों ने लगान वसूल करने का काम अपने कारिन्दों को सौंप दिया और नगरों में रहना

प्रारम्भ कर दिया। इन कारिन्दों ने कृषिकारों से अधिक लगान वसूल किया और उनके ऊपर अत्याचार किये। इसके साथ ही भूमि को अधिक लाभदायक बनाने के विचार से भेड़ों के ऊन का व्यवसाय किया गया। खेतों को बड़े बड़े कांटों से घेर लिया जाता था और उन पर भेड़ें पाली जाती थीं। इस परिवर्त्तन से छोटे-छोटे कृषिकरों का नाश हुआ और उनकी कठिनाइयाँ अपरिमित हो गईं तथापि यह सत्य है कि वैसा न होने पर आधुनिक कालीन कृषि का होना असम्भव था।

कृषि-क्रांति की दूसरी विशेषता उल्लेखनीय है। अब तक अधिकांश भूमि बेकार पड़ी रहती थी। जो कुछ कृषि योग्य थी उस पर भी खेती पुराने ढंग से होती थी। प्रत्येक फसल के बाद भूमि अपनी उर्वरा शक्ति को फिर से प्राप्त करने के लिये खाली छोड़ दी जाती थी। अनाज भी अपर्याप्त होता था क्योंकि कृषि को वैज्ञानिक ढंग से करने का ढंग लोगों को ज्ञात ही न था। विज्ञान की उन्नति से भूमि में अच्छे खादों का उपयोग होने लगा। धनिक भूमिपतियों ने कृषि में रुपया लगाकर वैज्ञानिक उपायों का सहारा लिया। टल नामक एक साहसी युवक ने कृषि के औजारों तथा अन्न उगाने के साधनों में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन किये। घोड़े की सहायता से भूमि जोती जाने लगी। वाइकाउन्ट टाउनशेन्ड नामक एक धनाढ्य व्यक्ति ने उर्वरा शक्ति को प्राप्त करने के विचार से अनाज बोने के क्रम में हेर फेर किया।

कृषि-क्रांति का प्रभाव

कृषि-क्रांति ने जहाँ अनाज की उपज में सहयोग दिया और नये औजारों का प्रयोग किया वहाँ इस क्रांति से भारी हानियाँ भी हुईं। ऊपर बड़े-बड़े कृषि-क्षेत्रों की स्थापना का वर्णन हो चुका है। कहने को तो इन कृषिकरों को चकबन्दी के परिणाम स्वरूप बड़े बड़े लाभ होते थे, जो भी भूमि इनसे ली जाती थी उसके बदले में इन्हें हरजाना मिलता था किन्तु व्यवहार से में इसके विपरीत ही बात होती थी। बीस कृषिकरों में से उन्नीस इन परिवर्त्तनों बेदखल होकर भूमिहीन कर दिये जाते थे। जो हरजाना इन्हें मिलता था वह जल्दी ही खर्च हो जाता था और इनके बच्चे पैसे-पैसे को मारे-मारे फिरते थे। दूध, दही और मक्खन के अभाव में चाय का प्रयोग जारी किया गया। बहुत से किसान जिनकी भूमि छीनी जा चुकी थी या तो मजदूरी कर अपना पेट पालने लगे अथवा विदेशों में जाकर अपना निर्वाह करने लगे। शेष लोगों ने शहरों में जाकर कल-कारखानों की शरण ली। वहाँ उन्हें न्यूनतम वेतन पर काम करने के लिये विवश होना पड़ा क्योंकि बेकार किसान इतनी अधिक संख्या में मौजूद थे।

औद्योगिक क्रांति और उसका प्रभाव

व्यवसायिक क्रांति उस महान परिवर्त्तन का नाम है जिसके परिणाम स्वरूप हाथ से बनी हुई वस्तुओं के स्थान पर कल से बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग होने लगा। प्राचीन तथा मध्य युगों में मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति हाथ की सहायता से पूरी करता था। अनाज उगाना, वस्त्र तैयार करना आदि सभी बातों में उसे अपने बाहुबल से काम लेना पड़ता था। किन्तु सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में ऐसे परिवर्त्तन इङ्गलैण्ड में तदनन्तर विश्व में हुए जिसके परिणाम-स्वरूप विश्व का रूप ही बदल गया। यदि किसी से पूछा जाय कि वर्तमान काल की प्राचीन तथा मध्य कालसे क्या विशेषता है तो यही उत्तर मिलेगा कि वर्त-मान युग मशीनों का युग है और प्राचीन तथा मध्य काल में इनका अभाव था। शायद मानव सभ्यता की उन्नति अथवा अवनति, सुख अथवा दुःख में किसी भी वस्तु ने इतना सहयोग न दिया हो जितना मशीनों ने दिया। वर्तमान जीवन से यदि हम कल-कारखानों तार, मोटर, बिजली, हवाई जहाज, रेल, रेडियो तथा अन्य मशीनों को निकाल दें तो हमारे पास रह ही क्या जायगा? वर्तमान विश्व का आधुनिक रूप औद्योगिक क्रांति का ही परिणाम है।

परिवर्तन का यह क्रम एक साथ ही हो गया हो सो बात नहीं है। सब से पहिले सूत कातने और कपड़ा बुनने के व्यवसाय में परिवर्तन हुए। जेम्स हार ग्रीव्ज ने सूत कातने वाली एक मशीन का आविष्कार किया जिसे उसने अपनी स्त्री के नाम पर "कातने वाली जेनी" कह कर पुकारा। इसके पश्चात आर्कराइट ने पानी से चलने वाली एक कातने की मशीन का आविष्कार किया। कुछ समय पश्चात् आर्कराइट ने कपड़ा बुनने की मशीन का आविष्कार किया। अठारहवीं शताब्दि के अंत तक इन कातने वाली और बुनने वाली मशीनों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। पहिले-पहल इन मशीनों को पानी की सहायता से चलाया जाता था। भाप के आविष्कार के पश्चात् भाप का प्रयोग होने लगा।

भाप के आविष्कार का श्रेय जेम्स वाट् नामक अंगरेज को है। भाप पैदा करने के लिये कोयले का प्रयोग होने लगा। इन सब मशीनों को बनाने के लिये लोहे का प्रयोग आवश्यक था। कालान्तर में वे स्थान व्यवसायिक केन्द्र बन गए जहाँ दोनों को आसपास प्राप्त किया जा सकता था। भाप की सहायता से बड़े बड़े काम होने लगे। स्टीफेन्सन नामक एक अंगरेज़ ने सन् १८३० ई० में लिवरपूल तथा मानचेस्टर के बीच की रेलवे लाईन पर भाप से चलने वाला इञ्जिन बनाया। भाप का प्रयोग पानी पर चलने वाली नावों को चलाने में भी किया गया।

व्यावसायिक क्रांति के प्रभाव

मशीन के प्रयोग का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि स्थान-स्थान पर मिलों तथा कारखानों की स्थापना हुई। पहिले सूत कातने की फिर बुनने की मशीनों की धूम सी मच गई। इन मशीनों के प्रभाव से पूँजीपतियों तथा मिल-मालिकों का जन्म हुआ। मध्य युग के अंत से ही पूँजी का उपयोग बहुत अधिक होने लगा था। अब अठारहवीं शताब्दि तक पहुँचते पहुँचते उसमें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सम्मिलित पूँजी से चलने वाली कम्पनियों की स्थापना हुई। बैंकों ने व्यापार को बढ़ाने में आश्चर्यजनक सहयोग दिया। कारखाने तथा मिलों के चलाने के लिये बहुत रुपये की आवश्यकता होती थी इसी कारण पूँजीपतियों का प्रभाव अब बढ़ने लगा। कारखानों तथा मिलों में मजदूरों को तो थोड़े ही दामों पर रखा जाता था। अपने लगाये हुए धन से मिल-मालिक मनमाना लाभ उठाने लगे। इस प्रकार समाज में पूँजीपतियों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया। इन्होंने तत्कालीन सरकार और समाज पर अपना पूर्ण आधिपत्य कर लिया। मध्य युग में व्यापार तथा व्यवसाय पर नियंत्रण रखने के लिये एक प्रकार का सिद्धान्त चला था जिसे व्यापारवाद (Mercantilism) कहते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार पर सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लगाये जाते थे जिससे उस सामान के उत्पादन के लिये उचित प्रकार की सामग्री का प्रयोग करना पड़ता था और मजदूरों को भी उचित वेतन देना पड़ता था। अब पूँजीवाद के होने से 'व्यापारवाद' के सिद्धान्त का अन्त हो गया। पूँजीवाद का कथन था कि उत्पादन में सरकार द्वारा किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। इस सिद्धान्तों का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ व्यावसायिक क्रांति के अन्य परिणामों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

इस क्रांति ने मजदूरों की दशा एकदम शोचनीय कर दी। पहिले ही कृषि-क्रांति के कारण किसान और कृषि पर निर्भर रहने वाले मजदूर बेकार फिरते थे। अब छोटे छोटे कारीगर, जुलाहे, सूत कात कर निर्वाह करने वाली कत्तनियाँ सब पेट की खातिर गली-गली और सड़कों-सड़कों मारे मारे फिरने लगे। स्त्रियों तथा बच्चों को कल-कारखानों में १६ घंटे तक काम करना पड़ता था। स्त्रियों तथा बच्चों को पीठ के पीछे भारी टोकरा बाँधे हुए तंग स्थानों में घुटनों के बल चलना पड़ता था। शहर की तंग गलियों तथा इलाकों में झुण्ड के झुण्ड मजदूर भेड़-बकरियों की तरह रहते थे। शील तथा लज्जा का तो ऐसे जीवन में स्थान ही कहाँ था? शराब पीकर बेचारे मजदूर अपनी थकान तथा दुःख कम करते थे।

किन्तु इसका स्थायी प्रभाव उनके स्वास्थ्य तथा चरित्र पर बड़ा भयंकर पड़ता था। महामारी के समय ये ही मजदूर कुत्तों की तरह सड़कों पर मर जाते थे। वैभव तथा विलासिता में पले मिल-मालिकों तथा पूँजीपतियों को इसकी चिन्ता कहाँ थी ?

कृषि तथा औद्योगिक (व्यावसायिक) क्रांतियों के प्रभाव को देखने के पश्चात् हम इस युग की अन्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

व्यापारवाद

पिछले पृष्ठों में यह बताया गया है कि सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में पुर्तगाल, स्पेन, इङ्गलैण्ड, हालैण्ड तथा फ्रांस द्वारा अफ्रीका, एशिया तथा अमेरिका में उपनिवेश स्थापित हुए थे। उपनिवेशों की स्थापना का मन्तव्य व्यापारिक था। शासकों की भावना थी कि उपनिवेशों की स्थापना से उनका देश धन-धान्यपूर्ण तथा शक्तिशाली बनेगा। इसी विश्वास के आधार पर व्यापारवाद का सिद्धान्त योरप के देशों में प्रचलित हुआ। व्यापारवाद का उद्देश्य आर्थिक समस्याओं पर विशेषतया व्यापार तथा उद्योग-धन्धों पर पूरा नियंत्रण रखना था। प्रत्येक देश का शासक वर्ग इस बात का प्रयत्न करता था कि व्यापार तथा उद्योग-धंधों का प्रबंध इस प्रकार हो कि देश का आर्थिक अहित न हो। व्यापारवाद की पहिली विशेषता थी उग्र राष्ट्रीयता। सभी देश अपने हित का ध्यान रख कर इस बात को देखते थे कि दूसरों के मुकाबिले में उनका आर्थिक हित न पिछड़ जाये। सारांश में जो काम उन्नीसवीं शताब्दि में राष्ट्रीयता ने राजनीतिक क्षेत्र में किया वही काम व्यापारवाद ने सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दि में किया। अठारहवीं शताब्दि का व्यापारवाद उन्नीसवीं शताब्दि में 'संरक्षण की नीति' के नाम से विख्यात हुआ। व्यापारवाद की दूसरी विशेषता थी उन वस्तुओं को अपने देश में न आने देना जो अपने देश में उत्पन्न होती थीं। इसी आशय से इंगलैण्ड में चाकू, चमड़े का सामान, दस्ताने आदि अन्य वस्तुएँ विदेशों से नहीं आ सकती थीं क्योंकि ये वस्तुएँ इंगलैण्ड में पर्याप्त मात्रा में तैयार होती थीं। तीसरी विशेषता यह थी कि देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया जाय जिससे अपने देश में दूसरे देशों की बनी हुई वस्तुएँ न आ सकें। इस उद्देश्य से सरकार उद्योग-धन्धों की उन्नति अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझती थी। साथ ही अपने यहाँ तैयार हुई वस्तुओं को उत्तम बनाने का भी प्रयत्न किया जाता था जिससे वे विदेशों में अच्छे दामों में बिक सकें। व्यापारवाद की चौथी विशेषता—जिसके कारण अठारहवीं शताब्दि में युद्ध हुए—उपनिवेश स्थापित करने

की लालसा थी। व्यापारवाद के सिद्धान्त उपनिवेशों में भली प्रकार लागू होते थे। उपनिवेशों में ही प्रत्येक देश अपना पूरा हित साधन कर सकता था। यहाँ से उपनिवेशों को तैयार किया हुआ सामान भेजा जा सकता था। वहाँ से कच्चा सामान मँगाया जा सकता था। इस प्रकार उपनिवेशों को दुधारी गाय समझा जाता था जिनका अस्तित्व मातृ-भूमि को लाभ पहुँचाना था। उपनिवेशों की स्थापना इसी कारण योरपीय विदेशी नीति की एक प्रमुख विशेषता हो गई। इसी कारण योरपीय देशों में उपनिवेशों के प्रश्न को लेकर युद्ध हुए। इस सम्बन्ध में दो योरपीय शक्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनमें आपस में इन प्रश्नों को लेकर युद्ध हुए। ये देश हैं फ्रांस तथा इंगलैण्ड। सामुद्रिक प्रभुत्व के कारण इङ्गलैण्ड को इन युद्धों में सफलता मिली और उसका साम्राज्य तथा व्यापार विश्व में खूब फूला फला।

व्यापारवाद का अंत

इस प्रकार व्यापारवाद अठारहवीं शताब्दि तक खूब फूला फला। किन्तु औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप व्यापारवाद का अंत हो गया। मिल मालिक तथा पूँजीपति उन सब बन्धनों को अनावश्यक समझते थे जो व्यापारवाद की प्रमुख विशेषता थी। उनका कथन था कि सरकार को आर्थिक तथा व्यापारिक मामलों में हस्तक्षेप रहित नीति बरतनी चाहिये। पूँजीपति तथा मिल-मालिक जहाँ से सस्ता समझेंगे कच्चा सामान मँगायेंगे, अपने कारखाने को जिस ढंग से चाहेंगे चलायेंगे और अपने तैयार किये हुए सामान को जिसके हाथ चाहेंगे बेचेंगे। कारखानों के मालिकों की यह भी राय थी कि कार्न ला[1] जैसे कानूनों को रद्द कर दिया जावे। एक प्रकार से ऐसे लोग स्वतंत्र व्यापार के पक्षपाती थे और आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप रहित नीति का समर्थन करते थे। इस विचार-धारा का प्रचार इङ्गलैण्ड में आदम स्मिथ नामक एक अर्थशास्त्रज्ञ ने किया था। इसकी धारणा थी कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धान्तों की भाँति सच्चे और अटल हैं। जैसे भौतिक विज्ञान में स्वाधीनता की आवश्यकता

---

१. नेपोलियन के युद्धों के पश्चात् इंगलैण्ड में अनाज की भारी कमी पड़ी। सरकार ने फिर भी 'कार्न ला' पास कर बाहर के अनाज पर भारी कर लगा दिये जिससे इङ्गलैण्ड का अनाज सस्ते दाम पर न बिकने पाये। उस समय की सरकार में धनिक पूँजीपतियों का बोलबाला था जो अपने स्वार्थ को सुरक्षित रखना चाहते थे।

है वैसी ही स्वाधीनता आर्थिक मामलों में भी होनी चाहिये। व्यापार तथा उद्योग-धन्धों पर नियंत्रण रखने के लिये जो कानून बनाये जावेंगे उनसे लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होगी। अनाज तथा अन्य खाद्य पदार्थों पर कर लगाना भारी भूल है। व्यापारवाद का अंत होना चाहिये। आर्थिक विचार-धारा में इस परिवर्तन के तीन परिणाम निकले :—

१. व्यापारवाद का अंत हुआ जिससे औद्योगिक पूँजीपति अपने कारखाने के निरंकुश सत्ताधारी मालिक बन गए। इसका परिणाम बड़ा घातक हुआ। हस्तक्षेप रहित नीति के दुष्परिणामों को कुछ ही समय बाद जान लिया गया और पार्लिमेन्ट को विवश हो श्रमजीवियों की रक्षा के लिये कानून बनाने पड़े।

२. इंगलैण्ड में सन् १८२० से १८६० ई० तक ऐसे कानून बने जिनसे व्यापारिक संरक्षण समाप्त हुआ। पूर्णतया स्वतंत्र नीति का पालन होने लगा।

३. उपनिवेशों का मूल्य इन विचारकों की दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण न था। उनका विश्वास था कि उपनिवेश उन पके फलों के सदृश हैं जो पकने पर पेड़ से अलग हो जाते हैं। अमेरिका के स्वाधीन होने से यह धारणा और भी पक्की हो गई। स्वराज्य देना ही उपनिवेशों के साथ अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित रखने का एकमात्र साधन समझा गया।

आर्थिक दृष्टिकोण से यह परिवर्तन अनेक कारणों से हुआ था। उनमें से एक था फ्रांस में ज्ञानवादियों (विश्वकोष के लेखकों) का प्रचार और दूसरे वहाँ की स्वतंत्र आर्थिक विचारधारा। आगे की पंक्तियों में इन दोनों प्रवृत्तियों पर विचार किया जायगा।

विश्वकोष के लेखक (Encyclopaedists)

अठारहवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में विचारकों का एक समुदाय बना जिसने तत्कालीन समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया और एक नवीन विश्व की कल्पना में सहयोग दिया। उन्होंने प्रमुख सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं जैसे दासता, कर लगाना, फौजदारी के कानून, धार्मिक मामलों में सहिष्णुता पर विचार किया और उस समय के सामाजिक तथा आर्थिक संगठन के दोषों को सुझाया। उनका परिश्रम एक ज्ञानकोष के रूप में प्रकट हुआ जिसकी १७ जिल्द प्रकाशित हुईं। यह कार्य डेनिस डाइडरोट की अध्यक्षता में हुआ था। उसके साथ जेसूट विद्यालयों से निकले हुए विद्वान थे जिन्होंने बड़ी छानबीन के साथ इस सम्पादन-कार्य में हाथ जुटाया था।

इतिहासकार मैन्टूट के शब्दों में "उनका कार्य इसलिये महत्वपूर्ण था कि अन्याय के प्रति घृणा और रोष प्रकट किया था, दासों के व्यापार को अनुचित ठहराया, करों की असमानता का विरोध किया, न्याय सम्पादन में रिश्वतखोरी की निन्दा की, युद्धों के अपव्यय को सुझाया, उद्योग-धन्धों की उन्नति के साधन बताये तथा सामाजिक उन्नति के उपायों को तत्कालीन समाज के सम्मुख रक्खा।" उनका विश्वास था कि मनुष्य जन्म से न्याय-प्रिय है। सामाजिक उन्नति सहयोग तथा सद्भावनाओं के आधार पर ही हो सकती है। सहयोग के अभाव में सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी। लार्ड मार्ले के शब्दों में "राज्य द्वारा त्रसित लेखकों का यह समूह ही ऐसा कार्य कर रहा था जिसने वर्तमान सामाजिक संगठन के इस सिद्धान्त को बताया कि समाज में उत्पादक परिश्रम का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है।" राज्य-दरबारियों तथा पादरियों में से किसी ने समाज की वह सेवा नहीं की जो इन विद्वानों ने की थी। कहना न होगा कि राज्य-दरबार से उन्हें सहयोग के स्थान पर पग-पग पर कठिनाइयाँ ही मिला करती थीं। इन लेखकों के कार्य का यह परिणाम हुआ कि फ्रांस की जनता की विचार-धारा में आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुआ।

आर्थिक समस्याओं के विचारक (Physiocrats)

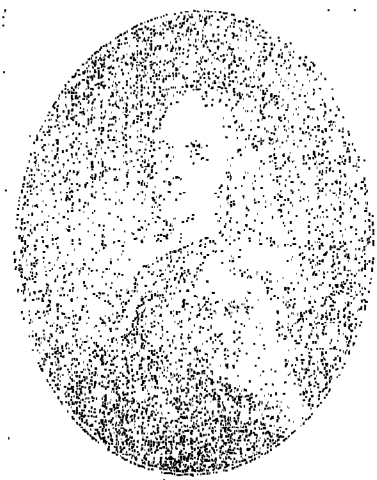
इन विचारकों के कार्य से मिलता जुलता कार्य आर्थिक समस्याओं के विचारकों ने किया। इनका नेता कैसने था। यह लुई पन्द्रहवें के दरबार में एक चिकित्सक था। उसने व्यापारवाद को एकदम व्यर्थ बताया। उसने खाद्य पदार्थों के उत्पादन तथा विभाजन की समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उनका विचार था कि समस्त धन की उत्पत्ति का साधन भूमि है। व्यापारी तथा कारीगर को अनाज, वस्त्र, कोयला, लोहा आदि सभी वस्तुएँ भूमि से ही मिलती हैं। इसीलिये यदि सरकार देश को धन-धान्यपूर्ण तथा समृद्धिशाली बनाना चाहती है तो उसे कल-कारखानों के स्थान पर कृषि की उन्नति में सहयोग देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब सरकार उत्पादन तथा विभाजन के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप करे। इस प्रकार इन लोगों ने आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप रहित नीति का प्रयोग सुझाया। उन्होंने बताया कि कृषकों को पूर्ण स्वाधीनता देने का अर्थ होगा कि प्रत्येक किसान अधिक से अधिक अनाज उगायेगा और व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न से सामाजिक धन बढ़ेगा। देश से दरिद्रता दूर होगी और उसकी दशा उन्नत होगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि अंगरेजी विचारक आदम स्मिथ ने फ्रांस से ही

इन आर्थिक विचारों को ग्रहण किया था किन्तु उसने धन के साधनों में कृषि के साथ-साथ व्यापार तथा व्यवसाय को सम्मिलित कर लिया और इन सब बातों में सरकारी हस्तक्षेप की निन्दा की। इसी समय इङ्गलैण्ड में दो और प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञ हुए। एक था माल्थस और दूसरा रिकार्डो। माल्थस ने जनसंख्या की समस्या पर विचार किया और जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि की ओर संकेत करते हुए उस पर नियन्त्रण रखने का सिद्धान्त स्थिर किया। रिकार्डो ने मजदूरों के वेतन आदि औद्योगिक समस्याओं का विवेचन किया। राजनीतिक विचारों में इनका साथी मिल था जिसने व्यक्तिगत स्वाधीनता पर इतना जोर दिया। कहना न होगा कि पूँजीपतियों ने स्मिथ के इन विचारों का स्वागत किया और सरकारी नियन्त्रण की निन्दा।

नवीन विचारधाराओं का प्रभाव

जैसा हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में बताया था सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियाँ योरप के इतिहास में तर्क के युग के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैज्ञानिक उन्नति ने पहले ही मनुष्य की विचारधारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये थे। सभी प्रश्नों को तर्क की कसौटी पर कसा जाता था। सामाजिक संगठन तथा आर्थिक समस्याओं का हल अब वैज्ञानिक आधार पर होना प्रारम्भ हुआ था। शताब्दियों की धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर यह मानो वज्रपात था। तर्क तथा विचार अंधविश्वास के सबसे बड़े शत्रु हैं। उन्हीं के सहारे संसार की बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ सफल हुई हैं। मनुष्य अज्ञानवश सैकड़ों वर्षों तक असमानताओं तथा असुविधाओं को सहन करता रहता है किन्तु बुद्धि तथा तर्क के प्रभाव से उसे वे बन्धन एक क्षण के लिये असहनीय हो जाते हैं। यही परिणाम इस विचारधारा का निकला। योरप के मुख्य २ देशों में मध्यम वर्ग का उदय तथा विकास हुआ जिसने



वाल्टेयर

ज्ञानप्राप्ति के इन साधनों को ग्रहण किया और उनकी सहायता से अपने को अधिक समझदार बनाया। व्यापार तथा उपनिवेशों से मध्यम वर्ग पहिले ही धनी हो गया था। उसने काफी लाभ इन परिवर्त्तनों से उठाया था। राजा की निरंकुशता तथा दैवी अधिकारों की आलोचना इसी मध्यम वर्ग ने की। इस प्रकार इङ्गलैण्ड में तर्क के युग का प्रारम्भ उस समय से माना जाता है जब वहाँ राजाओं के दैवी अधिकारों के स्थान पर नियमानुमोदित शासनप्रणाली की स्थापना हुई। यह कार्य वहाँ जॉन लॉक नामक विचारक ने प्रारम्भ किया था। लॉक, वाल्टेयर, रूसो तथा मांटेसक इस तर्क युग के प्रवर्त्तक समझे जाते हैं। हालैण्ड की क्रान्ति उन्हीं के सहयोग से सफल बनी थी। फ्रांस में ज्ञानवादियों तथा नये आर्थिक विचारकों के सहयोग से वह परिस्थिति उत्पन्न होती जा रही थी जिसके आगे निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता घुटने टेक देती। रूसो के लेखों में वह जादू था जिससे फ्रांस का मध्यम वर्ग भलीभाँति प्रभावित हुआ। उसके शब्दों के नशे में फ्रांस की जनता ने लुईशाही को उखाड़ फेंका और स्वाधीनता, समानता तथा भाईचारे का सन्देश त्रसित मानव जाति को सुनाया। समाचार-पत्रों का प्रकाशन इस समय तक विज्ञान की कृपा से ही हो चुका था। नगरों तथा कस्बों में सड़कों के किनारे पत्रालय जैसे स्थान बन गए थे जहाँ खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते लोगों को शहरों तथा विदेशों के समाचार ज्ञात होते रहते थे। यद्यपि ये समाचार पुराने पड़ जाते थे फिर भी इनका सामाजिक महत्व कुछ कम न था। इन क्लबों ने कालान्तर में बहुत बड़ा कार्य किया। फ्रांस की राज्य-क्रांति में इन्हीं क्लबों के सदस्यों ने महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं पर विचार प्रकट किये और उन्हें सुलझाया। कहना न होगा कि ये समाचारपत्र विज्ञान की ही बदौलत थे। इस प्रकार इस युग को 'तर्क का युग' कहना पूर्णतया उचित है क्योंकि यहीं से सोचने तथा विचार करने की शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ और यहीं से मनुष्य के मस्तिष्क में भारी उथल-पुथल मची। विश्व सभ्यता की उन्नति में इस युग ने भारी सहयोग दिया। यद्यपि इसका प्रभाव इस युग में अधिक स्पष्ट न था फिर भी यह स्पष्ट था कि तर्क तथा विचार की आग धीरे-धीरे सुलग रही थी और उसका अंत एक विशाल विस्फोट के रूप में होने वाला था। वह विस्फोट था फ्रांस की राज्यक्रान्ति।

चौथा अध्याय

अमेरिका तथा फ्रांस की राज्यक्रान्तियाँ

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में औपनिवेशिक व्यापारवाद तथा ज्ञानवाद का उल्लेख किया गया है। यह भी बताया गया है इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस से बहुत से प्यूरिटन तथा ह्यूनाट अमेरिका तथा कनाडा में जा बसे। कुछ समय तक तो इन उपनिवेशों की मातृ-भूमि के प्रति पूर्ण सहानुभूति रही और दोनों में पारस्परिक प्रेम बना रहा। फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड की व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप दोनों जातियों में अमेरिका तथा भारत में लगातार युद्ध होते रहे। इन युद्धों का श्रीगणेश इङ्गलैण्ड की गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति के साथ हुआ। तब सन् १६८९ ई० से लेकर सन् १८१५ ई० तक दोनों जातियों में, जहाँ कहीं भी वे थीं, प्रभुता के लिये संघर्ष हुआ। विशेषतया अठारहवीं शताब्दि के अन्तिम अर्द्ध भाग में लड़ाइयों का तांता पूर्ण वेग से लग गया। यह युद्ध सप्त-वर्षीय युद्ध के नाम से योरप के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस युद्ध में अमेरिकन उपनिवेशों ने इङ्गलैण्ड की धन तथा मनुष्यों से सहायता की। इङ्गलैण्ड विजयी हुआ। फ्रांस का अमेरिका तथा भारत में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न नष्ट हुआ। किन्तु इस युद्ध के परिणामस्वरूप अमेरिकन स्वाधीनता का सूत्रपात हुआ। फ्रांस के कनाडा छोड़ देने के पश्चात् उन्हें अब फ्रांस का भय न रहा। उन्होंने निर्भीक हो अपनी समस्या का सुझाव सोचा। उपनिवेशों को आर्थिक तथा व्यापारिक असुविधाएँ तो थीं ही, बहुत सा सामान वे केवल इङ्गलैण्ड से ही मँगा सकते थे। इन सब कारणों से अमेरिका ने अपनी स्वाधीनता का झंडा फहराया। जयों तथा पराजयों के पश्चात् अन्त में उन्हें सफलता मिली। इङ्गलैण्ड को सन् १७८३ ई० में उनकी स्वाधीनता स्वीकृत करनी पड़ी। सप्त वर्षीय युद्ध में अपनी हार से खीझ कर फ्रांस ने अमेरिका की सहायता की थी और इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि फ्रांस की सहायता के बिना अमेरिकन स्वाधीनता असम्भव थी। किन्तु फ्रांस के लिए यह सहायता मँहगी रही। फ्रांस की आँखें खुलीं। अपनी विवशता और अकर्मण्यता उन्हें अखरने लगी। "पहिले घर में दीपक जला कर फिर मस्जिद में जलाया जाता है" इस बात पर वे बार-बार

विचार करने लगे। पहिले ही से विचारकों ने मानसिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। अब इस नये अनुभव का परिणाम हुआ कि क्रान्ति का विस्फोट बड़े भयंकर रूप से हुआ। उसके धमाके के साथ शताब्दियों की स्वेच्छाचारिता और सामन्तशाही हवा हो गई। फ्रांस की राज्यक्रान्ति विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना बन गई। इस अध्याय में पहिले हम अमेरिकन क्रान्ति का वर्णन करेंगे फिर फ्रांस की राज्यक्रान्ति का और तत्पश्चात् विश्व सभ्यता के लिए इन क्रान्तियों की देन पर विचार प्रकट करेंगे।

अमेरिका की स्वाधीनता का इतिहास

ऊपर बताया जा चुका है कि इङ्गलैण्ड से बहुत से प्यूरिटनों ने अमेरिका में जाकर शरण ली थी। वहाँ पहुँच कर उन्होंने जनसत्तात्मक प्रणालियों को भली-भाँति अपनाया। इङ्गलैण्ड की तरह उनकी अपनी कानून निर्मात्री समितियाँ थीं। इनको वे लोग स्वयं चुनते थे। इङ्गलैण्ड से प्रत्येक उपनिवेश में गवर्नर नियुक्त होकर आते थे किन्तु उनका स्थान वही था जो इङ्गलैण्ड में सम्राट् का था। इङ्गलैण्ड की राजनीतिक संस्थाओं तथा सिद्धान्तों ने अमेरिका में अनुकूल परिस्थिति पाकर अपनी जड़ मजबूत कर ली। उनका स्वाधीनता-प्रेम अधिक उत्कट हो गया। इङ्गलैण्ड से वे धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिये यहाँ आये थे। भला ऐसे लोग कैसे निरंकुश शासन को सहन कर सकते थे? उनके स्वाधीनता-प्रेम का दूसरा कारण और था। इङ्गलैण्ड की तरह वहाँ परम्परागत उच्च वर्ग न था। सभी लोग साधारण कोटि के थे। सामाजिक असमानता वहाँ थी ही नहीं। इस प्रकार जहाँ सामाजिक समानता हो वहाँ जनता अधिक स्वच्छन्दता से एकत्रित हो प्रजातंत्र की उन्नति में सहयोग दे सकती है। यही दशा अमेरिकावासियों की थी। वे ऊँच नीच का भेद नहीं जानते थे। उन्होंने किसी के सामने सिर झुकाना नहीं सीखा था। उनके स्वाधीनता-प्रेम का तीसरा कारण यह था कि प्रारम्भ से इङ्गलैण्ड ने इन उपनिवेशों को अधिक लाभदायक न समझकर उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया था। अमेरिकावासियों ने अपने बाहुबल तथा परिश्रम से वहाँ कृषि की। जंगलों को साफ किया। रहने योग्य भवन बनाये। अब जब वहाँ से सुविधाएँ होने लगीं तो इङ्गलैण्ड ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। यह बात भला उपनिवेशवासियों को कैसे सह्य हो सकती थी? इसी कारण संघर्ष हुए।

अमेरिका की स्वाधीनता का इतिहास विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना

है। इसीलिये इसके कारणों का अधिक व्यापक तथा विशद रूप में विवेचन करना आवश्यक है।

इङ्गलैण्ड की औपनिवेशिक नीति में राजनीतिक दलबन्दियों के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं। जब तक ह्विग लोगों के हाथ में इङ्गलैण्ड के शासन की बागडोर रही उन्होंने उपनिवेशवासियों को यह स्वाधीनता दे दी कि वे अपनी इच्छानुसार कर लगावें किन्तु सन् १७६० ई० में जार्ज तृतीय के इङ्गलैण्ड की गद्दी पर आने से परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। उसने शासन-नीति को स्वयं निर्धारित करने का प्रयत्न किया। ह्विग मंत्रियों को फुसला कर अपनी मुट्ठी में कर लिया। दुर्भाग्य से ह्विग पार्टी के राजनीतिज्ञों में उपनिवेशों के कर लगाने के मामले पर मतभेद उत्पन्न हो गया। विलियम पिट का विचार था कि उपनिवेशों पर इङ्गलैण्ड को कर लगाने का अधिकार नहीं है। ह्विग मंत्री ग्रेन विले का विचार था कि चूंकि इङ्गलैण्ड उस सेना को केवल उपनिवेशों की रक्षा के लिये रखता है, इसलिये उपनिवेशों को ही उस सेना का व्यय सहन करना चाहिये। टोरी दल तो प्रारम्भ से ही राज्यपक्ष का समर्थन करता था; ह्विगों के टूट आने से राजा ने उपनिवेशों पर कर लगाने के सिद्धान्त को स्वीकार किया। एक प्रकार से राजा का उपनिवेशों की आड़ में अपनी निरंकुश सत्ता इङ्गलैण्ड में स्थापित करने का यह प्रयत्न था। राजा ने मंत्रिमंडल की सहायता से यह निश्चय किया कि उपनिवेशों पर कर लगाना चाहिये। पिट, फोक्स, वर्क आदि ह्विग राजनीतिज्ञों ने इसका विरोध किया। उनकी सहानुभूति उपनिवेशों के साथ थी। कहना न होगा कि उपनिवेशों ने कर लगाने के सिद्धान्त का "प्रतिनिधि नहीं तो कर भी नहीं" का सहारा लेकर विरोध किया। विरोध का अर्थ राजा और उसके मंत्रियों ने लगाया विद्रोह और विद्रोह को दबाने का साधन था बल-प्रयोग।

इस संघर्ष का दूसरा कारण अधिक महत्वपूर्ण है। जार्ज तृतीय के शासन काल से पहिले जो आर्थिक असुविधाएँ उपनिवेशवासियों को थीं उनका विरोध कम होता था। कारण स्पष्ट था। इनमें से अधिकांश असुविधाएँ केवल कागज पर लिखी हुई थीं। व्यवहार में उनका प्रयोग सख्ती से नहीं होता था। किन्तु जार्ज तृतीय के समय के प्रतिबन्ध उपनिवेशों को अखरने लगे। सन् १७६४ ई० के एक नियम से विदेशों से आई हुई चीनी पर उपनिवेशवासियों को कर देना पड़ता था। इन प्रतिबन्धों का पालन इतनी सख्ती से हुआ कि उपनिवेशों को यह बन्धन असहनीय हो गया। इससे अधिक कठोर नियम सन् १७६५ ई० का स्टाम्प एक्ट था। इस एक्ट के अनुसार अमेरिकावासियों को समाचारपत्रों से लेकर

सरकारी दस्तावेजों तक पर स्टाम्प लगाने पड़ते थे। इस कर से सबसे अधिक प्रभावित होते थे व्यापारी लोग, समाचारपत्रों के प्रकाशक तथा वकील। समाज का नेतृत्व इन्हीं लोगों के हाथ में होने से विरोध की भावना का अन्दाज लगाया जा सकता है। उपनिवेशों में एक प्रकार से क्रोध का ज्वार-भाटा आ गया। जेम्स ओटिस ने घोषणा की "प्रतिनिधित्व के बिना कर लगाने का अर्थ है अत्याचार।" पेट्रिक हेनरी ने जार्ज तृतीय को चेतावनी दी कि वह चार्ल्स प्रथम के दुर्भाग्य का स्मरण करे। अंगरेज़ अधिकारियों के घर जला दिये गए। जिस दिन स्टाम्प एक्ट व्यवहार में आया, समस्त उपनिवेशों में हड़ताल रही। न्यूयार्क में इन उपनिवेशों ने एकत्रित हो घोषणा की कि इङ्गलैण्ड को यह कर लगाने का अधिकार नहीं है। बेंजामिन फ्रेंकलिन के कहा, "स्टाम्प एक्ट को हम उस समय तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक हमें तल्वार से पूर्णतया नष्ट न किया जायगा।" इस विरोध के परिणामस्वरूप सन् १७६६ ई० में स्टाम्प एक्ट रद्द कर दिया गया किन्तु घोषणात्मक एक्ट (Declaratory Act) द्वारा यह कानून दुहराया गया कि इङ्गलैण्ड को उपनिवेशों पर कर लगाने का पूर्ण अधिकार है।

ऐसा ज्ञात होता था कि झगड़ा निबट गया। सब ने संतोष की साँस ली। किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न एक बार छिड़ जाने पर फिर हल होकर ही रहते हैं। इस झगड़े का कारण स्टाम्प एक्ट ही न था वरन् मुख्य प्रश्न था प्रमुख सत्ता किसके पास है—इङ्गलैण्ड की पार्लियामेन्ट के हाथ में अथवा उपनिवेशों के हाथ में? इस प्रश्न का हल औपनिवेशिक स्वराज्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर ही हो सकता था मगर यह हल किसी को उस समय ज्ञात न था और न राजा सम्भवतः इसे स्वीकार करने के लिये बाध्य ही होता। राजा की नीति स्पष्ट थी "उपनिवेशों की इस धमकी के सामने झुकने का अर्थ होगा ब्रिटिश साम्राज्य से हाथ धो बैठना।" बस यहीं समझौते का अन्त था।

जार्ज तृतीय के मंत्रियों ने सन् १७६७ ई० में उपनिवेशों में मँगाये जानेवाली वस्तुओं पर कर लगाया। इनमें मुख्य वस्तुएँ थीं चाय, शीशा तथा कागज। यह भी निश्चित हुआ कि इन कानूनों का उल्लंघन करनेवालों का निर्णय जूरी की सहायता के बिना हो और इन करों से जो आय हो उससे अमेरिका के गवर्नरों, जजों तथा सैनिक कर्मचारियों को वेतन मिले। गवर्नरों को इस प्रकार औपनिवेशिक धारासभाओं के बन्धन से मुक्त करने का यह प्रयत्न था। यह असुविधा एक प्रकार से दुहरी मार थी—राजनीतिक तथा आर्थिक। कालान्तर में इङ्गलैण्ड की सरकार और उपनिवेशों में पारस्परिक सन्देह इतना बढ़ गया

कि प्रत्येक बात का चाहे वह अच्छी हो अथवा बुरी, उपनिवेशों द्वारा विरोध होता था। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। चाय पर कर जारी रखा गया किन्तु कम्पनी को यह आज्ञा हुई कि वे अपने जहाज चाय लेकर चीन से सीधे अमेरिका पहुँचें। इस प्रकार वे इङ्गलैण्ड में दिये जानेवाले कर से मुक्त थे और यह चाय भी अमेरिका में जाकर सस्ती पड़ती थी। किन्तु अमेरिका वाले इस समय सिद्धान्त की लड़ाई लड़ रहे थे। चाय के सस्ती बिकने का प्रश्न न था—प्रश्न था उस बन्धन का जिसमें उपनिवेशवासी जकड़े हुए थे। जब तक मनुष्य सहन करता रहता है सब बातें ठीक होती हैं मगर सहनशीलता की भी सीमा होती है। अमेरिका वाले समझते थे कि उनकी सहनशीलता की हद हो चुकी है। कहना न होगा कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जहाज अमेरिका के बोस्टन बन्दरगाह पर आये तो अमेरिकावासियों ने रेड इण्डियनों का वेश बना उनमें आग लगा दी। इङ्गलैण्ड ने सेना भेजकर उपनिवेशों को डराया, बोस्टन बन्दरगाह को व्यापार के लिये बन्द कर दिया, मैसाचुसेट्स उपनिवेश की स्वाधीनता छीन ली और इस प्रकार दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

फिर भी उपनिवेशों को यह साहस न होता था कि वे इङ्गलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद कर दें। उपनिवेशों की दो सभाएँ हुईं। दोनों ने जार्ज तृतीय को इङ्गलैण्ड का शासक स्वीकार किया। दोनों ने उपनिवेशों को इङ्गलैण्ड का अंश बताया। दोनों कांग्रेसों ने राजा से प्रार्थना की कि वे अपने निर्णय पर पुनः विचार करें। केवल उन करों को न्यायोचित स्वीकार करें जिन्हें वहाँ की धारा-सभाओं ने स्वीकार किया है। आखिर इङ्गलैण्ड ने भी सदा से ही राजा की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता का विरोध किया है। उन्होंने भी तो जेम्स प्रथम तथा चार्ल्स प्रथम के करों का विरोध इसी आधार पर किया था कि वे पार्लिमेण्ट द्वारा स्वीकृत नहीं हैं। फिर इङ्गलैण्ड हमें इस अधिकार से क्यों वंचित रखता है? यह दलील प्राचीन सिद्धान्तों का ही समर्थन करती थी। यदि इङ्गलैण्ड इस सिद्धान्त को मान लेता तो अमेरिका की क्रान्ति का विश्व के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण स्थान न होता। किन्तु न तो इङ्गलैण्ड ने ही अमेरिका वालों की यह बात स्वीकार की और न अब उपनिवेश ही पुराने सिद्धान्तों का राग अलापते थे। अमेरिका की विचारधारा में यह परिवर्तन एकाएक क्यों हुआ?

ठीक उसी समय जब प्राचीन सिद्धान्तों के समर्थक अमेरिका के इङ्गलैण्ड से हुए झगड़े का कोई हल निकालने का प्रयत्न कर रहे थे टामस पेन नामी एक अंग्रेज विचारक ने अपने क्रान्तिकारी विचार जनता के सम्मुख रखे। उसकी

पुस्तक 'साधारण तर्कबुद्धि' (Common Sense) मनोवैज्ञानिक अवसर पर प्रकाशित हुई। पेन ने बतलाया कि समय आ गया है जब अमेरिका-वासियों को इङ्गलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद करने का कदम उठाना चाहिये। राजाओं के दैवी अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए उसने राजाओं को "मुकुट पहिने हुए गुण्डे" बताया। इस पुस्तक ने उपनिवेशों के हृदय में नवीन साहस तथा उत्साह भर दिया। दासता तथा बन्धनों की जंजीरों को काट फेंकने का यह एक स्वर्ण अवसर था।

विचारधारा के इस परिवर्त्तन का यह परिणाम हुआ कि ४ जुलाई सन् १७७६ ई० को अमेरिकन उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। इस घोषणापत्र के तीन मुख्य सिद्धान्त थे—(१) सभी मनुष्यों को जीवन स्वतंत्रता तथा सुख प्राप्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है, (२) सरकार के अधिकारों का स्रोत जन-मत है अर्थात् सरकारों के निर्माण का आधार लोक-मत है, (३) किसी भी देश के निवासियों को यह अधिकार है कि लोकमत के प्रतिकूल कार्य करने वाली सरकार को उखाड़ फेंकें और उसके स्थान पर जनतंत्र प्रणाली को जन्म दें।

इस प्रकार अमेरिका ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में उन्होंने इङ्गलैण्ड की सेनाओं को सेरेटोगा स्थान पर परास्त किया। फ्रांस ने अपने पुराने बैरी इङ्गलैण्ड से बदला लेने का यह अच्छा अवसर समझा। उसने अपनी सेनाएँ अमेरिका भेजीं। स्पेन ने भी उपनिवेशों का पक्ष लिया। हालैण्ड भी इङ्गलैण्ड का विरोधी बन गया। यहाँ तक कि इङ्गलैण्ड की जनता भी एकमत हो उपनिवेशों के स्वाधीनता-संग्राम के विरुद्ध युद्ध नहीं कर रही थी। इस युद्ध की घटनाओं का सविस्तार वर्णन करना हमारा अभिप्राय नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि इङ्गलैण्ड के जनरल लार्ड कार्नवालिस के यार्क टाउन में परास्त होने के पश्चात् अंगरेजी फौज ने आत्मसमर्पण कर लिया। सन् १७८३ ई० में इङ्गलैण्ड ने अमेरिका की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया।

अमेरिका की स्वाधीनता का विश्व सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा ?

विश्व के इतिहास में प्रजातन्त्र की यह सबसे पहिली विजय थी। प्रतिनिधि सत्तात्मक प्रणाली को सत्रहवीं शताब्दि में इङ्गलैण्ड ने प्रारम्भ किया था। उसका प्रजातंत्री-करण अमेरिका की राज्यक्रान्ति द्वारा अठारहवीं शताब्दि में हुआ। दूसरे अमेरिका ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी सरकार को बदल देना प्रत्येक देश की जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है।

तीसरे अमेरिका ने शासन-प्रणाली में कई नये प्रयोग किये और उन प्रयोगों को विश्व के सामने रक्खा। अनेक देशों ने उन प्रयोगों से लाभ उठाया। पहिला प्रयोग था परम्परागत राजा के स्थान पर प्रजा द्वारा निर्वाचित सभापति की लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था। अर्थात् अमेरिका ही पहिला प्रदेश था जिसने राजा को हटा कर निर्वाचित सभापति की व्यवस्था को जन्म दिया। राज्य-नियमों का लिखित होना भी यहीं से प्रारम्भ हुआ। इन नियमों का लिखित होना इसलिये भी आवश्यक समझा गया कि भविष्य में सरकारी निरकुंशता इसी उपाय द्वारा रोकी जा सकती है। संघात्मक शासन-प्रणाली को जन्म देना और उसका व्यवहार में प्रयोग करना अमेरिका के ही राज्य-नियम की विशेषता थी। धर्म को राज्य से अलग कर विशुद्ध लोकसत्तात्मक प्रणाली को जन्म देना भी इस क्रांति की विश्व के लिये देन थी। इससे पहिले कोई भी प्रजातंत्र इतने उदार सिद्धान्तों पर आधारित न था। चुनावों का अधिकार यहीं सब से प्रथम जनसाधारण को दिया गया। राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक समानता भी यहीं स्थापित हुई। कहना न होगा कि फ्रांस की राज्यक्रांति के मूलभूत सिद्धान्त जनतंत्र, समानता, भाईचारे के भाव तथा स्वाधीनता अमेरिका की क्रांति से ही लिये गए थे। इस प्रकार इन दोनों क्रांतियों का एक दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। अब हम इसी दूसरी क्रांति का उल्लेख करेंगे।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति

पहिले हम योरप की चार क्रांतियों का वर्णन कर चुके हैं। इनमें से दो राजनीतिक थीं और दो आर्थिक। इङ्गलैण्ड की सन् १६८९ ई० की गौरव-पूर्ण राज्यक्रांति तथा अमेरिका की क्रांति राजनीतिक थीं। इनके अतिरिक्त कृषिक्रांति तथा औद्योगिक क्रांति आर्थिक थीं। इन क्रांतियों के विपरीत फ्रांस की राज्यक्रांति सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक थी। सामाजिक क्षेत्र में फ्रांस की क्रांति उन सब सामाजिक असुविधाओं के विरुद्ध थी जिसके कारण फ्रांस का सामाजिक जीवन मानव सभ्यता के लिये अभिशाप बना हुआ था। फ्रांस का समाज तीन वर्गों में बँटा हुआ था—१. उच्च वर्ग, २. पादरियों का वर्ग तथा ३. सर्वसाधारण। पहिले दो वर्गों को सभी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। करों के बोझ से ये दोनों वर्ग मुक्त थे। सर्वसाधारण को परिश्रम करना पड़ता था और साथ ही वे करों के बोझों से दबे जाते थे। इस असमानता का औचित्य बताया जाता था राजनीतिक सेवा जो अधिकार प्राप्त वर्गों को करनी पड़ती थी। पहिला वर्ग (उच्च वर्ग) अपनी

जमींदारी से अलग राजधानी में रह कर वैभव तथा विलास में पलता था जब कि उनके कारिन्दे अत्यन्त निर्दयता पूर्वक कर वसूल कर इन जमींदारों के पास वर्साई में भेजते थे। किसान इन जमींदारों से घृणा करते थे और उनकी स्वेच्छाचरिता से बिल्कुल ऊब गए। किसानों की यह घृणा और असंतोष किसी भी समय भयावह रूप धारण कर सकता था क्योंकि अधिकांश फ्रांस की जनता किसान थी।

पादरियों में भी दो दल थे। बिशप तथा आर्कबिशपों को भारी वेतन मिलता था और उनका अधिकांश जीवन वर्साई के दरबार में आमोद-प्रमोद तथा भोग-विलास में व्यतीत होता था। साधारण पादरियों को मुश्किल से पेट भरने योग्य वेतन मिलता था। शिक्षा तथा धर्म-प्रचार का सारा कार्य उन्हें ही करना पड़ता था। बड़े पुजारियों की अपेक्षा उनका चरित्र भी अधिक उज्ज्वल था। सदाचार का भी उन्हें अधिक ध्यान था।

तीसरे वर्ग की दशा सब से अधिक शोचनीय थी। समस्त समाज का आर्थिक बोझ उनके ही ऊपर पड़ता था। यह अनुमान लगाया गया है कि इस वर्ग को अपनी आमदनी का ⅘ भाग सरकार को कर के रूप में देना पड़ता था। कारीगरों का भी करों के कारण नाक में दम आ गया था। व्यापार तथा व्यवसाय पर अनेक पाबन्दियाँ लगी हुई थीं। इस प्रकार फ्रांस में अन्याय तथा असमानताओं का राज्य था।

ऐसी असुविधाएँ योरप के अन्य देशों में भी थीं। फिर भी वहाँ कोई इतनी महान क्रांति नहीं हो सकी जितनी फ्रांस में हुई। इसके कारण स्पष्ट हैं।

पहिला कारण लुई चौदहवें की युद्धप्रिय नीति थी जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस का दिवाला निकल गया। राज्य पर भारी कर्जा लद गया। लुई पन्द्रहवाँ सन् १७१५ ई० में फ्रांस का राजा बना। उसमें न तो योग्यता ही थी और न कार्य कुशलता ही। न तो वह शासन-सुधार ही कर सका और न वह मितव्ययिता द्वारा ही खर्चे में कोई कमी कर सका। दरबारी जीवन भोग-विलास, आमोद-प्रमोद तथा व्यभिचार का अड्डा बना हुआ था। लुई चौदहवें ने कम से कम फ्रांस का वैभव और शान तो बनाई रखी ही थी किन्तु लुई पन्द्रहवें के बस की यह भी बात न थी। इस प्रकार सब ओर से निराश होकर फ्रांस की जनता एक-दम खीझ गई और उस खीझ का परिणाम हुआ क्रांति।

राज्य-दरबार के अपव्यय के अतिरिक्त फ्रांस का तत्कालीन मध्यम वर्ग दार्शनिकों तथा विचारकों के सिद्धान्तों तथा विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। अंधविश्वास का स्थान तर्क तथा विज्ञान ने लिया था; वाल्टेयर की लेखनी ने

लोगों के विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिया। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण तर्क के आधार पर किया गया। 'स्वाधीनता' का अर्थ अधिक व्यापक लगाया गया और तत्कालीन असुविधाओं को दूर करने का साधन सोचा गया। इङ्गलैण्ड के विचारकों तथा क्रांतियों ने मध्यम वर्ग पर हितकर प्रभाव डाला। टामस पेन नामक विचारक ने भी फ्रांस-वासियों को प्रभावित किया। इन सब से भी अधिक प्रभाव पड़ा फ्रांसीसी विचारक रूसो के विचारों का। रूसो की पुस्तक 'सामाजिक इकरारनामा' सन् १७६२ ई० में प्रकाशित हुई। पुस्तक के पहिले वाक्य ने ही जादू का काम किया "मनुष्य इस संसार में स्वतंत्र पैदा होता है किन्तु हर प्रकार के बंधन उसे जन्म से ही जकड़ लेते हैं।" व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में इस विचारक ने बताया कि "वह व्यक्ति संसार के समस्त दुःखों का जन्मदाता है जिसने भूमि के एक टुकड़े पर अधिकार कर यह कहा 'यह भूमि मेरी है।' संसार का कितना अन्याय, अनाचार तथा रक्तपात बंद हो जाता यदि इस छली तथा कपटी को मृत्यु-दण्ड मिल जाता।" रूसो जन्म से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमताओं का विद्रोही था। अपने 'इकरारनामे' में रूसो ने बताया कि सभी सरकारों का आधारभूत सिद्धान्त है लोकमत के आधार पर संगठित होना। रूसो का यह सिद्धान्त जनमत (General Will) के नाम से राजनीति में प्रसिद्ध हुआ और इसी के आधार पर प्रजातंत्रों का संगठन हुआ।

विचारों का अध्ययन किसी जाति के ऊपर उतना प्रभाव नहीं डालता जितनी उन विचारों की सफलता। प्रजातंत्रीय सिद्धान्तों की सफलता इंगलैण्ड की गौरव-पूर्ण राज्यक्रांति के रूप में हो चुकी थी। फ्रांसवाले इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली पर लट्टू हो चुके थे। सन् १७७६ ई० में जब अमेरिका ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की तो फ्रांस की सरकार ने अपनी प्रतिक्रियावादी नीति का उदाहरण फ्रांसीसी जनता के सम्मुख रखा। यह नीति थी लुई १६ वें का अपने मंत्री टर्गो को पदच्युत कर देना। टर्गो ने बहुत से उपाय अपव्यय को कम करने के बताये थे। एक उपाय था धनी लोगों से भी सर्वसाधारण की तरह कर वसूल करना। धनिकों के विरोध से टर्गो हटा दिया गया। प्रतिक्रियावाद सफल रहा।

अमेरिका की क्रांति फ्रांसीसी सैनिकों के सहयोग से सफल बनी थी। क्रांति का अंत होने पर ये सैनिक घर लौटे। कहाँ अमेरिका की स्वाधीनता और कहाँ फ्रांस की स्वेच्छाचारिता। दोनों में आकाश पाताल का अंतर था। अमेरिका को सहायता देने का एक और परिणाम निकला। फ्रांस का खजाना खाली हो गया।

फ्रांसीसी जनता का क्रांति के लिये उत्साह और धनिकों का प्रतिक्रियावाद—दोनों के बीच लुई सोलहवें की निष्क्रियता तथा कायरता सराहनीय थी। धनिकों ने अंतिम समय कोई और चारा न देख अपने ऊपर करों का भार स्वेच्छा से ले लिया। किन्तु तीर छुट चुका था। फ्रांस क्रांति के लिये व्यग्र था। आखिर वह अवसर आ ही गया।

फ्रांस की क्रांति का सूत्रपात

आर्थिक संकट को सुलझाने में असफल हो लुई ने स्टेट्स जनरल का अधिवेशन मई, सन् १७८९ ई० में बुलाया। इस सभा के तीन भाग थे— पहिले भाग में ३०० पादरी, दूसरे में ३०० धनिकों के प्रतिनिधि और तीसरे में ६०० मध्यम वर्ग तथा सर्वसाधारण के प्रतिनिधि। तीसरे में वकीलों तथा पत्रकारों का बोलबाला था। इनका नेता मिराबू था। एकत्रित होते ही प्रश्न उठा—निर्णय किस आधार पर होंगे? पुरातत्व विभाग से सहायता ली गई। ज्ञात हुआ कि प्रत्येक सभा स्वतंत्र रूप से पृथक् पृथक् निर्णय दिया करती थी। सर्वसाधारण ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। तीसरा वर्ग अब राष्ट्रीय परिषद के रूप में परिणत हो गया। यह बात धनिकों को बुरी लगी। राजा ने उनका पक्ष लिया और सभा-भवन में ताले डाल दिये गए। लोगों के क्रोध का ठिकाना न रहा। वे टेनिस के मैदान में एकत्रित हुए और यह शपथ ली कि जब तक फ्रांस का विधान तैयार न कर लेंगे घर न लौटेंगे। राजा की निरंकुशता का अंत हो गया और फ्रांस की क्रांति प्रारम्भ हो गई। राजा ने नेशनल असेम्बली को डराने के विचार से प्रान्तों से पेरिस और वर्साई में सेनाएँ बुलाईं। पेरिस की जनता असेम्बली की सहायता के लिये तुरन्त आ उपस्थित हुई। उस वर्ष कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। फस्ल भी नष्ट हो गई थी। पेरिस की भूखी जनता ने अनेगर्ल्डों का साथ लिया। ३ दिनों तक नगर में पूर्णरूप से अराजकता रही। तीसरे दिन १४ जुलाई सन् १७८९ ई० को उन्होंने बेस्तील दुर्ग पर अधिकार कर लिया। अमेरिका के इतिहास की ४ जुलाई सन् १७७६ ई० की तरह १४ जुलाई सन् १७८९ ई० फ्रांस के इतिहास की अमर घटना बन गई।

इस घटना से राजकीय शक्ति का ह्रास प्रकट होने लगा। पेरिस नगर ने खुल्लमखुल्ला अपनी सरकार बना ली। इसे 'कम्यून' कहते थे। इसके पास अपनी निजी सेना थी। इसे नेशनल गार्ड कहते थे। राजा ने विवश हो इन परिवर्तनों को स्वीकार कर लिया। लफायेत को सेनापति बनाया गया। कम्यून को भी स्वीकार कर लिया गया। पेरिस से शाही सेनाएँ हटा ली गईं। किन्तु राजा के दरबारी उसे चैन न लेने देते थे। वर्साई में एकत्रित हो आगे की योजनाएँ

बनाई गई। सुरा, संगीत तथा सौन्दर्य्य का फिर आयोजन हुआ। पेरिस की जनता भूख से व्याकुल थी। उसे यह वैभव बड़ा अखरता था। ५ अक्तूबर सन् १७८९ ई० को पेरिस की स्त्रियों का एक जलूस पेरिस से वर्साई के लिये रवाना हुआ। लफायते उनके साथ-साथ आवश्यकता के समय कार्य करने के विचार से जा रहा था। यह जलूस रात भर महल को घेरे पड़ा रहा। प्रातःकाल राजा रानी और उसके बच्चे पेरिस के लिये रवाना हुए। इसके पश्चात् लुई कभी वर्साई न लौटा। इस प्रकार नेशनल असेम्बली के हाथ से क्रांति की बागडोर निकल कर पेरिस की जनता के हाथ में आ गई। राजा जनता के हाथ में एक कैदी की तरह था।

बेस्तील का पतन और राजा की पेरिस-यात्रा ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे फ्रांस में निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता का अंत हो गया। नेशनल असेम्बली के हाथ में राज्य-शासन की बागडोर अक्तूबर सन् १७८९ ई० से सितम्बर सन् १७९१ ई० तक रही। राज्यक्रांति के वे दो वर्ष फ्रांस के इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण हैं। इस काल की घटनाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) इङ्गलैण्ड के अधिकार बिल की भाँति असेम्बली ने भी नागरिकों के अधिकारों की घोषणा की। इनमें से मुख्य २ बातें थीं अन्याय का प्रतिकार करने, सम्पत्ति प्राप्त करने तथा जीवन की रक्षा का अधिकार। कानून की दृष्टि में प्रत्येक नागरिक का समान स्थान समझा गया। कानून के विरुद्ध कोई व्यक्ति बन्दीगृह में न रखा जा सकता था। धार्मिक तथा विचार स्वतंत्रता भी स्वीकार कर ली गई।

(२) ४ अगस्त सन् १७८९ ई० को समस्त प्रकार के विशेषाधिकारों का अंत कर दिया गया। काश्तकारों को भूमि में पूरे अधिकार मिल गए। उनके युग-युग के बन्धन कट गए। दासता का अंत हुआ। धार्मिक पाबन्दियाँ भी समाप्त कर दी गई। यह चमत्कार बड़े शांत ढंग से सम्पन्न हो गया। भूमिपतियों की बड़ी-बड़ी जायदादें नष्ट कर किसानों में बाँट दी गईं। शहर की जनता पर से भी सब प्रकार की असुविधाएँ हटा ली गईं।

(३) चर्च में सुधार हुए। पोप के स्थान पर पादरियों को राज्य-नियम के प्रति वफादार होने की शपथ लेनी पड़ी। चर्च की सम्पत्ति छीन ली गई। पादरियों का चुनाव प्रजा द्वारा होता था और उन्हें राज्य से वेतन मिलने लगा। इन सुधारों में एक सुधार को जिसे राज्य-नियम का स्वामिभक्ति का नियम कहते

हैं, अधिकांश पादरियों ने स्वीकार न किया और इस प्रकार राज्यक्रांति को अब सभी वर्गों से सहयोग न मिल सका।

(४) आर्थिक मामलों में असेम्बली का सब से बड़ा सुधार करों को समान कर देना था। पुरानी व्यवस्था की अपेक्षा नई व्यवस्था अधिक उचित थी।

(५) नियमानुमोदित राज्यतंत्र की स्थापना—

सन् १७९१ई० के नियम के अनुसार 'लेजिस्लेटिव असेम्बली' नामक एक सभा स्थापित हुई। इसका चुनाव सभी सक्रिय नागरिकों द्वारा होता था। राजा और उसके मंत्रियों को व्यवस्थापक सभा में बैठने का अधिकार न था और न उनका सेना, जहाजी बेड़ा तथा धर्म पर ही कोई अधिकार था। स्थानीय शासन भी उनके कार्य्य-क्षेत्र से बाहर था।

इसी नियम के अनुसार स्थानीय शासन-प्रबन्ध को भी संगठित किया गया। फ्रांस को डिपार्टमेंटों में बाँट दिया गया। प्रत्येक का विस्तार तथा जन-संख्या समान थी। देश भर में नई अदालतों का जाल सा बिछा दिया गया। समस्त पदाधिकारियों की नियुक्ति राजा द्वारा न होकर प्रजा द्वारा होती थी। सन् १७८९ ई० के प्रारम्भ में लुई एक स्वेच्छाचारी शासक था। सन् १७९१ई० के अन्त में वह इङ्गलैण्ड से भी अधिक नियमानुमोदित बन गया। यह था नेशनल असेम्बली का दो वर्ष का कार्य। इतने बड़े परिवर्त्तन जिस शान्ति के साथ किये गए इससे उसकी महत्ता सिद्ध होती है। यदि आगे की दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ न हुई होतीं तो फ्रांस की क्रान्ति भी इतिहास की एक श्रेष्ठतम घटना होती किन्तु समय अभी बतलाने वाला था कि फ्रांस में स्वाधीनता के नाम पर भारी रक्तपात होना बाकी था। उसी रक्तपात का वर्णन आगे के पृष्ठों में है।

फ्रांस में बहुत से ऐसे राजभक्त अभी मौजूद थे जो इन परिवर्त्तनों को फूटी आँख न देख सकते थे। विशेषतया धनिकों का वर्ग अपनी सम्पत्ति के छिन जाने से बहुत असन्तुष्ट था। वे फ्रांस छोड़ विदेशों में जा रहे। कैथोलिक धर्म के विरुद्ध नये नियम बनने से बहुत से पादरी भी फ्रांस छोड़ कर विदेशों में चले गए। वहाँ उन्होंने क्रान्ति के विरुद्ध आन्दोलन किया। उनका उद्देश्य था फ्रांस में गृह-युद्ध कराना तथा विदेशियों को भड़काना जिससे वे फ्रांस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकें। फ्रांस के राजा की सहानुभूति इन सभी लोगों के साथ थी। स्वयं राजा के दो भाई क्रान्ति के विरुद्ध जो तैयारियाँ हो रही थीं उनमें भाग ले रहे थे। राजा तथा रानी ने स्वयं फ्रांस छोड़ कर

विदेश जाने का विफल प्रयत्न किया। इन सब कारणों से क्रान्तिकारियों का रुख अपने विरोधियों के विरुद्ध और भी कठोर हो गया। राजा को बन्दी बना लिया गया और उसके प्रति जो कुछ सहानुभूति थी वह नष्ट हो गई। इसी समय आस्ट्रिया तथा प्रशा ने राज्य-पक्ष का समर्थन करते हुए यह घोषणा की, "फ्रांस में शान्ति रखना योरप के देशों का परम पवित्र कर्त्तव्य है।" दोनों ने सशस्त्र हस्तक्षेप की तैयारियाँ कर दीं आस्ट्रिया की सेनाएँ फ्रांस की सेना के समीप एकत्रित होने लगीं। फ्रांस ने अप्रैल सन् १७९२ ई० में आस्ट्रिया तथा प्रशा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ऐसा दृश्य फ्रांस में हुआ जो इससे पहिले कभी नहीं देखा गया था। अनेक वीर अपने प्राण हथेली पर रख मातृ-भूमि की रक्षा के लिये निकल पड़े। योरप के शासकों का मन्तव्य था कि फ्रांस सन् १७९१ ई० के विधान को रद्द कर दे किन्तु फ्रांस का रुख अब एक प्रजातंत्र स्थापित करने का हो गया।

अगस्त सन् १७९२ ई० में पेरिस की जनता राज-महलों में बलपूर्वक घुस गई। राजा को बन्दी बना कर सर्वोच्च सत्ता डान्टन नामी एक नेता को सौंप दी गई। इधर आस्ट्रिया तथा प्रशा ने अपना फ्रांस का आक्रमण जारी रक्खा। बरडर्न नामक स्थान शत्रुओं के हाथ में आ गया। प्रजा उत्तेजित हो उठी। सितम्बर में राज्य-पक्ष के समर्थकों को कत्ल कर दिया गया। लगभग १६०० राज्यभक्त मौत के घाट उतार दिये गये। डान्टन ने इस कत्लेआम को बन्द करा दिया। राष्ट्रीय कन्वेंशन के चुनाव का विश्वास दिलाया गया। उसने सैनिकों में नया जोश उत्पन्न किया। डुमूरीज नामक एक सैनिक को सेनापति नियुक्त किया। २० सितम्बर सन् १७९२ ई० की क्रान्तिकारी सेनाओं ने वाल्मी की लड़ाई में विजय प्राप्त की। २२ सितम्बर सन् १७९२ ई० को फ्रांस में पहिले प्रजातंत्र की स्थापना हुई। २१ जनवरी सन् १७९३ ई० को राजा को फाँसी के तख्ते पर झूल जाना पड़ा।

इसी समय फ्रांस का प्रजातंत्र योरप के शासकों के प्रति अपने दृष्टिकोण में अधिक कठोर हो गया। यह घोषणा की गई कि जो भी शासक स्वाधीनता तथा समानता के सिद्धान्तों को अस्वीकार करेंगे, फ्रांस की जनता उन्हें अपना शत्रु समझेगी। फ्रांस की इस घोषणा से सभी योरप के देश चिन्तित हो उठे। आस्ट्रिया, प्रशा, इङ्गलैण्ड, स्पेन तथा हालैण्ड ने फ्रांस के विरुद्ध एक संघ बनाया। इसी समय फ्रांस में एक गृह-युद्ध हुआ। डुमूरीज नामक सेनापति फ्रांस का साथ छोड़ विरोधियों से जा मिला। यह प्रतीत होता था कि सभी बड़े २ अधिकारी शत्रु से मिले हुए हैं। फ्रांस के लोग एकदम हक्काबक्का रह गये। राष्ट्रीय संकट के समय उन्होंने सभी अधिकार एक कमिटी को सौंप दिये।

इस कमिटी ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली और फ्रांस की रक्षा के निमित्त पूरी २ तैयारियाँ कीं।

ऊपर डुमूरीज के विश्वासघात का वर्णन हो चुका है। फ्रांस के लोगों ने सभी विरोधियों को मौत के घाट उतार दिया। शत्रुओं के हृदय पर आतंक जमाने के विचार से रक्त की होलियाँ खेली गईं। एक क्रान्तिकारी अदालत की स्थापना हुई। नर-संहार के लिये एक विशेष प्रकार के यंत्र का आविष्कार हुआ जिसे गिलोटीन कहते थे। यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् १७९३–१७९४ ई० तक के काल में अकेले पेरिस में २५०० व्यक्तियों को मृत्युदण्ड मिला। अन्य भागों में यह संख्या १०,००० तक पहुँच गई। रानी मेरी भी मौत के घाट उतारी गई। यह एक वर्ष का समय क्रान्ति के इतिहास में "रक्तपात के राज्य" के नाम से विख्यात है। इस समय फ्रांस का नेतृत्व राब्सपीयर कर रहा था। इस रक्तपात का विरोध करनेवाले सभी दलों तथा सदस्यों को मौत के घाट उतारा गया। अप्रैल सन् १७९४ ई० में डान्टन भी गिलोटीन पर चढ़ा दिया गया। जुलाई सन् १७९४ ई० में स्वयं राब्सपीयर भी मौत के घाट उतार दिया गया। रक्तपात का युग समाप्त हुआ।

इस समय फ्रांस ने विदेशी मामलों में आश्चर्यजनक उत्साह दिखलाया। फ्रांस के शत्रुओं को देश से बाहर खदेड़ दिया गया। इस समय फ्रांस की सेनाओं का नेतृत्व कार्नो नामक सेनापति कर रहा था। कार्नो की योग्यता से फ्रांस की पराजय विजय में परिणत हो गई।



राब्सपीयर

विदेशी मामलों में इतने व्यस्त होते हुए भी राष्ट्रीय कन्वेन्शन ने सामाजिक सुधारों का काम जारी रखा। आर्थिक असमानताएँ दूर हुईं। फ्रांस छोड़ने वालों की सम्पत्तियाँ छीन ली गईं। तोल तथा नापों में मीट्रिक प्रणाली का प्रयोग हुआ। उत्तराधिकार के नियमों में

परिवर्तन हुआ। कर्ज के बदले में गिरफ्तार कराने की प्रथा का अंत हुआ, दासता फ्रांस से बाहर कर दी गई, स्त्रियों को सम्पत्ति प्राप्त करने में पुरुषों जैसे अधिकार मिले।

राब्सपीयर के पतन के पश्चात् फ्रांस के प्रजातंत्र का विधान तैयार किया गया। इसके अनुसार नियम बनाने का काम दो सभाओं को सौंपा गया। छोटी सभा में ५०० सदस्य थे। इनका काम कानूनों का प्रस्ताव तैयार करना था। बड़ी सभा—जिसके सदस्य २५० थे—प्रस्तावित नियमों को कानून का रूप देती थी। व्यवस्थापक सभा द्वारा चुने हुए पाँच सदस्यों के एक बोर्ड को—जिसे डाइरेक्टरों का बोर्ड कहते थे—शासन सम्बन्धी अधिकार सौंप दिये गये।

इस प्रकार सन् १७९५ ई० में डाइरेक्टरों के बोर्ड को सब अधिकार सौंप जाने के पश्चात् फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का अंत हुआ। राष्ट्रीय कन्वेन्शन का अंत हुआ और उसके बनाये हुए विधान के अनुसार देश का शासन-प्रबन्ध होने लगा। प्रजातंत्री फ्रांस के आगे प्रशा, हालैण्ड तथा स्पेन ने घुटने टेक दिये। फ्रांस की सीमा राइन नदी, आल्प्स तथा पिरेनीज पर्वतों तक पहुँच गई। सिवाय बेलजियम तथा जर्मनी का कुछ भाग फ्रांस के साम्राज्य में सम्मिलित था। सभी विजित देशों में क्रान्तिकारी सुधार जारी किये।

फ्रांस की क्रांति का विश्व इतिहास में स्थान

फ्रांस की क्रांति विश्व इतिहास की एक प्रमुख घटना समझी जाती है। इस क्रांति ने शताब्दियों से प्रचलित स्वेच्छाचारिता तथा दासता का अंत कर योरप में प्रजातंत्र, स्वाधीनता, समानता, तथा भाईचारे के सिद्धान्तों को जन्म दिया। इन चारों देनों का वर्णन हम विस्तार के साथ करेंगे। प्रजातंत्र की भावना का उदय यद्यपि इङ्गलैण्ड, हालैण्ड तथा अमेरिका में हो चुका था तथापि उसे वर्तमान रूप देना अमेरिका तथा फ्रांस की ही राज्य-क्रांतियों का काम था। रूसो के विचारों का अमिट प्रभाव इसी क्रांति के अवसर पर दिखलाई पड़ा। प्रत्येक सरकार की स्थापना का आधार जनमत होना चाहिये इस सिद्धान्त को फ्रांस की राज्य-क्रांति ने स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया। स्वाधीनता के सिद्धान्त से तात्पर्य है कि धनिकों तथा उच्च वर्ग की नाईं प्रत्येक व्यक्ति अपना भविष्य निर्माण करने में स्वतंत्र है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वाधीनता के सुमधुर फल तथा अपने परिश्रम का उचित पुरस्कार और अपनी क्षमतानुसार अपना भविष्य निर्माण करना और उन्नति करने के अवसर प्राप्त करना आदि ऐसी बातें थीं जिन्हें अब फ्रांसवासी अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे। छोटे से छोटा फ्रांस का नागरिक

गर्व से अपना सिर उठा सकता था क्योंकि इस क्रांति के परिणाम स्वरूप वह आज स्वतंत्र था। उसकी निराशा आज आशा में परिणत हो गई थी। समानता की भावना का यह अभिप्राय था कि प्रत्येक व्यक्ति के दिल में यह भाव समा गया कि उनमें तथा धनिक वर्ग में कोई अंतर नहीं है। राज्य तथा कानून की दृष्टि में सभी समान हैं। जहाँ पहिले धनिकों तथा साधारण प्रजा में भेदभाव था वहाँ अब साधारण नागरिक होना अधिक लाभदायक हुआ। भाईचारे की भावनाओं का अर्थ यह हुआ कि छोटे तथा बड़े धनी तथा निर्धन सभी एक दूसरे के भाई भाई हैं और सभी के प्रयत्न से देश जाति तथा मानव जाति की सेवा हो सकती है। संक्षेप में यदि विश्व सभ्यता को साधारण जनता के हर्ष, विषाद, विकास, उन्नति तथा पतन की कहानी समझा जाय तथा यह मान लिया जाय कि सम्राटों, शासकों, सरदारों के साथ २ सर्वसाधारण को भी अपनी उन्नति करने का उतना ही अधिकार है तो इस आदर्श को सक्रिय तथा मूर्त रूप देने में फ्रांस की राज्य-क्रांति ने स्तुत्य कार्य्य किया। यही इस क्रांति की सबसे बड़ी देन विश्व सभ्यता के लिये है। अब से साधारण मनुष्य का स्थान सामाजिक, राजनीतिक तथा कानूनी दृष्टि में बहुत ऊँचा उठ गया। महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णायक अब वही व्यक्ति हो गया जिसने सृष्टि के निर्माण-काल से आपत्तियाँ झेल कर सभ्यता को इतना उन्नत किया था किन्तु फिर भी उसका मूल्य समाजिक जीवन में नगण्य था। अब से सत्ताधारी और शक्तिशाली शासकों तथा भूमिपतियों की सत्ता का लोप होकर समाज में साधारण व्यक्ति का स्थान सम्मानित हो गया।

पाँचवाँ अध्याय

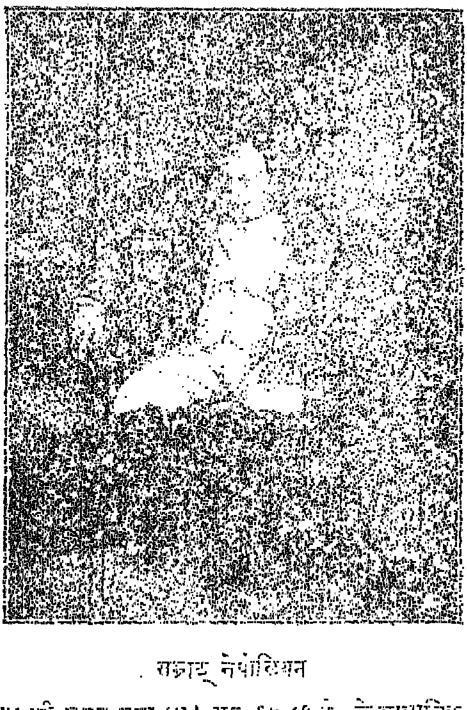
नेपोलियन द्वारा क्रान्तिकारी विचारों का योरप में प्रचार

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में क्रांति के अन्त के पश्चात् फ्रांस में डाइरेक्टरी की स्थापना का वर्णन हो चुका है। सन् १७९५ ई० के शासन नियम के अनुसार यह प्रणाली स्थापित हुई थी। किन्तु इस प्रणाली के प्रति लोगों में उत्साह तथा प्रेम न था। भय के कारण ही अधिकांश लोग इससे सहमत थे। सभी वर्गों के लोग प्रजातंत्र से असंतुष्ट थे। एक बात अवश्य थी। राष्ट्रीय गौरव की स्थापना के कारनामों से प्रत्येक व्यक्ति की छाती फूल जाती थी। राष्ट्रीय गौरव को स्थापित कर सकती थी सेना और सेना का सफलतापूर्वक नेतृत्व कर सकता था नेपोलियन। राज्यतंत्र को स्थापित करना इस लिये असम्भव था कि उसके लिये जरा भी भक्ति तथा उत्साह लोगों में न था। जो कुछ उत्साह था वह सेना और उसके नेता के प्रति था। कहना न होगा कि इस सैनिक नेता ने अवसर से लाभ उठा कर अपने को सब से शक्तिशाली बना लिया। ऐसे समय जब कन्वेन्शन बड़ी शोचनीय अवस्था से गुजर रहा था, नेपोलियन ने अपनी सैनिक सहायता से उसकी रक्षा की और उसे नष्ट होने से बचा लिया। उसकी ख्याति बढ़ी। तदनन्तर फौजी विजयों से उसने अपने आप को फ्रांस की जनता का लोकप्रिय नेता बना लिया। सन् १७९६ ई० के इटली के युद्धों में उसे सफलता मिली। डाइरेक्टर प्रजा का विश्वास खो बैठे थे। उनकी कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही थीं जिनका सामना करने में वे असमर्थ थे। नेपोलियन ने इस अवसर से लाभ उठाया। नवम्बर सन् १७९९ ई० में नेपोलियन ने सरकार का तख्ता उलट दिया। उसने एक नवीन विधान बनाया। सिद्धान्त में तो फ्रांस में प्रजातंत्र ही था किन्तु वास्तविक रूप में वहाँ फौजी तानाशाही थी। आगे के पृष्ठों में नेपोलियन के उन प्रयासों का वर्णन किया जावेगा जिनके परिणाम स्वरूप फ्रांस की राज्यक्रांति के विचार योरप के समस्त देशों में फैल गए और उन्होंने तत्कालीन योरपीय विचारधारा को प्रभावित किया।

नेपोलियन का सम्राट् बनना

सन् १७९९ ई० के परिवर्त्तन से लाभ उठा कर नेपोलियन ने अब विदेशी मामलों की ओर ध्यान दिया। योरपीय संघ के विभिन्न सदस्यों यथा आस्ट्रिया तथा इङ्गलैण्ड से उसने संधि कर ली और रूस को भी अपनी ओर मिला लिया। फ्रांस की इस प्रकार सभी देशों से मित्रता थी। नेपोलियन ने इस अवसर से लाभ उठा कर सन् १८०२ ई० में अपने को जन्म भर के लिये प्रथम कान्सल निर्वाचित करा लिया। फिर सन् १८०४ ई० में वह फ्रांस का सम्राट् बन बैठा। उसे अपना उत्तराधिकारी नियत करने का अधिकार भी मिल गया। किन्तु इस परिवर्त्तन से फ्रांस की राज्यक्रांति का कार्य्य नष्ट नहीं हुआ। जनमत



सम्राट् नेपोलियन

का सिद्धान्त अब भी माना गया था। सन् १७८९ ई० के सामाजिक सुधार अब भी बने हुए थे। इस प्रकार राज्य क्रान्ति के कार्य्यों को नष्ट होने से बचा कर उसे सुदृढ़ बनाना नेपोलियन की फ्रांस के लिये सबसे बड़ी सेवा थी। इसी कारण उसका स्थान इतिहास में अमर है।

नेपोलियन के शासन-सुधार

नेपोलियन ने स्थानीय अधिकारियों के अधिकार छीन कर उन्हें केन्द्रीय कर्मचारियों के हाथ में सौंप दिया। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी और वे उसी के लिये अपनी नीति के सम्बन्ध में उत्तरदायी थे। सन् १८०१ ई० में उसने चर्च से धार्मिक प्रश्न के ऊपर समझौता कर लिया। जब यह व्यवस्था की गई कि छोटे पादरियों की नियुक्ति बड़े पादरियों द्वारा होगी, बड़े पादरियों की नियुक्ति पोप द्वारा उनमें से होगी जिनके नामों की सूची सरकार द्वारा पोप के पास भेजी जायगी। समस्त पादरियों का वेतन राज्य से मिलेगा। नेपोलियन का यह प्रबन्ध स्थायी रहा और चर्च का यह संगठन सन् १९०५ ई० तक स्थापित रहा। तीसरा बड़ा सुधार फ्रांस की आर्थिक दशा का था। करों को अधिक सावधानी से इकट्ठा किया जाने लगा जिससे कोई नागरिक को धोखा न दे सके। उसने कर्मचारियों की बेईमानी और रिश्वतखोरी को रोका। सन् १८०० ई० में उसने फ्रांस के बैंक की स्थापना की जिसकी साख आज सारे विश्व में है।

नेपोलियन इन सुधारों से ही संतुष्ट न रह सका। दीवानी तथा फौजदारी के सभी कानूनों का संग्रह किया गया। इनकी व्याख्यापूर्ण टिप्पणियाँ की गई जिससे प्रत्येक व्यक्ति जान सके कि कौन सी बात उचित है और कौन सी अनुचित। क्रांति द्वारा हुई सभी नवीन बातों का समावेश इन कानूनों में हो गया। इस प्रकार नेपोलियन का कानूनी संग्रह विश्व के प्रसिद्ध कानूनी संग्रहों में से एक समझा जाने लगा। शिक्षा-प्रणाली में भी सुधार हुए। प्रारम्भिक शिक्षालयों से लेकर, उच्च शिक्षालय स्थापित हुए। सर्वोच्च शिक्षण संस्था थी फ्रांस का विश्वविद्यालय। फ्रांस के अंदर सड़कों का जाल बिछा दिया गया। बहुत सी नहरें तथा पुल भी निर्मित कराये गये। पेरिस शहर के भागों को नये ढंग से बसाया गया। कला-कौशल की अमूल्य कृतियों का संग्रह किया गया। फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। स्पेन से लूसियाना प्रान्त ले लिया गया किन्तु उस क्षेत्र में इसे अधिक सफलता न मिली।

नेपोलियन ने इस प्रकार प्रजा की अनुमति प्राप्त कर प्रजा के हित के लिये बहुत से कार्य किये और राज्यक्रांति के सामाजिक सुधारों के क्रम को जारी रखा। इसके सुधार फ्रांस के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उसकी महत्वाकांक्षा द्वारा भी क्रांतिकारी विचार योरप के बाहर अन्य योरपीय देशों में फैल गए। फ्रांस के आधीन अब बेल्जियम, राइन प्रदेश तथा सवाय थे। वहाँ पर भी क्रांतिकारी विचारों को ग्रहण कर उनके आधार पर राजनीतिक तथा आर्थिक ढांचा

खड़ा किया गया। फ्रांस के आस-पास बहुत से प्रजातंत्र भी स्थापित थे। इन सभी देशों में नेपोलियन का कानूनी संग्रह व्यवहार में आता था। फ्रांस का रोब सारे योरप पर छाया हुआ था। केवल दो ही देश उसके वैभव को फूटी आँख न देख सकते थे। एक था आस्ट्रिया और दूसरा इङ्गलैण्ड। आस्ट्रिया का हैप्सबर्ग वंश मेरी के वध से फ्रांस का कट्टर शत्रु बन गया था। नेपोलियन के सम्राट् की उपाधि धारण करने को आस्ट्रिया का पवित्र रोमन सम्राट् अपना निजी अपमान समझता था। सन् १८०६ ई० में 'रोमन सम्राट्' की उपाधि को उसने नष्ट कर दिया। इस घटना ने जले पर नमक डाल दिया। इङ्गलैण्ड का वैमनस्य व्यापारिक तथा औपनिवेशिक कारणों से था।

नेपोलियन की विदेशी नीति और पतन

फ्रांस पर शांतिपूर्वक शासन करने से ही नेपोलियन संतुष्ट रहनेवाला न था। उसकी मनोकामना समस्त योरप पर आधिपत्य जमाने की थी। उसकी महत्त्वाकांक्षा को रोकने के विचार से इङ्गलैण्ड के प्रधान मंत्री पिट ने एक गुट बनाया। नेपोलियन ने वीरतापूर्वक इस गुट का सामना किया। पहिले आस्ट्रिया को पराजित किया। जेना की लड़ाई में प्रशा ने भी मुँह की खाई। रूस को भी पराजय मिली। इङ्गलैण्ड अकेला रह गया और पिट का बनाया हुआ संघ धराशायी हो गया।

नेपोलियन ने पराजित देशों में फ्रांस के क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। सामन्त प्रथा तथा दासता का अंत हुआ। नेपोलियन के कानूनी संग्रह का प्रयोग वहाँ की अदालतों में होने लगा। धार्मिक सहिष्णुता को कानूनी मान लिया गया। कानून की दृष्टि से सभी नागरिकों का दर्जा समान समझा गया। राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधारा का प्रभाव भी प्रशा के ऊपर पड़ा। इस विचार-धारा को क्रियात्मक रूप देनेवाला वहाँ का एक मंत्री था। उसका नाम बैरन वान स्टीन था। राजा के सहयोग से उसने बहुत से भूमि सम्बन्धी सुधार किये। भूमि स्वतंत्रता पूर्वक खरीदी और बेची जा सकती थी। शिक्षा में सुधार हुए। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का विकास हुआ। साथ ही अनिवार्य फौजी शिक्षा की व्यवस्था भी की गई। इस प्रकार प्रशा अंदर ही अंदर नेपोलियन की स्वेच्छा-चारिता से मुक्त होने के योग्य बन गया।

इङ्गलैण्ड तो पहिले से नेपोलियन के वैभव को नष्ट करने पर तुला हुआ था। उसने ट्राफलगर के युद्ध में फ्रांसीसी बेड़े को हरा दिया। नेल्सन

ने इस प्रकार इङ्गलैण्ड की स्वाधीनता सदैव के लिये बचा ली। इसी समय स्पेन में युद्ध छिड़ गया। नेपोलियन से बदला लेने का इङ्गलैंड ने यह अच्छा अवसर सोचा। इस युद्ध में उसे असफलता मिली। इसी समय फ्रांस का रूस के सम्राट् अलेक्जेन्डर से बिगाड़ खाता हो गया। नेपोलियन ने रूस-विजय के विचार से एक विशाल सेना मास्को भेजी किन्तु यह सेना बर्फ तथा शीत के कारण नष्ट हो गई। लगभग ५ लाख व्यक्ति एक व्यक्ति की शान तथा वैभव को बढ़ाने के विचार से बलिदान किये गये। यह पराजय नेपोलियन के पतन की सूचक थी। जर्मनी ने सुअवसर जान फ्रांस के बन्धन से अपने को मुक्त कर लिया। फिर उसके शत्रुओं ने फ्रांस पर आक्रमण किया। नेपोलियन भाग कर एल्बा द्वीप पहुँचा। फ्रांस में फिर से बोर्बन वंश की स्थापना हुई। लुई अठारहवें ने सन् १८१४ ई० में प्रजा को अधिकार पत्र दिया जिसके अनुसार क्रान्ति के विचार स्वीकार कर लिये गये। अधिकांश अधिकारों को जिन्हें क्रान्तिकारी फ्रांस ने घोषित किया था, फिर से स्वीकार कर लिया गया। इङ्गलैण्ड की शासन-प्रणाली के आधार पर फ्रांस की प्रणाली संगठित हुई। इस प्रकार यह स्पष्ट था कि फ्रांस में राजाओं की स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता के फिर से फ्रांस में स्थापित होने का कोई अवसर नहीं है।

भला कहाँ महत्वाकांक्षी नेपोलियन जिसकी अभिलाषा के आगे सारा विश्व भी थोड़ा था और कहाँ एल्बा का छोटा सा द्वीप? नेपोलियन अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। एक दिन वह फिर फ्रांस में आ धमका। फ्रांस में उसका स्वागत हुआ किन्तु मित्रराष्ट्र उसका अंत करने पर तुले थे। उन्होंने तैयारियाँ कीं। वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन परास्त हुआ। वह बंदी बना कर सन्त हेलेना द्वीप में भेज दिया गया जहाँ सन् १८२१ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

विश्व इतिहास में नेपोलियन का उत्थान, उन्नति और पतन एक आश्चर्यजनक घटना समझी जाती है। हेनीबाल, सिकन्दर तथा जुलीयस सीज़र की भाँति नेपोलियन एक प्रसिद्ध योद्धा तथा विजेता था। उसकी संगठनशक्ति अद्वितीय थी। राज्य-शासन-प्रबन्ध में उसकी प्रतिभा का चमत्कार देखते ही बनता था। साहस तथा शारीरिक परिश्रम की क्षमता में सम्भवतः कोई ही विश्व का महान पुरुष उसकी समानता कर सकता हो। निराश होना तो उसने कभी सीखा ही न था। सैनिकों के प्रति उसका बड़ा अच्छा बर्ताव होता था। इसी कारण सैनिक उसे हृदय से प्यार करते थे। भारी से भारी कष्टों को वे हँसते हँसते सहन कर लेते थे। जहाँ नेपोलियन में घमण्ड, स्वभाव में उग्रता तथा क्रूरता थी वहाँ उसकी महत्वाकांक्षा भी अद्भुत थी। अपनी अकथनीय महत्वाकांक्षा

तथा उत्कट् साहस के कारण ही उसका पतन हुआ। लड़ाई में उसे मनुष्यों का रक्त बहाने में कभी संकोच न हुआ फिर भी उसके स्वभाव में कोमलता थी।

उसकी मृत्यु के नौ वर्ष बाद उसकी प्रतिमा फिर से पेरिस में स्थापित हुई। उसकी वृद्धा माता ने कहा "सम्राट् फिर से पेरिस में आ गये हैं।" सम्राट् अपनी मृत्यु के नौ वर्ष पश्चात् ही नहीं अपितु अपने जीवन में ही फ्रांस में स्थायी रूप से आ गया था। उसकी क्रान्ति को चिरस्थायी रखने का सफल प्रयत्न इतना सराहनीय था कि फ्रांस की जनता उससे कदापि उऋण नहीं हो सकती। अपने जीवनकाल में ही वह अपने को फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का प्रतीक कहता था। "मैं राज्य-क्रांति हूँ।" यह उसी के प्रयत्नों का फल था कि फ्रांस की क्रांति का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्य्यक्रम इतनी सफलता से पूरा हो गया।

अपनी योरप-विजय के कार्य्यक्रम को पूरा करते समय नेपोलियन ने अभिलाषा प्रकट कर दी थी कि समस्त योरप एक इकाई है। "मैं सब राष्ट्रों को मिलाकर एक कर दूँगा।" नेपोलियन का उद्देश्य योरप की सब शक्तियों को मिला कर राष्ट्रसंघ जैसी वस्तु स्थापित करने का था जिससे योरप की सब समस्याओं का समाधान हो सके। उसकी यह अभिलाषा उसके जीवन में अपूर्ण रही। आज बीसवीं शताब्दि में योरप उसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। उसे इसमें कितनी सफलता होगी यह बात भविष्य के गर्भ में छिपी है।

छठा अध्याय

चीन में प्रभात

प्राक्कथन

पिछले अध्याय[1] में मध्यकालीन युग के चीनी इतिहास का वर्णन करते हुए यह बताया गया था कि यह युग वैभव तथा धन-धान्य का युग था। इस समय वहाँ मिंग वंश का राज्य था। मिंग वंश अपनी चरित्रगत दुर्बलताओं तथा पारस्परिक फूट के कारण नष्ट हो गया और उसके स्थान पर चीन में मंचू अथवा चिंग वंश की स्थापना हुई। यह वंश सन् १६४४ ई० में स्थापित हुआ और सन् १९११ ई० में समाप्त हुआ। उस वर्ष में चीन में क्रांति के परिणामस्वरूप प्रजातंत्र स्थापित हुआ। इस वंश में कांग-ही सम्राट् अपने ज्ञान-प्रचार तथा महान कृतियों के कारण इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। दूसरा प्रसिद्ध सम्राट् शियन-लुङ्ग था। विद्वानों का आदर करने तथा ज्ञान-प्रचार के कार्य्य में वह अपने पूर्वज कांगही से भी आगे बढ़ गया। ईसाई धर्म-प्रचारकों से वह घृणा करता था और इसी कारण उसने ईसाई धर्म का प्रचार बंद करा दिया। आंतरिक सङ्गठन के पश्चात् उसने अपना ध्यान बाह्य देशों की विजय की ओर दिया। नेपाल पर आक्रमण हुआ और गुरखे पराजित हुए। ब्रह्मा को हराकर कर देने के लिये विवश किया गया; चीन की प्रभुता तिब्बत में स्थापित हुई; खुतान, काशगर आदि मध्य एशिया स्थित देश जीत लिये गये। साम्राज्य में सुख तथा शांति का राज्य था। साठ वर्ष से अधिक शासन करने के पश्चात् वह सन् १७९६ ई० में शासन-कार्य्य से अलग हो गया। उसके पुत्र दिया-छिंग के समय एक अंगरेजी राजदूत लार्ड एमहर्स्ट को सम्राट् से मिलने से इनकार कर दिया गया क्योंकि उसने चीनी ढंग से सम्राट् का अभिवादन करने में अपनी असमर्थता दिखलाई थी। सन् १८२० ई० में इस सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् सम्राट् टाओकवांग गद्दी पर बैठा। उसके समय आंतरिक विद्रोहों का युग प्रारम्भ हुआ। किन्तु इससे भी प्रसिद्ध बात थी अंगरेजों के साथ चीनियों के युद्ध। ये युद्ध इस कारण छिड़े कि चीन पर अंगरेजों ने बलपूर्वक अफीम लादनी चाही थी। इस

---

1 देखिये अध्याय १६ प्रथम भाग।

युद्ध के कारणों तथा घटनाओं को हम अधिक विस्तार के साथ आगे बतायेंगे। यहाँ यह बता देना पर्याप्त है कि पश्चिम की जातियाँ धन प्राप्ति के लिये नीच से नीच उपाय प्रयोग में लाने में संकोच नहीं करती थीं। अंत में चीनवासियों की पराजय हुई। सन् १८४२ ई० की नानकिंग की संधि द्वारा चीन के दरवाजे विदेशियों के लिये खोल दिये गए। पश्चिमी देशों में उस समय आर्थिक साम्राज्यवाद का बोलबाला था। सभी देश धनी होने और साम्राज्य स्थापित करने में लगे थे। इङ्गलैंड ही अकेला असहाय चीन को लूटकर खा जाय यह कैसे हो सकता था? आखिर अमेरिका और फ्रांस का भी तो चीन की इस लूट में कुछ हिस्सा था। चीन के रक्त शोषण की भूख सब को लगी हुई थी। बेचारा चीन विवश था। सन् १८६० ई० में फिर उसकी विवशता से फ्रांस तथा इङ्गलैंड ने लाभ उठाया। किन्तु इससे चीन की आँखें खुल गईं। उसकी निद्रा भंग हुई। एशिया में जागरण हो चुका था। यह जागरण योरोपीय देशों ने हम पर बल-पूर्वक लादा था। इन सब घटनाओं का वर्णन यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि चीन ने पहिले तो अपने गौरव तथा शक्ति के आगे विदेशियों को सिर न उठाने दिया। ठीक उसी प्रकार जैसे भारत में शक्तिशाली मुगलों के सामने अंगरेज़ सिर न उठा सके थे। किन्तु राजतंत्र के शिथिल होने से योरपीय देशों ने चीन की आंतरिक तथा वाह्य नीति में हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया जिसका परिणाम हुआ चीन का प्रभात। आगे के पृष्ठों में इन्हीं घटनाओं का उल्लेख है।

मंचू वंश की स्थापना

मिंग वंश का अंत मंचू वंश ने सन् १६४४ ई० में किया था। मंचू लोग तारतार थे और उन्होंने मिंग वंश की दुर्बलताओं से लाभ उठाकर अपना राज्य स्थापित किया था। इस वंश का दूसरा सम्राट् कांग-ही चीन के महानतम शासकों में से एक समझा जाता है। उसने ईसाई धर्म-प्रचारकों के ज्ञान से पूरा लाभ उठाया। वह महान उदार शासक था। उसने विद्वानों का अपने दरबार में आदर किया और उन्हें आर्थिक सहायता दी। चीनी भाषा का एक शब्दकोष उसने तैयार कराया। इस कोष में ४०,००० शब्द हैं। इन शब्दों के साथ साथ युग युग के साहित्यिकों द्वारा उन शब्दों का वाक्यों में प्रयोग दिया गया है। इस प्रकार उसने यह महान कार्य सम्पादित कर चीन की भारी सेवा की। इससे भी अधिक भारी-सेवा चीनी भाषा में सचित्र ज्ञानकोष का सम्पादन था। यह ग्रंथ १६२८ जिल्दों में प्रकाशित हुआ और प्रत्येक ग्रंथ में ५०० पृष्ठ हैं।

ऊपर उसके ईसाई धर्म-प्रचारकों के साथ हुए उदार व्यवहार का वर्णन हो चुका है। किन्तु धीरे धीरे इस सम्राट् को पता चल गया कि इन धर्म-प्रचारकों की करतूतें कभी २ बड़ी दुखदायी होती हैं। इसी कारण उनकी चालों पर तर्क दृष्टि रखना इस सम्राट् ने आवश्यक समझा। उसके राज्यकाल में रूस के ज़ार, पीटर महान ने पेकिंग को कर भेजा और समय समय पर कांग-ही से सहायता माँगी।

इस वंश का दूसरा प्रसिद्ध सम्राट् शियन-लुंग था। उसने सन् १७३६ ई० से १७९६ ई० तक राज्य किया। साहित्यिक उन्नति तथा साम्राज्य वृद्धि में इस सम्राट् ने पर्याप्त सहयोग दिया। उसके राज्यकाल में सन् १७९३ ई० में पहिला ब्रिटिश दूत लार्ड मकार्टनी चीन आया। इस राजदूत ने चीनी सम्राट् के सम्मुख बड़ी नम्रता से नौ बार साष्टांग प्रणाम किया। चीनी सम्राट् ने इंगलैण्ड के राजा जार्ज तृतीय को एक पत्र लिखा जिसके कुछ भाग इस प्रकार हैं :—

"तुम्हारे मंत्री ने हमें तुम्हारा पत्र और भेंट की वस्तुएँ दी हैं और हमें जान कर प्रसन्नता होती है कि इतनी दूर रहते हुए भी तुम्हारी वफादारी हमारे प्रति कितनी अधिक है। हमने अपने मंत्रियों को आज्ञा दी है कि तुम्हारे मंत्रियों को सम्मान पूर्वक रखा जाय। हमने पहिले ही अपने दरबार में उन्हें स्थान दे दिया है।

तुम्हारी प्रार्थना कि तुम्हारे यहाँ के कुछ व्यापारियों को हम व्यापार के लिये अपने देश में बसने की आज्ञा दें स्वीकृत नहीं की जा सकती क्योंकि यह हमारे देश के नियमों के विरुद्ध है।

हमारा साम्राज्य चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है और हमारा मुख्य कर्त्तव्य प्रजा का हित-चिन्तन है। हमारी दृष्टि में धन-धान्य का कोई मूल्य नहीं है। यह बात तुम्हारे राजदूत ने भी देखी होगी।

वास्तव में हमारा साम्राज्य उन सब वस्तुओं से भरपूर है जो मनुष्य को चाहियें और हमें अपनी सीमा के अंदर किसी और वस्तु की आवश्यकता नहीं है। हमें विदेशी असभ्य जातियों के सामान को अपने देश में मँगाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारे प्रति तुम्हारी वफादारी और स्वामिभक्ति पूर्ववत अविचल बनी रहे जिससे तुम्हारी प्रजा की रक्षा और शांति भली प्रकार सुरक्षित रहे।"

शियन लुंग का साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी एशिया में फैला हुआ था। उसके अंतर्गत मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत तथा तुर्किस्तान भी थे। कोरिया, अनाम तथा स्याम भी उसके आधीन थे। गोरखों ने एक बार तिब्बत पर आक्रमण

किया था। इस सम्राट ने गोरखों को तिब्बत से खदेड़ दिया और उन्हें चीन की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया।

लेकिन विजय के इन कार्य्यों से प्रजा को भारी मुसीबत का सामना करना पड़ा। वह करों के भार से दबी जाती थी। राज्याधिकारी रिश्वत लेने लगे। यह भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया कि इसे बतलाने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। प्रधान मंत्री होकुन ने अपने बीसवर्ष के मंत्रित्व में ८० करोड़ तेल (चीन का एक सिक्का) इकट्ठा किया। चीन की वार्षिक आय ७० करोड़ तेल थी। इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि प्रजा के साथ कितने अत्याचार करके उसने यह धन इकट्ठा किया होगा। यद्यपि इस अधिकारी को फांसी की सजा मिली और उसकी सब सम्पत्ति राज्य द्वारा जब्त कर ली गई तथापि अधिकारियों की रिश्वतखोरी बंद न हुई।

अराजकता तथा भ्रष्टाचार के इस युग में चीन में बहुत से क्रांतिकारी दल उत्पन्न हो गये। इनमें से मुख्य दल ये थे। श्वेत कमलदल (White Lily Society) जिन्होंने धार्मिक आंदोलन प्रारम्भ किये। दूसरी सभा दैवी न्याय समिति (Society of Divinre Justice) थी। इनकी सभाओं के अतिरिक्त क्वीचू में माओ लोगों ने विद्रोह किये; मुसलमानों ने सिन-क्यांग प्रदेश में विद्रोह किये तथा दक्षिणी पूर्वी प्रदेश में समुद्रीय डाकुओं ने उपद्रव कर दिये। तत्पश्चात् ताई पिंग क्रांति हुई। इस क्रांति का नेतृत्व हुंग-सू-चुआन नामक एक ईसाई ने किया। यह व्यक्ति क्वांगटुंग प्रान्त में हुआ जिले का निवासी था। स्वाधीनता तथा समानता के नाम पर उसने अपने युद्ध प्रारम्भ किये। वह अपने देश के सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन का पुनरुद्धार चाहता था। उसने अपना आंदोलन तीन सिद्धान्तों के आधार पर किया। उसने उपदेश दिया कि जेहोवा स्वर्ग का पिता, यीशु बड़ा भाई तथा वह स्वयं छोटा भाई था। पहिले पहिल उसे सफलता मिली। थोड़े ही वर्षों में पंद्रह प्रान्तों को विद्रोहियों ने अपने आधीन कर लिया। नानकिंग को राजधानी बना कर उसने अपना शासन आरम्भ किया। किन्तु इस क्रांति ने समस्त चीनी समाजके आधारभूत सिद्धान्तों पर कुठाराघात कर दिया। सर्वसाधारण की सहानुभूति इस क्रांति के विरुद्ध हो गई। मिंगवंश का पतन कुछ वर्षों के लिये रुक गया। किन्तु इन विद्रोह से भयानक विद्रोह थे विदेशियों से युद्ध। इन युद्धों के कारणों का वर्णन सविस्तार यहाँ किया जायेगा।

इन लड़ाइयों का मुख्य कारण था साम्राज्यवाद की उन्नति जो इङ्गलैण्ड, जर्मनी तथा अन्य योरपीय देशों में स्थापित हो चुका था। यह साम्राज्यवाद

आर्थिक था। इसका उद्देश्य पिछड़े हुए देशों पर अपने माल लादकर वहाँ के व्यापार से लाभ उठाना था। यद्यपि पहिले पहल इन देशों से धर्म प्रचारक यहाँ पहुँचे थे किन्तु उनके कुछ दिनों पश्चात् व्यापारियों का ताता लग गया। इन धर्म प्रचारकों के कारनामों से ही प्रजा को असन्तोष हुआ था। अब इन व्यापारियों ने उनकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ा दीं। इन धर्म प्रचारकों के विषय में सर्वसाधारण की यह धारणा थी कि जिस समय वे किसी देश में जाते थे तो जाते समय उनके हाथ में बाइबिल रहती थी और देशवासियों के पास जमीन! किन्तु कालान्तर में उनकी चालों से देशवासियों के पास बाइबिल रह जाती थी और पादरियों के पास भूमि। जो दशा धर्मप्रचारकों ने अफ्रीका में की थी वही चीन में हुई। पादरियों के पश्चात् व्यापारियों ने आकर तो चीन में और भी गड़बड़ी मचा दी। केन्द्रीय शक्ति के छिन्न-भिन्न होने से उन्हें देश की इस अवनत दशा से लाभ उठाने का पूरा-पूरा अवसर मिला। चीन पर बलपूर्वक अफीम लादी गई। चीन को अफीम भारत से बेची जाती थी। चीन वासियों को तम्बाकू के साथ अफीम पीने की गन्दी आदत पड़ गई। सरकार ने इस आदत को छुड़ाने के विचार से अफीम का व्यापार सीमित करना चाहा। १८०० ई० में यह आज्ञा हुई कि चीन में अफीम का आना बंद हो। विदेशी फिर भी लुक छिप कर भारत से अफीम लाते रहे। चीनी अफसरों को रिश्वत दी जाती थी। रिश्वत खोरी और बेईमानी का बाजार गर्म था। सन् १८३४ ई० में अंगरेजी सरकार ने ईस्टइंडिया कम्पनी से चीन के व्यापार का एकाधिकार छीनकर सभी अंगरेजों को चीन के साथ व्यापार करने का अधिकार दे दिया। इससे हालत और भी खराब हो गई। चीनी सरकार ने चोरी से अफीम का व्यापार रोकने के लिये एक अधिकारी को कैन्टन भेजा। उसने इस चोरी को बलपूर्वक रोकना चाहा। चीनी सरकार को ऐसा करने का पूरा अधिकार था किन्तु स्वार्थवादी अंगरेजी सौदागर वैसा करने के लिये कदापि तैयार न थे। चीन के साथ युद्ध हुए और उसे अपमान जनक शर्तों को मानने के लिये बाध्य होना पड़ा। यह युद्ध १८४०—४२ तक रहा और इतिहास में अफीम के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। चीनवासियों ने युद्ध का भारी हर्जाना दिया, हांगकॉंग का द्वीप भी इङ्गलैंड को दे दिया। पाँच बंदरगाह भी विदेशियों के प्रयोग के लिये खोल दिये गए जहाँ विदेशी रह सकते थे। कुछ समय पश्चात् अमेरिकावासियों, फ्रांसवालों जर्मनों तथा हालैंड वासियों को इन बंदरगाहों में जाने और वहाँ बसने का अधिकार दे दिया गया। इन पाँच बंदरगाहों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर विदेशी नहीं जा सकते थे।

इस प्रकार 'स्वर्गीय साम्राज्य' को विदेशियों के हाथ पराजित होना पड़ा और उसे ईसाई धर्म प्रचारकों तथा पादरियों को अपने देश में बसने की आज्ञा देनी पड़ी। चीन के एकान्तवास का युग समाप्त हो चुका था।

दूसरा युद्ध १८५६ ई० में हुआ। इस युद्ध के कारण भी भेड़िये और मेमने वाली कहानी को चरितार्थ करते हैं। इस बार इङ्गलैंड के साथ फ्रांस भी इस अन्याय में सम्मिलित था। दोनों ने एकत्रित हो चीन पर आक्रमण कर दिया। "वहशी" (चीन वासियों की दृष्टि में सभी विदेशी वहशी थे) फ्रांस तथा इङ्गलैंड विजयी हुये। १८६० में संधि होगई। बसके अनुसार ६ और बंदरगाहों पर विदेशियों का अधिकार हो गया। योरप वासियों को चीन के आंतरिक व्यापार से लाभ उठाने का अवसर मिल गया। अफीम का व्यापार भी न्यायोचित ठहराया गया। चीन को यह भा वचन देना पड़ा कि वह पादरियों के जान व माल की रक्षा करेगा। इस प्रकार इन दो युद्धों से चीन को बरबस विदेशियों के सम्पर्क तथा चंगुल में आना पड़ा। बहुतेरी उसने अपने आपको 'वहशियों' से अलग रखने की कोशिश की थी मगर सब बेकार गई।

ठीक इसी समय जब चीन की अज्ञानता तथा निर्बलता से योरोपीय देश लाभ उठा रहे थे, उसका पड़ौसी जापान आश्चर्य के साथ अपनी निद्रा को भंग कर उठ बैठा और उसने अपनी शक्ति से क्या योरप और क्या एशिया सभी को चकित कर दिया। उसके इस जागरण का सविस्तर वर्णन तो अगले अध्याय में किया जायेगा यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि जापान ने गिरे हुए चीन में दो लात लगाना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझा। दोनों में झगड़ा कोरिया के प्रश्न को लेकर चला। जापान इस देश को अपने प्रभुत्व में लाना चाहता था। जापान की इच्छा उसे योरप के ढाँचे में ढालने की थी। चीन अब भी कोरिया को अपने अधीन समझता था और उसके आंतरिक मामलों में किसी भी जाति को हस्तक्षेप करते हुये सहन नहीं कर सकता था। जापान तथा चीन में १८९४ ई० में युद्ध हुआ। जापान की भारी विजय हुई। १८९५ ई० के दोनों देशों में संधि हुई। चीन ने कोरिया के मामलों से ही तटस्थ रहने की प्रतिज्ञा न की अपितु जापानियों को भी उन बंदरगाहों में आने की अनुमति दी जिनमें पहिले से ही योरोपवासी आ जा सकते थे। युद्ध का भारी हरजाना भी देना पड़ा। फार्मोसा का द्वीप और लाओटुंग प्रायद्वीप भी जापान को मिले।

किन्तु योरोपीय जातियाँ भला यह कैसे सहन कर सकती थीं कि उनकी लूट में एशिया की एक जाति हिस्सा ले? विशेषतया लाओटुंग प्रायद्वीप पर जापान का

अधिकार तो उन्हें बहुत ही खटकता था। यह प्रायद्वीप मंचूरिया से बिल्कुल सटा हुआ था और मंचूरिया पर रूस अपनी आंखें लगाये बैठा था। इसी समय जर्मनी के सम्राट ने भी जापान को सलाह दी कि वह इस प्रायद्वीप को चीन को दे दे। रूस का साथी फ्रांस भी उसका पक्ष लेकर जापान के साथ युद्ध करने के लिये प्रस्तुत था। कहना न होगा कि इन तीन महत्वपूर्ण राष्ट्रों को नाराज करना जापान के लिये असम्भव था इसी कारण उसने जर्मनी के इस 'परामर्श' को मान लिया।

जापान को चीन की इस लूट से अलहदा कर तीनों योरपीय शक्तियों ने चीन को हड़पना प्रारम्भ किया। जर्मनी ने बहाना किया कि दो जर्मन धर्म प्रचारकों की मृत्युका बदला होने के लिये यह आवश्यक है कि वह काओचाऊ की खाड़ी पर अधिकार कर ले। इस खाड़ी के समीप उपजाऊ शांगटुंग प्रान्त था। १८९८ ई० में चीन को विवश हो यह खाड़ी जर्मनी को ९९ वर्ष के पट्टे पर देने पड़ी। हपड़ने के आरोप से बचने का यह सरल उपाय था। मंचूरियामें रूसी रेलवे लाइन निकालने के अतिरिक्त रूसने भी पोर्ट आर्थर के बंदरगाह का पट्टा प्राप्त कर लिया। रूसी रेलवे लाइन के समीप उस देश की सेनायें रक्खी जाने से यह प्रान्त भी रूस के आधिपत्य में आगया। फ्रांस ही क्यों पीछे रहता? उसने दक्षिणी चीन की एक खाड़ी का पट्टा ले लिया और चीन से यह वचन ले लिया कि यांगसी नदी के दक्षिण का प्रदेश फ्रांस के अतिरिक्त और किसी देश को न मिले। ब्रिटेन को भी इस लूट में हिस्सा मिला। वी लई-वी बंदरगाह का पट्टा भी उसे मिल गया। उसने यांगसी नदी की उपजाऊ घाटी पर अपनी लालची आंखें गड़ा दीं कि यदि चीन का बटवारा हो तो यह भाग उसे मिले। इटली ने भी इस प्रकार के पट्टे के लिये प्रार्थना पत्र भेजा किन्तु उस समय तक चीनी सरकार ऐसे पट्टे देते-देते परेशान हो चुकी थी और उसने इन सब का विरोध करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

अपने प्रभुत्व का क्षेत्र इस प्रकार बांट लेने से योरप को यह पूर्णतया स्पष्ट दिखाई देता था कि चीन का पतन अवश्यम्भावी है और उसके पतन होने पर रूस को मंचूरिया, जर्मनी को शान्टुंग, इंगलैण्ड को यांगसी की घाटी फ्रांस को यांगसी के दक्षिण का प्रदेश मिलना चाहिये। जितने भी प्रदेश पर जिस देश ने अधिकार कर रक्खा था उसके व्यापार में लाभ उठाना वहां रेलें बनाना वहां की खानों से लाभ उठाना उसकी सरकार अपना कर्तव्य समझती थी। योरपीय पूंजीपतियों के लिये चीन के लोहे तथा कोयले की खानें वहां की निर्धन तथा

परिश्रमी जनता आदि ऐसी वस्तुयें थीं जिनसे लाभ उठाना उनके लिये एक ईश्वरीय देन थी। जो कोई भी देश रुपया लगा सकता था वह वहाँ की खानों, नहरों तथा उद्योगधन्धों से अपरिमित धन प्राप्त कर सकता था। इसी कारण सभी योरप के देश इस आर्थिक साम्राज्यवाद के कायल थे और अपना अपना उल्लू सीधा कर रहे थे।

इस लूटपाट से अपने हाथ अलग रखने वाला केवल अमेरिका ही था। १८५६ के युद्ध में भी उसने फ्रांस तथा इङ्गलैंड का साथ न देकर न्याय का पक्ष लिया था। अब १८९८ में जो चीन की लूट मची हुई थी उससे भी वह अलग रहा। इतना ही नहीं चीन के मित्र की तरह उसने यह नीति व्यवहार में लाने की सिफारिश की कि चीन के सभी भाग सभी देशों के वासियों के लिये व्यापार तथा रुपया लगाने के लिये खुले हुये होने चाहियें। यह अमेरिका की स्वार्थ-रहित नीति थी। इंगलैंड ने इस नीति से मौखिक सहानुभूति दिखाई; दूसरों ने तो इतना भी न कर खुल्लमखुल्ला इस नीति का विरोध किया।

पहिले चीन के अधिकारियों की चरित्र भ्रष्टता का उल्लेख किया जा चुका है। विदेशियों की इस लूटपाट ने देश में अराजकता को और भी प्रोत्साहन दिया। एशिया के अन्य देशों में विशेषतया जापान में अद्भुत जागृति हो चुकी थी। चीन में भी प्रभात हुआ। वह अपने इन बन्धनों को काटने के लिये व्यग्र हुआ। वहाँ भी क्रांतिकारी दलों ने शक्ति उपार्जित की। वहाँ के निवासी भी प्रजातंत्र की स्थापना में जीजान से जुट गए। अनेक माई के लाल शहीद हुये। विदेशों में रहकर अनेक वीरों ने क्रांतिकारी संस्थाओं का संगठन किया। अंत में १९११ ई० में डा० सनयात सेन के नेतृत्व में प्रजातंत्र के लिये चीन की क्रांति सफल हुई। इन सब घटनाओं का वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस चीन ने अपने वैभव के आगे महान् शक्तियों को ठुकरा दिया था वहीं उसे अपनी संकीर्णता तथा अनुदारता के कारण विदेशियों के आगे घुटने टेक देने पड़े। किंतु इतना गनीमत था कि इतनी ठोकरें खाने के बाद चीन को अकल आ गई थी और उसमें भी अन्य एशियाई प्रदेशों की भाँति प्रभातकालीन सूर्य की किरणें स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगीं।

सातवां अध्याय

जापान का जागरण

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में जापान के प्राचीन इतिहास का वर्णन करते समय वहाँ की सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन को समझने का प्रयत्न किया गया था। जापान के सम्राट यद्यपि ईश्वर के प्रतिनिधि समझे जाते थे तथापि सर्वोच्च सत्ता शोगनों के हाथ में थी। सम्राट उनके हाथों में कठपुतली बने हुये थे। शोगन सम्राटों के मंत्रियों की उपाधि थी। सोलहवीं शताब्दि के अंत में तोकूगावा आयेयासु ने तत्कालीन परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने वंश का गौरव तथा वैभव बढ़ाया। सन् १६०३ ई० में आयेयासु शोगन बन गया और तब से लेकर सन् १८६८ ई० तक उसके वंशज सम्राटों के नाम पर शासन प्रबन्ध करते रहे। आयेयासु तोकूगावा वंश का था इसी कारण यह काल तोकूगावा के आधिपत्य के नाम से भी विख्यात है। इसी समय योरप की जातियां जैसे पुर्तगाल वाले स्पेन वाले तथा जेसूट पादरी जापान में आने जाने लगे। जेसूटों को धर्म प्रचार की स्वाधीनता भी दी गई किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् अनुभव होने लगा कि इन्हें प्रोत्साहन देना सर्प को दूध पिलाने के सदृश्य है। जापानियों ने इन विदेशियों को अपने देश से निकाल दिया। सन् १६३६ ई० में जापान ने पूर्णतया अपने आप को विदेशियों के लिये बंद कर दिया। जापान का यह एकान्तवास लगभग दो सौ वर्षों से अधिक रहा। बड़ी कठिनता से सन् १८५३ ई० में जापान ने अपने दरवाजे सभी व्यापारियों के लिये खोल दिये। जापान ने इसके पश्चात् इतने आश्चर्यजनक ढंग से उन्नति की कि सभी संसार उसकी उन्नति को देख कर दंग रह गया। सभ्यता की प्रतियोगिता में उसने योरप को पकड़ लिया और योरप की चालबाजी को पूर्णतया अपना कर उसने अपना आतंक सारे सुदूर पूर्व पर जमा लिया। चीन, कोरिया तथा अन्य पड़ोसी देश उसकी महत्वाकांक्षा के आगे छोटे दिखलाई पड़ने लगे। जर्मनी, फ्रांस तथा रूस जो चीन पर अपनी ललचाई आंखें गड़ाये हुये थे जापान के इस वैभव को फूटी आँख न देख सके। रूस से निबटना जापान ने परमावश्यक समझा। रूस पराजित हुआ। समस्त एशिया के लिए दासता के बन्धन काट डालने का यह सुवर्ण

अवसर था। आगे के पृष्ठों में जापान के जागरण के इसी इतिहास का अवलोकन किया गया है।

तोकूगावा की प्रभुता का युग

ऊपर तोकूगावा वंश के एक सरदार आयेयासु के प्रभुताशाली होने का वर्णन हो चुका है। आयेयासु ने येदो स्थान को अपनी राजधानी बनाया। अनेक भवनों तथा प्रासादों से इसे सजाया गया। सम्राट की राजधानी इस स्थान के गौरव के आगे फीकी पड़ गई। अपने आधीनस्थ सरदारों तथा अधिकारियों की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के विचार से प्रत्येक सरदार तथा अधिकारी को अपने बाल बच्चे राजधानी में छोड़ देने पड़ते थे। यह प्रथा मुगलों की प्रथा से कितनी मिलती जुलती है। अपने आधीन सरदारों को उसने दो श्रेणियों में विभाजित कर दिया। १. फुदाई श्रेणी। यह श्रेणी उन सरदारों की थी जो सम्राटों के लिये सदैव ही स्वामिभक्त रहे थे। दूसरे तोजामा जिन्हें युद्ध के परिणाम स्वरूप तोकूगावा वंश की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी। इनकी जागीरों के आस पास उसने विश्वसनीय मित्रों को जागीरें दीं जिससे इनके ऊपर अधिक सतर्क दृष्टि रक्खी जा सके। आयेयासु की मृत्यु १६१७ ई० में हुई किंतु इस समय तक उसके वंश की प्रभुता में जापान में स्थापित हो चुकी थी।

तोकूगावा शोगनों के सुधार जापान के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक विभाग पर कठोर नियंत्रण रक्खा गया। आचार विचार, आमोद प्रमोद, वेश भूषा आदि सभी पर पूरे २ प्रतिबन्ध लगाये गये। सैनिक वर्ग सेमूराई का राज्य शासन में बोलबाला होगया। प्रत्येक सेमूराई को युद्ध, घुड़सवारी तीर दाजी के अतिरिक्त साहित्य तथा कला की उन्नति में भी सहयोग देना पड़ता था। सिपाहियों के लिये शराब पीना तथा जुआ खेलना निषिद्ध था, अपराधियों को तुरन्त मृत्यु दंड दे दिया जाता था। उन्हें जेल में रखना अपव्यय समझा जाता था। जासूसों का जाल सा बिछा हुआ था जिससे सभी अधिकारियों की गुप्त बातों का पता लग सके। बहुत से कानूनों का संग्रह प्रस्तुत किया गया। एक नियम के अनुसार सम्राट के पास यदि कोई प्रार्थी प्रार्थना पत्र ले जाना चाहता अथवा उससे भेंट करना चाहता तो उसे पहिले शोगन के पास जाना होता था। उसने अपने उत्तराधिकार का क्रम भी निश्चित किया कि यदि उसके असली उत्तराधिकारियों के संतान न हो तो तीन पुत्रों के वंशजों को क्रमानुसार शोगन पद मिले।

धार्मिक व्यवस्था में भी सुधार हुये। प्रत्येक दाइम्यो को बौद्ध धर्म की किसी न किसी शाखा को मानना पड़ता था। सन् १६३८ ई० में ईसाई धर्म का प्रचार बल पूर्वक रोक दिया गया। इसका कारण यह बताया जाता है कि स्पेन वासियों ने अपने अमेरिका के काले कारनामों का वर्णन बड़े अभिमान के साथ किया था। बातों बातों में उन्होंने यह भी कह दिया था कि जिस देश में ईसाइयों को अपना राज्य स्थापित करना होता है वहाँ वे पहिले अपने पादरी भेजते हैं। पादरियों से सारे भेद जानने के बाद व्यापारी पहुँचते हैं और व्यापार के पश्चात् निश्चय पूर्वक उस देश में ईसाई राज्य स्थापित हो जाता है। सम्राटों तथा शोगनों ने इस रहस्यपूर्ण बात को समझ लिया। समस्त ईसाइयों को देश छोड़ने की आज्ञा हुई। आज्ञा भंग करने का दंड होता था मृत्यु। लगभग २ लाख पादरियों को मृत्यु-दंड मिला। किन्तु यह सब जापान के सम्राटों ने सीखा योरपाय देशों से ही था। जासूस भेज कर शोगनों ने योरप के धार्मिक अत्याचारों का पता लगा लिया था। उन्हें यह भी संदेह होता था कि अवसर पाते ही ईसाई लोग वहीं करेंगे जो उन्होंने पीरू तथा मेक्सिको में किया था। अंगरेजों तथा हालैंड वासियों के कथनों ने इन संदेहों की और भी पुष्टि कर दी।

सबसे पहिला अंगरेज जो १६०० ई० में जापान पहुँचा बिल आदमस नामक एक नाविक था। वह हालैंड की ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक जहाज में नौकर था। शोगन ने उसका सत्कार किया और उससे जहाज बनाने की कला सीखी। योरपीय समस्याओं का ज्ञान भी शोगनों को इसी से हुआ। अंगरेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जहाज भी यहाँ पहुँचे। जापान में एक व्यापारिक कोठी भी उन्होंने बनाई। शोगनों को इस बात में भारी प्रसन्नता होती थी कि प्रोटेस्टेन्टों तथा कैथोलिकों में योरप में कितनी शत्रुता थी। हालैंड तथा इङ्गलैंड के नाविक जापानी समुद्रों पर स्पेन तथा पुर्तगाल के जहाजों को लूट लिया करते थे। शोगन लूट का सामान इनसे निश्चय पूर्वक लेते थे। किन्तु फिर भी शोगन इस बात में सतर्क रहते थे कि विदेशियों के अपने देश में आने से देश की स्वाधीनता खतरे में न पड़ जाय और उनकी प्रभुता का अंत न हो जाय। सन् १६३७ ई० में इन ईसाइयों ने शिमाबारा नामक स्थान पर युद्ध कर दिया। शोगनों ने विधर्मियों को नष्ट करना राजनीतिक कारणों से आवश्यक समझा। सभी विदेशी जहाज नष्ट कर दिये गए, देश के बने हुये जहाजों से समुद्रतटवर्ती देशों से ही व्यापार हो सकता था। नागासाकी में केवल एक ही विदेशी बस्ती थी वह थी हालैंड वासियों की। यहीं से शोगन लोग आवश्यकतानुसार योरप से सामान

मंगाते थे। इन्हीं से जापान ने पार्लियामेन्ट द्वारा राजा चार्ल्स प्रथम के प्राण दंड का समाचार जाना। उन्हें पश्चिमी सभ्यता से और भी घृणा हो गई।

किन्तु सुधारों को करने तथा योरपीय सम्पर्क को नष्ट करने पर भी राज्यवर्ग में जो अवनति का क्रम उत्पन्न हो गया था वह अब भी बना रहा। शोगनों में आलस्य तथा अकर्मण्यता आ गई। अपने मंत्रियों तथा परामर्श दाताओं को शासन का भार सौंप वे स्वयं व्यभिचार तथा कलात्मक उन्नति की ओर अग्रसर हुये। कालान्तर में राजनीतिक सत्ता उनके हाथ से भी निकल गई और उनका अधिकार भी उसी प्रकार नाममात्र का रह गया जैसा पहिले सम्राटों का रह गया था। सर्वसाधारण के साथ बड़ी कठोरता का बर्ताव होने लगा। यहाँ तक कि न्याय प्राप्त करने की सुविधा भी उन्हें नहीं मिलती थी। थोड़े ही लोगों का साहस अपने मुकद्दमे राजकीय अदालतों में ले जाने का होता था। छः प्रकार की सजायें अपराधियों को मिलती थीं। धिक्कारना, एकान्त वास, कोड़े लगाना, देश निकाला, तथा किसी टापू में रहने की आज्ञा और मृत्यु दंड। उच्च वर्ग के लोगों को मृत्यु दंड का आज्ञा मिलने पर आत्म-हत्या करने का अधिकार मिला हुआ था। इस प्रकार समाज में उच्च वर्ग तथा सर्वसाधारण वर्ग में भेद भाव होने से उच्च वर्ग में विलासिता, निरंकुशता तथा निर्दयता के अवगुण उत्पन्न हो गए। येदो राजधानी विलासिता तथा वैभव का केन्द्र बन गई। साहित्य कला तथा धार्मिक विचार धारा में भी यही भावना दिखलाई पड़ती थी।

इन दो शताब्दियों के एकान्तवास में जापान में सर्वसाधारण की दशा दिनपर दिन बिगड़ती गई। एक धनी व्यक्ति के गुजरने पर सभी को सम्मान में झुकना पड़ता था। थोड़े से भी असम्मान का परिणाम निकल सकता था तुरन्त मृत्यु। सरदारों तथा धनिक वर्ग का प्रभुत्व बहुत अधिक था। उनमें भ्रष्टाचार तथा पापाचार था। मृत्यु दंड देने में उन्हें तनिक संकोच न होता था। धर्म की आड़ में उन्हें आज्ञापालन तथा स्वामिभक्ति का पाठ पढ़ाया जाता था। फिर भी जापान अपने इस एकान्तवास में शांति से रहा। बाहरी लड़ाई झगड़ों से बचे रहने के कारण वहाँ पर साहित्य की उन्नति हुई।

जापान के इस एकान्तवास का किस प्रकार अंत हुआ और किस प्रकार जापान ने सभ्यता की प्रगति में इतना महत्व पूर्ण भाग लिया ये वर्तमान इतिहास की एक बड़ी प्रसिद्ध घटना है। जापान का यह जागरण ऐसा ज्ञात होता है कि उस पर थोपा गया था किन्तु एक बार उसने यह निश्चय किया कि उसके उन्नति करने में ही उसका कल्याण है जापान ने इसे ग्रहण करने में कोई कसर नहीं रक्खी। आगे के इन पृष्ठों में जापान की अद्भुत उन्नति का वर्णन है।

सन् १८५३ ई० जापान के इतिहास की अमर तिथि है। उस वर्ष कमोडोर पेरी संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रधान का पत्र लेकर जापानी सम्राट से मिलने के विचार से येदो की खाड़ी में प्रविष्ट हुआ। उस पत्र को उसने सम्राट की सेवा में भेज दिया। एक तार का तथा दूसरा रेलवे इंजिन का नमूना भी यह अमेरिकन अपने साथ लाया था। दूसरे वर्ष फिर उत्तर पाने की आशा से यह अमेरिकन आ उपस्थित हुआ। अब की बार उसके साथ आठ लड़ाकू जहाज थे। चार हजार सिपाही भी उसके पास मौजूद थे। अमेरिका के इन सैनिकों से डर कर लोगोंने मंदिरों में प्रार्थनाएं कीं किन्तु उद्धार का कोई मार्ग दिखलाई न दिया। सम्राट ने अपने मंत्रियों से परामर्श किया। विदेशी सम्पर्क के विरोधियों ने कहा "ये लोग अपने ज्ञान विज्ञान से सर्वसाधारण को धोखा देंगे। उनका उद्देश्य व्यापार करना है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे देश वासियों को अधिक निर्धन बना देंगे। अंत में वे इस धनधान्य पूर्ण देश को निगल जायगे।" इसके विपरीत दूसरे दल का कहना था कि जापान को पश्चिमी देशों से संधि कर लेनी चाहिये। उनके कला विज्ञान से लाभ उठा कर अपने को शक्तिशाली बनाना चाहिये। डर कर भागने से कोई लाभ नहीं है। अंत में इसी दल की जीत हुई। अमेरिका से १८५४ ई० में संधि हुई। अमेरिका के जहाजों के लिये दो बंदरगाह व्यापार के लिये खुल गये, अगले दस वर्षों में जापान की लगभग १५ देशों से व्यापारिक संधियां हो गईं। १८६७ तक जापान को इन देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने पड़े। सभी बंदरगाह विदेशियों के लिये खुल गये। देश की आंतरिक व्यवस्था में सुधार हुये। सभी धर्मावलम्बियों को स्वाधीनता मिली। व्यापार तथा यात्रा करने की सुविधायें भी विदेशियों को मिलीं।

अमेरिका जापान के एकान्तवास को भंग करने पर क्यों तुल गया था? बात यह थी कि उन्नसवीं शताब्दि के अंतिम भाग में अमेरिका पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। केलीफोर्निया तथा सैनफ्रांसिस्को प्रसिद्धि में आरहे थे। प्रशान्त महासागर की ओर उसका ध्यान जाना स्वाभाविक था। योरप की अपेक्षा एशिया की ओर उसने अपना ध्यान दिया। प्रशान्त महासागर में अमेरिका का हित बढ़ने से यह आवश्यक था कि प्रशान्त महासागर स्थित जापानी साम्राज्य से मित्रता तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये जांय। इसी उद्देश्य से कमाडोर पेरी ने १८५४ ई० में जापान से उपर्युक्त संधि की थी।

जापान के दर्वाजे का पश्चिम के देशों के लिये खुल जाने से वहाँ की आंतरिक नीति पर क्या प्रभाव पड़ा? पहिला परिणाम तो यह हुआ कि जापान से शोगन

प्रणाली समाप्त हुई। सन् १८६७ ई० में नये जापानी सम्राट् मुत्सुहितो ने अंतिम शोगन को त्याग-पत्र देने के लिये विवश किया। सन् १८६७ ई० से इस प्रकार जापान के 'प्रकाश युग' का सूत्रपात हुआ। सम्राटों की सत्ता बारहवीं शताब्दि से नाम मात्र की रही थी। अब सभी अधिकार उनके हाथ में आगये। दूसरा परिणाम इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था। जापान पश्चिमी विचारधारा को अपनाने के लिये व्यग्र हो उठा। उसने अपना सैनिक, राजनीतिक तथा औद्योगिक ढांचा पाश्चमी ढंग पर ढालना प्रारम्भ कर दिया। सामन्त प्रथा का अंत हुआ। पुराने सरदारों को पेन्शनें दे दी गईं। जमींदारियों का खात्मा हुआ। समूराई वर्ग के सैनिक अधिकार छीन लिये गए और जर्मनी सैनिक संगठन के आधार पर जापानी सेनाओं का संगठन हुआ। जहाजी बेड़े का संगठन अंग्रेजी प्रणाली पर हुआ। भाप से चलने वाले जहाज तैयार करने के लिए एक कम्पनी खोली गई। रेलवे लाइनों तारघरों, डाकखानों की व्यवस्था की गई। जापानी विद्यार्थी योरप के देशों में पहुँचे और वहाँ इञ्जीनियरिंग तथा अन्य कलाओं को सीखा। कल कारखानों की जापान में बाढ़ आ गई।

शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान समझ कर १८७३ ई० में अनिवार्य शिक्षा का कानून प्रदेश में लागू कर दिया गया। राज्य के संरक्षण में व्यवसायिक तथा कलात्मक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। अंगरेजी भाषा द्वारा बच्चों को शिक्षित बनाना अनिवार्य हो गया। जापानी जाति में पश्चिमी रक्त कितनी शीघ्रता से प्रवाहित होने लगा था!

ईसाइयों के विरुद्ध जो कानून अब तक प्रचलित थे वे सब रद्द कर दिये गये। जापानियों को विदेश जाने के लिये छात्रवृत्तियाँ मिलने लगीं। शिन्टो धर्म राज्य धर्म के स्थान से हटा दिया गया। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक क्षेत्र में पूरी स्वाधीनता मिलगई। ग्रीगोरी का तिथिपत्र जापान में प्रचलित हुआ।

भूमि की नये सिरे से पैमायश हुई। नये सिद्धान्त के अनुसार भूमिकर लगाया गया। फौजदारी तथा माल के कानूनों में भी सुधार हुये। फ्रांस के राज्यनियम का अनुकरण करते हुये जापान ने सन् १८८९ ई० में अपना स्वतंत्र विधान भी बनाया। इस प्रकार जापान में योरपीय विचार धारा का प्रवेश तीन साधनों द्वारा हुआ! पहिले दस वर्षों में जापान को अंगरेजी विचार धारा ने सबसे अधिक प्रभावित किया दूसरे दस वर्षों में जापान के लेखकों पर फ्रांसीसी लेखकों की छाप पड़ी। रूस के ग्रंथों का जापानी भाषा में अनुवाद हुआ! सबसे अंत में जापान पर जर्मनी की राष्ट्रीय विचार धारा की

छाप पड़ी। इस विचार धारा का स्थायी प्रभाव जापान के राजनीतिक जीवन पर आज भी दिखलाई पड़ता है। जहाँ जापान ने पश्चिम की अन्य अच्छी बातों को सीखा था वहाँ उसने पश्चिमी कूटनीति, तथा आर्थिक साम्राज्यवाद को भी अपनाया। आगे के पृष्ठों में जापान की उसी नीति का उल्लेख है। किन्तु यह देखने से पहिले जापानी और चीनी क्रांतियों की तुलना करना अनुपयुक्त न होगा।

पिछले अध्याय में हमने चीन के साथ हुये विदेशियों के काले कारनामे का विरोध किया था। हमने जान लिया था कि मंचू शासकों की अयोग्यता से लाभ उठा कर चीन के ऊपर अंगरेजों फ्रांसीसियों रूसियों तथा जर्मनों ने वहाँ की आंतरिक नीति में मनमाना हस्तक्षेप किया। किसी निर्लज्जता से अंगरेजों ने चीन पर अपना अफीम का व्यापार थोपा था इसे भी हम जान चुके थे। चीन के विपरीत जापानियों ने न केवल विदेशियों को ही अपने मामलों में हस्तक्षेप करने से रोके रक्खा अपितु योरप की एक बड़ी शक्ति रूस को हरा कर अपनी वर्तमानता का सिक्का सारे विश्व पर जमाया। आखिर दोनों देशों में यह परिवर्त्तन क्यों था? कारण स्पष्ट है। जापान की सभ्यता चीन की अपेक्षाकृत नई थी। चीन की सभ्यता कई सहस्र वर्षों से पुरातन के साथ जकड़ी हुई थी। चीनी सामाजिक संगठन चीनवासियों को वे सब सुधार करने से रोके हुये था जो जापान में जादू की भांति हो गये। चीन में वर्षों से खोखलापन आ गया था। चीन के अधिकारियों तथा शासकों ने प्रजा को एक दम निकम्मा कर दिया था। चीन में पादरियों तथा व्यापारियों का कार्य्य प्रारम्भ हो गया था जब कि जापान ने उसे तुरंत रोक दिया था। जैसे मुगल शासन सूत्र के शिथिल होते ही भारत में योरपीय धर्म प्रचारकों तथा व्यापारियों की चढ़ बनी थी वैसे ही चीनी अराजकता से लाभ उठा कर वे लोग अपना उल्लू सीधा करने में सफल बन चुके थे। लेकिन यह जापान की बुद्धिमता थी कि उसने दूसरों के अनुभव से लाभ उठा कर ईसाई धर्म प्रचारकों तथा व्यापारियों को रोक दिया और फिर दो सौ वर्षों से अधिक सो लेने के पश्चात् जब जापान उठा तो उसका जागरण इतने उत्साह के साथ हुआ कि उसके सामने पश्चिम ने दांतों तले उंगलियाँ दबालीं।

अब हम जापान की विदेशी नीति का उल्लेख कर इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

पश्चिम के सभी साधनों को अपना लेने के पश्चात् जापान भला पश्चिमी विदेशी नीति को कैसे छोड़ सकता था? उसकी परराष्ट्र नीति का मुख्य उद्देश्य

था उन सब संधियों को बदल देना जो विदेशोंने उसकी निर्बलता से लाभ उठा कर उस पर लादी थीं। इसका अर्थ हुआ कि जापान अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिक ख्याति प्राप्त कर इस परिवर्तन के लिए अनुकूल मत प्राप्त करे। जापान ने १८७१ ई० में इन संधियों के विरुद्ध प्रचार करने के उद्देश्य से एक दूत मंडल योरप तथा अमेरिका भेजा। जापान को सक्रिय सहायता कहीं से भी न मिली। हाँ, उसे सहानुभूति अवश्य मिली। जापान ने इसका कारण समझ लिया। उसने जान लिया कि निर्बलता इस संसार में अभिशाप है। अपनी यह निर्बलता जापान को अखरने लगी। इसी निर्बलता का परिणाम निकला जापान का शक्तिशाली होने का प्रयास। और उसका परिणाम निकला सैन्यवाद। सैन्यवाद द्वारा ही जापान विदेशी शत्रुओं का सामना कर सकता था। किन्तु इस सैन्यवाद का शिकार सबसे पहले जापान के पड़ोसी चीन को बनना पड़ा। 'हम दान देना घर से ही सीखते हैं।' यह कहावत इस समय चरितार्थ हो रही थी।

सन् १८७२ ई० में जापान ने कोरिया पर आक्रमण किया। कोरिया के व्यापार से जापान लाभ उठाना चाहता था। १८७४ ई० में चीन से युद्ध हुआ। इस बार तो जैसे तैसे झगड़ा शान्त हो गया किन्तु १८९४ ई० में झगड़ा फिर से जोरों से छिड़ गया। इस बार भी यह झगड़ा कोरिया के प्रश्न पर था। कोरिया को जापान अपने आधीन रखना चाहता था। कोरिया के विदेशी शक्ति के हाथ में चले जाने का परिणाम होता था जापान के स्वतन्त्र अस्तित्व पर आक्रमण। जापान भला इसे कैसे स्वीकार कर सकता था। इस युद्ध के कारणों तथा परिणामों पर अधिक विस्तार पूर्वक आगे विचार किया जायेगा। यहाँ केवल यही प्रकट कर देना पर्याप्त है कि जापान का जागरण चीन के लिए ही नहीं अपितु अन्य प्रशान्त सागरीय शक्तियों के लिए भी भय का सूचक था। यहाँ यह कहना भी उल्लेखनीय है कि चीन को प्रभात की अपेक्षा जापान का जागरण अधिक सक्रिय था। चीन में यद्यपि प्रभात कालीन सूर्य उदय हो चुका था फिर भी चीन में उठ कर कार्य करने की क्षमता न थी। जापान ने चीन के पश्चात् बरबस आँखें खोलीं किन्तु एक बार जब उसकी उन्नति का क्रम छिड़ गया तो फिर वह एशिया वह एशिया के लिए ही नहीं वरन् विश्व के लिए एक उदाहरण हो गया।

जापान का यह जागरण उन्नीसवीं शताब्दी की अद्भुत घटना है। इस घटना से आगे चल कर विश्व इतिहास में महान् परिवर्तन हुए। अब तक

एशिया के सभी देशों को निकम्मा समझा गया था। उनके ऊपर अत्याचार थोंपना गोरे लोगों का जन्म सिद्ध अधिकार था। भारत, फारस (ईरान) तुर्की तथा चीन सभी ने योरोपीय शक्तियों के आगे अपनी पराजय स्वीकार की थी। भारत में तो आपसी द्वेष तथा ईर्ष्या के परिणामस्वरूप अंगरेजी सत्ता स्थापित हो ही चुकी थी, तुर्की का पतन भी अब स्पष्ट दीख रहा था। ईरान, अरब तथा अन्य देश गोरी सभ्यता के आगे अपनी पराजय का अनुभव कर रहे थे किन्तु अब जापान ने इस सिद्धान्त को एक दम गलत सिद्ध कर दिया कि एशिया प्रत्येक समय योरप का दास बना रहेगा। एशिया के लिए शंखनाद हुआ—जापान की रूस पर विजय (१९०६ ई०)। इस शंखनाद की ध्वनि से एशिया को अपने प्राचीन गौरव का आभास हुआ। एशिया ने करवट बदली और योरप के आधिपत्य को नष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया। एशियाई देशों की इस जागृति का वर्णन यथास्थान किया जावेगा।

आठवाँ अध्याय

योरप में सुधारों का युग

प्राक्कथन

नेपोलियन के पतन के पश्चात् योरप के इतिहास में दो विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। एक तो थे प्रतिक्रियावादी जो क्रांति के विरुद्ध प्राणपण से उद्योग करते थे। उनके विचार से स्वाधीनता, समानता तथा बन्धुत्व के भाव विश्व के लिये आपत्तिजनक थे। इसीलिये उनका विरोध प्रत्येक उपाय से होना चाहिये। दूसरे उनका विचार था कि निरंकुश शासकों की पुनः स्थापना उनके कानूनी अधिकारों (Legili macy) के आधार पर होनी चाहिये। जहाँ तक हो सका उन्होंने फ्रांस की राज्यक्रांति के कार्य को एक दम नष्ट कर स्वेच्छाचारिता को स्थापित करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया। जिन देशों में यह प्रवृत्ति स्पष्टता-पूर्वक दिखलाई पड़ती थी वे देश थे आस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस। आस्ट्रिया का प्रतिक्रियावादी मंत्री मेटरनी इस दल का नेता था। इसके विपरीत दूसरा दल सुधारवादियों का था। वे फ्रांस की क्रांति के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों जैसे स्वाधीनता, समानता तथा बन्धुत्व को अपनाकर प्रजातंत्री प्रणालियों को आगे बढ़ाना चाहते थे। वे सामान्त प्रथा के विरोधी थे। वे निरंकुशता के स्थान पर वैध तथा प्रजातंत्रात्मक शासनप्रणाली को। स्थापित करना चाहते थे। फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा बेलजियम में सुधारवादी प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती थीं। फिर भी पहले तीस वर्षों तक योरप में प्रतिक्रियावादका बोलबाला रहा। नये-नये देशों को उनकी इच्छा के विरुद्ध मिला दिया गया। राष्ट्रीयता के विचार ताक में रख दिये गये। बेलजियम को उसकी इच्छा के विरुद्ध हालैण्ड से बाँध दिया गया। किन्तु प्रतिक्रियावाद से योरप तुरन्त ही ऊब गया। उसने योरप के प्रसिद्ध देशों में फिर से क्रांतियाँ करा दीं। फ्रांस में दो बार राज्यवंश को पलट दिया गया और १८४८ ई० की क्रांति से वहाँ प्रजातंत्र स्थापित हुआ। इङ्गलैण्ड में चार्टिस्ट आंदोलन हुआ। प्रतिक्रियावाद का विधाता मेटरनी स्वयं एक क्रांतिकारी झोंके से सत्ताविहीन हुआ और उसे इङ्गलैण्ड में शरण मिली। फिर भी इस शताब्दि में (उन्नीसवीं) योरप में सुधारों का बोल बाला रहा। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारों का क्रम जारी रहा। धार्मिक क्षेत्र में लगभग

सभी देशों में सभी कर्मों को समानता के अधिकार मिले। यहूदियों तथा रोमन कैथोलिकों पर से पाबन्दियाँ हटा ली गईं। दासता-का भी सन् १८३३ ई० में विल्बरफोर्स के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अंगरेजी साम्राज्य से अंत हो गया। माताधिकार धनिकों तथा उच्च वर्ग तक ही सीमित न रह कर शहरों में काम करने वाले मजदूरों को भी मिल गया। शिक्षा बहुत से देशों में अनिवार्य कर दी गई। स्त्रियों का समाज में महत्वपूर्ण तथा आदरणीय स्थान हो गया।

किन्तु इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी योरप में संगठित पूँजीवाद का जन्म। इङ्गलैण्ड अपने उपनिवेशों के व्यापार से धनाढ्य हो गया। उसके कल कारखाने रात-दिन उपनिवेशों के लिये दैनिक व्यवहार की अनेक वस्तुयें उत्पन्न कर उन देशों के बाजारों को पाट रहे थे। धन-धान्य की बहुलता से इङ्गलैण्ड में पूँजीवाद का जन्म हुआ। पूँजीवाद ने अपने स्वार्थ के लिये मजदूरों से थोड़े तथा अपर्याप्त वेतन पर बहुत अधिक काम लिया। कच्चा माल उपनिवेशों तथा पिछड़े हुये देशों से इङ्गलैण्ड में आता था और वहाँ के कल-कारखानों में वह तैयार किये हुये माल में परिणित होता था। इङ्गलैण्ड के धन सत्तावाद के वैभव का क्या ठिकाना था? चारों ओर से इङ्गलैण्ड में धन आता था। इस धन से इङ्गलैण्ड का पूँजीवर्ग पार्लियामेण्ट पर अपना सिक्का जमाये हुये था। पूँजीवाद के बढ़ने से मजदूरों की दशा शोचनीय हो गई। क्योंकि पार्लियामेण्ट तो इस आसमान संघर्ष में पूँजीवाद का ही पक्ष ले रही थी। ऐसे समय इंगलैण्ड वे एक कारखाने के मालिक राबर्ट ओवन ने सबसे पहिले 'समाजवाद' का सूत्रपात किया। इस तरह पूँजीवाद के साथ-साथ समाजवाद शब्द तथा प्रणाली का प्रयोग आर्थिक समस्या के निराकरण के लिये सुझाया जाने लगा। इसी समाजवाद ने कालान्तर में विश्व के सभी देशों पर अपना जादू डाल दिया। आगे के पृष्ठों में इन सभी प्रवृत्तियों तथा प्रणालियों का वर्णन दिया गया है।

मेटरनी का प्रतिक्रियावाद

ऊपर कहा जा चुका है कि मेटरनी ने योरप के देशों को वहाँ ले जाने की कोशिस की थी जहाँ वह सन् १८१५ ई० में था। मेटरनी ने योरप के उन राजाओं को फिर से सिंहासनारूढ़ किया जो क्रांति के झोंके में पदच्युत हो गये थे। यदि सिंहासन पर बिठाना किन्हीं कारणों से असम्भव था तो उनकी क्षतिपूर्ति का प्रबन्ध किया गया। इस सब का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीयता के भावों का एक दम गला घोंट दिया गया। उसकी इस नीति का विरोध होना अवश्यम्भावी था। इस विरोध को दबाने का कार्य आस्ट्रिया, रूस, प्रशा तथा इङ्गलैण्ड को

सौंपा गया। आस्ट्रिया के नेतृत्व में विश्व को निरंकुश शासकों के लिये सुरक्षित बनाया जा रहा था। स्वाधीनता की बातें हवा हो गई। किन्तु मेटरनी को अपने इस प्रयत्न में मुंहकी खानी पड़ी क्योंकि फ्रांस की क्रांति तथा नेपोलियन के युद्धों के परिणामस्वरूप योरप में सुधारवाद, राष्ट्रीयता एवं सामाजिक समानता के भाव स्थायी रूप से आसीन हो गये थे और उनका हटाना सत्ताधारियों के लिये असम्भव था।

सुधारवाद

योरप के प्रत्येक देश में सुधारवादियों का दल अब भी जीवित था। बेल्जियम तथा पोलैण्ड में यह दल राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न कर रहा था। ऊपर बेल्जियम तथा हालैण्ड के स्वेच्छाचारी गंठ-बन्धन का वर्णन हो चुका है। अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिये बेल्जियम ने अब विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उधर आफत के मारे पोलेण्ड को अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों भर बँटवारों तथा निरंकुशताओं का सामना करना पड़ा। पोलेण्ड के बँटवारों का इतिहास योरप के इतिहास पर काली कालिमा है। इन सब के विरुद्ध बेल्जियम तथा पोलेण्ड में राजनीतिक स्वाधीनता के लिये आंदोलन हुये। अन्य योरपीय देशों में यह सुधारवादी आंदोलन मध्यम वर्ग के उद्योगों के परिणाम स्वरूप था। व्यापारी, लेखक, पत्रकार तथा अध्यापक इस वर्ग में सम्मिलित थे। मध्यम वर्ग द्वारा चुनी गई पार्लियामेण्ट के वे पक्षपाती थे। वे प्रेस की स्वाधीनता चाहते थे, धार्मिक मामलों में भी पाबन्दियाँ नहीं सहन कर सकते थे तथा सामन्तशाही युग के अधिकारों का भी विरोध करते थे। कहना न होगा कि मेटरनी ने सुधारवाद की इस बढ़ती हुई लहर को रोकने का प्रयास किया। विशेषतया जर्मनी को उसके विरोध का शिकार बनना पड़ा। कार्ल्सबाड नियमों के अनुसार २० वर्ष तक राष्ट्रीयता तथा सुधारवाद की लहर को रोकने का बलपूर्वक प्रयत्न किया गया। कहना न होगा कि इन भावनाओं को दबाने के स्थान पर यह दमन उन्हें अधिक उत्तेजना देने में सहायक सिद्ध हुआ।

मेटरनी का साथ पहिले पहल इङ्गलैंड ने प्रतिक्रियावाद को कायम रखने में दिया था। किन्तु धीरे-धीरे इङ्गलैंड ने ऐसा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इसके विपरीत इङ्गलैंड ने क्रान्तिकारी आन्दोलनों को सहायता देना प्रारम्भ किया। संयोगवश इसी वर्ष स्पेन का अपने अमेरिकास्थित उपनिवेशों से झगड़ा हो गया। उपनिवेशों का नेतृत्व इस क्रान्ति के अवसर पर बोलिवर नामक एक

देशभक्त ने किया था। जो स्थान उत्तरी अमेरिका में वाशिंगटन का है वही वही स्थान दक्षिणी अमेरिका में बोलीवर का है। व्यापारिक कारणों से इङ्गलैंड ने योरपीय शक्तियों को बलपूर्वक इस आन्दोलन के कुचलने का विरोध किया। सन् १८२३ ई० में अमेरिका के सभापति मनरो ने अपने सिद्धान्त की घोषणा की जिसे 'Monroe Doctrine' (मनरो सिद्धान्त) कहते हैं। इस घोषणा में बताया गया कि योरप की जातियों का अमेरिका के मामलों में हस्तक्षेप करना हमें असह्य है। इस हस्तक्षेप को हम अपनी शान्ति तथा सुरक्षा के लिये घातक समझेंगे। अमेरिका ने इस प्रकार योरपवासियों के हस्तक्षेप से अपने आपको मुक्त किया। इङ्गलैण्ड ने उपनिवेशवासियों की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। ठीक इसी समय तुर्की के सुल्तान के विरुद्ध यूनान ने विद्रोह किया। मेटरनी की इच्छा के विरुद्ध इङ्गलैण्ड ने फिर यूनान का पक्ष लिया। १८२९ ई० में सुल्तान को यूनान की स्वाधीनता स्वीकृति कर लेनी पड़ी। मेटरनी को मुँह की खानी पड़ी।

फ्रांस की क्रान्ति

मेटरनी की नीति की सबसे बड़ी पराजय फ्रांस में हुई। १९३० ई० में लूई अठारहवें को फ्रांस की गद्दी से हटना पड़ा और वहाँ लुई फिलिप नियमानुमोदित शासक हुआ। इस प्रकार जुलाई सन् १८३० की क्रांति से फ्रांस में मध्यम वर्ग का सुधारवादी दल विजयी हुआ। छापेखाने को स्वाधीनता मिली, मध्यम वर्ग को मताधिकार मिला। इस प्रकार इङ्गलैण्ड की तरह फ्रांस में भी नियमानुमोदित शासन-प्रणाली स्थापित हो गई।

सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ में थी। सर्वसाधारण अब भी राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे।'

बेल्जियम, इटली तथा फ्रांस के विद्रोह

सन् १९३० ई० में जैसे फिर क्रान्तियों की लहर आ गई थी। फ्रांस की तरह बेल्जियम वासियों ने भी अपनी स्वाधीनता के लिये आन्दोलन आरम्भ किया। इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने पूर्वी योरप के राजाओं को इस मामले में हस्तक्षेप करने से रोका। बेल्जियम स्वाधीन हो गया। निर्वाचित पार्लियामेन्ट तथा सुधारवादी राज्यनियम की स्थापना हुई। स्वेच्छाचारिता की पराजय एक और हुई। आत्म-निर्णय का सिद्धान्त फिर विजयी हुआ।

फ्रांस तथा बेल्जियम के विरुद्ध आस्ट्रिया को इटली तथा पोलैण्ड के विद्रोहों को दबाने में अधिक सफलता मिली। ज़ार के सैनिकों ने बलपूर्वक

रूसी पोलैण्ड पर अपना अधिकार जमा लिया तथा सुधारवादी आन्दोलनों को बलपूर्वक दबा दिया।

इङ्गलैण्ड में सुधारवाद

पश्चिमी योरप में इङ्गलैण्ड सुधारवाद का रक्षक बना रहा ; यद्यपि यहाँ की पार्लियामेन्ट में धनिक वर्ग का बोलबाला था। पार्लियमेन्ट के सुधार का बीड़ा दो वर्गों ने विशेष रूप से उठाया। एक वर्ग था व्यवसायिक मध्यम वर्ग। इस वर्ग में कारखानों तथा उद्योगधन्धों के स्वामी थे। ये लोग राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में अपना उचित भाग लेने के लिये उत्सुक थे। दूसरा दल सर्वसाधारण का था। इस वर्ग के विचार से सर्वसाधारण की आर्थिक दशा को सुधारने का एकमात्र मार्ग पार्लियामेन्ट के चुनाव में भाग लेने का सबको अधिकार देना था।

ऐसे समय जब प्रजा का असन्तोष इस प्रकार बढ़ा हुआ था पार्लियामेन्ट का सङ्गठन किस प्रकार का था। सन् १८३० तक पार्लियामेन्ट के लिये सदस्य चुनने का अधिकार मुट्ठी भर जनता के हाथ में था। ये लोग भूमि के स्वामी थे। शहरी तथा देहाती निर्वाचनक्षेत्रों से पार्लियामेन्ट में सदस्य भेजने का इसी वर्ग को अधिकार था। कालान्तर में निर्वाचनक्षेत्रों की जनसंख्या बिल्कुल कम हो गई। जब कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप बहुत से स्थानों की जन-संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। किन्तु पार्लिमेन्ट के लिये सदस्य चुनने का अधिकार इन्हें अब भी न मिला था। इङ्गलैंड के मध्यवर्ग ने बड़ी हिम्मत कर सुधार का प्रश्न उठाया। उधर टोरीदल सुधारों का विरोध करने पर तुला बैठा था। पार्लिमेन्ट ने आखिर १८३२ ई० का सुधार-नियम पास कर ही दिया। इस नियम का व्यापक प्रभाव यह हुआ कि भूमिपति धनिक वर्ग के साथ साथ व्यावसायिक मध्यमवर्ग को पार्लिमेन्ट पर कुछ नियंत्रण रखने का अधिकार मिल गया। सर्वसाधारण को राजनीतिक अधिकारों से पूर्ववत् वञ्चित रखा गया।

कहना न होगा कि इङ्गलैंड की अधिकांश जनता इन सुधारों से असन्तुष्ट थी। उनका विचार था कि उन्हें धोखा दिया गया है और उनकी करारी हार हुई है। मजदूरों में उत्तेजना बढ़ती गई। एक अधिकार पत्र तैयार किया गया जिसमें सभी को मताधिकार देने की माँग रखी गई। किन्तु यह आन्दोलन विफल रहा यद्यपि इसकी बहुत सी बातें आगे चलकर स्वीकार कर ली गईं।

१८३२ के सुधार-नियम के अनुसार निर्वाचन पार्लिमेन्ट में क्या किया? ऊपर कहा जा चुका है कि पार्लिमेन्ट में एक नये वर्ग का प्रवेश हुआ था। वह

वर्ग था व्यावसायी मध्यम वर्ग। उसने स्वतंत्र व्यापार की नीति का समर्थन किया। इस नीति का विरोधी भूमिपतियों का वर्ग था। विशेषतया कार्नला का तो इस वर्ग ने यथाशक्ति विरोध किया। किंतु कार्नला के विरुद्ध आंदोलन भी कम संगठित न था इसके नेता थे ब्राइट तथा काब्डन। इनके उद्योग का फल हुआ कि प्रधान मंत्री पील को ये नियम रद्द कर देने पड़े। सन् १८६० ई० तक इङ्गलैंड ने स्वतंत्र व्यापार की नीति को पूर्णतया अपना लिया।

दासता का अंत

सन् १८३३ ई० में इङ्गलैण्ड ने एक महत्वपूर्ण नियम द्वारा गुलामी की प्रथा ब्रिटिश सामाज्य से उठा दी। इस प्रथा को अंत करने से इङ्गलैंड ने अपने मस्तक की उस कालिमा को धो दिया जो उसने गुलामी के व्यापार को आरम्भ कर अपने मस्तक पर लगाई थी। कहना न होगा कि इङ्गलैण्ड को यह काम बड़ा मँहगा पड़ा था। २०० लाख पौंड गुलामों के मालिकों को हरजाने में इङ्गलैंड को देने पड़े थे। दूसरे अन्य महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर विचार करना भी अनुचित न होगा। १८३४ में निर्धन एक्ट पास हुआ। १८३५ ई० में नगरसंस्थाओं का नये रूप से संगठन हुआ। कारखानों तथा शिक्षा की भी दशा में सुधार हुये। इससे पहिले ही कैथोलिकों को पार्लिमेंट में बैठने की स्वीकृति १८२९ ई० में कैथोलिक अधिकार नियम द्वारा मिल चुकी थी। उन्नीसवी शताब्दि में धार्मिक स्वाधीनता इस प्रकार सुलभ हो गई जो अठारहवीं शताब्दि तक योरप के इतिहास की एक नई वस्तु थी। यहूदियों पर से यह पाबन्दी हटने में तो और भी अधिक समय लगा।

उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य तक इङ्गलैंड में राजनीतिक सत्ता धनिक वर्ग के हाथ में रही। कल कारखानों के मालिकों को १८३२ ई० के सुधार नियम द्वारा अधिकार मिले थे किन्तु अब भी अधिकांश जनता मताधिकार से वंचित थी। १८६७ ई० के सुधार नियम द्वारा शहर के मजदूरों को मताधिकार मिला। इस प्रकार निर्वाचकों की संख्या लगभग दुगुनी हो गई। १८८४ ई० के सुधार नियम द्वारा कृषकों को भी मताधिकार मिल गया। उन्नीसवीं शताब्दि के अंतिम चरण में इङ्गलैंड के राजनीतिक जीवन में तीसरे दल ने प्रवेश किया। अब तक दो ही दल पार्लिमेन्ट में थे--उदारवादी तथा अनुदारवादी। अब मजदूरों को मताधिकार मिलने तथा व्यापारिक संघों के संगठित होने से मजदूर दल का जन्म हुआ बीसवीं शताब्दि तक पहुँचते पहुँचते इङ्गलैंड ने पार्लिमेन्ट को अधिक शक्तिशाली बनाया। १९११ के पार्लिमेन्ट एक्ट द्वारा लोक सभा की प्रभुता इङ्गलैंड

के शासन विधान में पूर्णरूपेण स्थापित हो गई। १९१८ ई० के नियम से लगभग पूर्ण रूप से इङ्गलैंड में वयस्क मताधिकार स्थापित हो गया। १९२८ ई० में सभी वयस्क स्त्रियों को भी मताधिकार मिल गया। इङ्गलैंड ने इस क्षेत्र में संसार के अन्य देशों से अधिक प्रगतिशील कदम उठाया। फ्रांस में तो स्त्रियों को आज भी मताधिकार नहीं है।

इङ्गलैंड में स्त्रियों को यह अधिकार किस प्रकार मिला इसकी लम्बी कहानी है। मुख्यतया इसका इतिहास प्रथम विश्व युद्ध के समय से प्रारम्भ होता है। किन्तु इससे भी पूर्व स्त्रियों के युद्ध के समय घायलों की सेवा सुश्रुषाद्वारा एक नवीन मार्ग दिखलाया था। क्रामिया के युद्ध में फ्लोरेन्स नाइटिंगेल ने घायलों को आश्चर्यजनक सहायता पहुँचाई थी। एलिजाबेथ फ्राई ने जेलों में बंदी महिलाओं में सदाचार परिश्रम तथा सेवा भाव उत्पन्न किये थे। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध में तो महिलाओं ने काम कर, अस्पतालों में घायलों की सुश्रुषा कर, तथा सैनिकों को वस्त्र भोजन सामग्री आदि तैयार कर वह आश्चर्यजनक सेवा की कि सरकार उनके मताधिकार के प्रश्न को अधिक समय स्थगित न कर सकी। यहाँ एक और बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप बहुत सी निर्धन महिलाओं को अपने बच्चों तथा पतियों के साथ कल कारखानों में काम करना पड़ता था। बहुत सी कुमारियां तथा युवतियां भी इन कारखानों में जीविका प्राप्त करती थीं। कहना न होगा कि जब भी इन मजदूरों को मताधिकार मिले तो स्त्रियों को उनसे वंचित रक्खा गया। स्त्रियों को यह असमानता अखरती थी। वे समानता के लिये आंदोलन करती थीं और उन्हीं आंदोलनों के परिणाम स्वरूप उन्हें मताधिकार मिला। राजनीतिक मताधिकार के साथ साथ स्त्रियों ने आर्थिक स्वाधीनता, शिक्षा प्राप्ति के साधन तथा सामाजिक समानता की मांगे पुरुषों के सामने रक्खीं। उनकी मुख्य मुख्य मांगें मान ली गई हैं। शिक्षा प्राप्ति के लिये नये नये स्कूल तथा कालिज खुले हैं, नौकरियों के लिये प्रतियोगिताओं में भाग लेने का इन्हें अवसर मिला है, विवाहित स्त्रियों को अपने नाम से सम्पत्ति उपार्जित करने का अधिकार मिल गया है। महिला आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने वाली महिलाओं के कतिपय नाम इस प्रकार हैं :—अलीवान थर्गेन, तथा मेरी वालस्टनक्राफ्ट। इनके अतिरिक्त जान स्टुअर्ट मिल नामक विचारक ने भी स्त्रियों के अधिकारों की मांग दृढ़तापूर्वक रक्खी।

दूसरा सुधारवादी देश फ्रांस था। फ्रांस के सुधारों का वर्णन करने से पूर्व हमें एक और समस्या पर विचार कर लेना चाहिये। अपर सुधारवाद तथा

प्रतिक्रियावाद के संघर्ष का वर्णन हुआ है। इस प्रतिक्रियावाद के नेता मेटरनी का ऊपर उल्लेख हो चुका है। १८४८ ई० तक इसने प्रशा, जर्मनी, रूस आस्ट्रिया में कोई क्रांति न होने दी। किन्तु फिर भी बहुत से कारण उत्पन्न हो रहे थे जिनसे प्रतिक्रियावाद में अधिक दिन रहना असम्भव था। पहला कारण योरप की औद्योगिक क्रांति थी। इस क्रांति से योरप में राष्ट्रीयता की भावना बढ़ी। रेलों के बनने से भिन्न-भिन्न भागों के निवासी एक दूसरे के अधिक सम्पर्क में आने लगे। इस प्रकार आर्थिक एकता के साथ-साथ जर्मनी में राजनीतिक एकता उत्पन्न हुई। यद्यपि मेटरनी ने इस राजनीतिक एकता को रोकने का प्रयास किया था तथापि फिर भी आर्थिक एकता के परिणामस्वरूप उसका यह मनोरथ विफल हुआ। सुधारवाद की विजय का एक और कारण हुआ। औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से उच्च मध्यम वर्ग सबसे अधिक शक्तिशाली हो गया। धन तथा वैभव सम्पन्न होने की दशा में इस वर्ग को निरंकुश शासकों के अत्याचार का विरोध करने का बीड़ा इस वर्ग ने उठाया। साथ ही औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप मजदूरों तथा शोषितों की दशा बिगड़ती गई। उसमें असन्तोष की भावना बढ़ी। इस असन्तोष का सामाजिक तथा आर्थिक विचारकों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। एक विचारक थे मार्क्स और दूसरे थे प्राउधन। इन विचारकों की विचार प्रणालियों का अध्ययन हम आगे चल कर विस्तार पूर्वक करेंगे। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन विचारकों के प्रभाव से फ्रांस तथा अन्य योरोपीय देशों में फिर से क्रांति की लहर आई। यह लहर १८४८ ई० में आई और इसके अनुसार मेटरनी का प्रतिक्रियावाद तथा अनुदारवाद कब्र में दफना दिये गये।

सुधारवादी फ्रांस

१८४८ ई० की सुधारवाद की विजय को देखने के पश्चात् योरप के भिन्न-भिन्न देशों की सुधारवादी लहर का देखना असंगत न होगा।

१८४८ ई० की क्रांतियों में मुख्य भाग फ्रांस ने लिया। उस वर्ष के फर्वरी मास में लुई फिलिप को हटा कर फ्रांस में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। किन्तु वहाँ का सामाजिक संगठन ही ऐसा था जिससे समाजवादी मजदूरों में तथा मध्यम वर्गीय प्रजातन्त्र वादियों में संघर्ष अनिवार्य हो जाता। प्रजातन्त्र वादियों ने पेरिस नगर के मजदूरों को बलपूर्वक कुचल दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रजातंत्र की मृत्यु स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी। दिसम्बर सन् १८४८ के प्रजातन्त्री चुनावों में नैपोलियन बोनापार्ट का भतीजा लुई नेपोलियन बोनापार्ट सभापति चुन लिया गया। १८५२ ई० फ्रांस की परिस्थिति से लाभ उठा कर वह सम्राट बन बैठा।

फिर भी उसका आधिपत्य सर्वसाधारण की इच्छा पर आधारित था। चुनाव प्रणाली को इस ढंग से संगठित किया गया कि प्रजा ने उसके शासन का समर्थन किया। सम्राट बनते ही उसने समाचार पत्रों की स्वाधीनता छीन ली। गृह तथा विदेशी नीति पर उसका पूरा अधिकार था। उसकी नीति का विरोध करने वालों को जेलखाने की हवा खानी पड़ती थी। उसकी विदेशी नीति पहिले तो सफल होती हुई दिखाई पड़ती थी। वह वायना कांग्रेस के निर्णय को रद्द करना चाहता था। किन्तु इसकी पूर्ति के लिए वह आवश्यकतानुसार युद्ध भी करने के लिए तैयार था। हाँ, एक बात में उसने नीति बदल दी थी। नेपोलियन की नीति के प्रतिकूल उसने इङ्गलैंड से मित्रता रक्खी। क्रीमिया के युद्ध में इंगलैंड का साथ देकर उसने रूस को परास्त किया। इटली से युद्ध करके उसने १८६० ई० में नाइस का नगर तथा सवाय का प्रान्त जीत लिये। इस प्रकार दक्षिण पूर्व में फ्रांस को प्राकृतिक सीमा मिल गई।

किन्तु नेपोलियन तृतीय के विरुद्ध योरप में विरोध बढ़ता जा रहा था। रूस क्रीमिया के युद्ध की पराजय से जला भुना बैठा था। आस्ट्रिया इटली के युद्धों के कारण फ्रांस से नाराज था। इटली भी उससे असंतुष्ट था। जर्मन लोग राइन नदी की ओर बढ़ने की फ्रांसीसी नीति के कारण चिंतित थे। यहाँ तक कि इङ्गलैंड भी उसकी स्वेच्छाचारिता से उससे रुष्ट हो गया। इन सब का परिणाम यह हुआ कि जब प्रशा ने फ्रांस पर १८७० में आक्रमण कर दिया तो नेपोलियन तृतीय अकेला था। इस युद्ध में उसकी शर्तिया पराजय हुई। १८७० ई० में फ्रांस में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। यह वहाँ का तीसरा प्रजातन्त्र था।

तृतीय प्रजातन्त्र १८७५ ई० के शासन विधान पर संगठित था। सर्वोच्च सत्ता पार्लिमेन्ट में निहित थी। पार्लिमेन्ट की दो सभायें थीं—सीनेट तथा चेम्बर आफ डिप्टीज। दूसरी सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर था। इंगलैंड के राजा की तरह यहाँ पर भी एक सभापति था जिसके अधिकार सीमित थे। तृतीय प्रजातन्त्र के अन्तर्गत १७८९ की क्रांति का कार्यक्रम पूरा हो गया। जनमत का सिद्धान्त स्वीकार किया गया और सर्वसाधारण को मताधिकार देकर उसे क्रियात्मक रूप दिया गया। राज्य नियमों द्वारा भाव प्रकाशन की पूरी-पूरी स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति को मिली। धर्म को राज्य से अलग कर दिया गया। धार्मिक मामलों में सभी को पूर्ण स्वाधीनता मिल गई। अनिवार्य शिक्षा का राज्य द्वारा प्रबन्ध किया गया।

इटली की एकता तथा स्वाधीनता

इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के अतिरिक्त तीसरे योरपीय प्रदेश इटली ने एकता तथा स्वाधीनता के लिये पूरे पचास वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न किया। १८४९ की क्रांतियों ने जब योरपीय देशों को अपने थपेड़ों से हिला दिया था तब इटली न संगठित था और न स्वाधीन ही। उसका अधिकांश प्रदेश विदेशियों के हाथ में था। आस्ट्रिया, जर्मनी तथा अन्य रियासतों का इटली में हिस्सा था। केवल सारडीनिया की रियासत ही स्वतंत्र थी। दूसरी एक भारी असुविधा यह थी कि इटली की रियासतों के पास लिखित विधान न था। सातों राज्य जिनमें इटली बंटा था निरंकुश शासकों के अधिकार में थे। इन असुविधाओं के प्रति इटली के सभी वर्गों में असंतोष था। विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न करने का कार्य्य वहाँ के कई देशभक्तों ने किया। उनमें से एक थे मैजिनी। उन्होंने देश भक्ति का संदेश इटली वासियों को सुनाया। देशभक्ति सबसे बड़ा धर्म है यह उनका उपदेश था। "देशभक्तों को भोजन मिलता है भूख, सोने को शय्या मिलती है गीली भूमि, तथा अपने कार्य्य का पुरस्कार मिलता है मृत्यु।" उन्होंने 'युवक इटली' नामक एक संघ संगठित किया और इस बात का प्राणपण से उद्योग किया कि इटली विदेशी तथा घरेलू निरंकुशता से सुरक्षित रहे और वहाँ प्रजातंत्र की स्थापना हो। मैजिनी के साहस तथा ईमानदारी से इटली में देशभक्ति की लहर उमड़ पड़ी तथा प्रजातंत्र की स्थापना के लिये युवकों में अदम्य उत्साह उत्पन्न हो गया। दूसरे प्रसिद्ध नेता थे गैरीबाल्डी। यदि मैजिनी की भावना इटली के ऐक्य के लिये उत्तरदायी थी तो गैरीबाल्डी की तलवार ने उस भावना को क्रियात्मक रूप दिया। तीसरे नेता थे जावर्टी। उन्होंने पोप को इस बात के लिये राजी किया कि वे इटली के सुधारवादी आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण करें और इटली के राज्यों का संघ बनायें। फ्रांस तथा इंगलैण्ड की भांति यहाँ भी १८४८ ई० में क्रांतियाँ हुईं। चारों रियासतों के शासकों को विवश हो अपने यहाँ लिखित विधान स्वीकृत करने पड़े। मध्यम तथा उच्च वर्ग को मताधिकार मिला। किन्तु आस्ट्रिया को हटाने का जो इटलीवासियों का प्रयत्न था वह असफल रहा। सुधारवादी विधान भी सारडीनिया रियासत को छोड़ रद्द कर दिये गये।

१८५१ ई० में इटली की एकता तथा स्वाधीनता का नेतृत्व सारडीनियाँ के प्रधान मंत्री काबूर ने ग्रहण किया। वास्तव में इस राजनीतिज्ञ की बुद्धिमता के बिना इटली का संगठित तथा स्वतंत्र होना असम्भव था। काबूर ने इंगलैंड

को आदर्श मान कर राजनीतिक आर्थिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में सुधार किये। उसने आस्ट्रिया के आधिपत्य से इटली को स्वतंत्र करने का बीड़ा उठाया। वह जानता था कि इस प्रयत्न में विदेशियों से सहायता लेनी पड़ेगी। यह सहायता उसे मिल सकती थी फ्रांस से। फ्रांस में उस समय नेपोलियन तृतीय राज्य कर रहा था। उसे पराधीन इटली से सहानुभूति थी। १८५५ ई० में उसकी अधिक सहानुभूति प्राप्त करने के विचार से कावूर ने क्रीमिया के युद्ध में फ्रांस तथा इंगलैंड का रूस के विरुद्ध साथ दिया। पेरिस की संधि के अवसर पर उसने इंगलैण्ड के प्रतिनिधियों के कानों में आस्ट्रिया के इटलीवासियों पर किये गए अत्याचारों को भर दिया। इङ्गलैंड की सहानुभूति उसे मिल गई। फ्रांस से तो वह पहिले ही मित्रता कर चुका था। बस १८५९ ई० में फ्रांस तथा आस्ट्रिया में युद्ध छिड़ गया। सार्डीनिया तथा फ्रांस की संयुक्त फौजों ने आस्ट्रिया की फौजों को परास्त किया। इटली के वीर सैनिक गैरीबाल्डी "लाल कमीज वाले युवक" सिसली में घुस गये। बोर्बन वंश के राजा वहाँ से भाग गए। जब कि फ्रांस की सहायता से कावूर उत्तरी इटली से आस्ट्रियावालों को निकाल रहा था गैरीबाल्डी दक्षिण इटली को शत्रुओं से साफ कर रहा था। केवल थोड़े से भाग पर पोप तथा आस्ट्रिया का आधिपत्य रह गया। अन्यथा समस्त इटली सार्डीनिया के नेतृत्व में स्वतंत्र हो गया था। सार्डीनिया का १८४८ ई० का राज्य विधान समस्त देश में लागू कर दिया गया। फिर भी इटली प्रजातंत्र से कोसों दूर था। अशिक्षा का घोर साम्राज्य वहाँ लगभग पचास वर्षों तक रहा। १९०१ ई० तक वहाँ की जनसंख्या का आधा भाग अनपढ़ था। मजदूरों तथा किसानों को मताधिकार नहीं मिला हुआ था।

इन सब असुविधाओं का यह परिणाम हुआ कि इटली की अधिकांश प्रजा में सरकार के प्रति असंतोष हो गया। किन्तु फिर भी सरकार ने प्रजा को राजनीतिक अधिकार देने में कंजूसी दिखलाई। कहीं १९१२ ई० जाकर इटली में वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। १९५५ ई० में कैथोलिकों को निर्वाचन तथा पद प्राप्ति का अधिकार मिल गया।

जर्मनी में एकता के लिये आंदोलन

इङ्गलैण्ड फ्रांस तथा इटली के सुधारवादी आंदोलनों को देखने के पश्चात् हम जर्मनी की ओर बढ़ेंगे और यह जानने का यत्न करेंगे कि वहाँ कैसे राजनीतिक एकता हुई। जर्मनी की एकता में एक भारी कमी थी। वहाँ एकता

अवश्य हुई किन्तु वहाँ प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली के स्थान पर स्वेच्छाचारी सरकार की स्थापना हुई।

१८४८ ई० में जर्मनी एक निर्बल देश था। वहाँ की सरकार भी पूर्णतया स्वेच्छाचारी थी। दक्षिण तथा पश्चिम की रियासतों में नेपोलियन के आधिपत्य में आने के कारण अवश्य समानता, स्वाधीनता तथा जनमत शासन की भावनायें आ गई थीं। दासता तथा सामन्त प्रथा का नाश हुआ था। प्रशा में भी बहुत से सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार हुये थे। आस्ट्रिया में अवश्य मेटरनी के नेतृत्व में सुधारों का गला घोंटा गया था। उसने राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता दोनों सिद्धान्तों की हत्या करने में कभी संकोच नहीं किया। जब तक वह जीवित रहा इटली तथा जर्मनी की स्वाधीनता का स्वप्न अधूरा ही रहा आया।

अन्य देशों की भांति १८४८ में जर्मनी में भी क्रांति हुई। मेटरनी के प्रतिक्रियावाद का विरोध सभी वर्गों ने किया। विशेषतया शिक्षित समुदाय तथा व्यापारिक मध्यम वर्ग ने तो कोई कसर इस नीति का अंत करने में न रक्खी। परिणाम यह हुआ कि आस्ट्रिया से मेटरनी को भागना पड़ा। प्रशा में सुधारवादी विधान का वचन राजा ने दे दिया। सब जर्मनी रियासतों की ओर से एक राष्ट्रीय सभा फ्रांकफोर्ट स्थान पर बुलाई गई। इसका चुनाव जनमत द्वारा हुआ था। इस सभा ने सर्व प्रथम जर्मनी के नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा की। सभी को धार्मिक स्वतंत्रता मिली। कानून की दृष्टि में सब का स्थान समान रहा। फिर भी भिन्न-भिन्न रियासतों के पारस्परिक द्वेष के कारण यह सभा अपने कार्य्य में असफल रही। जर्मनी की एकता २५ वर्षों के लिये और प्रजातंत्र की स्थापना ७० वर्षों के लिये स्थगित हो गई।

हाँ, एक परिणाम अवश्य इस क्रांति का हुआ। प्रशा के राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ के नेतृत्व में जर्मनी की रियासतों का संगठन न हो सका। आस्ट्रिया ने फिर अपना खोया हुआ प्रभुत्व स्थापित कर लिया। आस्ट्रिया में फिर स्वेच्छाचारिताका बोलबाला था। आस्ट्रिया ने १८४८ के विधान को अस्वीकृत कर एक प्रतिक्रियावादी विधान को स्वीकार किया। फिर भी सामन्तशाही तथा दासता की प्रथा का अंत तो आस्ट्रिया सदैव के लिये ही हो गया। इस क्रांति का दूसरा परिणाम यह निकला कि प्रशा का १८५० में स्वीकृत हुआ विधान १९१८ ई० तक जर्मनी में लागू रहा। इसके अनुसार जर्मनी में दो सभायें रहीं किन्तु मंत्रिमण्डल व्यवस्थापक सभा के प्रति

उत्तरदायी न रहकर राजाके लिये उत्तरदायी था। प्रतिक्रियावाद की इस विजय का एक परिणाम और निकला। जर्मनी में एक ऐसा अनुदारवादी दल हो गया जो प्रजातंत्री-प्रणाली के अभाव में भी जर्मनी की एकता का कट्टर समर्थक हो गया। इसी दल का नेता था प्रशा का मंत्री बिस्मार्क। उसने बलप्रयोग द्वारा प्रशा के नेतृत्व में जर्मनीका एकीकरण किया।

बिस्मार्क का मंत्रित्व योरप के ही नहीं विश्व इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। कारण स्पष्ट है। बिस्मार्क ने ऐसी बहुत सी घटनाओं तथा विचार प्रणालियों का सूत्रपात किया जो विश्व के लिये समस्यायें बन गईं। जर्मनी का एकीकरण कोई अनुचित बात न थी। किन्तु जिस ढंग से वह हुआ जिन प्रवृत्तियों को इस एकीकरण ने जन्म दिया, जिस ढंग से जर्मनी का शस्त्रीकरण हुआ, जिस ढंग से वहाँ सैनिक-वाद का बोलबाला रहा, जिस पूर्णता से वहाँ युद्ध की संस्था का गुणगान किया गया ये सब बातें १९१४ ई० में रंग लाईं और उनसे योरप तथा विश्व की शांति खतरे में पड़ गई। मगर प्रशा के इस राजनीतिज्ञ का ही दोष हो सो बात नहीं है। दोष तो उस परम्परा और व्यवस्था का था जो अठारवीं और उन्नीसवीं शताब्दियाँ भर योरप के राजनीतिज्ञों का दिमाग खराब करती रही थी और वह प्रणाली थी साम्राज्यवाद। उसका आधार था रक्तशोषण और कूटनीति। इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे यहाँ जर्मनी के एकीकरण पर विचार करना आवश्यक है।

बिस्मार्क १८६२ ई० से १८९० तक प्रशा का प्रधान मंत्री रहा। संक्षेप में उसके जर्मन एकीकरण की नीति यह थी। वह एकीकरण हो सकता है प्रशा के नेतृत्व में और प्रशा के सफल नेतृत्व के लिये आवश्यक थी संगठित सेना। संगठित सेना के लिये करों की आवश्यकता थी। पार्लिमेंट ने ऐसे करों की स्वीकृति न दी। बिस्मार्क ने विरोधी सदस्यों को जेलखाने भिजवाया। छापेखाने की स्वाधीनता छिन गई। रक्तपात की नीति का श्रीगणेश हुआ। सैनिक शिक्षा प्रशा में अनिवार्य हुई।

अब बिस्मार्क ने विदेशी नीति की ओर ध्यान दिया। रूस को उसने अपनी ओर मिला लिया। प्रशा के सबसे बड़े शत्रु आस्ट्रिया को १८६६ ई० के युद्ध में घुटने टेक देने पड़े। जर्मनी के एकीकरण के मार्ग में जो सबसे बड़ी बाधा थी वह समाप्त हुई। १८७१ ई० फ्रांस की पराजय से जर्मनी के एकीकरण का कार्य और भी सुगम हो गया। इस नवीन जर्मन साम्राज्य में आस्ट्रिया को छोड़कर सभी जर्मन रियासतें थीं।

इस जर्मन साम्राज्य में सैन्यवाद का बोलबाला था। प्रत्येक युवक को अनिवार्य रूप से फौजी शिक्षा लेनी होती थी। राष्ट्रीयता का नशा प्रत्येक समय जर्मन जाति पर छाया रहता था। इस सैन्यवाद के आतंक से पोल लोग तथा अलसास-लॅारेन के फ्रांसीसी भयभीत रहते थे। से १८७१ से १९१४ तक जर्मनी में सैन्यवाद की प्रबलता थी। और इसी सैन्यवाद ने प्रथम विश्वयुद्ध को जन्म दिया।

सैनिक आतंक का विरोध यथासमय जर्मनी में बना रहता था। बहुत से दल संगठित हुये। एक दल समाजवादियों का था। यह दल १८७५ ई० में समाजवादी प्रजातंत्र दल के नाम से संगठित हुआ। किन्तु बिस्मार्क ने १८७८ई० में इसका गला घोंट दिया। समाजवादी दल फिर भी उन्नति करता रहा। जर्मनी के श्रमिक वर्ग का सहयोग इन्हें मिला। स्वेच्छाचारिता का सामना करने के विचार से मध्यम वर्ग के भी बहुत से लोग इसी दल के पक्ष में अपना मत दिया करते थे। १९१४ ई० तक समाजवादी दल जर्मनी में सबसे संगठित दल था।

पूर्वी योरप में आत्म-निर्णय के लिये आंदोलन

जर्मनी के पश्चात् हम पूर्वी योरप के राज्यों की दशा का वर्णन करेंगे। इनमें अधिकांश देश पराधीन थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी में आत्मनिर्णय तथा राष्ट्रीयता के नाम पर आंदोलन किये। पहिले यूनान के स्वाधीनता आंदोलन का वर्णन हो चुका है। यूनान के पश्चात् तुर्की के अन्य आधीनस्थ देशों ने स्वाधीनता के लिये आंदोलन किये। ये देश थे यूगोस्लाविया, रूमानिया, बलगेरिया तथा अल्बेनिया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ही इन देशों को आत्मनिर्णय का अधिकार मिल गया था।

तुर्की की निर्बलता से लाभ उठाकर सर्व प्रथम १८१७ ई० में विद्रोह का झंडा युगोस्लाविया ने खड़ा किया। रूस के दबाव के कारण तुर्की को १८७८ ई० में युगोस्लेविया की स्वाधीनता स्वीकृत करनी पड़ी। इस नवीन राज्य का नाम सर्बिया था। १८३२ ई०में एक जर्मन युवराज की अध्यक्षता में यूनान को आत्म-निर्णय का अधिकार मिल गया। किन्तु इस शासक को कुछ समय पश्चात् यूनान से हटना पड़ा। यूनान में नियमानुमोदित शासन स्थापित हुआ। फिर भी बहुत से यूनानी राज्य से बाहर तुर्की सुल्तान की प्रजा की तरह रह रहे थे। उनके उद्धार का बीड़ा वेन्जीलो नामक एक राजनीतिज्ञ ने उठाया। कावूर की नाई यह महापुरुष अपने लक्ष्य में सफल हुआ। लगभग २० लाख यूनानी तुर्की

के बन्धन से मुक्त हुये। यूनान तथा सर्बिया की देखा-देखी रूमानियाँ ने भी विद्रोह का झंडा खड़ा किया। अनेक विफलताओं के पश्चात् १८७८ ई० में रूमानियों को पूर्ण स्वाधीनता मिली। इस देश को पूर्वी योरप में शक्तिशाली तथा महान बनाना राजकुमार चार्ल्स का कार्य था। वहाँ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, सामान्त प्रथा का नाश हुआ, नेपोलियन के कानूनी संग्रह राज्य में प्रचलित किये गये। सबसे अंत में बल्गेरिया ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार विद्रोह किया। यह विद्रोह १८७५ ई० में हुआ। सुल्तान ने बल्गेरिया के इस आंदोलन को बलपूर्वक कुचल दिया। रूस ने बल्गेरिया का पक्ष ले तुर्की पर आक्रमण कर दिया। १८७८ ई० में बर्लिन की संधि के अनुसार बल्गेरिया के तीन भाग हो गये। इस प्रकार इस देश में फिर भी आत्मनिर्णय के लिये युद्ध होते रहे। आपसी वैमनस्य तथा संदेह का यह परिणाम हुआ कि सन् १९१२ ई० में बाल्कन प्रायद्वीप में चार स्वतंत्र राष्ट्र बन गए। तुर्की के पास केवल कुस्तुन्तुनियाँ के आस पास का प्रदेश ही रह गया।

इसी समय तुर्कों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। 'तरुण तुर्क' दल का संगठन हुआ। उन्होंने दकियानवीसी सम्राट को पदच्युत कर दिया। किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् इनकी नीति ईसाइयों पर अत्याचार करने तथा स्वाधीनता का गला घोंटने की हो गई। यह आन्दोलन सन् १९१४ ई० तक ठंडा पड़ गया। तुर्की ने जर्मनी की सहायता से अपने पुराने वैभव तथा साम्राज्य को प्राप्त करने की इच्छा से महायुद्ध में जर्मनों का साथ दिया। इसका वर्णन यथास्थान करेंगे।

आस्ट्रिया-हंगरी तथा रूस में स्वेच्छाचारिता

इसी अध्याय में आस्ट्रिया के साम्राज्य से इटली तथा जर्मनी के स्वतंत्र हो जाने का वर्णन हो चुका है। फिर भी आस्ट्रिया के साम्राज्य में जेकोस्लोवेकिया, रूमानियाँ, हंगरी तथा पोलैण्ड का कुछ भाग सम्मिलित था। कहना न होगा कि इन देशों में भी आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को लेकर आंदोलन हुये। हंगरी पहला प्रदेश था १८६७ ई० में आस्ट्रिया के सम्राट ने उसे अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की स्वीकृति देदी। १८६७ का विधान १९१८ ई० तक सफलतापूर्वक चलता रहा।

स्वयं आस्ट्रिया की क्या दशा थी? आस्ट्रिया में जर्मनों की संख्या वैसे तो २५ प्रतिशत थी फिर भी उन्होंने सब अधिकारों को अपने हाथ में ले

रक्खा था। फिर भी बहुत से सामाजिक सुधार हुये, प्रजातंत्री संस्थाओं की संस्थापना हुई और अधीनस्थ देशों को कुछ राजनीतिक अधिकार मिले। १८८० ई० के नियमों के अनुसार कल कारखानों में काम करने वाले बच्चों के घंटे नियत कर दिये गये। व्यापारिक संघों को स्वीकृत कर लिया गया। प्रत्येक प्रान्त में धारा सभायें स्थापित हुईं। देश का शासन सम्राट तथा दो निर्वाचित सभाओं की सहायता से होता था यद्यपि चुनाव का आधार बहुत संकुचित था। । १९०७ ई० में एक कानून के अनुसार अवश्य छोटी सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होने लगा।

आस्ट्रिया का अपने अधीनस्थ देशों से व्यावहार बड़ा असंतोषजनक था। भाषा के प्रश्न पर इतना वादविवाद चलाकि आस्ट्रिया के सम्राट को धारा सभा विसर्जित करनी पड़ी और छः वर्षों तक स्वेच्छा पूर्वक राज्य किया। पोल लोगों के साथ भी यही व्यवहार था। इस प्रकार आस्ट्रिया हंगरी का साम्राज्य ९ भिन्न भिन्न राष्ट्रों का समूह था। दो हंगरी निवासी मगयार तथा आस्ट्रियानिवासी (जर्मन) तो लगभग स्वतंत्र रूप से शासन कर रहे थे। बाकी ७ राष्ट्रों की दशा आधीनस्थ देशों जैसी थीं।

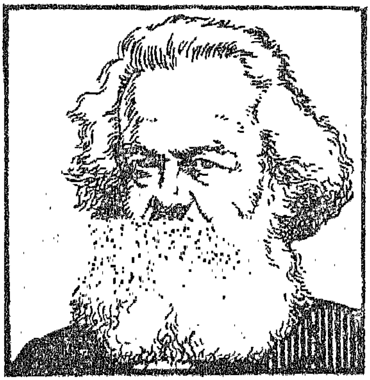
इस प्रकार योरप के भिन्न भिन्न देशों की राजनीतिक दशा को देखने से ज्ञात होता है कि सभी देशों में प्रजातंत्र, सुधारवाद, एकीकरण, राष्ट्रीयता तथा आत्म निर्णय के सिद्धांतों को क्रियात्मक रूप देने के लिये देश व्यापी आंदोलन चल रहे थे। सभी सुधारों के लिये उत्सुक थे। केवल एक ही देश अवनति के गहरे गर्त में पड़ा था। न वहाँ एकता थी और न स्वाधीनता। रूस उन्नसवीं शताब्दि भर चिथड़ों से ढके हुये दानव की तरह था। उसकी निद्रा भंग होने में अभी समय था। उसके इस जागरण का वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

इस अध्याय को समाप्त करने से एक महत्वपूर्ण विषय पर विचार करना आवश्यक होगा। वह है योरप में वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म तथा प्रचार।

समाजवाद

वैज्ञानिक समाजवाद का पिता एक यहूदी विचारक था। कार्ल मार्क्स उसका नाम था। मार्क्स ने सबसे प्रथम समाज वाद का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उसे एक व्यवहारिक रूप देकर वर्तमान मशीन युग की समस्त त्रुटियों से बचने का एक साधन बताया। मार्क्स का जन्म १८१८ ई० में प्रशा में हुआ। उसने बान तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की थी। पेरिस जाने पर उसकी

एन्जिल नामक एक विचारक से मित्रता हो गई। दोनों ने समाजवादी विचार धारा को फैलानेमें पूरा पूरा सहयोग दिया। १८४८ ई० में मार्क्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र (Communist Manifesto) प्रकाशित किया। अपने जीवन के ढलते भाग में जब उसके अनुभव और ज्ञान परिपक्वावस्था में थे मार्क्स ने अपनी पुस्तक पूंजी (Das Capital) लिखी। इस पुस्तक ने समाजवादी विचारधारा को फैलाने में वही काम किया जो कार्य्य रूसो के सामाजिक इकरारनामे (Social Contract) ने फ्रांस में क्रांतिकारी



कार्ल मार्क्स

विचार फैलाने में किया था। दोनों के परिणाम लगभग बीस वर्ष व्यतीत होने पर दृष्टि गोचर हुये। फ्रांस की क्रांति रूसो की पुस्तक लिखे जाने के २७ वर्ष पश्चात् हुई। रूसी की क्रांति 'पूंजी' लिखे जाने के २३ वर्ष पश्चात् हुई। कार्लमार्क्स का समाजवाद है क्या ?

मार्क्स के अनुसार वर्तमान मशीन युग की सबसे बड़ी हानि है सम्पत्ति का पूंजिपतियों के हाथ में एकत्रित होना। पूंजीपति कल कारखानों में रुपया लगाते हैं। किन्तु जो कुछ लाभ उन्हें होता है वह मजदूरों के श्रम के परिणाम स्वरूप। कच्चे माल को मजदूर मूल्यवान् वस्तुओं के रूप में बदलते हैं। ये ही वस्तुयें बाजार में उपभोक्ताओं के हाथ बिकती हैं। पूंजीपति इच्छानुसार मुंहमांगे दाम वसूल करते हैं। किन्तु मजदूरों को अपने श्रम का पुरस्कार बहुत थोड़ा मिलता है। यह 'बचा हुआ लाभ' (Surplur Value) पूंजीपतियों की तिजोरियों में इकट्ठा होता रहता है। मशीन युग का यह सबसे बड़ा अभिशाप है। धन के वर्ग विशेष के हाथ में एकत्रित होने का परिणाम होता है धनिकों का अधिक धनिक होना और निर्धनों का अधिक निर्धन। इस विषमता में समाज में वर्ग युद्ध (Class war) का होना अनिवार्य है। यह वर्गयुद्ध पूंजीवाद का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसका प्रतिकार क्या है ? मार्क्स का विश्वास था कि इस श्रेणी युद्ध में विजय अंत में शोषित वर्ग (Proletariat Class) की

ही रहेगी। मार्क्स का यह सिद्धान्त मजदूरों में एक नवजीवन सञ्चारक था। किसी भी संघर्ष में वैसे तो मजदूरों की कोई हानि हो ही नहीं सकती किन्तु इस दशा में मार्क्स ने उन्हें विश्वास दिया कि उनकी विजय अवश्य होगी। मार्क्स ने त्रसित मजदूरवर्ग को संदेश दिया 'विश्व के मजदूरों एक हो जाओ। इसी उद्देश्य से मार्क्स ने पहिला अंतर्राष्ट्रीय (First International) सन् १८६४ ई० में संगठित किया। यह संघ १८७६ ई० तक रहा। दूसरा संघ सभी समाजवादी दलों का एकत्रित समूह सन् १८८९ में बना। इस काविनाश प्रथम विश्व युद्ध के समय होगया। तीसरा अंतर्राष्ट्रीय संघ १९१९ में रूसी बोल्शेविकों द्वारा संगठित हुआ।

मार्क्सवादी विचार धारा का तीसरा सिद्धान्त है इतिहास की भौतिक व्याख्या मार्क्स के मतानुसार इतिहास की महत्वपूर्ण तथा युग परिवर्त्तक घटनाओं के पीछे आर्थिक कारण होते हैं। विश्व का समस्त इतिहास धनिकों तथा त्रसितों के पारस्परिक संघर्षों से भरा पड़ा है। आर्थिक समस्या के सामने अन्य सभी प्रश्न फीके पड़ जाते हैं। मार्क्स ने इस प्रकार यह सिद्ध किया कि धर्म तथा संस्कृति से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक समस्या है। पादरियों ने अपढ़ जनता को धोखा देने के लिये धर्म का ढोंग रच लिया है। निर्धनों को उनकी अवनत दशा से संतुष्ट रखने के लिये उन्हें स्वर्ग का लालच दिखाया जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे छोटे बच्चों को जलेबियों द्वारा फुसलाया जाता है। शासकों ने दैवी अधिकारों तथा निरंकुशता का ढोंग रच रक्खा है।

मार्क्स का समाजवाद त्रसित मानव जाति को एक आशापूर्ण संदेश है। मार्क्स का समाजवाद मजदूरों में नई स्फूर्ति तथा नवीन उत्साह फूंकने वाला है। कहना न होगा कि मार्क्स के इन सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप योरप में एक नवीन धारा प्रवाहित होगई। भिन्न भिन्न देशों ने अपनी परिस्थिति के अनुसार समाजवादी विचारधारा को ग्रहण किया। इङ्गलैण्ड का मजदूर दल मत में पिछड़ा हुआ था। मजदूर होते हुये भी उसने अनुदारदल से गठबंधन करने भी कोई संकोच न किया। फ्रांस का समाजवाद संघवाद (Syndicalism) के नाम से विख्यात हुआ। जर्मनी का समाजवादी दल समाजवादी प्रजातंत्री दल के नाम से प्रसिद्ध था। किन्तु इन सब से विपरीत रूस का साम्यवाद था जिसने मजदूरों की तानाशाही उसी प्रकार स्थापित की जैसी हिटलर ने नाजी दलकी की थी अथवा मसोलिनी ने फासिस्ट दल की स्थापित की थी।

नवां अध्याय

औपनिवेशिक साम्राज्यवाद

प्राक्कथन

उन्नीसवीं शताब्दि की एक महत्वपूर्ण घटना है योरप का एशिया तथा अफ्रीका की जातियों पर अपना अधिकार स्थापित कर लेना। ब्रिटेन, फ्रांस, बेलजियम, हालैंड, जर्मनी तथा इटली ने इन देशों में अपने साम्राज्य स्थापित किये और उन देशों के कच्चे माल से अपने कल-कारखानों को चलाया। जहाँ जहाँ ये उपनिवेश स्थापित होते थे वहाँ वहाँ पादरियों का समूह पहुँच कर अपने धर्म का प्रचार करता था। उधर व्यापारिक वर्ग अपना व्यापार स्थापित करता चलता था। इस प्रकार व्यापार से आगे और कभी कभी पीछे साम्राज्यवाद का चक्र उपनिवेशों में चलता था। कहना न होगा कि जिस औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात योरप में अठारहवीं शताब्दि में हो चुका था उसी के परिणामस्वरूप औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का उदय तथा विकास भी एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीपों में हुआ। इस प्रकार लगभग १८१५ ई० से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के सौ वर्षों में योरप की प्रमुख जातियाँ अपनी मातृभूमि को छोड़ व्यवसाय तथा उपनिवेशों की खोज में विश्व के सभी भागों में पहुँच गई और वहाँ अपने लिये नये घर बनाये। व्यवसाय तथा व्यापार की उन्नति से कालान्तर में इन देशों में योरपीय जातियों की सत्ता स्थापित हो गई। यद्यपि सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में भी स्पेन, फ्रांस तथा हालैंड के साम्राज्य स्थापित हुए थे किन्तु उन्नीसवीं शताब्दि तक पहुँचते पहुँचते वे पुराने साम्राज्य नष्ट हो चुके थे। उन्नीसवीं शताब्दि की यह विशेषता है कि उसने साम्राज्यवाद के इस नये स्वरूप को जन्म दिया जिसे औपनिवेशिक साम्राज्यवाद कहते हैं। साम्राज्यवाद का यह वर्तमान रूप कुछ न कुछ अंशों में आज भी मौजूद है। इस नवीन प्रकार के साम्राज्यवाद के कई कारण थे। प्रथम कारण था देशभक्ति की भावना। इस भावना से ओतप्रोत हो सभी देशभक्त अपने देश के अधीन विश्व का अधिकाधिक भाग देखना चाहते थे। दूसरा कारण था व्यावसायिक वर्ग की यह अभिलाषा कि वे अपने रुपये को उन व्यवसायों में लगावें जिनसे अधिकाधिक

लाभ की आशा हो। साम्राज्यवाद की स्थापना का सबसे मुख्य कारण था योरप की जातियों की धनाढ्य होने की लालसा। इन दोनों कारणों के साथ एक और कारण जुड़ गया। वह कारण था धार्मिक। अनेक जातियों का यह दावा था कि वे असभ्य जातियों में सभ्यता प्रचार के लिये ही साम्राज्यवाद का सहारा ले रही हैं। इस प्रकार इस दावे का दिखावटी रूप विश्व की असभ्य तथा पिछड़ी हुई जातियों में सभ्यता-प्रचार की भावना बताया जाता था। बेलजियम के राजा ल्यापोल्ड अपना साम्राज्य इसीलिये अफ्रीका में स्थापित करना चाहता था कि वहाँ की असभ्य जातियों की दशा सुधर जाय। इस प्रकार साम्राज्यवाद का यह नया रूप उन्नीसवीं शताब्दि में विश्व के सम्मुख आया और उसने सौ वर्षों में इतना विष विश्व में फैला दिया कि विश्व के लिये साम्राज्यवाद एक समस्या बन गई। इस अध्याय में हम पहिले साम्राज्यवाद का इतिहास देखेंगे और तत्पश्चात् विश्व सभ्यता के लिये इस 'वाद' की देन।

ब्रिटेन का साम्राज्यवाद

पिछले अध्याय[1] में ब्रिटेन की व्यावसायिक क्रान्ति का वर्णन हो चुका है। ब्रिटेन के साम्राज्यवाद को यद्यपि अठारहवीं शताब्दि में बड़ा धक्का लगा था और यह भ्रम होने लगा था कि ब्रिटेन का साम्राज्य बालू की भीत की तरह बैठ जायगा किन्तु शीघ्रही यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। ब्रिटेन का यह साम्राज्य पूर्ववत् उन्नति करता रहा। अमेरिका में खोये हुए साम्राज्य के स्थान पर अब आस्ट्रेलिया का साम्राज्य स्थापित हुआ। इस साम्राज्य का सूत्रपात एक आश्चर्यजनक रूप में हुआ। इङ्गलैंड से निर्वासित कैदियों को इस महाद्वीप में भेजा जाता था। कालान्तर में इस प्रथा का विरोध हुआ। उपनिवेश वासियों ने अपनी दशा सुधारने के विचार से स्कूलों तथा कालिजों की स्थापना की। सड़कें बनीं। आवागमन के साधन बढ़ने से व्यापार तथा उद्योगधन्धों की वृद्धि हुई। कुछ समय पश्चात् न्यूज़ीलैंड के द्वीप पर भी इङ्गलैंड का अधिकार हो गया। कुछ वर्षों तक दोनों देशों का शासन-प्रबन्ध अलग अलग चलता रहा। सन् १९०० ई० में दोनों देशों को मिला कर एक संघीय शासन स्थापित किया गया।

कनाडा का उपनिवेश आस्ट्रेलिया से भिन्न परिस्थितियों में स्थापित हुआ था। यहाँ पर बहुत से फ्रांसीसी तथा अंगरेज़ देश के अलग अलग भागों में आ रहे थे। इन दोनों भागों में बड़ी लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। सन् १८४७ ई०

१ देखिये अध्याय ३ खंड २

में इन झगड़ों से तङ्ग आकर कनाडा को आन्तरिक मामलों में स्वाधीनता दे दी गई। सन् १८६७ ई० में दोनों भागों को मिलाकर संघीय शासन व्यवस्था स्थापित की गई। अपने साम्राज्य की समस्या को सुलझाने का एक सुगम हल निकाल लिया। कालान्तर में इसी हल को अफ्रीका पर भी लागू किया गया। ब्रिटिश साम्राज्य के अफ्रीका में स्थापित होने के इतिहास को हम आगे चलकर अधिक विस्तार पूर्वक देखेंगे। किन्तु इससे पहिले ब्रिटेन के अधीन एक और एशियाई प्रदेश के इतिहास पर दृष्टि डाल लें।

भारतवर्ष में अंगरेज जाति एक व्यापारी के रूप में पहुँची। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक यह जाति व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लगी रही। कालान्तर में देश की राजनीतिक दुर्व्यवस्था से लाभ उठाकर उसने देशी नरेशों के आपसी लड़ाई झगड़ों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये कभी इस पक्ष का और कभी उस पक्ष का साथ दिया। भारतीय जनता का राजनीतिक विवेक तो एकदम नष्ट हो ही चुका था। अब विदेशियों ने देशी सिपाहियों को भर्ती करना और उनकी सहायता से देशी नरेशों को परास्त करना प्रारम्भ कर दिया। भारतवासी ही इस प्रकार भारत को जीतते थे और जीते हुए भाग को अंगरेजों के हवाले कर देते थे। भारत का व्यापार, वैभव, उद्योग-धन्धे आदि पर भी पूरी शक्ति के साथ प्रहार हो रहा था। इस सब का यह परिणाम हुआ कि भारत दिन पर कंगाल होता गया और इङ्गलैंड दिन पर दिन धनाढ्य। सन् १८५७ ई० तक भारत की नैतिक पराजय अपनी चरमावस्था तक पहुँच गई किन्तु उसी वर्ष भारत ने स्वाभिमान के साथ अपना सिर उठाया उसका सिर कुचल दिया गया और १८५८ से लेकर १९४० ई० तक भारत इङ्गलैंड के अधीन बना रहा।

यहाँ संक्षेप में उन राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक है जिनके परिणामस्वरूप भारत में अंगरेजी राज्य स्थापित हुआ। भारत में व्यापार करने के लिये ईस्ट इन्डिया कम्पनी का जन्म १६०० ई० में हुआ। १६०० ई० से लेकर १७५६ का समय भारत में व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करने तथा योरप की अन्य व्यापारिक जातियों को पछाड़ने में लग गया। १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध क्षेत्र में कम्पनी को विजय प्राप्त हुई। कम्पनी की सहायता से मीर जाफर नवाब बना। तत्पश्चात् बंगाल में अराजकता फैली। वारेन हैस्टिंग्ज ने इसे दूर कर सुदृढ़ शासन स्थापित किया। कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ता रहा। १८२३ में मराठों की पराजय के पश्चात् अंगरेजी शक्ति भारत में पूर्णतया स्थापित हो

गई। पंजाब तथा सिन्ध भी कम्पनी के अधीन हुए। १८५७ ई० तक कम्पनी समस्त भारत के ऊपर शासन करने लगी। जो देशी राजा बचे थे वे भी कम्पनी की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर चुके थे। गदर के पश्चात् भारतवर्ष में अंगरेजी भाषा, वेश-भूषा और आचार-विचारों का प्रचार हुआ। किन्तु १८८५ ई० में राष्ट्रीय महासभा ने भारतीय दृष्टिकोण को दृढ़तापूर्वक शासकों के सम्मुख रखा। जय तथा पराजय से टक्कर लेते हुए वह दिन अन्त में आ गया जब भारतवर्ष को स्वाधीनता मिली।

दक्षिण अफ्रीका से अंगरेजी राज्य की स्थापना न्यूजीलैंड तथा आस्ट्रेलिया से विभिन्न रूप में हुई। सबसे पहिले इङ्गलैंड का उत्तमाशा अंतरीप पर अधिकार हुआ। यह अधिकार नैपोलियन युद्धों के पश्चात् सन् १८१५ ई० में हुआ। बहुत से ईसाई धर्म प्रचारक इङ्गलैंड से यहाँ पहुँचे। उत्तमाशा अंतरीप के उत्तरीभाग में हालैंड के निवासी रहते थे। इनको 'बोअर' नाम से पुकारा जाता था। इन बोअरों और अँगरेजों में संघर्ष अनिवार्य्य हो गया। सन् १८३३ ई० में ब्रिटिश साम्राज्य में दासता का अंत हो गया। 'बोअरों' ने इसका विरोध किया क्योंकि उनका मुख्य कार्य कृषि करना था और खेती के लिये उन्हें हबशी गुलामों की आवश्यकता पड़ती रहती थी। बोअरों ने अधिक उत्तर की ओर कूच किया। ये लोग नैटाल में जाकर बसे। इङ्गलैंड ने नैटाल पर भी अधिकार कर लिया। बोअर लोग और आगे बढ़ने लगे। उन्होंने ट्रांसवाल तथा आरेंज फ्री स्टेट नामक दो प्रजातंत्र स्थापित किये। सन् १८५३ ई० में केप उपनिवेश को प्रतिनिधि सत्तात्मक सरकार मिल गई। आरेंज फ्री स्टेट, ट्रांसवाल तथा केप उपनिवेशों को मिलाकर एक संघीय शासन स्थापित करने का यत्न किया गया किन्तु सफलता न मिल सकी।

इसी समय ट्रांसवाल में हीरे की खानों का पता चला। आंतरिक प्रबंध भी बिगड़ने लगा। १८७७ ई० में इंगलैंड को हस्तक्षेप करना पड़ा। ट्रांसवाल पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। इस पर अंगरेजों तथा ट्रांसवाल की जनता में युद्ध हुये। इन युद्धों में डच लोगों ने बड़ी वीरता दिखाई। किन्तु अंत में उनकी पराजय हुई। इङ्गलैंड के प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने ट्रांसवाल को आंतरिक मामलों में स्वाधीनता देकर इस समस्या को निपटाया। ट्रांसवाल को अब दक्षिणी अफ्रीका का जनतंत्र कहा जाने लगा।

इसी समय सैसिल रोड्स नामक एक अंगरेज साम्राज्यवादी ने काहिरा से केप अंतरीप को मिलाने की योजना बनाई। यह बड़ा धनाढ्य व्यक्ति था।

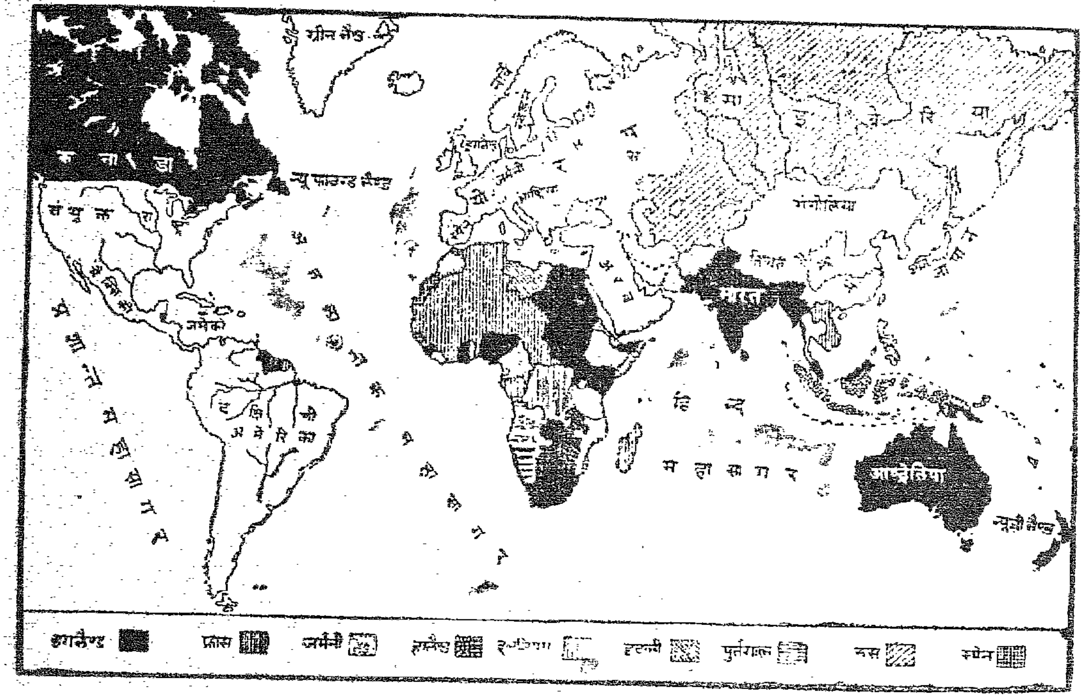
उसकी महत्वाकांक्षा का कोई ठिकाना न था। उसने केप अंतरीप के बोअरों से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया। उसने ट्रांसवाल के उत्तरी प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के विचार से एक व्यापारिक कम्पनी बनाई। उसकी इस योजना का वर्णन अधिक विस्तार के साथ हम आगे करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि रोडस के प्रयत्नों से रोडेशिया नामक एक उपनिवेश स्थापित हुआ जिसने ट्रांसवाल के बोअरों को चारों ओर से घेर लिया। १८८६ ई० में सोने की खानों का पता ट्रांसवाल में चला। लाखों मजदूर इन खानों में काम करने के लिये ट्रांसवाल आने लगे। ट्रांसवाल की सरकार ने उनके साथ अच्छा व्यवहार न किया। पाल क्रूगर ने जो उस समय ट्रांसवाल के अध्यक्ष थे विदेशियों के विरुद्ध अपना व्यवहार और भी कठोर कर दिया। इन विदेशियों ने विद्रोह किया। इसी समय सैसिल रोडस केप अंतरीप का प्रधान मंत्री था। उसने इन विदेशियों को सहायता का वचन दिया। यह उसकी भूल थी। डा० जेमसन के नेतृत्व में एक अंगरेज टुकड़ी ट्रांसवाल पहुँच गई। इस आक्रमण से आरेंज फ्री स्टेट तथा केप अंतरीप बोअरों ने अपना संगठन कर इङ्गलैंड के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कीं। यह युद्ध १८९९ ई० में छिड़ा। बोअरों का यह युद्ध १९०२ ई० तक चला। आरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रांसवाल ने अंगरेजों की प्रभुता को मान लिया। सन् १९०९ ई० में दक्षिण अफ्रीका के चारों उपनिवेशों (नेटाल, आरेंज फ्री स्टेट, ट्रांसवाल तथा केप अंतरीप) को मिलाकर दक्षिणी अफ्रीका की संयुक्त सरकार स्थापित हुई।

इस नई सरकार के सम्मुख कई समस्यायें थीं। पहिली समस्या इङ्गलैंड के साथ राजनीतिक सम्बन्ध थे। यद्यपि प्रारम्भ में बोअरों तथा अंगरेजों में कटुता थी किन्तु समय व्यतीत होने पर यह कटुता कम होने लगी। जनरल बोथा अफ्रीका यूनियन के सबसे पहिले राष्ट्रपति थे। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर अफ्रीका ने इङ्गलैंड का साथ दिया। अफ्रीका स्थित जर्मन उपनिवेशों पर अधिकार कर लिया। अफ्रीकन सेनायें फ्रांस के युद्ध क्षेत्रों में जाकर लड़ीं। इस प्रकार अंगरेजों तथा बोअरों के आपसी झगड़ों का सुगम हल निकल आया। दूसरी मुख्य समस्या थी हबशियों का अफ्रीका के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में स्थान। इनकी संख्या काफी है मगर ये लोग राजनीतिक अधिकारों से वंचित हैं। तीसरी मुख्य समस्या है अफ्रीका में भारतवासियों की स्थिति। भारत से बहुत से व्यापारी और मजदूर अफ्रीका जाकर बस गये थे। अपने परिश्रम तथा मितव्ययिता से उन्होंने काफी रुपया कमाया किन्तु अफ्रीका की

योरपीय जनता ने रंग द्वेष फैला कर इन लोगों का जीवन अफ्रीका में भार स्वरूप बना दिया। यह समस्या इतनी जटिल हो गई है कि इसे राष्ट्रसमूह (Commonwealth) की सरकार सुगमता पूर्वक सुलझाने में असमर्थ है। यह समस्या अब अंतर्राष्ट्रीय समस्या बन गई है। अफ्रीका की सरकार की चौथी कठिनाई थी उनकी अवनत आर्थिक दशा। उसके उद्योग धन्धों तथा व्यवसाय की वृद्धि का अभी पर्याप्त क्षेत्र है किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के सामने कोई सुगम हल निकलना कठिन है।

ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत एक और देश का वर्णन करना आवश्यक है। वह देश आयरलैण्ड है। आयरलैण्ड को अपनी स्वाधीनता के लिये कई शताब्दियों से युद्ध करना पड़ा है। वैसे तो आयरलैण्ड पर अंगरेजी शासन का इतिहास ट्यूडर काल के प्रारम्भ से प्रारम्भ होता है तथापि सन् १८०० ई० में दोनों देशों (इङ्गलैण्ड तथा आयरलैण्ड) की पार्लिमेन्टों को एक कर आयरलैण्ड की स्वतंत्र पार्लिमेन्ट छीन ली गई। दोनों देशों में भयकर संघर्ष हुआ। आयरलैंड की समस्या धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक थी। आयरलैंड की अधिकांश जनता कैथोलिक थी जब कि वहाँ का राज धर्म प्रोटेस्टैन्ट था। इस के लिये उन्हें कर भी देना पड़ता था। जमीन का लगान भी उन्हें बहुत देना पड़ता था। इन सब से आयरलैंड की प्रजा की दशा इतनी बिगड़ गई कि किसानों के पास आलू के छिलके के अतिरिक्त और कुछ न रह पाता था। इन सब असुविधाओं के विरुद्ध आयरलैंड वालों ने विद्रोह किया किन्तु उनके सब प्रयत्न असफल रहे। अंत में उन्होंने इगलैंड की कठिनाइयों से लाभ उठाया। अंगरेजी पार्लिमेन्ट में जाकर आयरलैंड के सदस्यों ने अड़ंगे की नीति का सहारा लिया। कहना न होगा कि दोनों ही देश इस दशा से तंग आ गये। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आयरलैंड में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित हुआ। किन्तु इसका भी विरोध वहाँ के एक उग्रदल ने किया। अंत में आयरलैंड के दो टुकड़े कर दिये गये। उत्तरी भाग (अलस्टर) तो इङ्गलैंड के ही आधीन रहा। दक्षिणी भाग में आयरिश स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई।

ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का इतिहास देखने के पश्चात् इस साम्राज्य के के संगठन पर विचार करना आवश्यक है। इस साम्राज्य के अंतर्गत पहिले देश वे हैं जिन्हें औपनिवेशक स्वराज्य मिला हुआ है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, लंका, भारत तथा पाकिस्तान को ऐसा ही स्वराज्य मिला हुआ है। ये सब देश ब्रिटिश राष्ट्र समूह के सदस्य हैं और इनका ब्रिटेन से इतना



उन्नसवीं शताब्दी के मुख्य साम्राज्य

प्रबन्ध है कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल में एक मंत्री रहता है जिसका काम भिन्न-भिन्न उपनिवेशों की विदेशी आर्थिक तथा राजनीतिक नीति पर दृष्टि रखना और उनमें पारस्परिक सहयोग के लिये क्षेत्र तैयार करना है। आज के उपनिवेश आंतरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्र होने के साथ-साथ अब इस बात के लिये भी बाध्य नहीं हैं कि उनका राजा भी इंगलैंड का राजा ही हो। भारत ने ब्रिटिश राष्ट्र समूह के अंतर्गत अपने आप को एक जनतंत्र घोषित किया है। इस प्रकार आज का ब्रिटिश राष्ट्र समूह एक सहकारी संस्था की तरह है जिसके सदस्य केवल सहकारिता के भावों से ही इस संघ में सम्मिलित हैं। इन उपनिवेशों के अतिरिक्त ब्रिटेन के साम्राज्य में वे देश हैं जिन्हें संरक्षित राज्य कहा जाता है। ऐसे राज्यों में मिस्र तथा फिलस्तीन मुख्य थे। (दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् फिलस्तीन को पूर्ण स्वाधीनता मिल गई है—मिस्र को इससे पहिले ही मिल चुकी थी।) इस प्रकार इन संरक्षित राज्यों को स्वाधीन राष्ट्रों में परिणत कर दिया गया है। तीसरे प्रकार के देश हैं वे जो आश्रित राज्य कहलाते हैं। इन आश्रित राज्यों की संख्या आजकल पहिले की अपेक्षा और भी कम रह गई है। पहिले के आश्रित राज्य जैसे ब्रह्मा, लंका तथा हिंदुस्तान आज या तो पूर्णतया स्वाधीन हैं (जैसे ब्रह्मा) या ब्रिटिश राष्ट्र समूह के सदस्य हैं। केवल मलाया प्रायद्वीप ही इङ्गलैंड के अधीन एक आश्रित देश है।

फ्रांसीसी साम्राज्य

ब्रिटेन के पश्चात् दूसरा साम्राज्य फ्रांस का है। फ्रांस का साम्राज्य अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया में है। फ्रांसीसी साम्राज्य की नींव वाटरलू के युद्ध के पश्चात् के साठ वर्षों में पड़ी। भूमध्यसागर तथा अल्तास पर्वत के बीच के प्रदेश पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया। सन् १८३० ई० में फ्रांस ने एक सेना भेज कर अल्जीरिया प्रदेश पर अधिकार कर लिया। १८५८ ई० में इस प्रदेश को पूर्णतया फ्रांसीसी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस देश में फ्रांस ने अपने नागरिक भेजने आरम्भ कर दिये। यहाँ उन्हें मकान बनाने के लिये जमीन मिली।

अल्जीरिया पर अधिकार करने के पश्चात् फ्रांस ने सेनेगाल बंदरगाह से लेकर अफ्रीका के पश्चिमी समुद्री तट का देश अपने अधिकार में कर लिया। मोहम्मद अली के प्रोत्साहित करने पर फ्रांसवासियों ने मिस्र में [illegible] का भी प्रबन्ध किया। सन् १८६९ ई० फ्रांसीसी इञ्जीनियर दि लेसेप के प्रयत्न से स्वेज नहर बनी। १८६२ ई० में कोचीन चीन के उपनिवेश की नींव पड़ी। इधर

प्रशान्त महासागर, हिन्द चीन तथा अफ्रीका में फ्रांसीसी साम्राज्य उन्नति करता रहा। हिन्द चीन में फ्रांस के राज्य नियम जारी किये गये। इस उपनिवेश से फ्रांस ने व्यापार द्वारा भरपूर लाभ उठाने की कोशिश की। फ्रांस के अधिकांश उपनिवेशों का जलवायु बहुत गर्म था। इसलिये गोरे लोगों का वहाँ रहना असम्भव था। हाँ, व्यापार तथा कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधायें पर्याप्त रूप से यहाँ मौजूद थीं। यह अवस्था १८७८ ई० से पूर्व थी।

इस वर्ष योरप की अन्य दो जातियों ने साम्राज्य स्थापना की होड़ में भाग लिया। एक जाति जर्मन थी और दूसरी इटालियन। सन् १८८१ ई० में फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया। इङ्गलैंड ने इसी वर्ष मिस्र पर अपने अधिकार की नींव डाली। यहीं से अफ्रीका के बँटवारे का प्रश्न उपस्थित हुआ। सन् १८८१ से १९१४ तक के वर्षों में समस्त अफ्रीका पर योरप की जातियों का अधिकार हो गया। इससे पहिले ही सारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा पर इङ्गलैण्ड का अधिकार हो गया था। केवल एशिया में चीन शेष रह गया था जिसकी निर्बलता से योरप की जातियां लाभ उठा सकती थीं या अफ्रीका का महाद्वीप शेष था या प्रशान्त महासागर का पश्चिमी प्रदेश बचा हुआ था। बस इसी बचे हुये प्रदेश पर अधिकार करने लिए योरप के राष्ट्रों में संघर्ष हुआ। इस होड़ में भाग लेने वाले मुख्य देश थे फ्रांस, जर्मनी इटली तथा जापान (जागरण के पश्चात् इस देश ने भी चीन तथा अन्य प्रशान्त सागरीय प्रदेश पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया था।)। अफ्रीका के इस बटवारे का वर्णन तो हम आगे चल कर करेंगे यहाँ केवल फ्रांस के अन्य उपनिवेशों का वर्णन किया जायेगा।

जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस की पराजय १८७१ ई० में हो जाने के परिणामस्वरूप फ्रांस को अलसास तथा लारेन के दो प्रान्त जर्मनी को देने पड़े थे। फ्रांस ने इस हानि को अफ्रीका तथा चीन में अपना साम्राज्य बढ़ा कर पूरा किया। पहिले ही उसने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया था। १९१२ ई० में मारक्को पर अधिकार हुआ। साथ ही सहारा रेगिस्तान, सेनीगाल तथा कांगो का बेसिन भी उसने अपने अधिकार में कर लिया। १८९६ ई० मेडागास्कर के द्वीप पर भी फ्रांस का अधिकार हो गया।

रूस का साम्राज्य

अठारहवीं शताब्दि में यदि योरप में प्रजातंत्र तथा स्वाधीनता का राज्य था तो रूस में स्वेच्छाचारिता का गढ़ था। रूस ने राजनीतिक सुधारों से प्रजा को

ध्यान हटाने के लिये साम्राज्य की ओर ध्यान दिया। अपने पूर्वी प्रदेश पोलैण्ड तथा उत्तरी प्रदेश फिनलैण्ड पर रूस ने अपना अधिकार पहिले से ही कर रक्खा था। दक्षिण में काकेशिया प्रान्त तुर्किस्तान तथा साखालिन के आधे द्वीप पर भी रूस ने अपना अधिकार कर लिया था। रूस की इस अभिवृद्धि का परिणाम यह हुआ कि रूस की सीमायें अफगानिस्तान, फारस, चीन तथा जापान की सीमाओं से जा मिलीं। इस प्रकार रूस की अभिवृद्धि ने उन्नीसवीं शताब्दि की कई मुख्य प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक प्रवृत्ति थी पूर्वी-समस्या। दूसरी थी प्रशान्त महासागर की समस्या। रूस इस प्रकार एशिया तथा योरप की ही एक प्रबल शक्ति न रह कर विश्व की महान शक्तियों में से एक बन गया। साइबेरिया में भी रूसवासियों ने अपनी बस्तियां बना ली थीं। १८९१ और १९०५ के बीच ट्रांससाइबेरियन रेल बनाई गई जिसने साइबेरिया की उन्नति में पर्याप्त सहयोग दिया। अपनी स्थिति को साइबेरिया में दृढ़ बनाने के विचार से रूस ने मन्चूरिया तथा कोरिया पर अधिकार करना चाहा। किन्तु जापान के हस्तक्षेप से उसकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। उधर दक्षिण की ओर रूस की अभिवृद्धि में इङ्गलैण्ड बाधक हो रहा था। यदि अठारहवीं शताब्दि भर इङ्गलैंड के राजनीतिज्ञों को फ्रांस से भय लगा रहा था तो उन्नसवीं शताब्दि भर रूसी बुखार उन्हें चढ़ा रहा। रूस भी फारस की ओर बढ़ना चाहता था। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया। फारस पर रूसी अधिकार होने का अर्थ था रूस का भारतीय सीमा के निकट आना और भारत की सुरक्षा का खतरे में पड़ जाना। अंत में १९०७ ई० में रूस तथा इंङ्गलैंड में फारस के प्रश्न को लेकर समझौता हो गया। फारस के तीन भाग हो गये उत्तरी फारस रूस के आधिपत्य में रहा, दक्षिणी इङ्गलैंड के और मध्यवर्त्ती भाग स्वतंत्र। दोनों के लिये यह समझौता लाभदायक था मगर फारस के लिये यह स्पष्ट मृत्यु थी। इन अंग्रेजों के विरुद्ध फारस में एक दल बना जिसने फारस की स्वाधीनता का आंदोलन प्रारम्भ किया। इसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि रूस की शक्ति अधिक बढ़ने से उसे विश्व की सभी प्रमुख शक्तियों के विरोध का शिकार बनना पड़ा। विशेषतया जापान, इङ्गलैंड तथा टर्की के साम्राज्य से उसका संघर्ष अनिवार्य हो गया। इसी समय जर्मनी ने भी एशिया की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। कुस्तुन्तुनिया को बगदाद और फारस की खाड़ी को मिलाने के विचार से एक रेलवे लाइन निकालने की योजना जर्मन कम्पनी ने बनाई। रूस नहीं चाहता था कि टर्की पर जर्मनी का प्रभुत्व हो। इङ्गलैंड डरता था कि फारस की खाड़ी तक रेलवे लाइन खुलने से जर्मनी का प्रभुत्व भारतीय सीमा के

बिल्कुल समीप पहुँच जायेगा और फारस में स्थित मिट्टी के तेल के कुओं पर भी इङ्गलैंड का प्रभुत्व न रह जायगा। बगदाद रेलवे की योजना प्रथम विश्व युद्ध के बहुत से कारणों में से एक थी।

बेलजियम का साम्राज्य

योरप के शक्तिशाली देशों के अतिरिक्त छोटे छोटे देशों ने भी अफ्रीका में अपना साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। सबसे पहिले धर्म प्रचारकों ने इस देश के अंदर जाकर यहाँ की उपजों तथा खनिज पदार्थों का पता लगाया था। यहाँ की जनता के अज्ञान तथा अवनति से भी पूरा पूरा लाभ उठाया गया।

धर्म प्रचारकों में लिविंगस्टन, स्टैन्ले तथा बरटन मुख्य थे जिन्होंने नील, कांगो, नाइजर तथा जेम्बेसी के उद्गम स्थानों का पता लगाया था। किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में सबसे पहिला कदम उठाने वाला बेलजियम का राजा ल्यापोल्ड द्वितीय था। उसने कांगो बेसिन को ज्ञात करने और उससे लाभ उठाने के लिये एक संघ बनाया। इस संघ के प्रयत्न से कांगो फ्रीस्टेट की अमेरिका में स्थापना हो गई। १९०८ तक कांगो बेसिन बेलजियम के राजा की निजी जागीर के रूप में रहा आया। उस वर्ष बेलजियम की सरकार ने इसका प्रबन्ध स्वयं अपने हाथ में ले लिया।

हालैण्ड

एक छोटा सा देश होते हुये भी हालैंड ने सत्तरहवीं शताब्दि में अपना व्यापार तथा उपनिवेश लगभग प्रत्येक महाद्वीप में स्थापित किये थे। अमरीका में उनका उपनिवेश न्यू एमस्टरडम था। इस पर इङ्गलैण्ड ने अपना अधिकार कर लिया। दक्षिण अफ्रीका का केप उपनिवेश भी इन्हीं के हाथ में था। इसे भी इङ्गलैंड ने १८१५ ई० में छीन लिया। लंका तथा गिनी का समुद्र तट भी उनके हाथ से निकल गया। १८२५ ई० तक उनके पास केवल मलाया प्रायद्वीप के मसाले के टापू ही रह गये। इसके अतिरिक्त और भी छोटे छोटे द्वीप उनके अधिकार में हैं। उनका हिन्देशिया का उपनिवेश अभी हाल ही में स्वाधीन हुआ है।

जर्मनी

संगठित जर्मनी का इतिहास बिस्मार्क के समय से प्रारम्भ होता है। उपनिवेशों के सम्बन्ध में बिस्मार्क की नीति उदासीनता की थी। फिर जर्मनी की एक व्यापारिक कम्पनी ने १८८३ ई० में दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका पर अपना

अधिकार जमाया। १८८४ ई० में इङ्गलैंड की सरकार की अनुमति से जर्मनी ने अपना अधिकार इस प्रदेश पर कर लिया। टोगोलैंड के शासक से भी जर्मनी ने संधि की जिसके अनुसार यह शासक जर्मनी के अधीन हो गया। १८८५ ई० में जेन्जीबार भी जर्मनी के अधिकार में आ गया। उन्नसवीं शताब्दि के अंत तक जर्मनी ने अफ्रीका के चार प्रदेशों दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, टोगोलैंड, कैमरून तथा पूर्वी अफ्रीका पर अपना अधिकार कर लिया। यह साम्राज्य लगभग दस लाख वर्ग मील पर विस्तृत था।

पुर्तगाल तथा स्पेन

इन दोनों देशों के साम्राज्यों का इतिहास सोलहवीं तथा सत्तरहवीं शताब्दियों की मुख्य घटनायें हैं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दि तक पहुँचते-पहुँचते ये साम्राज्य नष्ट होने लगे। पुर्तगाल का साम्राज्य एशिया तथा अफ्रिका के अतिरिक्त दक्षिण अमेरिका में बहुत विस्तृत था। समस्त ब्रेजील प्रदेश पर उसका अधिकार था। सन् १८२२ ई० में बोलीवार के नेतृत्व में इस प्रदेश ने अपनी स्वाधीनता प्राप्त की। ब्रेजिल में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। पुर्तगाल के पास केवल भारत की कुछ बस्तियाँ (गोआ, डामन ड्यू) तथा अफ्रीका में मोजाम्बीक तथा अंगोलिया ही उसके पास रह गये। पुर्तगाल की तरह स्पेन का साम्राज्य भी अठारहवीं शताब्दि के अन्त में बहुत विस्तृत था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसका समस्त साम्राज्य नष्ट हो गया। लूसीयाना का प्रदेश नेपोलियन को मिल गया। फ्लोरिडा के द्वीप को उसने संयुक्त राज्य को बेच दिया। नेपोलियन के युद्धों के समय स्पेन की कमजोरी से लाभ उठाकर उसके दक्षिण अमेरिका के उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये।

इटली

अफ्रिका के बँटवारे की होड़ में इटली भला क्यों पीछे रहता ? १८८२ ई० में उसने एरीट्रिया नामक उपनिवेश की स्थापना की। सोमालीलैंड पर भी उसका अधिकार हुआ। १९११ ई० में टर्की की पराजय के पश्चात् ट्रिपोली तथा सिरेनीका पर भी इटली का अधिकार हो गया। उसका अबीसीनिया पर अधिकार करने का प्रयत्न विफल रहा। सन् १९३५ ई० में इटली ने अबीसीनिया देश को जीत लिया। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में इटली की पराजय के बाद अबीसिनिया स्वतन्त्र हो गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका

पहले इस बात का वर्णन हो चुका है कि लैटिन अमेरिका में स्पेन तथा

पुर्तगाल के औपनिवेशिक साम्राज्य थे। इन उपनिवेशों की भी वही दशा होती जो योरोपीय देशों के आधीन उपनिवेशों की हुई थी। किन्तु सौभाग्य से संयुक्त राज्य अमेरिका ने इनकी सहायता की। सन् १८२१ ई० में इन उपनिवेशों में स्वाधीनता के लिए आंदोलन छिड़े। योरप के पवित्र संघ ने बलपूर्वक इस आन्दोलन को कुचलना चाहा किन्तु अमेरिका के तत्कालीन सभापति मनरो ने दृढ़तापूर्वक एक सिद्धान्त रक्खा जिसके अनुसार उन्होंने यह बताया कि वे योरप की जातियों का हस्तक्षेप अमेरिका के मामलों में नहीं सहन कर सकते। इस सिद्धान्त का प्रभाव यह पड़ा कि योरप के राष्ट्रों ने बलपूर्वक इन आन्दोलनों को कुचलने का विचार छोड़ दिया और ये लोग स्वाधीन हो गये। इन प्रजातन्त्रों में ब्रेजील, चिली तथा आरजेन्टाइन मुख्य थे। स्वाधीन होने के पश्चात् इन प्रजातन्त्रों ने सभ्यता तथा धनधान्य की वृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया।

किन्तु लैटिन अमेरिका को साम्राज्यवाद से सुरक्षित रखने पर भी स्वयं संयुक्त राष्ट्र साम्राज्यवादी हो गया। मैक्सिको से सन् १८४६ ई० संयुक्त राष्ट्र का युद्ध हुआ। मेक्सिको परास्त हुआ। संयुक्त राष्ट्र ने कैलीफोरनिया, उटाह आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। रूस से १८६७ ई० संयुक्त राष्ट्र ने अलास्का प्रदेश खरीद लिया। सन् १८९८ ई० में स्पेन से फिलीपाइन द्वीप समूह, क्यूबा तथा पोर्टोरिको छीन लिये। हवाई द्वीप तथा पनामा नहर के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। निकारगुआ, हैटी, सन्तो, डामिन्गो पर अमेरिका का आधिपत्य हो गया। इस प्रकार कैरीबियन के आस पास का प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकार में आ गया।

अफ्रीका के बटवारे का इतिहास और आलोचना

साम्राज्यवाद का इतिहास उस समय तक अधूरा है जब तक हम अफ्रीका के बटवारे के इतिहास को अधिक विस्तारपूर्वक न देख लें और उसकी न्यायोचित आलोचना न कर लें। अफ्रीका के बटवारे का इतिहास विश्व सभ्यता के ऊपर कलंक है। साम्राज्यवाद का नग्न रूप हमें अफ्रीका तथा चीन के बटवारों से ही दिखलाई पड़ सकता है। चीन के बटवारे को तो हम अधिक विस्तार के साथ आगे देखेंगे यहाँ अफ्रीका के बटवारे का सविस्तार वर्णन आवश्यक है। अफ्रीका के प्रश्न ने योरोपीय देशों में इतना मनमुटाव पैदा कर दिया कि उसका निबटारा युद्ध द्वारा ही हो सका। प्रथम विश्व इसी मनमुटाव के कारण था। दूसरा कारण पूर्वी

समस्या थी। यहाँ राजनीतिक पेचबाजियों का संक्षिप्त वर्णन है जिन्होंने इस प्रश्न को इतना गम्भीर कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि अफ्रीका का बटवारा १८८० ई० से प्रारम्भ होता है। उस वर्ष बेलजियम, फ्रांस, इटली तथा इंगलैंड ने अफ्रिका के क्रमशः कांगो, ट्युनिस, लाल सागरीय प्रदेश तथा मिस्र प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। इन लोगों के अफ्रीका पर अधिकार करने का उपाय विचित्र था। थोड़ी सी, शराब, कुछ बन्दूकों और कुछ दिखावटी कपड़े देकर हब्शी सरदारों को उन सन्धि पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया जाता था जिन्हें वे कभी पढ़ नहीं सकते थे। कुछ राजनीतिज्ञ तो इतना भी नहीं करते थे। अफ्रीका के मानचित्र में भिन्न-भिन्न रंगों से अलग-अलग जातियों के राज्यों की सीमायें खींच दी जाती थीं।

१८८३ ई० में दक्षिण अफ्रीका में सेसिल रोडस नामक एक अंगरेज पहुँचा। उसकी केप उपनिवेश से लेकर काहिरा तक रेलवे लाइन स्थापित करने की बात का पहले ही वर्णन हो चुका है। इस योजना में तीन बाधायें थीं। पहले बाधा पुर्तगाल की ओर से थी। पुर्तगाल के अधीन केप उपनिवेश के उत्तर का प्रदेश था। सेसिल ने रोडेशिया नामक उपनिवेश स्थापित कर इस कठिनाई पर विजय पाई। दूसरी बाधा जर्मनी की ओर से थी। जर्मनी के पास पूर्वी अफ्रीका का प्रदेश था। जर्मनी के लोग अपने राज्य की सीमा कांगोबेसिन तथा हिंद महासागर तक बढ़ाना चाहते थे। वैसा करने से रोडस की योजना विफल बन रही थी। आखिर इङ्गलैंड ने बेलजियम के राजा से कांगोबेसिन के प्रदेश का कुछ भाग खरीदना चाहा जिससे वह रेलवे लाइन निकल सके किन्तु जर्मनी के विरोध के कारण वह योजना भी पूरी न हो सकी। जर्मनी का विरोध प्रथम विश्वयुद्ध तक बना रहा। तीसरा विरोध फ्रांस का था फ्रांस की मनोकामना पूर्वी अफ्रीका से लेकर पश्चिमी अफ्रीका तक रेलवे लाइन निकालने की थी। सूडान पर तो उसने अधिकार कर भी लिया था। केवल अबीसीनिया को नाजी करना बाकी था। इस प्रकार यदि इङ्गलैंड की मनोकामना उत्तर से दक्षिण तक के प्रदेश के हथिया लेने की थी तो फ्रांस की पूर्व से लेकर पश्चिमी अफ्रीका में अपना साम्राज्य स्थापित करने की। दोनों की आँखें सूडान प्रदेश पर लगी हुई थीं। यही दोनों के पारस्परिक झगड़े का कारण बना। सूडान पहले मिस्र के अधीन था किन्तु वहाँ की प्रजा के विद्रोह के कारण अब स्वतंत्र बन गया था। इङ्गलैण्ड ने क्योंकि मिस्र पर अधिकार कर लिया था इसलिये इङ्गलैण्ड सूडान को

मिस्र के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत मानता था। फ्रांस ने ब्रिटेन के इस दावे की पर्वाह न की। १८९८ ई० में फशोदा नामक स्थान पर फ्रांसीसी सेना ने अपना अधिकार कर लिया। इङ्गलैण्ड ने तुरन्त अपनी सेना भेजी। यह ज्ञात होता था कि दोनों में इस प्रश्न को लेकर युद्ध हो जायेगा किन्तु फ्रांस ने अपनी सेनायें हटा लीं। उसका पूर्वी पश्चिमी साम्राज्य स्थापित करने का मनोरथ पूरा न हो सका। इङ्गलैंड की इस योजना में चौथी कठिनाई बोअरों की ओर से थी। उन्होंने भी इस अवसर पर अस्त्र उठा कर इङ्गलैंड का सामना किया। इङ्गलैंड ने उन्हें परास्त किया। अंत में दोनों में समझौता हुआ और केप अंतरीप से लेकर काहिरा तक की रेलवे लाइन खुलवाने की योजना १९१५ में पूरी हुई।

ऊपर इङ्गलैंड तथा फ्रांस के पारस्परिक संघर्ष का वर्णन हो चुका है। सन् १९०४ ई० में दोनों जातियों में समझौता हो गया। इङ्गलैंड को फ्रांस की ओर से यह आश्वासन मिला कि वह मिस्र पर अपना अधिकार दृढ़ करे; उधर इङ्गलैंड ने फ्रांस को वचन दिया कि वह मोरक्को पर अपना अधिकार कर ले। इङ्गलैंड की सहायता के भरोसे पर फ्रांस ने मरक्को के मामले में हस्तक्षेप प्रारंभ किया। किन्तु जर्मनी ने दृढ़तापूर्वक मरक्को का पक्ष लिया। परिणाम यह हुआ कि आलजीसिरास की कान्फ्रेंस में मरक्को की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई। फिर सन् १९११ ई० में फ्रांस ने मरक्को की स्वाधीनता पर आक्रमण किया। अब की बार उसे सफलता मिली किन्तु जर्मनी के विरोध को समाप्त करने के लिये उसे फ्रांसीसी कांगो का उपनिवेश जर्मनी को देना पड़ा। इसी वर्ष (१९११ ई०) में इटली ने लिबिया नामक उपनिवेश को हथिया लिया। अफ्रीका के बटवारे का प्रश्न इस प्रकार निबट गया। सारे अफ्रीका महाद्वीप पर विदेशियों का अधिकार था। केवल अबीसीनिया तथा लिबिया के छोटे प्रदेश उनके चंगुल से बचे हुये थे।

पूर्वी समस्या

उस्मानी तुर्कों का इतिहास बताते हुए यह वर्णन किया गया था कि उन्होंने १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनियाँ पर अधिकार कर पूर्वी योरप तथा पश्चिमी एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उनका यह साम्राज्य अठारहवीं शताब्दि तक उन्नत रहा किन्तु तत्पश्चात् वह पतनोन्मुख होने लगा। इस साम्राज्य के योरपीय भाग में अधिकांश जनता ईसाई थी। इनपर मुसलमानों के जब कभी

धार्मिक अत्याचार होते थे तो योरपीय देशों की ईसाई जनता को उनसे सहानुभूति होना स्वाभाविक था। दूसरे योरपीय देशों की नांई इन देशों में स्वभाग्य निर्णय के सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ। इन देशों में एक प्रश्न जातीयता का भी था। अधिकांश देशोंमें स्लव जाति के लोग रहते थे। अपनी ही जाति का होने के कारण रूस की सहानुभूति इन लोगों के स्वाधीनता आंदोलन के लिये पूरी-पूरी थी। रूस तुर्की की बिगड़ी हुई दशा से लाभ उठाकर काले सागर के प्रदेश पर अपना अधिकार करना चाहता था। इसके विपरीत इङ्गलैंड का यह रुख था कि रूस की शक्ति काले सागर में अधिक बढ़ने से उसकी पूर्वी शक्ति आवश्यकता से अधिक बढ़ेगी और इस प्रकार उसके एशियाई साम्राज्य (भारत) के लिये खतरा पैदा हो जायेगा। एक और अन्तर इङ्गलैंड तथा रूस के दृष्टिकोण में था। रूस समझता था कि तुर्की मरणासन्न है। उसका अन्त अवश्यम्भावी है। इसीलिये उसके साम्राज्य के टुकड़ों को रूस तथा इङ्गलैंड को बाँट लेना चाहिये। इसके विपरीत इङ्गलैंड समझता था कि तुर्की की दशा इतनी बिगड़ी नहीं है। चाहे जैसे हो तुर्की को कायम रखा जायेगा। तुर्की के प्रश्नको लेकर योरपीय देशों में जो तनातनी रही उसे पूर्वी समस्या के नामसे पुकारा जाता है।

स्वभाग्य-निर्णय के प्रश्न को लेकर सबसे पहले यूगोस्लव जाति के लोगों ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। सन् १८१७ ई० में उन्होंने सर्बिया नाम से अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। फिर भी उसकी स्वतंत्रता आंशिक थी। १८७८ ई० में रूस की सहायता से सर्बिया पूर्ण रूप से स्वाधीन हो गया। सन् १९१२ ई० में सर्बिया के साथ यूनान, मान्टनीग्रो, तथा बल्गेरिया के प्रदेश भी शामिल हो गये। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के अवसरपर कोई स्लव तुर्की के साम्राज्य की प्रजा न था। सर्बिया पूरी योरप में एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया था। फिर भी स्लव जाति के बहुत से लोग आस्ट्रिया-हंगरी की प्रजा बने रहे। यही एक स्थायी झगड़े का कारण था। इसीसे प्रथम विश्व युद्ध का आरम्भ हुआ था।

दूसरी बाल्कन जाति जिसने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया यूनानियों की थी। फ्रांस की क्रान्ति के परिणाम स्वरूप तथा यूनान में राष्ट्रीयता की लहर के उठने से यूनानियोंने स्वभाग्य निर्णय के लिये १८२१ ई० में युद्ध छेड़ दिया। फ्रांस, इङ्गलैंड तथा रूस की सहायता से यूनान को स्वाधीनता मिल गई और वहाँ पर नियमानुमोदित राज्यप्रणाली की स्थापना हुई। फिर भी

तुर्की के साम्राज्य में बहुत से यूनानी शेष थे जिन्हें स्वाधीनता प्राप्त नहीं हुई थी। वेनजिलोस नामक एक राजनीतिज्ञ ने यूनानी जाति को एकत्रित करने का बीड़ा उठाया। १९१३ ई० में उसकी बुद्धिमत्ता से बीस लाख यूनानियों को तुर्की के चंगुल से छुड़ा लिया गया।

तीसरी जाति रूमानियावासियों की थी। उन्नसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में उनकी जाति ३ राष्ट्रों के आधीन थी। मोल्डेविया तथा वेलेशिया के प्रदेश तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत थे। २ ट्रांससिल्वेनिया का प्रदेश आस्ट्रिया के आधीन था ३. बसेरेबिया रूस के अधीन था। पहिले मोल्डेविया तथा वेलेशिया ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। दोनों देशों ने एकत्रित हो तुर्की का आधिपत्य हटाया। १८७८ ई० में रूमानिया के नाम से इन दोनों रियासतों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया। आत्मनिर्णय का अधिकार इस प्रकार इन्हें मिल गया।

अब केवल बलगेरिया शेष था। पहिले ये लोग यूनानी चर्च के मानने वाले थे। इनकी भाषा भी स्लव भाषा से मिलती-जुलती थी। उन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का संकल्प १८७५ ई० में किया। तुर्की ने बड़ी निर्दयता से इस आन्दोलन को कुचल डाला। रूस ने बलगेरिया का पक्ष लेकर तुर्की को दबाया और १८७७ में उसे बलगेरिया को स्वाधीनता देने के लिये विवश किया। किन्तु इङ्गलैंड के हस्तक्षेप के कारण पूरे बलगेरिया को स्वराज्य न मिल सका। उसके तीन भाग कर दिये गए। एक भाग तो स्वतंत्र हो गया दूसरा भाग पूरी तरह तुर्की के अधीन रहा तीसरा भाग एक ईसाई शासक को सौंप दिया गया जो तुर्की के अधीन था। पहिले और तीसरे भाग ने १९०८ तक अपनी पूर्ण स्वाधीन सरकार स्थापित कर ली। इस तीसरे भाग को स्वाधीन कराने के उद्देश्य से बलगेरिया ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह किया किन्तु अधिक सफलता न मिली।

इस प्रकार सन् १९१४ ई० तक तुर्की के सम्राज्य से निकल कर चार स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हुई। तुर्की के पास अब केवल कुस्तुन्तुनियाँ और उसके आस-पास का प्रदेश रह गया था। तुर्की के अफ्रीका स्थित देश भी उसके हाथ से निकल चुके थे। ट्यूनिस फ्रांस के हाथ में, ट्रिपोली इटली के हाथ में और मिस्र इङ्गलैंड के हाथ में। उसके एशियाई प्रदेश में भी अब उपद्रव होने आरम्भ हो गये थे।

अपनी खोई हुई शक्ति और साम्राज्य को फिर से प्राप्त करने के लिये तुर्कों ने जर्मनी का सहारा टटोला। जर्मनी फौजी अफसरों ने तुर्की सेना का संगठन

किया। शासन प्रबन्ध को भी संगठित किया। प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर तुर्की जर्मनी की सहायता से अपने साम्राज्य को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था।

साम्राज्यवाद की विश्वसभ्यता के लिये देन

साम्राज्यवाद का इतिहास देखने के पश्चात् इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि साम्राज्यवाद की विश्वसभ्यता के लिये क्या देन है। ऊपर बताया जा चुका है कि साम्राज्यवाद के मुख्य आधार हैं प्रतिद्वन्द्विता तथा रक्त-शोषण। साम्राज्यवाद की स्थापना आर्थिक कारणों से होती है। आधीन जातियों का रक्त-शोषण ही इसकी विशेषता है। राजनीतिक प्रभुत्व भी इसी ध्येय से होता है। पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाना या उनमें ज्ञान का प्रचार करना तो शासकों के दिमाग की उपज है। यहाँ हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि शासित प्रजा की आर्थिक तथा नैतिक उन्नति में साम्राज्यवाद किसी भी प्रकार से सहायक नहीं होता। शासकों का उद्देश्य अपने अधीनस्थ प्रदेश से अपना आर्थिक हित सीधा करना है। अधीनस्थ देशों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य की दशा सुधारने का संकल्प कोरी कल्पना है। अफ्रीका में अधिकांश काली जातियों के पास न तो अपनी जमीन है और न अपना कोई और उद्योगधन्धा। जो कुछ रुपया उन देशों की प्रजा से कर स्वरूप लिया जाता है उसका अधिकांश भाग या तो सेना के ऊपर खर्च किया जाता है अथवा उन उद्योगधन्धों के ऊपर जिनसे साम्राज्यवादी देश की अपनी जाति का लाभ हो। ज्ञान तथा शिक्षा प्रचार के स्थान पर उन्हें घोर दारिद्र्य तथा स्वेच्छाचारिता ही मिलती है।

आर्थिक प्रश्नों से मिला हुआ प्रश्न राजनीतिक है। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश अपरिमित काल के लिये सारी सत्ता अपने ही हाथ में रखना चाहता है। शासित जाति की जब स्वराज्य की मांग दृढ़ होती है तो शासक इस प्रकार के बहाने टटोलते हैं कि अभी ये लोग राजनीतिक अधिकारों के उपभोग के लिये अयोग्य हैं, अथवा उनमें से एक वर्ग को इसलिये तैयार किया जाता है कि वह शासकों का पक्ष समर्थन करता रहे। इतने पर भी यदि असन्तोष बढ़ता रहता है तो उसका मुकाबिला बलपूर्वक किया जाता है। साम्राज्यवाद के अन्तर्गत लगभग सभी देश और सभी जातियाँ स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो जाती हैं। फ्रांस अपने एशियाई उपनिवेशों का गला घोंटने में संकोच नहीं करता। अमेरिका फिलिपाइनवासियों का रक्त चूसने में कोई कसर नहीं करता, इङ्गलैण्ड जालियानवाला बाग तथा शोलापुर के काण्डों से असहाय जनता पर गोली

प्रहार कर सकता है, जापान, मन्चूरिया, कोरिया तथा चीन को इस नशे में उन्मत्त हो रौंद सकता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद का नशा जिस किसी भी देश या जाति को होता है वह बिना आग बरसाये नहीं रह सकता।

साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप विश्व में रङ्ग तथा जाति-गत-द्वेष बढ़ता ही जाता है। शासित और शासकों के बीच एक गहरी खाई बन जाती है। शासित उस जाति से कैसे मित्रता कर सकते हैं जो उनके ऊपर हमेशा अपना रौब कसती रहती है? फिर साम्राज्यवाद सदा ही सैनिक शक्ति का ही सहारा लेता है। ऐसी दशा में देश में किस प्रकार स्वावलम्बन तथा स्वाभिमान के भाव पैदा किये जा सकते हैं?

साम्राज्यवाद संभवतः शासित वर्ग को लाभ पहुँचाता हो। इस सम्बन्ध में भी राजनीति के विचारकों का मत है कि अधिकांश लाभ तो शासक जाति के एक वर्गविशेष को ही होता है। जनसंख्या का बहुत सा भाग इस लूट से वञ्चित रहता है। इस प्रकार रुपया लगानेवाला व्यापारी वर्ग ही साम्राज्यवाद से लाभ उठाता है। मजदूरी करनेवालों तथा सर्वसाधारण को इस लाभ में से कुछ नहीं मिलता।

इतना ही नहीं, साम्राज्यवाद तो भिन्न-भिन्न जातियों तथा देशों में पारस्परिक ईर्ष्या तथा घृणा के भाव फैलाता है। १८९९-१९०२ के बोअर युद्धों का कारण साम्राज्यवाद था, रूस तथा जापान के १९०४ के युद्ध का कारण भी साम्राज्यवाद था। विश्व के सबसे बड़े विस्फोटों (१९१४ का विश्वयुद्ध तथा १९३९ का विश्वयुद्ध) का कारण भी साम्राज्यवाद ही था। जब तक कि संसार में पारस्परिक घृणा, द्वेष तथा वैमनस्य है तब तक विश्व की शान्ति के लिये स्थायी खतरा मौजूद है। साम्राज्यवाद ने विश्व बन्धुत्व की भावनाओं को बढ़ाने तथा विश्व शान्ति की स्थापना में कोई सहयोग नहीं दिया है।

दसवाँ अध्याय

सुदूरपूर्व की समस्या

प्राक्कथन

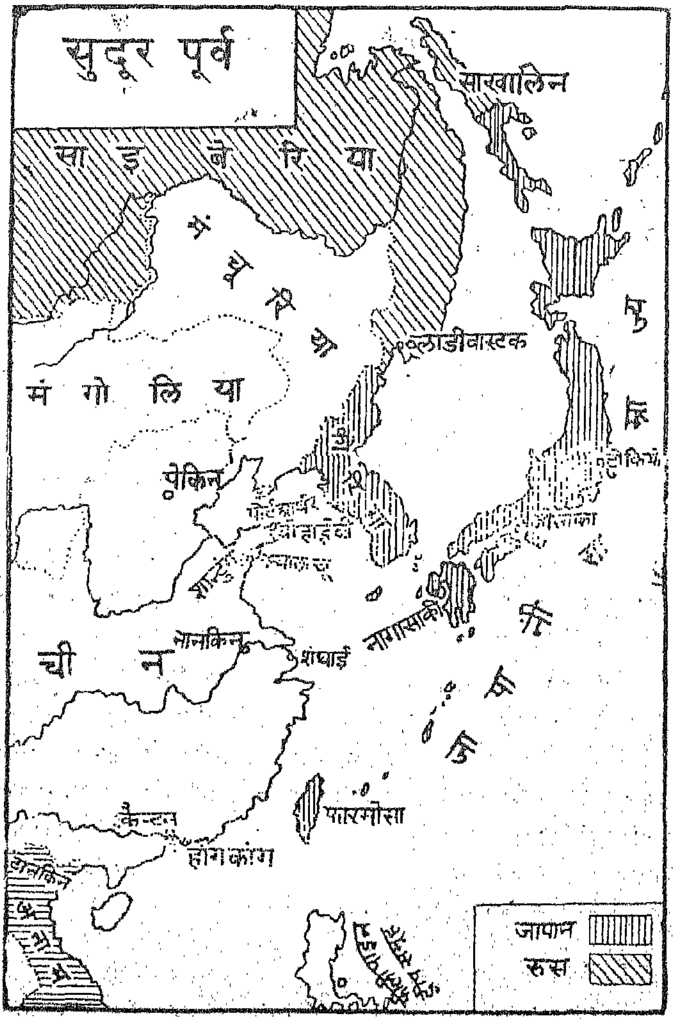
पिछले अध्यायों* में हम एशिया के दो देशों (चीन तथा जापान) की जागृतियों का वर्णन कर चुके हैं। हमने यह देख लिया था कि चीन का यह जागरण विदेशियों के अत्याचारों तथा अन्धाधुन्धियों के परिणामस्वरूप था। जापान के ऊपर तो यह जागरण जैसे बलपूर्वक लादा ही गया था। यद्यपि जापान की अपेक्षा चीन का जागरण पहले हुआ था फिर भी जापान ने उन्नति की प्रतियोगिता में योरप को कहीं पीछे छोड़ दिया। स्वयं अपने पड़ोसी चीन को भी जापान ने परेशान करना प्रारम्भ कर दिया किन्तु चीन सदैव के लिये अपनी अवनत अवस्था में पड़ा हुआ नहीं रह सकता था। बूढ़े चीन में भी जवानी आई। वहाँ के सम्राट क्वांग सू ने चीन को आधुनिक देश बनाने का प्रयास किया। किन्तु उसे सफलता न मिली। फिर भी चीन में विदेशियों के विरोध के लिये एक दल बना जिसने विदेशियों को बाहर निकालना चाहा। १९०० ई० में बाक्सर युद्ध हुए। विदेशियों के दूतावास पर आक्रमण हुए किन्तु चीन की पराजय हुई। भारी हरजाना देकर उसने अपना पीछा छुड़ाया। सन् १९०५ ई० के रूस-जापान युद्ध से सचेत होकर चीन ने अपनी आन्तरिक व्यवस्था को ठीक करने का बीड़ा उठाया। इस प्रकार १९०५ के पश्चात् से चीन पर भी आधुनिकता का नशा छा गया। सैनिक संगठन नये ढंग से हुआ। आन्तरिक संगठन की ओर भी ध्यान दिया गया। जापान की तरह चीन को भी उग्रवादी राष्ट्रीयता ने जकड़ लिया। आगे के पृष्ठों में चीन की इस उग्र राष्ट्रीयता का वर्णन है।

तरुण चीन

आधुनिक चीन का प्रारम्भ १९११ की क्रांति के पश्चात् होता है। उस समय चीनवासियों की यह अभिलाषा हुई कि एक स्वेच्छाचारी शासक के स्थान पर जनतंत्र की स्थापना होनी चाहिये। १९११ ई० में उन्होंने डा० सन यात सेन की

---

* देखिये खण्ड २ अध्याय ६ और ७।


सुदूर पूर्व
साइबेरिया
सारवालिन
मंचूरिया
व्लाडीवास्टक
मंगोलिया
पेकिंग
नागासाकी
शंघाई
नानकिंग
चीन
जापान
फारमोसा
कैन्टन
हांगकांग
जापान
रूस

अध्यक्षता में चीन में जनतंत्र की स्थापना की। नानकिंग उसकी राजधानी थी। १९११ से १९१६ तक य्वान शीह काई नामक एक फौजी अधिनायक ने जनतंत्र का गला घोंटना चाहा किंतु उसकी १९१६ ई० में मृत्यु हो गई। चीन में जनतंत्र पूर्ववत् स्थापित रहा। इस जनतंत्र की कठिनाइयों का कोई अंत न था। गृहयुद्धों का चीन में बोलबाला था, विदेशी शक्तियां अलग चीन के आंतरिक शासन में विघ्न उत्पन्न कर रही थीं, जनता निरक्षर तथा शताब्दियों की स्वेच्छाचारिता की शिकार रह चुकी थी, सरकारी कर्मचारियों में रिश्वत का बाजार गर्म था। फिर भी चीन ने आश्चर्यजनक उन्नति की। चीन के विद्यार्थी विदेशी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर घर लौट रहे थे। चीन का व्यापार भी उन्नति कर रहा था। चीन में १८९५ से औद्योगिक क्रांति प्रारम्भ हो चुकी थी। उसके पास कोयले तथा लोहे की पर्याप्त खानें थीं। चीनवासियों में धैर्य्य तथा परिश्रम करने की क्षमता थी। इन सब बातों से चीन के लिये यह सम्भव था कि वह औद्योगिक उन्नति में भारी सहयोग दे, विश्व के बड़े औद्योगिक देशों में से एक बन जाय। किन्तु फिर भी चीन के सामने दो बड़ी बाधायें थीं। कालान्तर में ये दोनों बाधायें इतनी शक्तिशाली हो गई कि उन्होंने चीन को फिर से अवनति के गड्ढे में डाल दिया। एक बाधा थी चीनी नेताओं की आपसी फूट और दूसरी थी विदेशियों की स्वार्थपरता। पहिले हम मंचूरिया पर जापान के अधिकार करने का उल्लेख कर चुके हैं। अब रूस ने अपनी पराजय के पश्चात् निर्बल चीन पर हाथ साफ करना चाहा। मंगोलिया पर रूसी अधिकार हो गया। इङ्गलैण्ड ने तिब्बत पर अपना झंडा फहराया। जापान की इच्छा भी प्रत्येक समय यही रहती थी कि चीन के उद्योग धन्धों तथा व्यापार से पूरा पूरा लाभ उठाया जाय। चीन का राष्ट्रीय दल इस हस्तक्षेप का बड़ा विरोधी था। इन दोनों विरोधी शक्तियों में संघर्ष होना अनिवार्य था।

जापान तथा चीन का संघर्ष

१९१५ ई० में जापान ने चीन के सामने अपनी नई राजनीतिक तथा आर्थिक मांगें रक्खीं। प्रथम विश्वयुद्ध एक वर्ष पहले छिड़ ही चुका था। जापान ने फ्रांस तथा ब्रिटेन से गुप्त रूप से एक संधि की जिसके अनुसार जर्मनी द्वारा अधिकृत चीनी प्रदेश (शान्टुंग) पर जापान ने अपना अधिकार कर लिया। प्रथम विश्वयुद्ध में चीन ने भी मित्र राष्ट्रों का पक्ष लिया था और उसे आशा थी कि मित्र राष्ट्रों की विजय होने पर उसका शोषण बंद

हो जायेगा। किन्तु वर्साई की संधि ने उसकी सब आशाएँ पर पानी फेर दिया। यहाँ तक कि शान्टुंग का प्रदेश भी जापान के ही हाथ में रहा आया।

चीनियों के धैर्य्य का बांध टूट गया। विद्यार्थियों, अध्यापकों, व्यापारियों तथा अन्य वर्गों ने जापान के विरुद्ध अपना विरोध प्रदर्शित किया। जापानी माल का बहिष्कार हुआ। सन् १९२१ ई० में विवश हो इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये वाशिंगटन की कान्फ्रेन्स बुलाई गई। उसने शान्टुंग में जापानियों के विशेषाधिकारों का अंत कर दिया। फ्रांस ने भी दक्षिणी चीन से अपना आधिपत्य हटा लिया। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, फ्रांस, जापान तथा इङ्गलैंड ने भविष्य में चीन पर आक्रमण न करने का आश्वासन दिया। चीन में 'मुक्त-द्वार' की नीति का समर्थन किया गया।

संघर्ष का परिणाम—राष्ट्रीयता

अपनी पराजय से खीझकर चीन ने अपने आंतरिक संगठन की ओर ध्यान दिया। कुओमिण्टांग नामक एक उग्र राष्ट्रीयदल ने चीनी जनता पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। यह दल एक विशाल संस्था है। चीन की राष्ट्रीय सरकार की नियुक्ति और उसके ऊपर नियंत्रण इसके खास उद्देश्य हैं। सन यात सेन इस दल के नेता थे। उन्होंने इस दल के तीन उद्देश्य बताये १. चीन में प्रजा की सरकार की स्थापना। २. चीन में प्रजा द्वारा संचालित सरकार की स्थापना। और ३. प्रजा के हित के लिये सरकार की स्थापना। अपने जीवन-काल में डा० सन यात सेन ने चीन में इन तीनों सिद्धान्तों पर कार्य्य करने की चेष्टा की किन्तु १९२५ ई० में उनकी मृत्यु हो जाने से ये सिद्धान्त अपूर्ण ही रह गये। अब चीन का नेतृत्व च्यांग-काई-शेक को मिला। च्यांग-काई-शेक ने साम्यवादी रूस के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर चीन में राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने के कार्य्यक्रम को अपनाया। नानकिंग में उनके प्रयत्न से एक राष्ट्रीय सरकार अप्रैल सन् १९२८ में स्थापित होगई। दो मास पश्चात् पेकिंग पर राष्ट्रवादियों ने अधिकार कर लिया और उत्तरी सरकार का अंत कर दिया। चीन में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई। १९२८ तक इस सरकार को सभी विदेशी सरकार ने स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रवादी सरकार की आपत्तियों का आरपार न था। देश में अशांति थी। यद्यपि च्यांग-काई-शेक ने जर्मनी तथा अमेरिका से विशेषज्ञ बुलाकर इस अवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया तथापि युद्ध में निरंतर लगे रहने के कारण उन्हें असफलता मिली। अकालों की भरमार से आर्थिक दशा बिगड़ती गई। चीन

में साम्यवादियों का प्रभुत्व बढ़ने लगा—यांगसी नदी के दक्षिण में उन्होंने कुछ चीनी प्रदेश में अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया। ठीक इसी समय फौजी नेताओं ने चीन के प्रान्तों पर अपना स्वतंत्र आधिपत्य स्थापित करने के विचार से विद्रोह कर दिये।

साम्यवादी रूस से चीन के सम्बन्ध बिगड़ते गये। बालशेविक प्रचार उत्तर चीन में बढ़ता रहा था। इस प्रांत के शासक ने इसे रोकने के विचार से रूसियों को अपने प्रान्त से बाहर निकालने का विचार किया। चीनी पूर्वी रेलवे पर अब तक रूस का अधिकार था। अब चीनवासियों ने उस पर अपना अधिकार करना चाहा। झगड़ा ज्यादा बढ़ा। रूसी कार्य्यालयों पर आक्रमण हुए। रूसियों ने चीनी सौदागरों की पकड़-धकड़ प्रारम्भ की। कुछ स्थानों पर युद्ध भी हुए जिनमें रूसियों की विजय हुई। सन् १९२९ ई० में अमेरिका तथा अन्य राष्ट्रों के प्रयत्न से दोनों देशों में संधि हुई। यह संधि दिसम्बर १९२९ ई० में हुई थी। इसके थोड़े ही समय बाद सितम्बर सन् १९३१ ई० में चीन-जापान-युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का सविस्तार वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ हम चीन की शिक्षा-प्रणाली का वर्णन करेंगे जिसने राष्ट्रीयता की उन्नति में इतना सहयोग दिया।

सन् १९१९—१९३१ तक का काल चीनी इतिहास में पारस्परिक संघर्षों का काल है। किन्तु फिर भी इस काल में दो प्रमुख घटनायें चीन के इतिहास में हुईं। एक घटना थी राष्ट्रीयता की भावना का सुदृढ़ होना और दूसरी थी शिक्षा। चीन में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार एक वर्ग विशेष तक ही सीमित था। सन् १९१९ के पश्चात् साक्षरता प्रचार का प्रयत्न किया गया। शिक्षा प्रचार में सबसे बड़ी कठिनाई चीनी लिपि की कठिनता थी। डा० हुशिह ने एक नवीन प्रणाली का साहित्य में प्रचार किया। इसी प्रणाली द्वारा उन्होंने कविता, निबन्ध, इतिहास आदि पर ग्रन्थ लिखे। प्रारम्भिक शिक्षा के लिये भी इसी लिपि तथा प्रणाली को स्वीकार किया गया। सब सरकारी पत्रों में भी इसी लिपि का प्रयोग होने लगा। अमेरिका से शिक्षा प्राप्त एक दूसरे सज्जन जेम्स येन ने सर्व साधारण को शिक्षित बनाने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। चीनी भाषा के प्रारम्भिक ज्ञान के लिये ऐसी पुस्तकें तैयार की गईं जिनसे एक घंटा प्रतिदिन परिश्रम करने से चार मास में पढ़ना आ जाता था। चीन ने इसी समय विदेशी भाषाओं की ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद प्रारम्भ किया। किन्तु धन की कमी से चीन में शिक्षा का प्रचार संतोषजनक ढंग से न हो सका।

फिर भी चीन में शिक्षा का प्रचार हुआ। इसके परिणाम स्वरूप चीन में विद्यार्थी समाज में जागृति उत्पन्न हुई। परम्परागत दासता तथा विदेशियों की प्रभुता के विरोध का बीड़ा विद्यार्थियों ने उठाया। सन् १९१९ ई० की वर्साई संधि की सबसे कड़ी आलोचना विद्यार्थी वर्ग ने ही की थी। कुछ समय पश्चात् राष्ट्रवादी सरकार ने विद्यार्थियों का ठीक ढंग से मार्ग-प्रदर्शन किया।

यहाँ चीन के राजनीतिक संगठन पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। सन् १९३१ के नियम के अनुसार पांच मुख्य विभागों की स्थापना हुई १. कार्य्यकारिणी २. व्यवस्थापक ३. न्याय सम्बन्धी ४. परीक्षा विभाग (उच्च स्थानों की नियुक्ति के लिये नियम बनाना तथा परीक्षायें लेना) ५. नियंत्रण रखने वाला विभाग। प्रत्येक विभाग में एक सभापति, एक उपसभापति तथा कुछ मंत्री होते हैं। प्रान्तीय सरकारों को अपने आंतरिक मामलों में अधिकार मिले हुये हैं। चीन के प्रजातंत्र के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा पांचों विभागाध्यक्षों की नियुक्ति कुओमिटांग दल के सदस्यों में से ही होती है। सारे शासन-प्रबंध में इसी दल का बोलबाला है।

जापान की उन्नति

सातवें अध्याय में हमने जापान के जागरण और उसकी आश्चर्यजनक उन्नति का वर्णन किया था। यह भी उल्लेख किया गया था कि जापान में उग्र राष्ट्रीयता का बोलबाला था। उस राष्ट्रीयता के परिणामस्वरूप जापान में सैन्यवाद तथा साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। दोनों विचारधाराओं ने जापान के पड़ोसी चीन के सामने नई समस्याएँ उत्पन्न कर दीं। उसकी शांति खतरे में पड़ गई। अपने आंतरिक संगठन को ठीक कर जापान ने पहिले तो निर्बल चीन पर आक्रमण किये और उससे कोरिया प्रदेश छीन लिया। इसी समय प्रशान्त महासागर पर अधिकार करने के लिये रूस भी व्यग्र था। रूस तथा जापान का संघर्ष अनिवार्य्य हो गया। दोनों में १९०४-५ ई० में युद्ध हुआ। विशाल रूसी साम्राज्य के ऊपर जापान की विजय हुई। यह उसके भावी कार्य्यक्रम का द्योतक था। जापान की इतनी अधिक उन्नति हुई कि उससे सभी योरपीय जातियां घबराने लगीं। इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध का आरम्भ हुआ। जापान ने इससे लाभ उठा कर शांटुंग पर अधिकार कर लिया। वाशिंगटन कान्फ्रेन्स के पश्चात् जापान ने अपना ध्यान आंतरिक सुव्यवस्था को संगठित करने की ओर दिया। देश में बड़े कारखाने खोले गये। कपड़ा बनाने की मिलें खुलीं, बिजली के सहयोग से लोहे तथा इस्पात की चीजें बनाने के कारखाने

भी खुलने लगे। इस औद्योगिक विकास का नेतृत्व वहाँ का व्यापारी वर्ग कर रहा था। इसी समय सरकार के संगठन की ओर भी ध्यान दिया गया। जुरी प्रथा प्रारम्भ हुई। चुनाव के लिये सम्पत्ति की योग्यता हटा दी गई। मताधिकार सभी बालिगों को मिल गया। सन् १९२९ ई० में वस्तुओं का मूल्य गिर जाने से जापान में बेरोजगारी का सवाल पैदा हो गया। उग्र राष्ट्रीयदल ने इसके लिये जापानी सरकार की शांतिप्रिय नीति को दोषी ठहराया। यह बात सुझाई गई कि जापान के समीप मंचूरिया का उपजाऊ प्रदेश है। क्यों न जापान उसके ऊपर आक्रमण कर अपनी सब समस्याओं का हल निकाल ले? मंचूरिया में लोहे तथा कोयले की खानों की प्रचुरता थी। यहाँ अधिकार होने से जापान का लाभ ही लाभ था। कच्चे सामान भी यहाँ प्रचुरता थी। जापान का तैयार किया हुआ माल यहाँ आसानी से बिक सकता था। इस स्थान पर अधिकार होने से जापान सारे चीन पर अधिकार कर सकता था। चीन इस समय आंतरिक कठिनाइयों में पूरी तरह जकड़ा हुआ था। जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता तथा अंतर्राष्ट्रीय समझौतों को ठुकरा दिया।

जापान में सैन्यवाद

इस सैन्यवाद ने अब अपना रंग दिखलाया। पहिले सैनिक वर्ग ने अपने यहाँ की सरकार को बलपूर्वक बदल दिया। अनेक राजनीतिक हत्याओं तथा रक्तपात के पश्चात् जापान में सैनिकवाद का बोलबाला हो गया। इससे पहिले ही जापान ने मंचूरिया पर १९३१ में आक्रमण कर दिया था। मंचूरिया को उसी प्रकार रौंद डाला गया जिस प्रकार सन् १९१४ ई० बेलजियम को जर्मनी ने रौंद डाला था। चीनियों ने इसका उत्तर जापानी माल का बहिष्कार कर दिया। जापान ने इस पर शंघाई पर गोले बरसाये। चांग-काई-शेक की सेनाएँ वीरता के साथ इस आपत्ति का सामना कर रही थीं किन्तु विवश थीं। आखिर चीन को जापानी माल का बहिष्कार बंद करना पड़ा। तब कहीं शांति मिली। मगर मंचूरिया पर तो जापानी अधिकार हो ही चुका था। उसका नाम भी मंचुको रख दिया गया।

अब सैन्यवाद की जापान में प्रबलता होने से चीन की शांति के लिये और भी खतरा पैदा हो गया। पहिले तो उसने मंचूरिया के प्रश्न को राष्ट्रसंघ में भेजा। यद्यपि राष्ट्रसंघ जापान को दोषी जानता था किन्तु वह कर ही क्या सकता था? जापान की यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पराजय हो रही थी किन्तु उत्तरी चीन में उसके सैन्यवाद ने चीन का नाक में दम कर दिया। १९३५ ई०

में जापान ने चीन के दो उत्तरी नगरों पीपिंग तथा टिन्टसिन पर अधिकार कर लिया। च्यांग-काई-शेक ने यह आवश्यक समझा कि इस नई आपत्ति का सामना करने के लिये सारी चीन जाति को एक होना चाहिये। उन्होंने साम्यवादियों से संधि कर ली और सबने मिलकर अब जापान का सामना करने की सोची।

जापान की तैयारियाँ तो पहले से ही पूरी पूरी हो चुकी थीं। उसने शंघाई में अपनी फौजें भेजनी प्रारम्भ कर दीं। दोनों ओर से असंख्य सिपाही काम आये। शंघाई पर जापानी अधिकार हो गया। जापानी फौजें जो उत्तर दक्षिण में मौजूद थीं एक दूसरे से मिल गईं और चीन का सबसे उपजाऊ प्रान्त जापान के अधिकार में आ गया। जापानियों ने नानकिंग, हाँको तथा कैन्टन पर भी अधिकार कर लिया। मारशल च्यांग-काई-शेक ने विवश हो चुंगकिंग में अपनी राजधानी बनाई। चीन के साथ सहानुभूति रखनेवाले देशों ने जापानी माल का बहिष्कार किया। किन्तु इन सब घटनाओं का जापान के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा। जापान के वायुयान तथा मशीनगनें पूरे वेग के साथ चीन पर गोलों की बौछारें कर रहे थे। मगर चीन अतुल पराक्रम के साथ डटा हुआ था। ऐसा ज्ञात होता था कि चीन परास्त न हो सकेगा।

इसी समय जापान में इस युद्ध का विरोध होने लगा। जापानी सरकार ने इस युद्ध विरोधी आन्दोलन को कुचल दिया। देश के उद्योग-धन्धों को राज्य के अधीन कर लिया गया और जनसाधारण की स्वाधीनता छिन गई। इस समय जापान ने विदेशियों के साथ भी अंतर्राष्ट्रीय नियमों का पालन नहीं किया। योरपीय राष्ट्रों के विरोध करने पर जापान ने कोई ध्यान न दिया। सन् १९३९ तक जापान इस युद्ध को पूरे वेग के साथ चीन में चलाता रहा। जो भी देश जीता जाता उसी पर जापान की सरकार का अधिकार हो जाता। कहने को यह सरकार चीनी ही होती थी किन्तु इसके सभी अधिकार जापान के हाथ में रहते थे। इस प्रकार चीन जापान का यह युद्ध अविरल वेग से चलता रहा यद्यपि इसकी नियमपूर्वक घोषणा नहीं हुई थी। जापान उन्हीं हथकंडों का प्रयोग कर रहा था जो उसने पश्चिमी देशों से सीखे थे। सन् १९३९ ई० में योरप में जापान के साथी जर्मनी ने दूसरे विश्वयुद्ध का श्रीगणेश कर दिया। किन्तु इससे पहिले योरप में एक और विस्फोट हो चुका था। यह विस्फोट प्रथम विश्वयुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। आगे के पृष्ठों में इसी युद्ध का वर्णन है।

ग्यारहवां अध्याय

विनाश की ओर विश्व—प्रथम बार

प्राक्कथन

सन् १८७१ ई० में फ्रांकफर्ट की संधि के पश्चात् जर्मनी के एकाकीकरण का कार्यक्रम समाप्त हुआ। फ्रांस के अंदर बदला लेने की भावना बनी रही। जर्मनी की प्रभुता का सिक्का मध्य योरप में स्थापित हो गया। १८७१ ई० से १९१४ तक युग योरप के इतिहास में 'सशस्त्र शांति' का युग कहलाता है। इस काल में उन सभी मुख्य घटनाओं का सूत्रपात हुआ जिनके आधार पर यह काल इस बात का सूचक बन गया कि योरप के ऊपर किसी भारी आपत्ति के बादल मंडरा रहे है। वह विचारधारा थी 'ससैन्य राष्ट्रीयता'। राष्ट्रीयता की भावना का वर्णन करते हुये यह बताया गया था कि इस भावना ने विश्व में जितनी गंदगी फैलाई है उतनी अन्य किसी भावना ने नहीं। किन्तु राष्ट्रीयता से भी अधिक जहरीली थी 'ससैन्य राष्ट्रीयता'। इस विचारधारा से प्रभावित हो सभी योरोपीय देशों ने अपने अस्त्र शस्त्र बढ़ाये और पूरे जोर के साथ सैनिक तैयारियां आरम्भ कर दीं। प्रत्येक राष्ट्र में एक दूसरे के प्रति अविश्वास था। प्रत्येक देश यह सोचता था कि उसका पड़ोसी जब जहाजी बेड़े बढ़ा रहा है या अनिवार्य्य सैनिक शिक्षा जारी कर रहा है तब हम वैसा क्यों न करें? इस अविश्वास का परिणाम आसानी से सोचा जा सकता है। अनिवार्य्य सैनिक शिक्षा का कार्य्यक्रम सबसे पहिले फ्रांस में आरम्भ हुआ था मगर अब उसे जर्मनी ने पूरी तरह अपना लिया था। विज्ञान की सहायता से नये २ हथियार बनाये गये। हथियार बनाने की इस होड़ का परिणाम यह हुआ कि योरप के देशों की आमदनी का अधिकांश भाग सेना पर खर्च होने लगा। इस अध्याय में पहले हम इस युद्ध के कारणों पर विचार करेंगे। फिर इसकी मुख्य घटनायें देखने के पश्चात् विश्वसभ्यता की अवनति में यह युद्ध किस प्रकार सहायक हुआ इस बात को देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम विश्वयुद्ध के कारण

१८७१ ई० से १८९० ई० तक जर्मनी का नेतृत्व बिस्मार्क के हाथ में रहा। बिस्मार्क की अधीनता में जर्मनी का संगठन पूरी तरह हो गया। उसने फ्रांस को योरप की राजनीतिक से पूरी तरह पृथक रक्खा।

१८८८ ई० में नये सम्राट विलियम द्वितीय ने विस्मार्क को अपने पद से हटा दिया। उसने अब शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। नई सेना का निर्माण हुआ। औद्योगिक तथा वैज्ञानिक विकास की धूम मच गई। जर्मनी की आकांक्षा विश्व में अपनी प्रभुता स्थापित करने की होगई। सुदूरपूर्व में उसने चीन के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। अफ्रीका के बटवारे की ओर भी अपना ध्यान बटाया और कुस्तुन्तुनियां से लेकर बगदाद और फारस की खाड़ी तक अपनी रेलवे लाइन निकालने की योजना भी बनाई। इन सब घटनाओं का विश्व की शांति पर अहितकर प्रभाव पड़ा।

ऐसा प्रतीत होता था कि अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का ही विश्व में बोलबाला है। दो राष्ट्रों के जरा से ही झगड़े पर विश्व की शांति के लिये खतरा उपस्थित हो सकता था। सभी जातियां अंधाधुंधी करने पर तुली बैठी थीं। सभी हथियार बढ़ाकर ही अपनी स्वाधीनता सुरक्षित रखने के फेर में थीं। यद्यपि इस समय इस बात का प्रयत्न किया गया था कि इस अराजकता को नष्ट किया जाय किन्तु फिर भी वैसा करने में सफलता किसी को भी न मिली थी। सन् १८९९ ई० में रूस के जार ने सैनिक शक्ति को कम करने के विचार से और विश्व की समस्याओं का समाधान शांतिपूर्वक करने के विचार से हेग कान्फ्रेन्स बुलाई थी किन्तु इसमें भी उसे अधिक सफलता न मिली। इतना अवश्य होगया कि विश्व में एक ऐसी अदालत जरूर बन गई जिसने अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का हल शांतिमय उपायों द्वारा करने का प्रयत्न किया।

इस काल की एक और मुख्य घटना का वर्णन करना आवश्यक है। वह घटना है नये प्रदेशों पर अधिकार करने के झगड़े। इन झगड़ों का एक कारण तो अफ्रिका का महाद्वीप था। इस महाद्वीप के अधिक से अधिक भाग पर अधिकार करने की लालसा प्रत्येक योरपीय देश की थी। फिर, बहुत से देशों को उनकी इच्छा के विपरीत योरपीय देश अपने अधिकार में किये हुये थे। इटली जर्मनी तथा बेलजियम को इस अनुचित गठबन्धन के विरोध स्वरूप युद्ध करने पड़े थे और इनकी स्वाधीनता तथा एकता बड़े प्रयत्नों के बाद मिल सकी थी। यद्यपि योरप में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का बोलबाला था फिर भी बहुत से देश ऐसे थे जो वर्षों से विदेशी जाति के अधीन रहे थे। इन देशों में स्वाधीनता के लिये आन्दोलन हुये किन्तु उन्हें बलपूर्वक कुचल डाला गया।

इन राजनीतिक कारणों के साथ आर्थिक प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। प्रत्येक योरपीय देश अपने अधीनस्थ देश से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। उपनिवेशों को दुधारी गाय समझा जाता था। अपने देश के सामान को सुरक्षित रखने के विचार से विदेशी सामान पर अधिक कर लगाये जाते थे। इस आर्थिक लाभ के पीछे धनिकों का एक गुट मौजूद रहता था जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये सरकार को आर्थिक संरक्षण जारी रखने को विवश कर देता था।

इस समय वैज्ञानिकों ने अपनी विचारधारा से युद्ध की भावनाओं को उत्साहित किया। डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीवन पर लागू किया गया। यह बताया गया कि युद्ध जीवन की एक आवश्यकता है। युद्ध में मनुष्य के साहस धैर्य तथा शूरवीरता की परीक्षा होती है। संसार एक संघर्ष-क्षेत्र है। इस संघर्ष में वे ही जीवित रह सकते हैं जो शक्तिशाली हैं। अयोग्य तो इस संघर्ष में तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं।

किन्तु इन सब कारणों की अपेक्षा एक अधिक महत्वपूर्ण कारण उपस्थित होगया। वह कारण था गुप्त रूप से योरप के राष्ट्रों में संधियां। १८७१ से १९१४ तक इन संधियों का तांता लगा रहा। इन संधियों का श्रीगणेश बिस्मार्क ने किया था। फ्रांस को परास्त कर उसने योरपीय देशों से अपने सम्बन्ध इस ढंग से स्थापित किये कि फ्रांस योरप में अकेला रह गया। १८८२ ई० में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया हंगरी तथा इटली के साथ मिलकर अपना गुट बनाया। इसके विपरीत फ्रांस ने रूस से १८९२ ई० में मित्रता की। दोनों ने प्रतिज्ञा की कि जर्मनी द्वारा आक्रमण होने पर वे एक दूसरे का साथ देंगे। फ्रांस एक कदम और आगे बढ़ा। उसने १९०४ ई० में इंगलैण्ड से मित्रता की ओर अपना कदम बढ़ाया। इङ्गलैंड स्वयं जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत हो रहा था और उसने सहर्ष फ्रांस की मित्रता स्वीकार करली। १९०७ ई० में रूस तथा इङ्गलैंड में मित्रता हो गई। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध से पहिले योरप दो दलों में बंट गया। एक गुट में फ्रांस इङ्गलैंड तथा रूस थे और दूसरे में जर्मनी इटली तथा आस्ट्रिया। दूसरे गुट की शक्ति उस समय कम हो गई थी जब कि सन् १९०२ ई० में इटली ने गुप्त रूप से फ्रांस के साथ संधि करली। इटली ने विश्वास दिलाया कि जर्मनी तथा फ्रांस के आपसी युद्ध के अवसर पर इटली तटस्थ रहेगा। इधर जापान ने भी इङ्गलैंड को सहायता देने का वचन दिया। इन मित्रताओं तथा संधियों का उद्देश्य यह था कि योरप के एक देश की शक्ति

इतनी अधिक न बढ़ने पावे कि उससे दूसरों को खतरा उत्पन्न हो जाये। किन्तु यह उपाय शांति स्थापन का सुगम उपाय न था।

पहिले हम अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का वर्णन कर चुके हैं। सन् १९०५ ई० में जब फ्रांस ने मरक्को पर आक्रमण किया तो जर्मनी ने इसका विरोध किया। फ्रांस की विवशता से यह झगड़ा आसानी से सुलझ गया। दूसरा झगड़ा १९०८–९ ई० में हुआ। अस्ट्रिया ने हर्जगोविना तथा बोस्निया प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। इन दोनों प्रदेशों में स्लव लोग रहते थे। उनके साथ रूस की सहानुभूति आवश्यक थी। जर्मनी ने अपने साथी आस्ट्रिया का पक्ष लिया। इस पर रूस ने चुप्पी साध ली। यह झगड़ा भी समाप्त हुआ। सन् १९१२–१३ में बाल्कन प्रायद्वीप में एक भयंकर विद्रोह हुआ। सर्बिया, बल्गेरिया, यूनान तथा मान्टीनीग्रो ने तुर्की का कुछ भाग जीत लिया। इस जीते हुये भाग को किस प्रकार बांटा जाय इसका निर्णय होना कठिन था। आपस में झगड़ा चला। इङ्गलैंड के विदेशी मंत्री सर एडवर्ड ग्रे के प्रयत्न से कई कान्फ्रेन्सें हुईं जिनके परिणाम स्वरूप इस कठिन प्रश्न का निर्णय हो गया। किन्तु जर्मनी तथा आस्ट्रिया इस निर्णय से पूर्णतया असंतुष्ट रहे। साफ प्रगट था कि इस असंतोष के भीतर एक भारी विस्फोट के चिह्न मौजूद थे।

इस प्रकार १९०५ से लेकर १९१३ तक कई बार योरप की शांति खतरे में पड़ गई और यह स्पष्ट दिखलाई देने लगा कि युद्ध होना अवश्यम्भावी है।

युद्ध का कारण

२८ जून सन् १९१४ को आस्ट्रिया के राजकुमार को युगोस्लेविया के दो युवकों ने बोस्निया प्रान्त में मार डाला। आस्ट्रिया का विश्वास था कि सर्बिया का इस हत्या में हाथ है। यह विचार हुआ कि आस्ट्रिया के सम्मान की रक्षा के लिये सर्बिया को दंड मिलना चाहिये।

वास्तव में ये दोनों युवक आस्ट्रिया-हंगरी के नागरिक थे (युगोस्लेविया का कुछ प्रदेश आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में था और यहाँ के निवासी स्वतंत्रता के लिये आन्दोलन कर रहे थे।) आस्ट्रिया-हंगरी की सरकार ने गुप्तरूप से इस मामले की जांच की और इस रिपोर्ट को सच पाया कि हत्या करनेवाले आस्ट्रिया-हंगरी के नागरिक हैं। मगर वहाँ के विदेश मंत्री बर्कटोल्ड ने यह प्रचार किया कि सर्बिया की सरकार का इस हत्या में मुख्य हाथ था। बात यह थी कि युगोस्लव लोग अपनी स्वाधीनता का आंदोलन कर रहे थे और सर्बिया उनके

आंदोलन का केन्द्र बना हुआ था। २३ जुलाई सन् १९१४ की आस्ट्रिया की सरकार ने एक खुली चेतावनी दी जिसमें बताया गया कि आस्ट्रिया के विरुद्ध किस प्रकार आंदोलन हो रहा है। सर्बिया से इसका उत्तर ४८ घंटे के अंदर मांगा गया था। सर्बिया ने इन अपमानजनक शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। आस्ट्रिया ने उसके विरुद्ध २८ जुलाई सन् १९१४ को युद्ध छेड़ दिया। रूस ने सर्बिया का साथ दिया। जर्मनी ने आस्ट्रिया-हंगरी का। ३ अगस्त १९१४ को जर्मनी ने फ्रांस के विरुद्ध भी युद्ध छेड़ दिया।

जर्मनी की यह योजना थी कि रूस तथा फ्रांस की सेनाओं के मिलने से पूर्व जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण कर उसकी शक्ति नष्ट कर दे। यह आक्रमण जभी हो सकता था जब बेल्जियम उसे सेनायें ले जाने का मार्ग दे दे। जर्मनी ने बेलजियम से प्रार्थना की, किन्तु स्वीकृत न हुई। जर्मनी ने ४ अगस्त को बेलजियम के मार्ग से होकर फ्रांस को अपनी सेनायें भेजीं। इंगलैंड ने अब यह मांग रखी कि जर्मनी बेलजियम की तटस्थता को स्वीकार करे। जर्मनी के विरोध करने पर ४ अगस्त १९१४ को इंगलैंड भी मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध में कूद पड़ा। जापान ने भी इंगलैंड का साथ दिया। इस प्रकार प्रारम्भ में चार महान देशों (फ्रांस, रूस, इंगलैंड तथा जापान) ने जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस प्रकार यह प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया।

इस युद्ध में तुर्की ने जर्मन का साथ दिया। जर्मनी बेड़े ने कुस्तुतुनियां पहुँच कर रूस से मित्रराष्ट्रों के पास युद्ध सामग्री तथा रसद आदि का आना जाना बंद कर दिया। इधर जब तुर्की मित्रराष्ट्रों के युद्ध में शामिल न हुआ तो उन्होंने आपस में सलाह की कि तुर्की के साम्राज्य को नष्ट कर दिया जाये। योरपीय भाग पर रूस का अधिकार हो तथा एशियाई भाग पर फ्रांस और ब्रिटेन का। ऐसी गुप्त योजना मित्रराष्ट्रों ने मार्च सन् १९१५ ई० में बनाई।

इधर इटली ने पहिले से ही मित्रराष्ट्रों के युद्ध की तटस्थता स्वीकार कर रखी थी। किन्तु इटली की नीयत साफ न थी। वह दोनों पक्षों से संधि करने को तैयार था यदि उसे अधिक लाभदायक शर्तें मिल जातीं। मित्रराष्ट्रों ने आखिर उसे अपने पक्ष में कर ही लिया और उसने १९१५ ई० में आस्ट्रिया के विरुद्ध तथा १९१६ ई० में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

जर्मनी को न इटली से भय लगता था और न फ्रांस से। उसे डर था तो इंगलैंड की सामुद्रिक शक्ति से। जर्मनी को इंगलैंड के हवाई जहाजों से काफी परेशानियां उठानी पड़ीं। किन्तु जर्मनी ने इन कठिनाइयों पर पार पाने का

उपाय निकाल लिया। उसने एक प्रकार की पनडुब्बियां बनाई जो अंगरेजी जहाजों को समुद्र में ही डुबा दिया करती थीं। भूमध्य सागर तथा ब्रिटिश चैनेल को इन पनडुब्बियों ने घेर लिया। एक बार तो इङ्गलैंड का इन पनडुब्बियों से नाक में दम आ गया। किन्तु फिर इङ्गलैंड ने अपनी सामुद्रिक शक्ति के बल पर जर्मनी के जहाजी बेड़े को परास्त कर दिया।

जल की अपेक्षा स्थल पर जर्मनी को अधिक सफलता मिली। रूस की ओर जो जर्मनी का जो मोर्चा लगा हुआ था उसमें जर्मनी को लाभ ही लाभ हुआ। रूस में युद्ध सामग्री की भारी कमी थी। उसके यहाँ युद्ध सामग्री का एकदम अभाव था। उसकी रेलवे लाइनें अच्छी तरह बनी न थीं। इस कारण उसे फौजों को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में भारी आपत्ति का सामना करना पड़ता था। उसके सिपाही नासिखिये तथा अयोग्य थे। उधर जर्मन सिपाहियों को अच्छी फौजी शिक्षा दी गई थी। उनके पास युद्ध सामग्री भी प्रचुर मात्रा में थी। शासन प्रबंध भी संगठित और सुव्यवस्थित था। वैसी दशा में जर्मनी को रूस की अपेक्षा अधिक सफलता मिलना स्वाभाविक था। इसी समय रूस में जारशाही स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था। सैनिकों में युद्ध के लिये कोई जोश न था। इन सबका परिणाम यह निकला कि जून सन् १९१५ तक रूस को कई बार जर्मनी ने पछाड़ दिया। रूस को भारी हानि पहुँची। उसका अधिकांश प्रदेश जर्मनी के हाथ में पहुँच गया। लगभग ५ लाख सिपाही मारे गये, दस लाख घायल और १० लाख कैदी हुए। रूस की इस पराजय से जर्मनी का मध्य योरप में दबदबा बढ़ गया। उसने सर्बिया तथा रूमानिया को जीत लिया। मध्य योरप की शक्तियों ने जर्मनी की अधीनता में एक गुट बनाया। इस गुट ने पूर्वी तथा मध्य योरप में अपनी शक्ति पूर्ण रूप से बढ़ा ली। किन्तु फिर भी दिल्ली दूर थी। जर्मनी को पश्चिमी मोर्चे पर अंगरेजी और फ्रांसीसी सेनाओं को परास्त करना था और यह काम यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ज्ञात होता था।

जर्मनी ने अब पश्चिमी मोर्चे की ओर ध्यान दिया। वर्डून के अजेय दुर्ग को जीतने में अब जर्मनी ने अपना पूरा जोर लगाया। जर्मन सैनिकों ने लगभग ६ माह तक इस किले को लेने का प्राणपण से उद्योग किया किन्तु फ्रांस के वीर सैनिकों के सामने उनकी एक न चली। फ्रांस हिमालय की नाईं अचल खड़ा था।

इधर जर्मन सेनायें वर्डून को जीतने का प्रयत्न कर रही थीं, उधर अंगरेजी तथा फ्रांसीसी सेनाओं ने जर्मनी की फौजों के ऊपर धावा बोल दिया। यद्यपि

प्रत्यक्ष रूप में मित्रराष्ट्रों को अधिक सफलता न मिली फिर भी जर्मन सेनाओं को विवश हो अपने पुराने स्थान से हटना पड़ा।

उधर इटली तथा रूस ने आस्ट्रिया के विरुद्ध घमासान युद्ध छेड़ दिया। उन्हें इन युद्धों में अधिक सफलता न मिली किन्तु उनसे एक लाभ अवश्य निकला। मित्र राष्ट्रों की सेनाओं में नया जोश आ गया। इधर अंगरेजी जहाजी बेड़े ने जर्मनी के व्यापार को नष्ट करना आरम्भ किया। सन् १९१७ तक दोनों दल पूरी शक्ति के साथ युद्ध में डटे हुये थे और युद्ध का परिणाम बिल्कुल अनिश्चित सा ज्ञात होता था। जर्मनी को एक प्रकार से इस युद्ध में विजय मिल सकती थी। जैसे हो अंगरेजी जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया जाय। वैसा होने पर फ्रांस तथा इटली अपने आप घुटने टेक देंगे। बस इसी के लिये अब जर्मनी ने प्रयत्न किया।

सन् १९१७ ई० से जर्मनी ने इस क्षेत्र में पूरी तैयारी के साथ कदम उठाया। उसने घोषणा की कि इङ्गलैंड, फ्रांस तथा इटली के समीपवर्ती समुद्रों में जो भी जहाज होंगे उन्हें डुबाना जर्मनी के लिये आवश्यक है। इसके लिये उसे किसी नोटिस की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि जर्मनी किसी भी देश के जहाजों को बिना पहिले सूचना दिये नष्ट कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को यह बात बुरी लगी। पहिले भी उसका जर्मनी से इसी प्रश्न को लेकर झगड़ा हो चुका था। जब अमेरिका ने सुना कि जर्मनी मेक्सिको के मार्ग से अमेरिका पर आक्रमण करने की सोच रहा है तो उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने ६ अप्रैल सन् १९१७ ई० को मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेकर इस युद्ध में भाग ले लिया। अमेरिका के युद्ध में आने से इङ्गलैंड तथा फ्रांस का अधिक जोर बढ़ा। किन्तु इसी समय रूस में जार के विरुद्ध एक बड़ी क्रांति हुई। जारशाही का रूस से अंत हो गया और रूसने इस महायुद्ध के मोर्चों से भी अपनी सेनायें हटा लीं।

अमेरिका के युद्ध में भाग लेने के पश्चात् भी जर्मनी को अपनी सफलता की पूरी आशा थी। कारण स्पष्ट था। एक तो उसकी पनडुब्बियों ने मित्र राष्ट्रों के जहाजों को डुबा कर उनका नाक में दम कर दिया था। दूसरे रूस इस युद्ध से अलग हो गया था और तीसरे मित्र राष्ट्रों के नागरिकों में एक आंदोलन जोर पकड़ने लगा था जो इस युद्ध का अंत प्रत्येक अवस्था में कर देना चाहता था।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों की सहायता में कोई कसर न उठा रक्खी थी। फौजें भेजना प्रारम्भ किया, मित्र राष्ट्रों की धन से भी सहायता की। लड़ाई का सामान भी प्रचुर मात्रा में तैयार किया। किन्तु यह सब करने में उसे समय लगा। इसी बीच जर्मनी की पनडुब्बियाँ गजब ढा रही थीं। उधर रूस की नई साम्यवादी सरकार ने जर्मनी के साथ संधि कर ली। रूस ने पोलैंड, लैटविया, लिथूनिया तथा एसथोनिया को स्वतंत्र कर दिया। जर्मनी इस प्रकार मध्य योरप में सबसे शक्तिशाली राज्य रह गया। इन स्वतंत्र हुये राष्ट्रों ने भी जर्मनी का साथ दिया। जर्मनी तथा आस्ट्रिया का साहस बढ़ गया। इसी समय आस्ट्रिया ने इटली को हरा दिया।

इधर मित्रराष्ट्रों को भी अपनी सफलता की आशा थी। यद्यपि पनडुब्बियों ने १९१७ के जून मास तक काफी उत्पात मचाया था फिर भी इङ्गलैंड तथा अमेरिका के जहाजी बेड़ों ने दृढ़तापूर्वक जर्मनी की इस शक्ति का सामना किया। उधर इंगलैंड तथा अमेरिका ने अपने जहाज अधिक शीघ्रता से बनाने आरम्भ किये। नष्ट हुये जहाजों की कमी को इस प्रकार पूरा किया गया। इङ्गलैंड ने इस प्रकार अपने सामान तथा सैनिकों को फ्रांस में अधिकाधिक संख्या में भेजना प्रारम्भ किया और अपनी हार को विजय में बदलना प्रारम्भ किया।

इसी समय मित्र राष्ट्रों ने यह सोचा कि यदि एक ही सेनापति के हाथ में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का संचालन सौंप दिया जायेगा तो मित्र राष्ट्रों की विजय अवश्य होगी। मार्शल फाश को मित्र राष्ट्रों ने अपनी सेनाओं का सर्व प्रधान संचालक बनाया। उनके अधीन अमेरिका, इंगलैण्ड, इटली तथा फ्रांस की सेनायें थीं। इसका परिणाम मित्र राष्ट्रों की विजय के रूप में दिखलाई पड़ा। मार्न की लड़ाई में जर्मनी फौजों का आगे बढ़ना रोक दिया गया। यह उनकी करारी हार थी। इस युद्ध के बाद से उन्हें पीछे हटने की ही सूझी। उनके पास युद्ध सामग्री तथा सेनायें मित्र राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं कम थीं। नवम्बर १९१८ ई० तक जर्मन सेनाओं को फ्रांस छोड़ना पड़ा। बेलजियम का अधिकांश भाग भी अब स्वतंत्र हो गया। इसी समय जर्मन सेनायें ईराक, फिलस्तीन, यूनान आदि देशों में परास्त हुईं। आस्ट्रिया हंगरी, का भी इसी समय पतन हो गया। पोल, स्लव तथा अन्य अधीनस्थ जातियों ने आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। मध्य-योरपीय-संघ का इस प्रकार अंत हुआ। ११ नवम्बर १९१८ को जर्मन सेनाओं ने क्षणिक-संधि स्वीकार कर ली। प्रथम विश्व युद्ध का अंत हुआ। जर्मन

साम्राज्य नष्ट हुआ और मित्र राष्ट्रों ने अमेरिकन सभापति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों के आधार पर विश्व शांति की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया।

वर्साई के स्थान पर संयुक्त राष्ट्रों ने जर्मनी तथा अन्य युद्ध के अपराधी राष्ट्रों के भाग्य का निर्णय किया। यहां हम वर्साई की संधि की मुख्य-मुख्य शर्तों पर विचार करेंगे। जर्मनी से अलसास तथा लारेन प्रान्त लेकर फ्रांस को वापिस कर दिये गये। बेलजियम को यूपेन मालमेडी आदि स्थान मिले। डेन्जिग नगर स्वतंत्र शहर घोषित कर दिया गया। इस शहर की अधिकांश जनता जर्मन थी। जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य को इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा बेलजियम को सौंप दिया गया। राष्ट्र संघ की संरक्षता में ये उपनिवेश इन प्रदेशों को सौंप दिये गये। काऊच्चू का उपनिवेश जापान को दिया गया। संधि की एक धारा के अनुसार जर्मन सेना की संख्या घटा दी गई। जर्मन सेना की संख्या एक लाख कर दी गई। जर्मन जाति को निरस्त्र कर दिया गया। उसका जहाजी बेड़ा भी कम कर दिया। अधिकांश जहाज डुबा दिये गये। जर्मनी के सम्राट् विलियम द्वितीय को इस विश्वयुद्ध के लिये दोषी ठहराया गया और उसे न्यायालय के सम्मुख पेश करने का प्रस्ताव हुआ। हालैण्डवासियों ने विलियम को वापिस करने से इन्कार कर दिया। (विलियम द्वितीय ने हालैण्ड में शरण ले ली थी।) जर्मनी से भारी रकम हरजाने के रूप में वसूल करने की तजवीज रखी गई। किन्तु जर्मनी इस भारी रकम को देने में असमर्थ था। यह व्यवस्था की गई कि इस हरजाने के बदले में जर्मनी को कच्चा सामान देना पड़ेगा।

इस प्रकार जर्मनी के क्षेत्रफल का लगभग आठवां भाग उससे छीन लिया गया। उसके सभी उपनिवेश उससे ले लिये गये। उसका जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया। उसकी सेना की संख्या घटा कर बेलजियम की सेना के बराबर कर दी गई। जर्मनी की कोयले लोहे, तथा जस्ते की खानें भी मित्र राष्ट्रों के कब्जे में आ गई। उपनिवेशों के छिन जाने से रबड़, तेल आदि का जर्मनी में आना बंद हो गया। साथ ही जर्मनी को भारी रकम हरजाने में देने का भी वायदा करना पड़ा।

जर्मनी के दूसरे साथी आस्ट्रिया को भी इसी प्रकार अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करना पड़ा। आस्ट्रिया से उसके उपनिवेश ले लिये गये। आस्ट्रिया का जहाजी बेड़ा नष्ट हो गया। जर्मनी की तरह उसकी सेना भी घटा दी गई। निरस्त्रीकरण भी उसी प्रकार हो गया जैसे जर्मनी का हुआ था।

बलगेरिया के साथ जो संधि हुई उसमें भी ऐसी ही अपमानजनक शर्तें रखी गई। बलगेरिया को भी हरजाना देना पड़ा। उसकी सेना की संख्या २०,००० कर दी गई और उसे बाल्कन प्रायद्वीप का सबसे निर्बल प्रदेश बना दिया गया।

हंगरी के कई टुकड़े कर दिये गये। ट्रांसिलवेनिया रूमानिया को दिया गया। तुर्की के साथ सेवरेस की संधि हुई। इसके अनुसार तुर्की का मिस्र, सूडान, मरक्को आदि स्थानों पर से अधिकार हट गया। अरब, फिलस्तीन, सीरिया तथा ईराक को भी इसी प्रकार तुर्की के बंधन से अलग कर दिया गया।

संक्षेप में नये विश्व की यह रूप-रेखा राष्ट्र समूह द्वारा विश्व के सम्मुख प्रस्तुत की गई। इसने योरप का नये ढंग से निर्माण किया। अल्पमतों के हितों की रक्षा का भी ख्याल रक्खा गया।

इस विश्व युद्ध का सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा? प्रथम तो संसार के रंग-मंच से चार निरंकुश शासकों की स्वेच्छाचारिता का अंत हो गया। वे शासक थे जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की तथा रूस के जार। योरप के सोलह प्रदेशों में जनतंत्र स्थापित हो गये। विश्व युद्ध के समय राष्ट्रीय भावनाओं का जो उदय हुआ था उसके परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी स्वभाग्य-निर्णय की माँग विश्व के सामने रखी। इस मांग का यह परिणाम हुआ कि तत्कालीन राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के सुलझाने में काफी बाधायें पड़ गई। इस विचारधारा ने एशियाई प्रदेशों पर भी अपना प्रभाव डाला। भारत, चीन, मिस्र तथा पूर्वी अफ्रीका में राष्ट्रीयता के आंदोलन ने पूरा जोर पकड़ा। इन आंदोलनों को शासक वर्ग ने बलपूर्वक दबाया किन्तु इससे उत्तेजना घटने के स्थान पर बढ़ गई। यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों तथा राष्ट्रों की पारस्परिक समस्याओं का निपटारा करने के लिये राष्ट्रसंघ तथा विश्व की अदालतें स्थापित हुई थीं किन्तु फिर भी ये समस्याएँ सुलझने के बजाय और भी उलझती गई। युद्ध का प्रभाव आर्थिक क्षेत्र में सबसे अधिक व्यापक रहा। राष्ट्रों को अपरिमित धन इस युद्ध में खर्च करना पड़ा था। इस समस्या का सुलझाना आसान काम न था। दुर्भाग्य से सन् १९२९ ई० में सभी चीजों के मूल्य गिर गये। बेकारी का जमाना आया। किसानों और मजदूरों की मुसीबत का ठिकाना न रहा। आखिर आर्थिक समस्या जब बहुत अधिक बिगड़ गई तो फिर दूसरा युद्ध विश्व में प्रारम्भ हो गया।

यूनानी इतिहासकार हिरोदस ने यथार्थ ही कहा था युद्धकाल में मनुष्य के दिमाग फिर जाते हैं। जातियों के सिर पर अपनी शक्ति आजमाने का नशा

छा जाता है। यही दशा इस विश्वयुद्ध में हुई। सभ्यता की उन्नति में सहयोग देने के स्थान पर कई बातें ऐसी हुईं जिनसे सभ्यता को बहुत बड़ा धक्का लगा। शिक्षा की उन्नति एकदम रुक ही गई थी। भला कहाँ मशीनगनों की गड़गड़ाहट और कहाँ स्कूल के घंटों की आवाज! मशीनगनों की गड़गड़ाहट का बोलबाला था। सैनिक शिक्षा का चारों ओर बोलबाला था। ऐसी दशा में शिक्षा का एकदम ह्रास हो गया। किन्तु युद्ध के पश्चात् फिर संसार ने पलटा खाया। अब शिक्षा का लोगों के सामाजिक जीवन में अधिक महत्वपूर्ण स्थान हो गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का प्रभाव विश्व में बढ़ गया। यह देश धनधान्य पूर्ण होने के कारण विश्व का साहूकार बन गया। प्रायः उन सभी देशों पर अमेरिका सा ऋण था जिन्होंने इस युद्ध में भाग लिया था। दक्षिणी अमेरिका के उपनिवेशों का भी सिक्का और प्रभुत्व विश्व में स्थापित हो गया। इन राज्यों को राष्ट्रसंघ की सदस्यता मिल चुकी थी और इस प्रकार ये देश विश्व के मामलों में अधिकाधिक रुचि लेने लगे।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जो आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन हुए उनका वर्णन तो हम यथास्थान करेंगे। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि विश्व में इन बीस वर्षों (१९१९-३९) तक तीन प्रमुख विचारधाराओं का प्रभुत्व रहा १—साम्यवाद, २—नात्सीवाद ३—तथा फासिस्ट-वाद। ये तीनों 'वाद' प्रजातंत्र के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे और तीनों की विशेषता एक वर्ग-विशेष की तानाशाही थी। साम्यवाद में दलितवर्ग का बोल-बाला था। नात्सी तथा फासिस्ट देशों में उग्र राष्ट्रीय दल के हाथ में सर्वोच्च सत्ता थी। ये तीनों विचारधाराएँ प्रजातंत्र के विरोधस्वरूप उत्पन्न हुई थीं।

यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि इस युद्ध में ७५ लाख ८२ हजार मनुष्य मारे गये। युद्ध में खोये गये अथवा अन्य कारणों से मरे व्यक्तियों की संख्या इनके अतिरिक्त थी। कहना न होगा कि फौज में वे ही लोग भरती किये जाते हैं जो शरीर तथा मस्तिष्क से पूर्णतया स्वस्थ हों। इस युद्ध में कितना धन खर्च हुआ? नष्ट हुई सम्पत्ति को यदि छोड़ दिया जाये तो इस युद्ध में १८६ अरब डालर खर्च हुए। मोटे रूप में हम यह कह सकते हैं कि सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में जितनी दूरी है उसके हिसाब से प्रत्येक मील में २००० डालर खर्च में आये। यहाँ इतना कहना और अनुचित न होगा कि १८५१-

१९१४ तक के युद्धों में इस महायुद्ध में खर्चे गये रुपये का सातवाँ भाग ही खर्च में आया था।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक ऐसी संस्था का वर्णन किया जायेगा जो प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् योरप में स्थापित हुई। जिस समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इस युद्ध में शामिल हुआ था तो वहाँ के सभापति विल्सन ने घोषणा की थी कि यह युद्ध सदैव के लिये संसार से युद्ध का अस्तित्व समाप्त करने के लिये हो रहा है। युद्ध के पश्चात् वर्साई की जो सन्धि हुई उसमें विल्सन के इसी सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत किया गया अर्थात् यह प्रस्ताव किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने के लिये तथा राष्ट्रों में पारस्परिक सद्भावनायें उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्रसंघ जैसी एक संस्था स्थापित हो। इसी उद्देश्य को लेकर राष्ट्रसंघ स्थापित हुआ। इस संघ की तीन मुख्य सभाएँ थीं १—असेम्बली २—कौन्सिल तथा ३—कार्यालय। असेम्बली राष्ट्रसंघ की मुख्य सभा थी और इसका मुख्य कार्य नये राष्ट्रों को संघ में सम्मिलित करना; कौंसिल की प्रार्थना पर जो भी मामला इसके सामने पेश हो उस पर विचार करना; अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति; कौंसिल के वार्षिक विवरण पर विचार करना और बजट की स्वीकृति देना। इस सभा में प्रत्येक देश से तीन सदस्य भेजे जाते थे और तीनों प्रतिनिधियों की एक ही वोट समझी जाती थी। असेम्बली कार्य संचालन की सुगमता के लिये छोटी छोटी कई उपसमितियाँ बना लेती थीं। दूसरी सभा कौंसिल एक कार्यकारिणी सभा थी। इस सभा के चार स्थायी सदस्य थे (इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जापान तथा इटली) इसके अतिरिक्त छः अस्थायी सदस्य थे। अस्थायी सदस्यों का चुनाव असेम्बली द्वारा होता था। कौन्सिल के अधिवेशन जनेवा में होते थे। कौंसिल का कार्य था—

(१) निरस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करना;

(२) राष्ट्रसंघ को सौंपे गये राज्यों के शासन-प्रबन्ध पर दृष्टि रखना;

(३) डेन्जिग के स्वतंत्र शहर तथा सार घाटी का प्रबन्ध तथा अल्पमतों की रक्षा करना;

(४) आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रसंघ की ओर से उचित कार्य्यवाही करना;

(५) विचाराधीन मामलों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देना। कौंसिल के कार्यक्रम को असेम्बली के सम्मुख उसकी स्वीकृति के लिये भेजा जाता है।

स्थायी कार्यालय का संगठन भी ध्यान देने योग्य है। इस संगठन का कार्यालय जनेवा में था। इसमें सभी देशों के नागरिक पदाधिकारी थे। इसका एक सेक्रेटरी जनरल, एक डिप्टी सेक्रेटरी जनरल तथा दो अंडरसेक्रेटरी जनरल थे। कार्य को सुचारुरूप से चलाने के लिये यह कार्यालय भिन्न-भिन्न विभागों में बँटा हुआ था। कार्यालय का काम सभाओं का विवरण रखना, आवश्यक सामग्री एकत्रित करना तथा राष्ट्रसंघ के निर्णयों को अंगरेजी तथा फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित करना आदि था।

राष्ट्रसंघ के अंतर्गत एक और अंतर्राष्ट्रीय संस्था थी। वह संस्था थी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय। इस न्यायलय के एक प्रधान न्यायाधीश, एक उप-प्रधान तथा ९ साधारण न्यायाधीश होते थे। एक स्थायी रजिस्ट्रार भी होता था जिसका काम इस न्यायालय के कार्य्य को सुचारु रूप से चलाना था। इस न्यायालय का काम संधियों की व्याख्या करना, अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की गुत्थियों को सुलझाना तथा किसी अंतर्राष्ट्रीय हानि को पूरा करना और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के उल्लंघन पर विचार करना था।

यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ राष्ट्रसंघ के अधीन न था तथापि यह संघ है बड़े मार्के का। इस संघ का कार्य्य एक जनरल कान्फ्रेन्स के द्वारा होता है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है। जनरल कान्फ्रेंस के अतिरिक्त एक अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्य्यालय है। इस कार्य्यालय की एक कार्य्यकारिणी सभा है जिसका काम संगठन करना है।

यह था राष्ट्रसंघ जिसने विश्व में शांति स्थापित रखने और भविष्य के लिये युद्ध बंद करने का कार्य्यक्रम अपनाया। इसकी विफलता और सफलता का निर्णय तो हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि राष्ट्र संघ की स्थापना की कल्पना अव्यवहारिक न थी। जो कुछ त्रुटियाँ इसमें थीं वह इसके संगठन की शिथिलता और अधिकारों में कमी होने के कारण थीं। संघ की विफलता का मुख्य कारण यह था कि उसके पास अपने फैसलों को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिये आवश्यक अधिकार न थे।

बारहवाँ अध्याय

एशिया में जागरण

प्राक्कथन

उन्नीसवीं शताब्दि में चीन तथा जापान में जो जागृतियां हुईं उनका वर्णन हम यथास्थान कर चुके हैं। इन क्रांतियों ने यह सिद्ध कर दिया कि बूढ़े एशिया का भी कायाकल्प हो चुका है और वह विश्व की समस्याओं पर विचार करने तथा उनमें प्रमुख भाग लेने के लिये कटिबद्ध है। एशिया की यह क्रांति विश्व इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। एशिया की यह क्रांति अनेक कारणों से हुई। एक कारण था औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप योरपीय जातियों का एशियाई जातियों पर अधिकार कर लेना और उनका पूरी तरह से रक्तशोषण करना। संक्षेप में एशिया की क्रांति औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की दुधारी नीति के परिणामस्वरूप हुई। दूसरा मुख्य कारण बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में एशिया के एक छोटे से देश जापान का रूस को परास्त कर देना था। एशिया में एक नूतन शक्ति का संचार हुआ। एशिया की रग-रग में नवीन जोश फैल गया। एशिया ने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का अध्ययन किया और उसी के आधार पर अपने राष्ट्रीयकरण का कार्यक्रम बनाया। एशिया इस प्रकार पूर्व तथा पश्चिम दोनों की राष्ट्रीयता से पूरा २ लाभ उठा रहा था। कहना न होगा कि योरपवासियों ने इस आंदोलन को बलपूर्वक कुचलना चाहा किन्तु अंत में एशियाई वीरों का बलिदान निष्फल नहीं गया। स्वाधीनता की वेदि पर शहीदों ने अपना खून चढ़ाया और उससे सींचा गया एशियाई जागृति का यह पौधा। यहां हम संक्षेप में एशिया की इस क्रांति के कारणों तथा क्रांति की उन्नति का वर्णन करेंगे।

एशिया में क्रांति की लहर—भारतवर्ष

भारत पहला एशियाई प्रदेश था जहाँ योरपीय वासियों ने अपना अधिकार जमाया था। भारतवर्ष के धन से आकर्षित हो पुर्तगालवासी, हालैण्डवासी, अंगरेज तथा फ्रांसीसी लोग यहाँ आये। अंत में अंगरेजों तथा फ्रांसीसियों में प्रभुता के लिये संघर्ष हुये। फ्रांसवालों की पराजय हुई। अंगरेज सर्वेसर्वा हुये। अठारहवीं शताब्दि का भारतवर्ष पिछड़ा हुआ भारतवर्ष था। राष्ट्रीयता का तो

नाम तक न था। मीरजाफरों तथा अमीचन्दों के काले कारनामों ने देश की आजादी को चाँदी के चंद टुकड़ों के बदले में बेच दिया। हिन्दुस्तानी किराये के टट्टू की तरह अंगरेजी सेनाओं में भरती किये जाते थे और अपने भाइयों के साथ सीना तानकर लड़ते थे। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तानियों ने ही हिन्दुस्तान को जीता और उसे अंगरेजों के हवाले कर दिया। मगर आखिर कभी न कभी तो देश में जागृति आती ही है। भारतवर्ष में भी इस युग का सूत्रपात हुआ। इस नवयुग के प्रवर्त्तक राजा राममोहनराय थे। अंगरेजी भाषा तथा शिक्षा से प्रभावित हो उन्होंने उसका प्रचार अपने देश में किया। सती तथा बालविवाह को रोकने का प्रयत्न किया। इङ्गलैंड जाकर उन्होंने भारत के पक्ष में प्रचार किया। राजनीतिक जागृति का भी सूत्रपात उन्होंने किया। उनका बोया हुआ बीज बेकार नहीं गया। भारतवासियों ने सन् १८५३ ई० में ही इङ्गलैंड को प्रस्ताव भेजे कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारतवर्ष के शासन का भार न सौंपा जाय। यह हमारी राष्ट्रीय माँग का प्रथम रूप था। राजा राममोहन-राय के पश्चात् दूसरे राष्ट्र निर्माता महर्षि दयानन्द थे। सबसे प्रथम उन्होंने हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय उन्नति का साधन मान उसका प्रचार किया। 'सुराज्य' स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता यह सिद्धान्त भी उन्होंने प्रतिपादित किया। समय प्रतिक्षण बदलता जा रहा था। शासकों की स्वेच्छाचारिता तथा अत्याचार बढ़ते जा रहे थे। लार्ड लिटन ने तो इस मामले में हद ही कर दी थी। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास कर उन्होंने देशी भाषाओं के समाचार पत्रों पर बहुत-सी पाबन्दियाँ लगा दीं। देश में भारी अकाल के होते हुए भारी सजधज के साथ दरबार किये। अफगानिस्तान के युद्ध में व्यर्थ ही अनेक भारतीयों का खून बहाया। पहिले ही आर्थिक तथा व्यापारिक मामलों में इङ्गलैंड भारतवर्ष का खून चूस रहा था। लार्ड लिटन के इन कामों से लोकमत और भी अधिक क्षुब्ध हो उठा। यद्यपि लार्ड रिपन ने भारतीयों के हृदय को अपने सुधारों तथा प्रेम से जीतने की चेष्टा की फिर भी गोरे लोगों के व्यवहार ने भारतवासियों की आँखें खोल दीं। गोरे लोगों ने इल्बर्ट बिल का जिस ढंग से विरोध किया उससे साफ जाहिर हो गया कि हिन्दुस्तान में ही हिन्दुस्तानियों का कोई अधिकार नहीं था। न्यायप्रिय रिपन ने इस कानून को इसलिये रखा था कि रंग तथा जाति-गत भेदभावों के स्थानपर पक्षपात रहित नीति से न्याय सम्पादन हो। किन्तु गोराशाही ने अन्याय का मार्ग ग्रहण करने में कोई कसर नहीं रखी। परिणाम यह हुआ कि कुछ भावुक भारतवासियों के प्रयत्न से सन् १८८५ ई० में भारतीय

राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। कुछ अंगरेजों ने भी इसकी स्थापना में सहयोग दिया था। इस सभा का उद्देश्य भारत की भिन्न-भिन्न जातियों को एकत्रित कर राजनीतिक सुधारों की माँगों को शासकों के सम्मुख रखना था। सन् १८८५ से १९०५ ई० तक कांग्रेस का रुख इसी प्रकार का बना रहा।

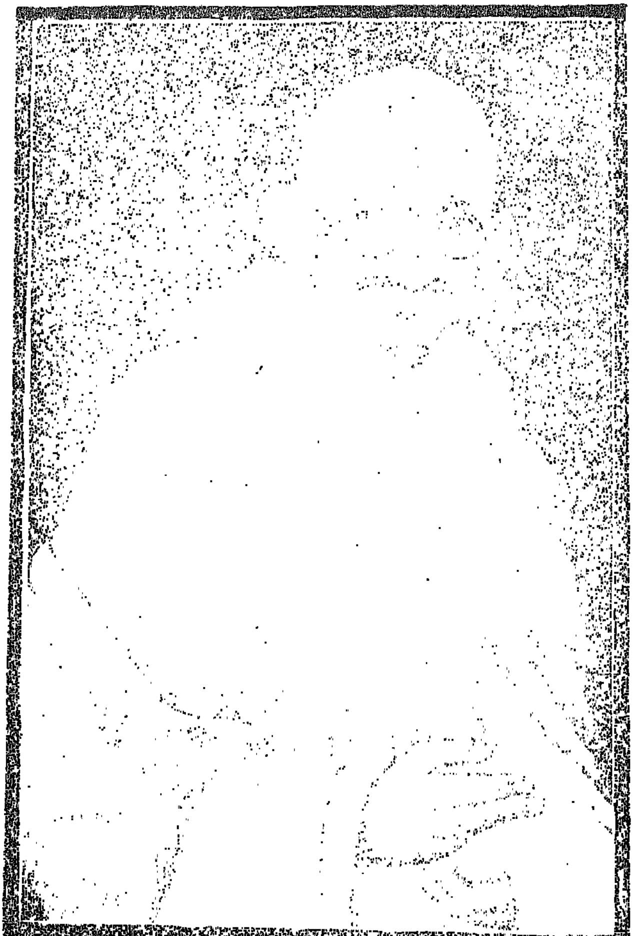
१९०५ यह एशिया के लिए रणभेरी थी। एक छोटे से एशियाई देश जापान ने विशाल रूसी साम्राज्य को परास्त कर दिया। भारत ने भी अपनी महत्ता को समझा। कर्जन ने उधर बंगाल के दो टुकड़े कर राष्ट्रीयता को कुचलने का एक मार्ग निकाला। उसकी विषाक्त नीति से मुस्लिम पहिले ही प्रभावित हो चुके थे। उनसे कहा गया था कि तुम्हारा भला हिन्दुओं से अलग रहने में ही है। वाह रे साम्राज्यवाद! अपने को स्थायी रखने के विचार से उसने क्या-क्या ढोंग नहीं रचे? किस प्रकार त्रसित मानवजाति का अकल्याण नहीं किया? किन्तु उस समय तो कर्जन की चाल निष्फल गई। भारतवासी इस चाल को समझ गये। राष्ट्रीय महासभा का रंगमंच जोश से भर गया। बूढ़े दादाभाई के हृदय में देश-प्रेम उमड़ आया। कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने डंके की चोट कहा, "संगठित रहकर स्वराज्य-प्राप्ति का प्रयत्न करो जिससे असहाय तथा भूखे व्यक्तियों को तन ढाँकने के लिए कपड़े और पेट भरने के लिये अन्न मिल सके!" बाल-लाल-पाल (बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा बिपिनचन्द्र पाल) ने युवकों में क्रान्ति का मंत्र फूँक दिया। अनेक युवक हँसते-हँसते फाँसी के तख्तों पर झूल गये। अनेक माई के लालों ने खून की होलियाँ खेलीं। कर्जन की नीति ने सभी वर्गों तथा सभी जातियों को एकत्रित कर दिया। १९११ में बंगविच्छेद को रद्द कर दिया गया। यह थी हमारी प्रथम विजय।

किन्तु साम्राज्यवाद ने एक भारी चाल चली। खान बहादुरों तथा नवाबों की अधीनता में मुस्लिम लीग को जन्म दिया। सन् १९०९ ई० के सुधारों के अवसर पर मुसलमानों का एक शिष्ट-मण्डल तत्कालीन वायसराय लार्ड मिण्टो से मिला और यह माँग रखी कि आगामी सुधारों में मुसलमानों के लिये व्यवस्थापक सभाओं तथा स्थानीय सभाओं में स्थान संरक्षित रखे जाने चाहिये। लार्ड मिण्टो ने उनकी बात को ध्यान से सुना और उन्होंने विश्वास दिलाया कि उनकी माँगोंपर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायेगा। तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड मार्ले ने इस सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया और तुरन्त ही अपने संस्मरणों में भविष्यवाणी कर दी कि आज हमने भारत में एक ऐसे सिद्धान्त

को स्वीकार किया है जिसका परिणाम आगे चलकर भारत के लिये बहुत दुःख-दायी होगा। कौन इसे अस्वीकार करेगा कि भारतवर्ष के बँटवारे का बीज लार्ड मिण्टो तथा लार्ड मार्ले की योजना ने ही बो दिया था?

कुछ समय पश्चात् प्रथम विश्वयुद्ध छेड़ा। भारत के एक राजनीतिक दल ने यह सुझाव रक्खा कि हमें इङ्गलैंड की आपत्ति से लाभ उठाना चाहिये। किन्तु थोड़े से लोगों को छोड़कर प्रायः सभी लोग इस अवसर से लाभ नहीं उठाना चाहते थे। हाँ, एक विदेशी महिला-जिन्होंने भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि बना लिया था-अवश्य इस बात का प्रचार करती थीं कि जब यह युद्ध विश्व को प्रजातंत्र के लिये सुरक्षित बनाने के लिये लड़ा जा रहा है तो भारतवर्ष को उस अधिकार से क्यों वंचित रक्खा जाता है? यह देवी थीं श्रीमती डा० एनी बेसेण्ट। उनकी होम-रूल-लीग शासकों की आँखों में चुभने लगी। उन्होंने दृढ़तापूर्वक भारतीय मांग को लोकमत के सम्मुख रक्खा। अपनी निर्भीकता का दण्ड उन्हें मिल गया। वे नजरबन्द कर दी गईं। सन् १९१८ ई० में भारत के राजनीतिक रंगमञ्च से एक और महापुरुष उठ गये। वे थे तिलक। गणितज्ञ, इतिहास तथा संस्कृत के धुरन्धर विद्वान होते हुये भी उन्होंने माता के बन्धनों को काटने का बीड़ा उठाया था। डंके की चोट उन्होंने घोषणा की "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करूँगा।" उनके स्वर्गवास के पश्चात् अफ्रीका से एक प्रवासी भारतीय त्याग, अहिंसा, तप तथा दया का संदेश अंगरेजी वेशभूषा में डूबे हुये भारतीयों को सुनाने के लिये भारतीय राजनीति के रंगमञ्च पर आया। आगे का युग इसी संत के नाम से 'गांधी युग' कहलाने लगा।

गांधीजी जिस समय भारत के राजनीतिक रंगमञ्च पर आये उस समय क्षोभ तथा निराशा का साम्राज्य था। क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने का उपाय शासक वर्ग की समझ में यह आया था कि सारे भारतवर्ष को एक विद्रोही जाति करार दे दिया जाय। उधर दूसरी ओर सुधारों की एक और किस्त देशवासियों के सामने फेंक कर नर्म दलवालों को अपने पक्ष में किया जाय। पहले अन्याय का प्रतिकार करने का गुरुतम भार गांधीजी ने अपने कंधों पर उठाया। देश भर में इन नियमों का विरोध हुआ। सरकार ने इस विरोध का दमन लाठी तथा गोली प्रहार से किया। अमृतसर का 'जलियानवाला बाग' हमारे राष्ट्रीय बलिदान का प्रतीक बन गया। गांधीजी का आंदोलन और पकड़ता



महात्मा गांधी

जा रहा था। विद्यार्थियों ने पढ़ना छोड़ा शिक्षकों ने अध्यापन, वकीलों ने वकालत। स्वदेशी का प्रचार हुआ और विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलीं। आखिर सरकार ने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया। हिंदू और मुसलमानों में आपसी झगड़े कराना नौकरशाही के बायें हाथ का खेल हो गया। राष्ट्रीय आंदोलन दब गया। कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकृत हुआ। आखिरकार फिर सन् १९३० ई० में गांधीजी ने भद्रअवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ किया। उसमें भी कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली। गांधीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बन गोलमेज कान्फ्रेन्स में भाग लेने के लिये विलायत गये। वहाँ उन्हें सफलता न मिली। किन्तु भारत के राजनीतिक वायुमण्डल में फिर से निराशा के बादल छा गये थे। कांग्रेस ने फिर से आंदोलन छेड़ दिया था। उधर नौकरशाही की तैयारियों का भी ठिकाना न था। फिर वही हुआ जो ऐसी अवसरों पर नौकरशाही किया करती थी। इसी समय सन् १९३५ का विधान प्रकाशित हुआ और तत्पश्चात् रेमजे मेकडानल्ड का साम्प्रदायिक निर्णय। इसके अनुसार हिन्दू समाज को भी दो भागों में बाँट दिया गया था। उच्च जातीय हिंदू तथा परगणित जातियाँ। गांधीजी ने इसका विरोध अपने प्राणों की बाजी लगा कर किया। हिंदू समाज के प्रमुख वर्गों में समझौता हुआ। कुछ ही समय पश्चात् वे छोड़ दिये गए।

सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार प्रान्तों को स्वराज्य दिया गया था। अब विधान के इस भाग को क्रियात्मक रूप दिया गया। सन् १९३७ ई० में कांग्रेस ने सात प्रान्तों में अपने मंत्रिमण्डल बनाये। जन् १९३९ ई० तक कांग्रेस शासन कार्य को बड़ी सफलतापूर्वक चलाती रही किन्तु सन् १९३९ ई० में द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने से कांग्रेस मन्त्रियों ने सरकार के साथ सहयोग करने से उस समय तक इन्कार कर दिया जब तक कि युद्ध के लक्ष्यों की घोषणा अंगरेजी सरकार स्पष्टतापूर्वक न कर दे। वे चाहते थे कि भारत इङ्गलैंड के किराये के टट्टू की तरह इस युद्ध में भाग नहीं ले सकता। कांग्रेसी सरकार ने इस्तीफा दे दिये। युद्धकाल तक इसी प्रकार देश में निराशा घिरी रही। सन् १९४२ के प्रारम्भ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की प्रस्तावित योजना को भारतवर्ष लेकर आये। यह सोचा गया था कि जापान के विरुद्ध सफलता से मोर्चा लेने के लिये यह आवश्यक है कि भारतवर्ष का सहयोग प्राप्त किया जाय। क्रिप्स साहब ने मन्त्रिमण्डल की योजना पर प्रमुख राजनीतिक दलों की सम्मति चाही और स्वीकृति के लिये अपील की किन्तु योजना भारतीय

राष्ट्रीय महासभा ने अस्वीकृत कर दी। तत्पश्चात् अगस्त सन् १९४२ ई० को कांग्रेस ने 'अंगरेजो भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया। इसी समय भारत माता के एक सपूत ने स्वदेश से बाहर भारतीय राष्ट्रीयसेना का संगठन कर अंगरेजी साम्राज्य का तख्ता पलटने का यत्न पूर्वी एशिया में किया। वह महापुरुष नेताजी सुभाषचन्द्र बोस थे। इधर कांग्रेस का आंदोलन छिन्न-भिन्न हो गया। सन् १९४५ ई० में मजदूर दल की इंगलैंड की पार्लिमेन्ट में जीत हुई। मजदूर दल की सरकार ने भारत के सहयोग के लिये हाथ बढ़ाया। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो ही गया था। जापान ने भी घुटने टेक दिये थे। अंगरेजी सरकार ने प्रांतीय चुनावों की घोषणायें कीं। इन चुनावों में मुस्लिम स्थानों से लीगियों को तथा साधारण निर्वाचित क्षेत्रों से कांग्रेस वालों को भारी मत मिले। मगर एक बात बड़ी दुःखदायी हुई। देश की साम्प्रादायिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी। देश के बटवारे की मांग अधिकाधिक दृढ़ता के साथ रखी गई। सरकार ने समझौता कराने का घोर प्रयत्न किया मगर सब निष्फल। आखिर ब्रिटिश केबिनट मिशन ने अपना फैसला दे दिया। इस योजना के अनुसार दृढ़ केन्द्रीय शासन तथा बँटवारे की मांग के बीच का मार्ग सोच निकाला गया। केन्द्रीय सरकार के अधिकार बहुत थोड़े रखे गये। फिर ग्रूपों की सरकारें थीं और तत्पश्चात् प्रान्तों की। वायसराय की कार्यकारिणी को पुनः संगठित करने की बात को भी स्वीकार किया गया। मगर फिर भी भारतवर्ष के दो शक्ति शाली दलों कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में पारस्परिक सहयोग तथा विश्वास का एक दम अभाव था। राजनीतिक कटुता बढ़ती ही जा रही थी। विधान निर्मात्री परिषद् का भी लीगियों ने बहिष्कार कर दिया था। इसी समय पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश में साम्प्रदायिक रक्तपात का सिलसिला शुरु हुआ। पुलिस तथा सेना ने नागरिकों की रक्षा करने के स्थान पर उन पर गोलियाँ चलाई। सभी दल इस अराजकता तथा रक्तपात से ऊब उठे थे। इसी समय ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने घोषणा की कि वे जून १९४८ ई० तक भारतवर्ष को छोड़ जायेंगे। कांग्रेस तथा लीग दोनों ने देश के विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। सिंध, बिलोचिस्तान, पश्चिमी पंजाब, सीमान्त प्रदेश तथा पूर्वी बंगाल को मिला कर पाकिस्तान के नाम से एक स्वतंत्र राष्ट्र के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। इसका विधान ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य उपनिवेशों का था। शेष भाग भारतवर्ष कहलाया। देशी रियासतों को छूट थी कि वे चाहें तो हिन्दुस्तान के साथ रहें चाहें पाकिस्तान के साथ।

इस विभाजन के परिणाम स्वरूप देश में फिर एक बार साम्प्रदायिकता की लहर आई। पश्चिमी पाकिस्तान से लाखों बच्चे, स्त्री तथा पुरुष अनेक आपत्तियों का सामना करते हुये भारतवर्ष आ गये। विश्व के इतिहास में इतनी बड़ी जन संख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना बड़ी दुःखदायी घटना थी जो अब से पूर्व इतिहास में कभी नहीं हुई थी। करोड़ों की सम्पत्ति निष्क्रमणार्थियों ने पाकिस्तान में छोड़ी। हिन्दुओं को विवश हो पाकिस्तान में छोड़ी हिन्दुओं को विवश हो पाकिस्तान को छोड़ना पड़ा था क्यों कि वहाँ की सरकार ने अपने संगठन का आधार इस्लाम धर्म रक्खा था। भारतवर्ष ने इसके विपरीत धर्म को राजनीतिक संगठन का आधार मानने से इन्कार कर दिया था।

इतनी कठिनाइयों के होते हुये भी भारत की सरकार ने अपनी शासन पद्धति का संगठन जनतंत्र के सिद्धान्तों पर किया है। अपने विधान में जो २६ जनवरी सन् १९५० से कार्य रूप में परिणत हुआ है नागरिक के अधिकारों की घोषणा की है। ये अधिकार संयुक्त राज्य अमेरिका के विधान के मौलिक अधिकारों से मिलते जुलते हैं। साथ ही भारतवर्ष ने एशियाई देशों का नेतृत्व कर हिन्देशिया में जनतंत्र स्थापित करने की मांग का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया है। भारत यद्यपि ब्रिटिश राष्ट्र समूह का एक सदस्य है फिर भी उसने अपने आपको एक जनतंत्र घोषित किया है।

अफगानिस्तान

भारत का पड़ौसी अफगानिस्तान भी उन्नसवीं शताब्दि भर राजनीतिक विवेक से शून्य रहा। वह अनेक फिरकों में बंटा हुआ था। अफगान यद्यपि शूरवीर थे तथापि सेना के असंगठित होने के कारण शत्रु का सामना करने में असमर्थ थे खजाना खाली था। देश में कुव्यवस्था का बोलबाला था। दो शक्तिशाली देशों के बीच स्थित होने कारण अफगानिस्तान की अजीब परेशानी थी। एक ओर अंग्रेज उसकी ओर आंख लगाये बैठे थे तो दूसरी ओर रूस। उन्नीसवीं शताब्दि के अंत में वहाँ अब्दुर्रहमान अमीर थे। उन्होंने देश के आंतरिक संगठन की ओर ध्यान दिया। सेना का संगठन किया। उधर साम्राज्यवादी देशों (इङ्गलैंड तथा रूस) के दबाव डालने से अनायास ही अफगानिस्तान में राष्ट्रीयता का पक्ष सबल बन गया। अब्दुर्रहमानखां की मृत्यु के पश्चात् हबीबुल्लाखां अमीर बने। उन्होंने सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर देश को शक्तिशाली बनाया। हबीबुल्ला के पश्चात् अमानुल्ला वहाँ के अमीर बने।

उनके समय अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति एक दम अनुकूल होने के कारण अफ़गानिस्तान ने अपने को शक्तिशाली बना लिया। अनुकूल परिस्थिति यह थी कि सन् १९१७ की क्रांति के पश्चात् रूस ने एशियाई प्रदेशों की मित्रता की ओर अपना हाथ बढ़ाया था। अमानुल्ला ने अपने दूत फारस, रूस, फ्रांस, इङ्गलैंड आदि देशों में भेजे। अफगानिस्तान का दर्जा अब अंगरेजों के समानहो गया। अमानुल्ला ने भी अपनी उपाधि 'हिज़ मैजेस्टी' रखली। परन्तु दुर्भाग्यवश अमानुल्ला के सुधार लोकप्रिय न बन सके। देश में कोई संगठित राजनीतिक दल न था जिसके सहयोग से वे अपनी सुधार प्रिय नीति को कार्यान्वित कर सकते। परिणाम भयंकर हुआ। प्रतिक्रियावादियों ने उनके विरुद्ध एक व्यापक आंदोलन कर दिया। गृह-कलह तथा विद्रोहों का परिणाम यह हुआ कि अमानुल्ला खां को गद्दी छोड़नी पड़ी। बच्च-ए-सक्का नामक एक भिश्ती ने सेना का नेतृत्व किया। उसे कर्नल नादिरखां ने परास्त किया स्वयं अफगानिस्तान के अमीर बने। नादिरखां की भी सन् १९३३ ई० में हत्याकर दी गई और उसके पश्चात् जमानशाह वहाँ के अमीर बने। अमानुल्ला के सुधार अफगानिस्तान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं इसी लिये उनका वर्णन कुछ विस्तृत रूप में यहाँ आवश्यक है।

अमीनुल्ला आधुनिक विचारों के शासन थे। योरपीय देशों की सभ्यता के वे कायल थे। वे चाहते थे कि अफगानिस्तान पश्चिमी सभ्यता की विशेषताओं को अपना ले। इस विशेषता से उनका तात्पर्य्य था कि सैनिक संगठन जर्मनी तथा तुर्की के आदर्श पर होना चाहिये, सैनिक शिक्षा के लिये कालिज खुलने चाहिये; सैनिक शिक्षा अनिवार्य्य होनी चाहिये। इन सब सुधारों को उन्होंने क्रियात्मक रूप दिया। रूस, जर्मनी तथा तुर्की में अपने युवक भेजे। आकाशी सेना भी संगठित की गई। अफगानियों के सामाजिक जीवन में भी बहुत से सुधार किये गए। कहना न होगा कि इन सामाजिक सुधारों से भी अफगानी लोकमत उनके विरुद्ध हो गया था। उधर अंगरेज अपनी राजनीतिक चालें चलाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ रहे थे। अंगरेजों की इन चालबाजियों को अमानुल्ला ने भली भांति समझ लिया। इसी कारण उन्होंने ऐंग्लो अफगान संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करके के स्थान पर रूस से संधि करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

अमानुल्ला का उद्देश्य एशिया को योरपवासियों के बलात्कार से सुरक्षित रखना था इसी कारण उन्होंने फारस तुर्की और अफगानिस्तान का एक गुट

बनाना चाहा था। यदि वे अपने उद्देश्य में सफल हो जाते तो एशिया पर से विदेशी शासन की कालिमा धुल जाता।

ऊपर अमानुल्ला के सुधारों का वर्णन हो चुका है। इन सुधारों को प्राचीन विचारधारा के समर्थकों ने संदेह की दृष्टि से देखा। मुल्ला मौलवियों ने इन सुधारों के प्रति असंतोष दिखाया। विरोध तथा असंतोष बढ़ता गया। अमानुल्ला के शत्रु बढ़ते गये। अंत में विवश हो उन्होंने अफगानिस्तान छोड़ दिया। यद्यपि अमानुल्ला उस समय असफल रहे किन्तु उनका मनोरथ तथा उद्देश्य विफल नहीं गया। अमानुल्ला ने राष्ट्रीय उन्नति का जो बीज बोया था उसका फल आज दिखलाई पड़ रहा है। राष्ट्रसेवा का जो बीज अमानुल्ला ने बोया था उसी के परिणामस्वरूप आज अफगान अपनी उन्नति अधिक तत्परता से कर रहे हैं। स्वतंत्र भारत से उसने अपना सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के विचार से विद्यार्थियों तथा अध्यापकों का आदान प्रदान प्रारम्भ किया है। बहुत प्राचीन समय से ही दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्बन्ध था। स्वयं कंदहार (प्राचीन गांधार) भारतीय सम्राटों के अधीन था। तक्षशिला का विश्वविद्यालय दोनों देशों को सांस्कृतिक बन्धन में बांधे हुये था। आशा है भविष्य में दोनों का सांस्कृतिक बन्धन अधिक दृढ़ बनता जायगा। अफगानिस्तान के पश्चात् हम ईरान (फारस) की जागृति का वर्णन करेंगे।

ईरान (फारस) में राष्ट्रीयता

पाठकों को दारा के ईरान का स्मरण होगा। दारा की मृत्यु के पश्चात् अनेक शताब्दियां व्यतीत होगईं। ईरान (फारस) का इतिहास जय तथा पराजय से टक्कर लेता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। अठारहवीं शताब्दि के फारस के शासकों (नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली) को भारतीय इतिहास के विद्यार्थी भूले न होंगे। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दि के पहुँचते ईरान का वह गौरव नष्ट हो गया। ईरान एक निर्बल तथा तृतीय श्रेणी का राष्ट्र बन गया और उसका श्रेय था रूसी तथा अंगरेजी साम्राज्यवादी नीति। इस नीति ने तो ईरान को तबाह कर दिया। १९०७ ई० में रूस तथा इङ्गलैण्ड ने ईरान को विवश किया कि वह दोनों देशों का आधिपत्य मान ले। उत्तरी भाग पर रूस का आधिपत्य था और दक्षिणी पर अंगरेजों का। बेचारा फारस दो पाटों के बीच में आ जाने से पिसा जाता था। आखिरकार ईरान में क्रांति हुई। वहां के राष्ट्रीयदल ने शाह को गद्दी से उतार दिया। किन्तु थोड़े ही समय बाद रूस तथा इंगलैण्ड की कुचालों से इस क्रांति का अन्तान्त

अर्थात् ईरान को विदेशियों के आर्थिक बन्धन से मुक्त करनी, असफल रहा। ईरान को सन् १९१२ में एंग्लो-रूसी संधि मानने पर विवश किया गया। १९१७ तक रूस तथा इंगलैण्ड दोनों का ईरान पर अधिकार बना रहा। १९१७ ई० में रूस तो बोल्शेविक क्रांति के कारण ईरान से अलग हो गया। हाँ, अंगरेज अवश्य इस देश पर शासन करते रहे। अंगरेजों की अभिलाषा थी कि फारस की खाड़ी से लेकर कास्पियन समुद्र तक के प्रदेश पर अपना अधिकार रक्खें। अंगरेजी आधिपत्य इस प्रकार ईरान में सन् १९१९ ई० तक बना रहा।

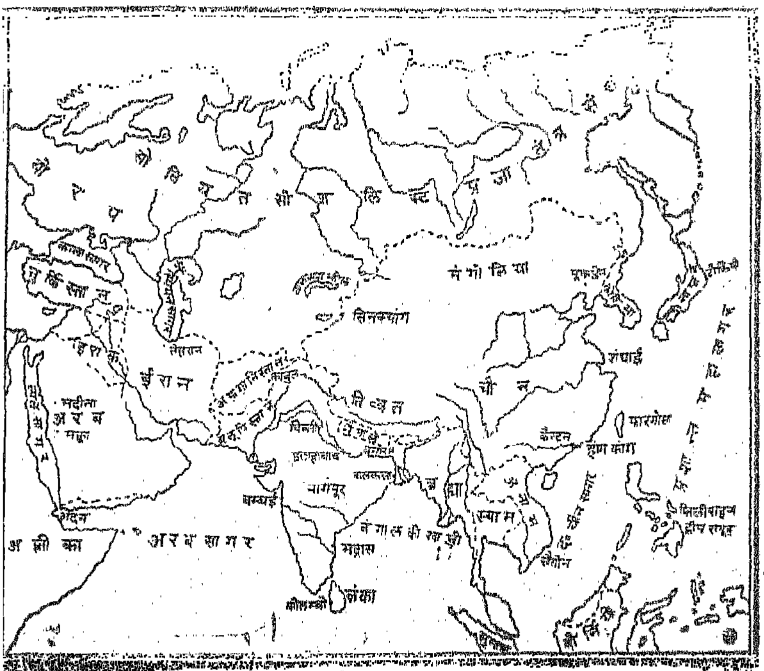
उस वर्ष एक जादूगर ने ईरान के राजनीतिक जीवन में जादू का काम किया। इस क्रांति में रूस का भी हाथ था। सन् १९२१ ई० में रजाखां नामक एक सैनिक ने अपने ३ सहस्र सिपाहियों के साथ तेहरान पर आक्रमण किया। उसने शाह को विवश किया कि उसे प्रधान सेनापति बना दें। १९२३ ई० में वह प्रधान मंत्री बना दिया गया। १९२५ ई० में रजाखां ने शाह की उपाधि ग्रहण की।

शाह ने अपने आपको इस सम्मान का उपयुक्त पात्र सिद्ध कर दिया। ईरान में शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित की। सामंती सरदारों को नष्ट कर दिया गया। दक्षिणी ईरान से अंगरेजी आधिपत्य नष्ट हो गया।

स्वाधीन ईरान की समस्याएँ

स्वाधीन ईरान ने अपनी समस्याओं का निराकरण भली भांति किया। उसकी कठिनाइयों का वारापार न था। आर्थिक समस्या को सुलझाने के विचार से अमेरिकन परामर्शदाता बुलाये गये। रूस तथा इंगलैण्ड से अब भी उन्हें खतरा था। ईरान के मिट्टी के तेल के कारखानों तथा रेलवे लाइनों पर इंगलैण्ड का अधिकार था। यातायात के साधनों की बड़ी भारी कमी थी। बड़ी सावधानी से रजाखां ने अंगरेजों की चालों को विफल कर दिया।

ईरान की आथिक समस्याएँ और भी दुस्तर थीं। ईरान में आवश्यकतानुसार कपड़ा तैयार नहीं हो पाता, खाने की वस्तुओं के लिये भी दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ता है। ईरान से मिट्टी का तेल, कालीन तथा अफीम बाहर भेजी जाती हैं। विदेशी व्यापारियों की सद्भावनाओं से ईरान ने अपने बजट का घाटा बड़ी सफलता से पूरा कर लिया। १९३५ में देश का नाम भी फारस के स्थान पर ईरान हो गया।


ई रा न
अ र ब
मदीना
मक्का
अदन
अ फ्री का
अ र ब सा ग र
सिनक्यांग
मं गो लि या
ति ब्ब त
चीन
शंघाई
कैन्टन
फारमोसा
नागपुर
बम्बई
कलकत्ता
मद्रास
लंका
कोलम्बो
बं गा ल की खा ड़ी
स्याम

एशियाका भूचित्र

ईरान तथा तुर्की के इतिहास में कितनी सादृश्यतायें हैं। दोनों देशों में सैनिक अधिनायकों के नेतृत्व में देश की समस्याओं का समाधान हुआ है। दोनों देशों ने विदेशियों के बन्धन से अपने आपको मुक्त कर लिया है। दोनों देशों ने पाश्चात्य प्रणाली को स्वीकार किया है। विदेशियों के प्रभुत्व को पूर्णतया नष्ट करने के विचार से ईरान तथा तुर्की दोनों ने अपने अधिकारियों को विदेशी स्त्रियों से विवाह सम्बन्ध करने की अनुमति नहीं दी है। इन सादृश्यताओं के होते हुये भी दोनों में विभिन्नतायें हैं। रजाखां का व्यक्तित्व मुस्तफा कमालपाशा के व्यक्तित्व से अधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण है। तुर्की का आंदोलन तो अपनी राष्ट्रीयता को स्थापित करने के विचार से हुआ था मगर ईरानवासी अपने प्राचीन गौरव तथा मर्यादा को स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं। ईरान की जागृति का इतिहास देखने के पश्चात् हम तुर्की की जागृति का इतिहास देखेंगे।

तुर्की में राष्ट्रीयता

तुर्की के उस्मानी साम्राज्य के इतिहास का वर्णन करते हुये यह बताया गया था कि यह साम्राज्य उन्नीसवीं शताब्दि के अंत तक पतनोन्मुख होगया। उसके पतन के पश्चात् उसके अधीनस्थ प्रदेश स्वाधीन होने लगे। तुर्की का सुल्तान न तो इतना शक्तिशाली था कि वह अपने अधीनस्थ ईसाई प्रान्तों को भली प्रकार रख सके और न इतना उदार ही था जिससे वह इन लोगों का हृदय अपनी उदारता से जीत सके। परिणाम यह हुआ कि एक २ कर सभी प्रदेश स्वाधीन हो गए। तुर्की के पास कुस्तुन्तुनियां को छोड़ १९१४ ई० में कुछ न रहा। तुर्की का बटवारा इस कारण अधिक समय तक रुका रहा था कि पाश्चात्य जातियाँ जैसे रूस, आस्ट्रिया, हंगरी तथा जर्मनी तुर्की के बटवारे के सम्बन्ध में एकमत न थीं।

उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में जब आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र चला तो प्रत्येक योरपीय देशको यह आशा थी कि वे तुर्की को ऋण देकर उसके आर्थिक जीवन पर अधिकार करते जायेंगे और इस प्रकार दूसरे राष्ट्रों को हस्तक्षेप करने का अवसर न रहेगा। जर्मनी ने तुर्की में एक नवीन योजना चलानी चाही। वह योजना थी बर्लिन-बगदाद रेलवे लाइन। तुर्की की सरकार ने इसमें बहुत सी सुविधायें भी दीं। अंग्रेजों तथा फ्रांस ने इस योजना का विरोध किया और यह योजना विफल होगई।

इस प्रकार सम्राज्यवाद की विषाक्त नीति के परिणामस्वरूप तुर्की में भारी विक्षोभ उत्पन्न हो रहा था। तरुण तुर्कों का एक दल तुर्की में स्थापित हुआ। इस दल का उद्देश्य तुर्की के साम्राज्य को नये प्रजातंत्री आधार पर संगठित करना था। इस दल ने यह मांग सुल्तान अब्दुल हमीद के सम्मुख रखी कि सम्राज्य का विधान तथा संगठन प्रजातंत्री हो। सुल्तान ने यह बात स्वीकार कर ली। तरुण तुर्कों का दल अधिकारारूढ़ हुआ। किन्तु इसी समय प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ गया था। तुर्कों ने इस युद्ध में इस कारण जर्मनी का साथ दिया कि जर्मनी की सहायता से तुर्की को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया जा सकेगा। साथ ही तुर्की अपने शत्रु रूस से बदला ले सकेगा। इन सब कारणों से तुर्की ने जर्मनी का पक्ष लेकर प्रथम विश्व युद्ध में भाग लिया।

यह बात सभी को ज्ञात है कि इस युद्ध में जर्मनी के साथ तुर्की की भी पराजय हुई। तुर्की के सामने यह मृत्यु का निमंत्रण था। ऐसे समय तुर्की का केवल एक सहायक था। वह था उसका राष्ट्रवाद। और उस राष्ट्रवाद का जन्मदाता था गाजी मुस्तफा कमालपाशा।

मुस्तफा का जन्म सन् १८८० ई० में हुआ था। वह बड़ा मेधावी तथा होनहार विद्यार्थी था। गणित में प्रवीण होने के कारण उसे 'कमाल' की उपाधि मिली। कालिज छोड़ने के पश्चात् उसने सेना में नौकरी करली। उसे कुछ समय के लिये दमिश्क में निर्वासित कर दिया गया। कमाल के प्रयत्नों से तुर्की में क्रांति हुई। अब्दुल हमीद को विवश हो सन् १९०८ ई० में नया विधान स्वीकृत करना पड़ा। महायुद्ध के पश्चात् जब पराजित तुर्की को सैवरे की संधि मानने के लिये विवश किया गया तो कमालपाशा ने इस अपमान-जनक संधि का विरोध करने के लिये तुर्की राष्ट्रीय दल का निर्माण किया। जुलाई सन् १९१९ ई० में सभी राष्ट्रवादियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने सैवरे की संधि का विरोध किया और यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की तरह तुर्की को भी स्वाधीन होने का पूरा अधिकार है। कहना न होगा कि विजेता मित्र राष्ट्रों ने तुर्की की इस घोषणा का प्रतिकार बलपूर्वक किया। एक अंग्रेजी जनरल कुस्तुन्तुनियाँ पहुँचा और उसने तुर्की में फौजी शासन घोषित कर दिया। राष्ट्रवादियों ने अपनी स्वतंत्र सरकार तुर्की में स्थापित कर ली। एक नया विधान भी तैयार किया गया। अनेक आपत्तियों का साहस पूर्वक सामना करने के पश्चात् तुर्की के इस राष्ट्रवादी दल ने

तुर्की में सन् १९२३ ई० में जनतंत्र की घोषणा कर दी। गाजी मुस्तफा कमालपाशा तुर्की के सर्वप्रथम राष्ट्रपति हुये। लासाने की संधि द्वारा तुर्की ने सेवरे की संधि की अपमानजनक शर्तों को ठुकरा दिया।

कमाल ने प्रथम राष्ट्रपति के पदसे तुर्की से सभी पुराने रीति-रिवाजों को हटा दिया। यह सोचकर कि किसी भी राष्ट्र के लिये सबसे पहिले आत्मरक्षा आवश्यक है, कमाल ने सभी चुनावों को अपने हाथ में कर लिया। तुर्की से विरोधी दलों का अस्तित्व हटा दिया गया।

पाठकों को स्मरण होगा कि तुर्की का सुल्तान सारे इस्लामी जगत का नेता समझा जाता था। यहाँ तक कि जब सन् १९१९ ई० में तुर्की की पराजय के पश्चात् 'खिलाफत' को हटाने का प्रश्न छिड़ा था तो सभी संसार के मुसलमानों ने इस पर रोष प्रगट किया था। तुर्की ने नये विधान के अनुसार अपने आपको जनतंत्र घोषित किया था। जनतंत्र में उस्मानी खलीफाओं के अस्तित्व का क्या स्थान? राष्ट्रीय असेम्बली ने सन् १९२४ ई० में खिलाफत को हटा दिया। इतना ही नहीं, धार्मिक मामलों में सभी को समान अधिकार दे दिये गए। राजनैतिक मामलों में धर्म का स्थान न रहा। तुर्की समाज में स्त्रियों को सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया। बाल-विवाह की प्रथा हटा दी गई। पर्दे तथा बुर्के का रिवाज इच्छा पर निर्भर रहने लगा। स्त्री-शिक्षाका प्रचार पूरे जोर के साथ हुआ। राजनीतिक सभाओं के निर्वाचन में भी स्त्रियों को अधिकार दिया गया। इस्लामी संसार में शरियत तथा हदीस ही कानूनों के ग्रंथ समझे जाते हैं। तुर्की ने इन सब के विपरीत दीवानी, फौजदारी तथा सामाजिक नियमों को पार्लिमेन्ट द्वारा स्वीकृत कराया।

मुस्तफा कमालपाशा तुर्की के अधिनायक सन् १९३८ ई० तक रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस्मत् वहाँ के राष्ट्रपति बने। वे सन् १९४२ तक इस पद पर आरूढ़ रहे। उन्होंने भी तुर्की के संगठन तथा उन्नति की ओर ध्यान दिया। उस वर्ष ईराक, तुर्की, ईरान तथा अफगानिस्तान ने यह प्रतिज्ञा की कि वे एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करेंगे। १९३९ ई० में फ्रांस तथा इङ्गलैंड से इसी आशय की एक संधि हुई कि बाहरी आक्रमण का सामना वे मिलकर करेंगे।

अरबों में स्वाधीनता की लहर

ऊपर तुर्की के जागरण का वर्णन हो चुका है। जब तक योरपीय जातियों ने अरबों तथा तुर्कों को अलग रक्खा तब तक दोनों ने एक दूसरे का साथ दिया।

किन्तु जब तुर्की के सुलतान अब्दुल हमीद ने अरबों पर अत्याचार किये तो अरबों ने तुर्की के आधिपत्य से स्वतंत्र होने का बीड़ा उठाया। १९०५ ई० की क्रांति का प्रभाव अरबों पर भी पड़ा।

अरबों की जन्मभूमि फिलस्तान, सीरिया, ईराक तथा अरब हैं। ये चारों प्रांत ही बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में विदेशी शासकों के अधीन थे। विशेषतया तुर्की के साथ अरबों के सम्बन्ध बड़े कटु थे। अरब संख्या में अधिक होने पर भी असंगठित थे और उनमें इतनी क्षमता न थी कि वे अपनी स्वाधीनता के लिये प्रयत्न कर सकें। ऐसी क्षमता उत्पन्न करने वाला वहाँ एक नेता हुआ जिसका नाम हुसैन था। हुसैन मक्का के शासक थे। उनकी इच्छा तुर्कों को अरब से निकालने की थी। प्रथम महायुद्ध के समय उनकी शक्ति काफी बढ़ गई थी। उनकी बढ़ती हुई शक्ति का उपयोग मित्रराष्ट्रों ने किया। अरबों से लम्बे चौड़े वायदे किये गए। उन्हें बताया गया कि युद्ध के पश्चात् वे तुर्की के बंधन से मुक्त कर दिये जायेंगे। किन्तु वर्साई की संधि ने उनकी सभी आशाओं पर पानी फेर दिया। मित्रराष्ट्रों ने अरबों को तुर्की के बन्धन से अवश्य मुक्त किया किन्तु अपने बन्धन में जकड़ लिया। फिलस्तीन अंगरेजों के संरक्षण में आ गया। अपने आर्थिक तथा सैनिक लाभ के लिये अंगरेजों ने फिलस्तीन पर अपना बन्धन मजबूत कर दिया। उधर सीरिया को फ्रांस के संरक्षण में रक्खा गया। सीरिया पर अत्याचार करने में फ्रांसवालों ने कोई कसर नहीं रक्खी। आर्थिक रक्तशोषण के साथ-साथ उन्हें पग-पग पर राजनीतिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था। सीरिया को कई भागों में बाँट दिया गया और प्रत्येक भाग पर पृथक-पृथक रूप में अत्याचार किये गये। साम्राज्यवादी नीति का आश्रय लेकर अल्प-जातियों (ईसाइयों) को बढ़ावा दिया गया जिससे अरबों की स्वाधीनता नष्ट की जा सके। दमिश्क तथा अन्य नगरों पर भारी बम गिराये गए। बाजारों की दुकानों में आग लगा दी गई। ५०,००० फ्रांसीसी सैनिकों ने निरस्त्र जनता पर भारी अत्याचार किये। कहना न होगा कि इन घटनाओं से सभ्य संसार में खलबली मच गई और फ्रांस को विवश हो विधान परिषद् के सहयोग से एक नया विधान बनाना पड़ा किन्तु वह इतना असंतोष जनक था कि उसे धारा सभा ने अस्वीकृत कर दिया। १९३६ ई० में फ्रांस तथा सीरिया में एक और संधि हुई जिससे फ्रांस ने सीरिया की स्वाधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु फिर भी सीरिया की स्वाधीनता द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तक सक्रिय न बन सकी। महायुद्ध के पश्चात् सीरिया को

स्वाधीनता मिल गई फिर भी वहाँ फ्रांसीसी सेनाओं का आधिपत्य बना रहा। फर्वरी सन् १९४६ ई० में सीरिया ने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् में रक्खा। मई सन् १९४६ तक सभी विदेशी सेनायें सीरिया से हटा ली गईं।

दूसरा अरब प्रदेश फिलस्तीन था। फिलस्तान की समस्या सीरिया की समस्या से भी अधिक जटिल थी। फिलस्तीन अरबों का पवित्र स्थान था। साथ ही यहूदियों के पवित्र धार्मिक स्थान भी यहाँ मौजूद थे। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर बाल्फोर घोषणा द्वारा अंगरेजों ने १९१७ में फिलस्तीन में यहूदियों को उनके लिये एक स्थान दिलाने का आश्वासन दिया था। यहूदियों को फिलस्तीन में बसाने से अंगरेजों का लाभ ही लाभ था। यहूदी धनी थे। वे स्कूल खोल कर, सड़कें तथा अस्पताल बनवाकर फिलस्तीन के विस्तार तथा वृद्धि में सहायता दे सकते थे। अरबों को बाल्फोर घोषणा से बड़ा असंतोष हुआ। वर्साई की संधि द्वारा फिलस्तीन को अंगरेजों के संरक्षण में रख दिया गया। अरबों तथा यहूदियों के आपसी झगड़ों ने भयंकर रूप धारण कर लिया। इधर यहूदियों ने फिलस्तीन को समृद्धिशाली बनाने में कोई कसर नहीं रखी। तेल अबीब नामक नगर का निर्माण किया। मृतक सागर से पटाश निकाला और नये उद्योग धन्धों को जन्म दिया। अरबों को यहूदियों का यह वैभव फूटी आँखों न सुहाता था। उन्होंने यहूदियों की हत्या करने में कोई कसर न रखी। यहूदियों को खेती बाड़ी कराने के लिये अब मजदूर भी न मिलते थे। परिणाम स्वरूप बहुत से यहूदी फिलस्तीन से लौटने लगे। किन्तु कुछ समय बाद फिर यहूदियों का फिलस्तीन में आना प्रारम्भ हुआ, यहाँ तक कि १९३७ ई० में यहूदियों की जनसंख्या फिलस्तीन की जनसंख्या का २८ प्रतिशत हो गई। अरबों, यहूदियों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का पारस्परिक वैमनस्य इतना बढ़ा कि लार्ड पील ने अपनी रिपोर्ट में फिलस्तीन के बंटवारे पर जोर दिया। फिलस्तीन के तीन भाग किये जाने को थे। एक भाग में यहूदी जनता का बहुमत था, दूसरे में अरबों का (ट्रांसजोर्डन इस भाग में सम्मिलित था) और तीसरा भाग जिसमें जरुशलम तथा बैतलहम थे, अंगरेजों के संरक्षण में रखा गया। इस योजना का सभी ने विरोध किया। आखिर १९३९ में इंगलैण्ड ने फिलस्तीन के सामने एक और योजना रक्खी। इसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। युद्ध के पश्चात् फिलस्तीन का मामला फिर उठ खड़ा हुआ। नाजी जर्मनी के अत्याचारों से पीड़ित यहूदियों को फिलस्तीन में बसाने की सिफारिश राष्ट्रपति ट्रूमैन ने की। अरबों ने इस प्रस्ताव का घोर विरोध किया। इंगलैण्ड के आग्रह से फिलस्तीन

का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंपा गया। उसने एक कमिटी नियुक्त की। कमिटी ने इस बात पर जोर दिया कि फिलस्तीन को पूरी-पूरी स्वाधीनता दी जाये। साथ ही यह भी सुझाव रखा गया कि फिलस्तीन का बंटवारा हो जाये। असैम्बली का बहुमत बटवारे के पक्ष में था। यह प्रस्ताव किया गया कि फिलस्तीन में एक अरबों का राज्य हो, एक यहूदियों का और एक यरूशलम का। यहूदियों ने बटवारे के सिद्धान्त को मान लिया। इंगलैण्ड ने भी घोषणा की कि वह फिलस्तीन से अपना आधिपत्य अगस्त १९४८ तक हटा लेगा।

इस घोषणा ने फिलस्तीन में एक भयानक परिस्थिति उत्पन्न कर दी। अब प्रश्न यह उठा कि यदि बटवारे के सिद्धान्त को स्वीकार भी किया जाये तो उसे पूरा कौन करायेगा? यहूदियों ने निश्चय किया कि वे अपना स्वतंत्र राष्ट्र स्थापित करके ही मानेंगे। परिणामस्वरूप जैसे ही ब्रिटिश आधिपत्य फिलस्तीन से हटा, यहूदियों ने अपना स्वतंत्र राष्ट्र स्थापित कर लिया। यह राष्ट्र १४-१५ मई १९४८ को स्थापित हुआ। इसरायल इसका नाम था। एक मुट्ठीभर यहूदियों ने अपनी बात को रख कर ही दम लिया। इस नये राष्ट्र के नेता थे डा० वेजमेन और प्रधान मंत्री थे डेविड वेन-गुरियना। इधर ट्रांसजोर्डन के राजा अब्दुल्ला इब्न हुसैन जो अरब लीग के नेता थे, तथा यरुशलम के ग्रांड मुफ्ती, इसरायल राष्ट्र की स्थापना का घोर विरोध कर रहे थे। ऐसी दशा में संयुक्त राष्ट्रीय संघ के प्रतिनिधि डा० बनडोटी का कार्य कम जोखिम का न था। दुर्भाग्यवश उनका वध कर दिया गया। इसरायल राष्ट्र ने अपना संगठन अब अधिक दृढ़ बना लिया है। उसे संसार के अधिकांश देशों ने स्वीकार कर लिया है।

ऊपर ईराक में स्थापित हुई अंगरेजी संरक्षकता का वर्णन हो चुका है। यह संरक्षण १९१८ से १९२० ई० तक रहा। संरक्षण के स्थापित होते ही ईराक में असंतोष उत्पन्न हो गया। स्थान-स्थान पर अंगरेज अधिकारियों की हत्याएँ हुईं और बहुत सा देश अंगरेजी आधिपत्य से मुक्त कर दिया गया। इस पर अंगरेजों ने नम्रता से काम लिया। एक ईराकवासी को ही वहां का राजा बनाना चाहा। राष्ट्रवादी दल सैयद तालिब को राजा बनाना चाहते थे किन्तु अंगरेज फैजुल के पक्ष में थे। आखिर फैजुल राजा बने। उन्होंने बड़ी समझदारी से काम चलाया। देश में पाश्चात्य रीति-रिवाजों को जारी किया। उनकी नीति का परिणाम यह हुआ कि ईराक का अंतर्राष्ट्रीय जगत में ऊँचा स्थान हो गया। अक्तूबर १९३२ में ईराक को राष्ट्र संघ में स्थान मिल गया। फैजल प्रथम की

सन् १९३३ में मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् गाजी ईराक के राजा हुये। १९३९ में उनकी मृत्यु के पश्चात् फैजुल द्वितीय वहाँ के शासक बने।

हिन्द चीन

इस प्रदेश पर फ्रांस का आधिपत्य था। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर राष्ट्रपति विल्सन के स्वभाग्य-निर्णय का संदेश हिन्द चीन में भी पहुँचा। वहाँ के निवासियों ने भी फ्रांस के बन्धन से मुक्त होने का बीड़ा उठाया। इस प्रदेश में साम्यवादी विचारधारा का अधिक गहरा प्रभाव था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही वहाँ फ्रांसीसी आधिपत्य के विरुद्ध घोर आन्दोलन उठे। उन्हें बल-पूर्वक दबा दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस प्रदेश पर साम्यवादी विचारधारा ने और भी अधिक प्रभाव डाला। यहाँ के निवासियों ने वीट-नाम नामी प्रजातंत्र स्थापित करने का घोर प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी मिली। अब इस देश में साम्यवादी विचारधारा का पूरा वेग है। उसे रूस का भी पूरा सहयोग प्राप्त है।

हिन्देशिया

इस प्रदेश पर पहिले हालैण्ड का आधिपत्य था। हालैण्ड से यह देश जनसंख्या में सात गुना तथा विस्तार में चौसठ गुना अधिक है। हालैण्डवासियों ने इस समृद्धिशाली देश को चूसने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। रूस की क्रांति ने इस प्रदेश को भी प्रभावित किया। वहाँ पर भी एक साम्यवादी दल का संगठन हुआ। उसने किसानों तथा मजदूरों में साम्यवादी विचारों का प्रचार किया। हालैण्डवासियोंने इस जागृति का सामना बल-प्रयोग द्वारा किया। किन्तु मामला दिन पर दिन बिगड़ता गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तो इस विरोध ने बहुत भयंकर रूप धारण कर लिया। इधर हिन्देशिया अपने आपको प्रजातंत्र घोषित कर रहा था तो उधर हालैण्ड जापानी तथा अंगरेजी सैनिकों की सहायता से हिन्देशिया के आंदोलन को बलपूर्वक कुचल रहा था। मामला सुरक्षा परिषद् के सम्मुख आया। भारत तथा आस्ट्रेलिया ने परिषद् का ध्यान हिन्देशिया की बिगड़ी हुई दशा की ओर आकर्षित किया। अंत में सुरक्षा परिषद् ने हिन्देशिया की स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। हिन्देशिया ने अपने आपको जनतंत्र घोषित कर दिया है।

फिलीपाइन द्वीप समूह

यह द्वीप समूह सन् १८९८ ई० में अमेरिकावासियों को स्पेन से मिला था। पहिले तो अमेरिकावालों ने बड़ी उदारता से इस देश का शासन किया। किन्तु

कुछ समय पश्चात् जापान के प्रशान्त महासागर में अधिक शक्तिशाली होने से इस प्रदेश पर भी कठोरता से शासन होने लगा। अमेरिका की यह धारणा थी कि जापान के खतरे से प्रशान्त महासागर को बचाने के लिये इन द्वीप समूहों का अमेरिका के आधीन रहना आवश्यक है। उधर फिलिपाइनवासियों ने अपनी स्वाधीनता के लिये अधिक दृढ़ता से आन्दोलन किया। परिणाम यह हुआ कि स्वाधीनताप्रिय फिलीपाइनवासियों पर भाँति भाँति के अत्याचार हुए। अन्त में मार्च सन् १९३४ ई० में इन द्वीपों को स्वाधीनता मिल गई।

श्याम

कहने को श्याम कभी विदेशियों के बन्धन में नहीं गया किन्तु फिर भी वहाँ निरंकुशता का बोलबाला था। सन् १९३२ ई० में वहाँ एक क्रान्ति हुई जिसके परिणामस्वरूप इस देश में नियमानुमोदित शासन-प्रणाली की स्थापना हुई। निरंकुश राजाओं के दरबार में अंगरेजों का बोलबाला था। अब उसका अन्त कर दिया गया और देश में आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति का सूत्रपात हुआ।

उपसंहार

एशिया की क्रान्ति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो गया होगा कि समस्त एशिया में आज एक नई विचारधारा उत्पन्न हो गई है। आज एशिया अपने प्राचीन गौरव तथा महत्ता को समझ गया है और अपनी समस्याओं का निपटारा अपने आप करने के लिये उत्सुक है। भारत ने अपने प्राचीन गौरव के बल पर एशिया का नेतृत्व ग्रहण किया है और इसमें उसे आशातीत सफलता भी मिली है। अवश्य ही एशिया का रक्त शोषण शक्ति के मद में अंधे योरप ने किया था, मगर आज स्वयं योरप अपने कारनामों पर लज्जित है। एशिया की संस्कृति अजेय है। योरप की संगीनें उसे न तो नष्ट कर सकी हैं और न कर सकेंगी।

तेरहवां अध्याय

रूस में साम्यवाद

प्राक्कथन

रूस का विस्तृत प्रदेश योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में फैला हुआ है। यह साम्राज्य अठारहवीं शताब्दि में विश्व के महान् साम्राज्यों में से एक समझा जाता था। पीटर महान तथा कैथराइन के प्रयत्नों से यद्यपि यह देश आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था फिर भी उन्नीसवीं शताब्द का रूस चिथड़ों से ढका हुआ दानव था। विस्तृत होते हुए भी उसे एक छोटे से एशियाई प्रदेश जापान ने पछाड़ दिया था। रूस में ज़ारशाही का बोलबाला था। सर्वसाधारण के कोई अधिकार न थे। समानता रूसी समाज में नाम-मात्र को न थी। मदान्ध ज़ार अपनी विलासिता की वेदी पर सर्वसाधारण का गला घोंट रहे थे। आखिर सन् १९१७ ई० में रूस में एक विस्फोट हुआ। ज़ारशाही धराशायी हुई। युगों की सत्ता तथा वैभव नष्ट हो गये। सुधारवादी दल के हाथ में इस देश की बागडोर आई। मगर शताब्दियों की स्वेच्छाचारिता के गढ़ को यह सुधारवाद हटाने में असमर्थ था। परिणाम यह हुआ कि एक नवीन क्रान्ति रूस में हुई। इस क्रान्ति ने रूस अथवा योरप को ही नहीं बल्कि सारे विश्व को हिला दिया। यह क्रान्ति थी बोल्शेविक साम्यवादी क्रान्ति। आगे चलकर इस क्रान्ति से सभी पूंजीपति सरकारों को भय लगने लगा। इस परिच्छेद में पहिले हम रूस की इस क्रांति के कारण, फिर उसकी मुख्य घटनाओं को देखेंगे।

रूस की क्रांति के कारण

रूसी क्रांति (१९१७) के अवसर पर निकोलस द्वितीय रूस का ज़ार था। उसकी अधिकांश प्रजा कृषि के ऊपर निर्भर रहती थी। इन किसानों की दशा एकदम असंतोषजनक थी। यद्यपि सन् १८६० ई० के नियम द्वारा किसानों को गुलामी से मुक्त कर दिया गया था तथापि वे बहुत से आर्थिक बन्धनों में जकड़े हुये थे। कर्ज के भार से दबे हुये होने के कारण उन्हें अपनी भूमि साहूकारों को बेच देनी पड़ी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर बहुत से किसान अब भी साहूकारों की भूमि को गुलामों की तरह जोतते बोते थे।

इसी समय रूस में औद्योगिक क्रांति हुई। इस क्रांति के परिणाम स्वरूप कल-कारखानों में मजदूरी करने वालों की दशा एक दम असंतोषजनक थी। उन्हें प्रत्येक बात में मिल मालिकों का मुंह देखना पड़ता था। उनकी दुर्दशा का कोई ठिकाना न था। सरकार उनके ऊपर अधिकाधिक पाबन्दियां लगा कर उनकी स्वाधीनता का हनन कर रही थी। इस वर्ग में इस प्रकार क्रांति तथा असंतोष की सभी सामग्रियां उपस्थित थीं।

रूस में निरक्षरता का बोलबाला था। अज्ञान के अंधकार में फंसे रहने के कारण रूसी नागरिक भांति २ के सामाजिक दोषों के शिकार बने हुये थे। उन्हें शराब का दुर्व्यसन पड़ा हुआ था। नैतिक भ्रष्टता भी कुछ कम न थी। सर्वसाधारण अशिक्षित होने के कारण शिष्टाचार से एक दम अपरिचित थे। वे लोग धनिक वर्ग से घृणा करते थे और उसे संदेह की दृष्टि से देखते थे।

रूसी राजनीतिक जीवन एक दम पिछड़ा हुआ था। समाचार-पत्रों के ऊपर भारी प्रतिबन्ध थे। मजदूरों को एकत्रित होने तथा सभा करने की बिल्कुल मनाही थी। व्यापारिक तथा औद्योगिक संघ बनाने वालों को क्रांतिकारी ठहराया जाता था और क्रांतिकारी होने का अपराध था मृत्युदण्ड अथवा साइबेरिया में जीवन व्यतीत करना। जारशाही दमन द्वारा क्रांतिकारी आंदोलन को कुचलती थी। उधर क्रांतिकारी दल बम पिस्तौल से सरकारी कर्मचारियों की हत्या करने पर उतारू रहता था। स्वयं निकोलस द्वितीय के पूर्वज अलैक्जेन्डर की हत्या की गई थी। फिर भी जारों ने सर्वसाधारण को राजनीतिक सुविधायें तथा अधिकार देने की अपेक्षा उनका गला घोंटना अधिक श्रेयस्कर समझा।

इन सब कारणों के साथ साथ जार निकोलस द्वितीय उसकी पत्नी तथा उनके परामर्शदाता रासपुटीन का चरित्र सर्वसाधारण को रुष्ट करने के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी था। फ्रांस की क्रांति के अवसर पर जिस प्रकार स्त्री-भक्त लुई सोलहवें की निष्क्रियता सराहनीय थी उसी प्रकार निकोलस भी अपनी स्त्री के पूर्णतया आधीन था। निकोलस में इच्छा शक्ति का अभाव था। निकोलस दूसरे के बहकावे में जल्दी आ जाता था। चापलूसों तथा चाटुकारों के सामने वह अपना विवेक तथा निर्णय काम में लाने में सर्वथा अयोग्य था। जारीना विदेशी (जर्मन) राजकुमारी थी। प्रथम विश्व युद्ध के समय जब रूस तथा जर्मनी युद्ध कर रहे थे तो जारीना की ओर से लोगों में संदेह उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। जारीना के सलाहकार भी जर्मन थे। जारीना रूसी जनता को कुत्ते समझ

कर उनसे घृणा करती थी। जनता भी उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखती थी। जार तथा जारीना दोनों ही एक ढोंगी पादरी के प्रभाव में थे। वह पादरी था रासपुटीन। रासपुटीन ने अपनी मोहनी शक्ति का प्रभाव राजकुमार के ऊपर डाला था। राजकुमार को बहुधा दौरे वाला रोग हो जाया करता था। इस रोग का इलाज रासपुटीन अपनी दृष्टि द्वारा ही कर सकता था। कहना न होगा कि राजकुमार के प्राणरक्षक होने के कारण रासपुटीन ने जारीना तथा जार को अपने वश में कर लिया था। संक्षेप में रूस के ऊपर शासन करता था जार और जार के ऊपर शासन करती थी जारीना और जारीना वश में थी रासपुटीन के। रासपुटीन अव्वल दर्जे का लम्पट, दुर्व्यसनी तथा व्यभिचारी था। अनेक स्त्रियों का सतीत्व उसने नष्ट किया था। वह सदैव शराबियों तथा व्यभिचारियों से घिरा रहता था। ऊंचे से ऊंचे पदाधिकारी उसकी कृपा के इच्छुक रहते थे। जिस किसी ने भी उसकी इच्छा का विरोध किया उसे ही पद से हटना पड़ा। इन सब कारणों से सहज ही उस समय के असंतोष का पता लगाया जा सकता है। अब हम संक्षेप में क्रांतिकारी आंदोलन तथा रूस के राजनीतिक दलों का उल्लेख करेंगे।

जार शाही के विरुद्ध सबसे पहिला विद्रोह सन् १८२५ ई० में हुआ था। इस विद्रोह को आसानी से दबा दिया गया था और इसमें भाग लेने वालों को फांसियाँ दी गईं। कहना न होगा कि बाल्शेविक क्रांति के पश्चात् रूस ने इस क्रांति को जारशाही के विरुद्ध सबसे पहिला स्वाधीनता युद्ध माना था और १९२५ ई० में इसकी शताब्दि मनाई थी। इसके पश्चात् क्रांतिकारी दल ने अपना संगठन अधिक योग्यता से किया। इधर जार ने इन क्रांतिकारियों को साइबेरिया भेज कर ही दम लिया। तीन हजार मील इन बंदियों को बर्फ पर घसीटा जाता था। अनेक वीर मृत्यु वरते थे। रूस की बाल्शेविक क्रांति के नेता लेनिन को न जाने कितनी बार साइबेरिया के बर्फीले जेलखानों में यातनायें भोगनी पड़ीं। न जाने कितनी बार उन्हें देश निकाले की सजा मिली। उनके बड़े भाई को भी जार की हत्या के अभियोग में फांसी हुई थी। लेनिन का युवक हृदय इन अत्याचारों से तिलमिला उठा। उन्होंने जारशाही का अंत करने की प्रतिज्ञा की। अपने निर्वासनकाल में उन्होंने योरप के देशों का दौरा किया। वहाँ से समाचार पत्र निकाले। क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। जार के दमन से तंग आकर अनेक युवक स्विटजरलैंड तथा अन्य देशों में छिपे हुये थे। उन्होंने साम्यवादी तथा प्रजातंत्रवादी विचार धाराओं का प्रचार किया।

जारशाही के विरुद्ध असंतोष तो पहिले से बढ़ा हुआ था ही अब सन् १९०५ में रूस की पराजय से रूसियों की आँखें खुल गई। सरकार के प्रति उनका रोष तथा घृणा और भी बढ़ गई।

आखिर क्रांति का श्रीगणेश हो ही गया। बारह जनवरी सन् १९०५ रविवार को एक लाख मजदूरों का एक दल जार के शीतमहल की ओर चला। जार्ज गापोन इस जुलूस का नेता था। शांति पूर्वक यह जुलूस अपनी करुण कहानी जार से कहने जा रहा था कि जार के सैनिकों ने गोली चलानी शुरू कर दी। सहस्रों निर्दोष स्त्री पुरुष तथा बच्चे काम आये। सड़कें खून से रंग गई। वह दिन रूस के इतिहास में 'लाल रविवार' के नाम से विख्यात हुआ। पीछे ज्ञात हुआ कि गापोन पुलिस से भी मिला हुआ था और क्रांतिकारियों से भी। एक क्रांतिकारी ने गापोन की हत्या कर दी।

क्रांतिकारी आन्दोलन के प्रभाव से तंग आकर जार ने अब सुधारों की ओर ध्यान दिया। प्रजा को अपनी सम्मति से ड्यूमा (रूस की पार्लिमेन्ट) बनाने की अनुमति दे दी गई। ड्यूमा केवल सलाहकारी संस्था थी। इस सलाह को मानना या न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर था। मजदूर इस सुधार से संतुष्ट न हुये। उन्होंने देशव्यापी हड़तालें कीं। कारखाने के मजदूरों ने अपनी सभायें बनाई जिन्हें 'सोवियट' कहते थे। कालान्तर में सोवियटों की शक्ति बढ़ने लगी। सोवियटों ने अब जारशाही के साथ साथ अनुदार दल वालों की भी खबर लेनी शुरू की। जार के प्रधान मंत्री स्टोलिपन की हत्या जार के सामने ही कर दी गई। इसी समय प्रथम विश्व युद्ध की छाया ने रूस को घेर लिया। केवल बोल्शेविक दल के पांच सदस्यों को छोड़ सब ने युद्ध का समर्थन किया। इन पाँचों सदस्यों को साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। यहाँ रूस के मुख्य मुख्य राजनीतिक दलों का वर्णन आवश्यक है।

सोशल डिमोक्रैटिक पार्टी (सामाजिक जनतन्त्रवादी दल) :—इस दल के संस्थापक प्लेखानोव थे। कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों पर यह दल अवलम्बित था। इस दल का विचार था कि ज्यों ज्यों औद्योगिक पूंजीवाद का विकास होगा, त्यों त्यों मजदूर वर्ग अधिक संगठित हो क्रांति के लिये व्यग्र होगा। १९०३ ई० में इस दल में मतभेद हो गया। एक दल जिसका नेता लेनिन था इस बात पर जोर देने लगा कि दल को मध्यम वर्ग का सहयोग त्याग कर अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। यह दल बहुमत में होने के कारण बोल्शेविक कहलाया। इस दल

ने जारशाही के अंत के साथ साथ मजदूरों की सरकार तथा साम्यवादी समाज की स्थापना पर जोर दिया। मेन्शेविक दल अब भी पूजीपतियों तथा सम्पत्तिशाली वर्ग के सहयोग के पक्ष में था।

दूसरा मुख्य दल सामाजिक क्रान्तिकारी दल (सोशल रिवोल्यूशनरी पार्टी) था। इस दल का विचार था कि राजनीतिक सत्ता केवल मजदूरों के हाथ में न रह कर सभी लोगों के हाथ में—मजदूर, किसान तथा शिक्षित समुदाय के हाथ में रहे। सभी दल सहयोग के आधार पर समाज की उन्नति में सहयोग दें। संघ प्रणाली को यह दल आवश्यक समझता था। संघों को सभी अधिकार मिल जायें इस बात को भी यह दल चाहता था।

तीसरा दल कैडेट या लिबरल दल था। इसमें प्रगतिशील जमींदार अमीर लोग तथा शिक्षित समुदाय शामिल था। इस दल के नेता इतिहास के प्रोफेसर मिल्यूकोव थे। यह दल संगठित था और इसके सदस्य भी योग्य थे।

चौथा दल अराजकतावादी (अनारकिस्ट) था। यह दल सहयोग द्वारा प्रजातंत्र स्थापित करने के पक्ष में था। यह दल पार्लिमेंट सरकार आदि को अभिशाप समझता था। इस दल का उद्देश्य लोगों में सरकार के प्रति विद्रोहात्मक भावनायें उत्पन्न करना था।

इसी समय जब कि रूस में स्वेच्छाचारिता तथा दमन का बोलबाला था, प्रथम विश्व युद्ध में रूस कूद पड़ा। रूस के पास न युद्ध सामग्री थी न भोजन और न वस्त्र। शीत के कारण सिपाहियों का बुरा हाल था। चारोंओर दुर्व्यवस्था का साम्राज्य था। रेलें सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने में असमर्थ थीं। लाखों टन अनाज पड़ा-पड़ा सड़ रहा था जब कि युद्ध क्षेत्रपर सिपाहियों का भूख के मारे कचूमर निकला जाता था। प्रजा यदि सरकार का सहयोग युद्ध प्रयत्न में करना भी चाहे तो जारशाही उनके लिये भी तैयार न थी। करीब १२ करोड़ सिपाही युद्ध में शामिल थे किन्तु धीरे-धीरे वे इस युद्ध से ऊबने लगे। उनमें आत्मविश्वास न रहा। युद्ध क्षेत्र से भागना उन्होंने शुरू कर दिया।

आखिर पेट्रोग्राड की सन् १९१७ ई० की हड़ताल से रूस की क्रांति का श्रीगणेश हो गया। शहर की सेना ने हड़ताल में भाग लेनेवाले मजदूरों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर दिया। इसके कुछ ही दिनों पश्चात मार्च सन् १९१७ ई० में शहरों की जनता ने सरकारी कर्मचारियों तथा पुलिस पर आक्रमण किये और किसानों ने बलपूर्वक जमींदारों की जमीनें छीन लीं। ड्यूमा ने भी

सरकारी कर्मचारियों पर आरोप लगाये और क्रान्ति का समर्थन किया। जार ने ड्यूमा को भंग करना चाहा मगर उसने सोवियटों के सहयोग से शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया। राजकुमार ल्वोव इस सरकार के नेता थे। करेन्सकी न्याय मन्त्री थे। इस सरकार ने जार को सिंहासन त्यागने के लिये विवश किया। कुछ दिनों बाद जार तथा उसके परिवार को बन्दी बना लिया गया।

प्रारम्भ से ही ड्यूमा की इस अस्थायी सरकार की कठिनाइयों का आरपार न था। सोवियट का सहयोग मार्च १४ के उस आदेश के पश्चात् मिलना बन्द हो गया जिसमें कहा गया था कि सेना तथा जहाजी बेड़ा अस्थायी सरकार के उन आदेशों को न माने जो सोवियत नीति के विरुद्ध हों। सेना में इस प्रकार नियम पालन में शिथिलता आ गई। अप्रैल में बोल्शेविक दल के प्राण लेनिन ने रूस में प्रवेश किया। उन्होंने सोवियटों को ड्यूमा की अस्थायी सरकार के साथ सहयोग करने के कारण डाटा। उन्होंने मार्च की क्रान्ति की खिल्ली उडाई और यह बतलाया कि पूँजीपतियों तथा मध्यवर्ग के हाथों किस प्रकार मजदूरों तथा किसानों का हित बेच दिया गया है। उन्होंने सोवियटों को चेतावनी दी कि वे संगठित हो मजदूरों तथा किसानों की सरकार स्थापित करें। लेनिन धीरे-धीरे सोवियटों का संगठन कर राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिये प्रयत्न करते रहे। सैनिकों तथा मजदूरों ने आपसी मेल कर लिया। उधर अस्थाई सरकार भी कम सतर्क न थी। उसने सोवियट संघों को गैर कानूनी करार दे दिया और इस प्रकार दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। जुलाई में फिर क्रान्ति हुई और इस बार करेन्सकी प्रधान मन्त्री बने। समाजवादी दल का इस नई सरकार में बोलबाला था। यह नई सरकार भी देश में शान्ति स्थापित करने में असमर्थ रही। कारण स्पष्ट है। रूस में किसानों और मजदूरों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और वे लोग सोवियट संघों की ओर बढ़ रहे थे। किसानों ने जमींदारों की जमीन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। मजदूरों ने कल कारखानों पर। सोवियटों ने इन सब से सहानुभूति दिखलाई। किसान अपने जुलूस निकालते थे और 'रोटी शान्ति तथा जमीन' की माँग करते थे। सोवियटों ने इसी समय यह आश्वासन दिया कि रूस अपने आधीन किसी भी जाति को रखना नहीं चाहता है। परिणामस्वरूप सोवियटों और उनके नेता लेनिन के प्रति सभी लोग खिचने लगे। आखिर अक्तूबर सन् १९१७ ई० में उपयुक्त अवसर जान लेनिन ने दूसरी क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। ६ और ७ नवम्बर को पेट्रोग्राड पर आक्रमण हुआ और सभी मन्त्रियों को गिरफ्तार कर लिया गया। अन्त

में रूस की सर्वोच्च सत्ता इन्हीं लोगों के हाथ में आ गई। किन्तु रूस में इस क्रान्ति के विरोधी किसानों तथा मजदूरों को छोड़ लगभग सभी लोग थे। इन सब ने अपने आप को अब क्रान्ति के विरुद्ध संगठित किया। पग-पग पर क्रान्तिकारी सोवियटों को विरोध का सामना करना पड़ा। अनेक आपत्तियों के पश्चात् उन्होंने समस्त रूस पर अधिकार कर लिया।

विदेशी क्षेत्रों में उनकी कठिनाइयां और भी अधिक थीं। सोवियट सरकार की नीति थी कि समस्त गुप्त संधियों तथा समझौतों को रद्द कर दिया जाये। वे युद्ध में रूसी सिपाहियों का रक्त बहाना नहीं चाहते थे। आखिरकार ३ मार्च सन् १९१८ ई० को रूस तथा जर्मनी के बीच ब्रेस्ट-लिटोस्क की संधि होगई। रूस ने फिनलैण्ड लैटविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया यूक्रेन आदि से अपनी सेनायें हटालीं। इसके अतिरिक्त रूस को ६ अरब सोने के मार्क भी जर्मनी को देने पड़े।

मित्र राष्ट्र रूस की इस परराष्ट्र नीति से खीझ गये। उन्होंने सन् १९१८ ई० के अंत में रूस की नाके बन्दी भी की। रूस में आंतरिक विद्रोह तथा संघर्ष तो पहिले से ही हो रहे थे अब विदेशों के नाका बन्दी करने से वहाँ की जनता और भी क्षुब्ध हो उठी। फ्रांस के क्रांतिकारी दल की तरह सोवियट क्रांतिकारी भी उन्मत्त हो उठे और उन्होंने ज़ार, ज़ारीना तथा युवराज आदि की हत्यायें कर दीं। ज़ार के परिवार के सभी सदस्यों को मौत के घाट उतार दिया गया। इतना ही नहीं अमीरों तथा मध्यम वर्ग के सदस्यों पर भी सन्देह के कारण अत्याचार हुये और उन्हें तलवार के घाट उतार दिया गया। सन् १९१८ ई० में जब एक सामाजिक क्रांतिकारी दल के युवक ने लेनिन की हत्या करने का विफल प्रयत्न किया तो साम्यवादियों के प्रतिरोध की भावना और भी प्रबल हो गई। साम्यवाद के विरोधियों को चुन चुन कर मारा जाने लगा। इस प्रकार रूस में आतंक का राज्य रहा।

अब नई सरकार ने देश के विधान की ओर ध्यान दिया। बोल्शेविक दल अस्थाई सरकार का विरोध इस लिये कर रहे थे कि उसने विधान परिषद् का निर्माण नहीं किया था। पदारूढ़ होने के पश्चात बोल्शेविकों ने विधान-निर्मात्री परिषद् को बुलाया। इस परिषद् में बोल्शेविक दलवाले अल्प मत में थे। उनकी नीति की आलोचना इस परिषद् में जब हुई तो उन्होंने इस सभा को भंग करा दिया। अब खुल्लम खुल्ला रूस में बोल्शेविक दल का बोलबाला

हो गया। इसी दल ने रूस का नया विधान बनाया। अब हम इसी विधान का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

रूस का १९१८ का विधान

रूस के विधान का मूल सिद्धान्त साम्यवाद था। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य प्रबंध की सर्वोच्च सत्ता मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों के संघों में निहत थी। प्रत्येक नागरिक का सर्व प्रथम कर्तव्य था कि वह श्रम द्वारा अपना पेट भरे। प्रत्येक नागरिक को धार्मिक मामलों में पूरी आज़ादी थी। प्रत्येक नागरिक को अधिकार था कि वह शिक्षा प्राप्त करे। अधीनस्थ राज्यों का रक्तशोषण बंद कर दिया गया और प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार दिये गए। (*इस अधिकार से जमींदार, सूद का रुपया खाने वाले तथा पूंजीपति वंचित रखे गये।*)

रूस के शासन विधान की सर्वोच्च सत्ता रूसके सभी लोगों द्वारा चुनी हुई एक कांग्रेस में निहत थी। इस कांग्रेस का चुनाव सोवियटों द्वारा होता था। इस सभा के सदस्यों की संख्या रूस की जन संख्या के अनुपात से अर्थात् प्रत्येक २५,००० व्यक्तियों पीछे एक सदस्य चुना जाता था। इस कांग्रेस की एक कार्यकारिणी समिति होती थी जिसके लगभग ४०० सदस्य होते थे। कालान्तर में यह समिति भी बहुत बड़ी समझी जाने लगी। इसमें से ४० सदस्यों को चुना जाने लगा। ये सदस्य कमीसार कहलाते थे। ये ही लोग शासन-प्रबन्ध का कार्य्य चलाते थे।

रूस में स्थानीय स्वराज्य को भी प्रमुख स्थान दिया गया। इन संस्थाओं का चुनाव भी व्यवसायात्मक सिद्धान्त पर होता था—प्रदेशात्मक पर नहीं अर्थात् प्रत्येक पेशे के लोग अपने २ सदस्य चुनते थे। शहरों की सभाओं का चुनाव भी इसी सिद्धान्त द्वारा होता था। प्रत्येक नागरिक को जिसकी आयु १८ वर्ष थी, मत देने का अधिकार था।

रूस में अदालतों के पदाधिकारी (जज आदि) जनता द्वारा चुने जाते थे। दण्ड विधान से वे सब धारायें निकाल दी गईं जिनसे अपराधी को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट हो। 'दंड' के स्थान पर 'समाज-रक्षा के उपाय' का प्रयोग किया गया।

इस प्रकार रूस के १९१८ के शासन विधान की चार विशेषतायें थीं।

(१) रूस का विधान संघीय विधान था यद्यपि इस विधान में संघों को परिमित अधिकार दिये गये थे। संघीय अधिकारों की अपेक्षा केन्द्र के अधिकार

अधिक विस्तृत थे और केन्द्र को उन संघों के अधिकारों को हस्तगत करने का अधिकार था जिन्हें वह आवश्यक समझे।

(२) चुनाव प्रणाली प्रदेशात्मक होने के स्थान पर व्यावसायात्मक थी। प्रत्येक व्यवसाय के सदस्य अपने अलग प्रतिनिधि चुनते थे।

(३) चुनाव प्रणाली १९३६ ई० तक पूर्णतया परोक्ष थी। देहात के लोगों को सर्वोच्च अधिकारियों को चुनने का अधिकार परोक्ष रूप में था। अर्थात् रूसी जनता सर्व प्रथम गांव की सोवियट के सदस्यों को चुनती थी; ये सदस्य फिर जिला सोवियटों के सदस्यों को, जिले के सदस्य कमिश्नरियों के सदस्यों को। इस प्रकार यह चुनाव प्रणाली एक दम परोक्ष थी और गांव के किसान का देश की सर्वोच्च शासन सभा से कोई साधा सम्बन्ध नहीं रहता था।

(४) इस विधान में सरकार के कार्य्यों के विभाजन की कोई व्यवस्था न थी। यूनियन की कार्य्य कारिणी के हाथ में व्यवस्थापक, शासन तथा न्याय सम्बन्धी सभी प्रकार के अधिकार मौजूद थे।

सन् १९३६ के विधान द्वारा कई नये परिवर्त्तन शासन प्रबन्ध में किये गए। आज कल रूस का शासन इसी विधान द्वारा हो रहा है अतएव इसका वर्णन आवश्यक है।

१९३६ ई० का रूसी विधान

इस विधान में सर्व प्रथम रूसी समाजिक जीवन का संगटन बताया गया है।

इस विधान में कहा गया है कि रूस की यूनियन की सभी शक्तियों तथा अधिकारों का श्रोत मजदूर समाज है। रूस के समानवादी ढांचे को भी वैधानिक रूप से स्वीकार किया गया है और उत्पादन तथा विभाजन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया है। इस सामाजिक संगठन में शारीरिक तथा मानसिक श्रम को उच्च स्थान दिया गया है। उस नागरिक को भोजन पाने का अधिकार नहीं है जो किसी न किसी प्रकार के श्रम द्वारा समाज का हित साधन नहीं करता।

रूस के यूनियन में बहुत से जनतंत्र सम्मिलित हैं जिनमें रूस का जनतंत्र, यूक्रेन का जनतंत्र, अज़रबेजान का जनतंत्र, आदि मुख्य हैं। यूनियन की सरकार को दूसरे देशों से युद्ध तथा संधि करने, नये जनतंत्रों को इस यूनियन में शामिल करने, देश की रक्षा, व्यापार, नागरिकता के नियम स्वीकृत करने आदि बातों का अधिकार है। यूनियन के लिये कानून बनाने के लिये दो सभायें हैं।

यूनियन की सोवियट तथा अधीनस्थ प्रदेशों की सोवियट। यूनियन की सोवियट का चुनाव सभी नागरिकों द्वारा होता है। तीन लाख पीछे एक व्यक्ति जनता द्वारा चुना जाता है। प्रादेशिक सोवियट का चुनाव प्रत्येक जनतंत्र द्वारा स्वाधीन रूप से होता है। प्रत्येक जनतंत्रको २५ सदस्य चुनने का अधिकार है। दोनों सभायें मिलकर सोवियट के अध्यक्ष का चुनाव करती हैं।

यूनियन की तरह विभिन्न जनतंत्रों में भी कानून बनाने वाली दो सभायें हैं।

अन्य देशों की नाईं रूस में भी शासन-प्रबन्ध के लिये एक मंत्रिमंडल होगा जिसका नाम यू. एस. एस. आर. की प्रजा के कमीसारों की कौन्सिल है। इस कौन्सिल में आठ सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य एक अथवा अधिक विभाग के लिये उत्तरदायी है।

दसवें अध्याय में नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का उल्लेख है। अधिकारों में सर्वप्रथम अधिकार जीविका प्राप्त करने का है। अपने श्रम के बदले में उचित पुरस्कार पाने का भी प्रत्येक नागरिक को अधिकार दिया गया है। वृद्धावस्था में भोजन तथा विश्राम की व्यवस्था करना भी राज्य का कर्त्तव्य है। समाज तथा विधान में स्त्रियों का उच्च स्थान है। प्रत्येक नागरिक को भाषण, लेख तथा एकत्रित होने का पूरा पूरा अधिकार है। इसके साथ साथ ही प्रत्येक नागरिक से यह आशा की गई है कि वह देश के शासन-विधान की रक्षा करे, सामाजिक सम्पत्ति को सुरक्षित रक्खे तथा आवश्यकता के समय देश की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध रहे।

रूस के शासन-विधान को संक्षेप में देखने के पश्चात् अब हम वहाँ के आर्थिक संगठन तथा नवीन आर्थिक प्रयोगों का वर्णन करेंगे।

रूस की नवीन आर्थिक नीति (१९२१–२८)

पिछले पृष्ठों में हमने रूस के साम्यवादी संगठन की ओर संकेत किया है। हमने यह भी बताया था कि सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् सरकार ने किसानों को उकसाया कि वे इच्छानुसार जमींदारों की भूमि पर अधिकार कर लें। इस आज्ञा से किसानों की जमीन की भूख तो शांत होगई मगर साम्यवादी सरकार के सामने एक विचित्र समस्या उत्पन्न हो गई। वह समस्या थी उत्पादन पर सरकार का नियंत्रण। सरकार चाहती थी कि छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों के स्थान पर बड़े-बड़े फार्म बनें जिनसे अधिक वैज्ञानिक ढंग से कृषि हो और अधिक उत्पादन हो सके। मगर यह बात किसानों के भूमि पर अधिकार करने के कारण

सम्भव नहीं ज्ञात होती थी। फिर भी सरकार ने इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाया। १९२४ ई० में किसानों से कर अनाज के स्थान पर रुपयों में वसूल किया जाने लगा। साथ ही १२ करोड़ एकड़ भूमि पर सरकार ने १५० फार्म खोले और आधुनिक यंत्रों की सहायता से उत्पादन को बढ़ाना चाहा। १९२८ के पश्चात् सरकार को इस क्षेत्र में काफी सफलता मिली।

सरकार ने व्यापार के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप किया। उपभोक्ताओं की सहयोग समितियां स्थापित हुईं। सरकार स्वयं अपनी दूकानों से फुटकल सौदा बेचने लगी। साथ ही निजी दूकानदारों को भी अपना व्यापार करने की अनुमति मिली। छोटे छोटे कल कारखानों को राज्यबंधन से मुक्त कर दिया गया। जिन कारखानों में बीस से कम कर्मचारी थे, उन्हें अपना स्वतंत्र उत्पादन करने दिया गया। राजकीय बैंक खोले गये जिससे व्यापार में सुविधा मिल सके।

इस नवीन आर्थिक नीति का परिणाम यह हुआ कि व्यापार की दशा उन्नत हुई। व्यापार के ऊपर जनसाधारण का अधिकार हो गया। व्यापार की उन्नति से मध्यम वर्ग ने खूब रुपया कमाया। मगर सरकार इस वर्ग के विरुद्ध थी। उसने इस परिस्थिति का सामना सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देकर किया। १९२८ ई० में सरकार ने पञ्चवर्षीय योजनाओं द्वारा रूस के आर्थिक निर्माण में सहयोग दिया। इन योजनाओं का श्रेय लेनिन के उत्तराधिकारी स्टालिन को है। लेनिन की मृत्यु सन् १९२४ ई० में हो गई। साम्यवाद को क्रियात्मक रूप में स्थापित करने का श्रेय उन्हीं को है। इस युग के महानतम व्यक्तियों में से वे एक थे। अपने त्याग, तपस्या तथा नैतिक बल से उन्होंने न केवल जारशाही का अंत किया वरन् विश्व में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उनके नाम पर पेट्रोग्राड शहर का नाम लेनिनग्राड हो गया। आज भी उनका शव सुरक्षित है और दर्शक के हृदय में इस महापुरुष के प्रति उच्च भावनाएं पैदा करता है।

उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उठा। ट्राट्स्की जो लेनिन के दायें हाथ रह चुके थे—और स्टालिन जो साम्यवादी दल के मंत्री थे—नेतृत्व के लिये आगे बढ़े। इन दोनों में से कौन रूस का शासक बने? स्टालिन ने बड़ी योग्यता से अपने आपको लेनिन का उत्तराधिकारी साम्यवादी दल द्वारा निर्वाचित कराया और फिर ट्राट्स्की को देश से निर्वासित कर दिया। कुछ वर्षों बाद उसके समर्थकों को सैनिक न्यायालयों के सम्मुख लाया गया और उन्हें मृत्युदंड मिला।

सन् १९२८ ई० में स्टालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजना को रूस के सम्मुख रक्खा। इस योजना का उद्देश्य रूस के औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाना

था। इस योजना का अभिप्राय मिट्टी के तेल तथा कोयले के उत्पादन को दुगुना तथा लोहे के उत्पादन को तीन गुना करना था। स्टैलिन जानता था कि यह सब हो सकता है नागरिकों के सहयोग से ही। नागरिकों के सहयोग का परिणाम यह हुआ कि पांच वर्ष के स्थान पर यह योजना दो वर्ष में ही सफल हो गई। तुर्किस्तान-साइबेरिया-रेलवे लाइन भी समय से पहिले ही बन गई। कृषि के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई। ६० प्रतिशत भूमि पर सामूहिक रूप में कृषि होने लगी। एक फार्म के अंतर्गत तो ढाई लाख एकड़ भूमि थी।

किन्तु यह सब होते हुये भी यह उन्नति स्थायी न दिखाई पड़ती थी। कारण स्पष्ट था। रूस में मशीनें जरूर लग गई थीं किन्तु चतुर कारीगरों के अभाव में उन्हें चलाना एकदम असम्भव था। फिर भी इस योजना द्वारा रूस ने अपनी आर्थिक दशा में पर्याप्त उन्नति की। जनवरी सन् १९३३ ई० में दूसरी योजना अमल में आई। इस योजना ने उत्पादन की मात्रा के स्थान पर उसकी अच्छाई पर ज्यादा जोर दिया। आवागमन के साधनों का भी अधिक ध्यान रक्खा गया। यह योजना भी सन् १९३७ में समाप्त हो गई। फिर तीसरी १९३८ में चालू हुई। इन योजनाओं ने द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने तक रूस के उद्योग धंधों को इतना उन्नत कर दिया कि रूस जर्मनी से दूसरे महायुद्ध में सफलता पूर्वक मोर्चा ले सका।

रूस की विदेशी नीति

रूस के साम्यवादी होने से उसके ऊपर एक महान उत्तरदायित्व आ पड़ा। वह उत्तरदायित्व था सारे विश्व में साम्यवाद का प्रचार और मजदूरों की सरकार की स्थापना। १९१९ ई० में मास्को में पहले साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय संघ First Communist International की स्थापना हुई। साम्यवादी सरकार की इससे पूरी सहानुभूति थी। इसका मुख्य कार्यालय भी मास्को में था। पहिले तो सरकार ने इस संघ को आर्थिक सहायता भी दी किन्तु बाद में पूंजीवादी देशों के विरोध के कारण उस सहायता से हाथ खींच लिया।

पहिले पहल रूस ने अपनी शांति का पक्ष लेकर अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं में प्रमुख भाग लिया। उसने फारस में स्थित अपने विशेषाधिकारों को छोड़ दिया। तुर्की में जो आर्थिक अधिकार उसे प्राप्त थे वह भी छोड़ दिये गए। बाकू में उन्होंने पूर्वी प्रदेशों को बताया कि रूस उनको साम्राज्यवाद का अंत करने में भरसक सहायता देगा। रूस अपने को योरप की अपेक्षा एशिया के अधिक

समीप समझता था और इसी कारण उसने एशिया प्रदेशों को उकसाया कि वे योरपीय साम्राज्यवाद को पछाड़ दें। किन्तु उसे अपने इस प्रयत्न में अधिक सफलता न मिली।

कुछ समय बाद रूस ने अपनी परिस्थिति को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। वह इस बात का प्रयत्न करने लगा कि उसके नये रूप को सभी देश स्वीकार कर लें। सन् १९२४ ई० तक इटली इंगलैण्ड, जर्मनी आदि देशों ने रूस की नवीन सरकार को स्वीकार कर लिया। सन् १९३४ ई० में रूस राष्ट्रसंघ का भी सदस्य हो गया और उसे संघीय कौंसिल में भी एक स्थायी स्थान मिल गया।

इस समय तक योरप में तानाशाही का उदय तथा उत्थान हो चुका था। इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस की संतुष्ट करने की नीति से जर्मनी तथा इटली के हौसले बढ़ते जा रहे थे। रूस ने प्रत्यक्ष देख लिया कि लंदन तथा पेरिस का नेतृत्व संतुष्ट करने में किस हद तक जा सकता है। जेकोस्लोवाकिया का जिस ढंग से हरण हुआ उससे रूस की आँखें खुल गईं। उसने अपनी स्थिति को दृढ़ बनाने के विचार से जर्मनी के साथ संधि कर ली। इन सब घटनाओं का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ हम केवल रूस की क्रांति की विश्वसभ्यता के लिये क्या देन रही इस बात पर विचार करेंगे।

रूस की क्रांति की विश्व के लिये देन

अमेरिका तथा फ्रांस की क्रांतियों की अपेक्षा रूस की क्रांति विश्व इतिहास में अधिक महत्व की घटना है। अमेरिका तथा फ्रांस की क्रांतियों के परिणामस्वरूप राजनीतिक तथा सामाजिक समानतायें विश्व के सामने क्रियात्मक रूप में आईं। इन दोनों क्रांतियों की सफलता का श्रेय मध्यम वर्ग को था। मध्यमवर्ग के ही हाथ में अब तक समाज की बागडोर थी। सभी प्रश्नों का निपटारा धन के बल पर होता था। राजनीतिक क्षेत्र में समानता होते हुये भी आर्थिक क्षेत्र में भारी विषमता होने के कारण एक धनी आदमी अपने रुपये के बल पर निर्धनों का वोट खरीद सकता था। प्रजातंत्र के सभी प्रश्नों का निर्णय रुपये के ही बल पर होता था। किन्तु रूस ने जिस सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया उसमें मध्यमवर्ग अथवा पूँजीपतियों के लिये कोई स्थान न था। उनके विचार से अब ऐसा समय आया था जब सभी आर्थिक राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्नों का निर्णय मजदूरों तथा किसानों के बलबूते पर होने लगा। आज दो शताब्दियों का शोषित वर्ग आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों का निर्णायक

हुआ। जहाँ केवल एक अल्प संख्यक वर्ग अपने रुपये तथा बुद्धि के बल पर सभी समाज को नचाता था वहाँ अब मजदूर तथा किसान उस वर्ग को नचाने लगे। साथ ही सम्पत्ति का प्राप्त करना इस सामाजिक व्यवस्था में सबसे बड़ी अयोग्यता थी। अब तक जो वर्ग दूसरों के परिश्रम तथा धन पर फला फूला था अब उसके स्थान पर शोषित वर्ग सत्तारूढ़ हुआ। जहाँ इस वर्ग ने घोर नैराश्य तथा आपत्तियों में दिन काटे थे वहाँ अब उसी के हाथ में शासनाधिकार थे।

एक बात और। रूस पहिला प्रदेश था जिसने शारीरिक श्रम को राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। अब तक कला, विज्ञान, धर्म फले फूले थे मुनाफाखोरों, सूदखोरों तथा पूंजीपतियों के सहारे से। अब यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि पूंजीपति वर्ग चोर है और चोर को राजनीतिक जीवन में कोई अधिकार नहीं मिलना चाहिये। जिस सिद्धान्त को रूसो ने प्रतिपादित किया था कि 'वह मनुष्य संसार का सबसे बड़ा शत्रु था जिसने भूमि के एक टुकड़े पर अधिकार कर कहा था कि यह मेरा है,' उसी सिद्धान्त को आगे बढ़ाना और उसे क्रियात्मक रुप देना साम्यवादी क्रांति का ही काम था। सम्पत्ति की योग्यता को अभिशाप समझ कर केवल शारीरिक तथा मानसिक श्रम करनेवालों को ही मताधिकार दिया गया। जिस वर्ग को कुत्ते की तरह दुतकारा जाता था, जिसके दुधमुंहे बच्चे नालियों में पड़े-पड़े अपना शैशव बिताते थे, जिसकी रमणियां पेट के लिये वेश्याचार स्वीकार करती थीं आज वही वर्ग रूस में अधिनायक बना हुआ है। उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय तथा सुखी जीवन व्यतीत करने का राज्य की ओर से अधिकार प्राप्त है। इसमें संदेह नहीं कि रूस में आज कोई निजी सम्पत्ति प्राप्त करने का उपदेश नहीं दे सकता। वहाँ के आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन के विरुद्ध कोई प्रचार नहीं कर सकता तथापि इसका कारण एक मात्र यही है कि रूस अपने आपको पूंजीवाद से घिरा हुआ पाता है। उस पूंजीवाद से अपनी सभ्यता को बचाना इसका मुख्य उद्देश्य है। उसकी रक्षा के लिये वह प्रत्येक समय प्रस्तुत है। वह ऐसा आंदोलन नहीं करने दे सकता जिससे राज्य के आधारभूत सिद्धान्त पर आक्रमण हो। वहाँ निजी सम्पत्ति की बातें करना राजविद्रोह है और उसका दंड है मृत्यु। उसने विवश हो पूंजीवादी संसार से अपनी रक्षा की है। सम्भव है आगे चल कर अधिक देशों में साम्यवादी समाज का संगठन होने से लोग साम्यवाद के सिद्धान्तों की सत्यता समझ ऐसी दंड-व्यवस्था की आवश्यकता न समझें। किन्तु जब तक वैसा न हो रूस की वर्तमान नीति सर्वथा उचित है।

चौदहवां अध्याय

विश्व में तानाशाही

प्राक्कथन

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व में जो असंतोष हुआ उसके परिणाम स्वरूप तानशाहों का युग प्रारम्भ हुआ। युद्ध के पश्चात् बेरोजगारी ने संसार के सभी देशों पर अपना आतंक जमाया। युद्ध से लौटे हुये सैनिकों को पेट भरने के लाले पड़ गये। महामारियों तथा दुर्भिक्षों का बोलबाला रहा सो अलग। फिर हुआ विजित देशों के उपनिवेशों तथा प्रदेशों का बटवारा। इंगलैण्ड, फ्रांस तथा इटली ने बदला लेने की भावना का पूरा-पूरा परिचय दिया। 'आत्म-निर्णय' तथा प्रजातंत्र की बातें हवा हो गईं। पराजित देशों को अधिक से अधिक निर्बल बनाया गया। उनकी सेनायें घटाई गईं और उनके जहाजी बेड़े डुबा दिये गए। उनके उपनिवेश, खनिज पदार्थ, व्यापार, उद्योग-धन्धों तथा जीवित रहने के साधनों पर विजेताओं का अधिकार हुआ। किसी को सार की घाटी मिली तो किसी को ईराक तथा फिलस्तीन। संक्षेप में ऐसी लूट वर्साई की संधि द्वारा हुई जैसी इससे पूर्व कभी न हुई थी। लुटेरे एक मत हों सो बात नहीं है। उनमें से भी कुछ ऐसे थे जो इस समझौते से पूर्णतया असंतुष्ट थे। उधर विजित देशों की तोड़ फोड़ कर उन्हें उनकी इच्छा के विपरीत दूसरे देशों से बांध दिया गया। परिणाम यह हुआ कि वर्साई की संधि के लगभग बीस वर्ष पश्चात् विश्व में एक दूसरा भयंकर विस्फोट हुआ। यह विस्फोट पहिले से कहीं अधिक भयंकर था। इस अध्याय में हम विश्व इतिहास की इन बीस वर्षों (१९१९-३९) की घटनाओं का अवलोकन करेंगे।

वर्साई के पश्चात् जर्मनी

प्रथम विश्वयुद्ध को प्रारम्भ करने का दोष मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के ऊपर थोपा। यद्यपि विल्सन के आदेशानुसार जर्मनी की प्रजा ने अपने यहाँ प्रजातंत्र स्थापित कर लिया था और विलियम कैसर को सिंहासन से हटा दिया था फिर भी जर्मनी युद्ध के दोष से मुक्त न हो सका। वर्साई की संधि की शर्तें इतनी कठोर थीं कि जर्मनी उन्हें कदापि नहीं भूल सकता था। इन अपमानजनक शर्तों

के स्वीकार करने से जर्मनी के स्वाभिमान को बड़ी ठेस लगी। फिर फ्रांस ने उसके उपजाऊ तथा खनिज पदार्थों से परिपूर्ण भाग पर अधिकार कर लिया। फ्रांस ने रूहर घाटी के प्रश्न को लेकर जर्मनी से झगड़ा छेड़ दिया, राइन प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया और हरजाने की रकम को वसूल करने के लिये जर्मनी को बहुत परेशान किया। फ्रांस के प्रधानमन्त्री पाइनकारे ने तो जर्मनी को नाराज करने में कोई कसर नहीं रक्खी। उसके असभ्यतापूर्ण व्यवहार से खीझ कर एक जर्मन राजनीतिज्ञ ने कहा था "जर्मनी को दो आदमियों ने संगठित किया था; एक बिस्मार्क ने और दूसरे पाइनकारे ने।"

इन कठिनाइयों के साथ-साथ जर्मनी की आर्थिक दशा का बिगड़ जाना भी परिस्थिति को बिगाड़ने में कम उत्तरदायी न था। देश की अधिकांश आय हरजाने के रूप में चली जाती थी, जो कुछ बचता था वह देश में बढ़ी हुई बेकारी तथा भिखमङ्गी का सामना करने में अपर्याप्त था। गरीबों की हालत शोचनीय होती जा रही थी। ऐसे समय जर्मनी में जनतंत्र स्थापित हुआ। यह जनतंत्र नागरिकों को पूर्ण राजनीतिक अधिकार दे रहा था। इसका निर्माण 'वीमर विधान' के परिणामस्वरूप हुआ था। सर्व साधारण द्वारा चुने गए सभापति की व्यवस्था थी। शासन प्रबन्ध को चलाने के लिये एक प्रधान मन्त्री और उसके साथी मंत्रियों के चुनाव की व्यवस्था थी। कानून बनाने के लिये रीशटाग और रीशराट नामक दो सभायें थीं। उससे भी अधिक एक और विशेषता थी। चुनाव प्रणाली आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के सिद्धान्त पर थी। इस प्रकार जर्मनी का यह जनतन्त्र पूर्ण रूप से प्रजातन्त्री सिद्धान्तों के अनुकूल था। सौभाग्य से जर्मनी का नेतृत्व भी हिंडनबर्ग नामक एक राजनीतिज्ञ कर रहे थे। किन्तु उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुये भला जनतन्त्र कैसे सफल हो सकता था?

जनतंत्र ने एक और भूल की। अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दब्बूपन की नीति से काम लिया। उसने फ्रांस की अनुचित शर्तों को स्वीकार कर लिया, अपनी पाबंदियों को मिटाने के स्थान पर बढ़ाया। जर्मनी का युवक समाज अपने नेताओं की इस कायरता तथा गद्दारी पर खीझ उठा। युवक समुदाय ऐसे नेतृत्व के लिये व्यग्र हो उठा जो उसे अवनति, अपमान तथा पतन के गर्त से उठा उन्नति, मान तथा उत्थान की ओर ले चले। वह नेता था हिटलर।

हिटलर जर्मनी के रंग मंच पर मनोवैज्ञानिक क्षण पर उपस्थित हुआ। राष्ट्रीय अपमान को सहते-सहते सभी युवक अधीर हो गये थे; साम्राज्यवादी

वीरों की निन्दा सुनते सुनते उनके कान फूट गये थे; जिस तत्परता से साम्राज्यवादी ध्वजा का तिरस्कार किया गया था उसे भी वे भूले न थे; जर्मनी की संस्कृति तथा संदेश का जो निरादर हुआ था उसे वे भूलने के लिये कदापि तैयार न थे। कहना न होगा कि हिटलर ने इस सब परिस्थिति को समझ लिया। प्रचार से, व्याख्यान से, राष्ट्रीय गायन द्वारा, जर्मन संस्कृति की पवित्रता तथा उच्चता के राग अलाप कर उसने जर्मनी के वीरों में एक नवीन मंत्र फूंका और सब जर्मन जाति को एक लक्ष्य की ओर प्रेरित किया।

हिटलर नात्सी दल का नेता था। इस दल का जन्म सन् १९१८ में हुआ था। हिटलर आस्ट्रिया का नागरिक था और आस्ट्रिया में ही इस दल का सूत्रपात हुआ था। 'मेरा संघर्ष' नामक पुस्तक में हिटलर ने बतलाया कि राज्य की सर्वोच्च सत्ता शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथ में रहनी चाहिये। नेताओं का मुख्य उद्देश्य है शासन प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलाना। इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें किसी विरोध की चिंता नहीं करनी चाहिये। हिटलर जर्मनी की वंशानुगत पवित्रता में दृढ़ विश्वास रखता था। उसकी नीति के अनुसार यहूदी जर्मन पवित्रता के सबसे बड़े शत्रु थे। उनको नष्ट करना हिटलर के कार्यक्रम का प्रमुख अंग बन गया। कोई यहूदी जर्मनी में कोई नौकरी नहीं कर सकता था; किसी प्रकार का व्यवसाय करना अथवा पुस्तक आदि प्रकाशित करना भी उसके लिये पूर्णतया वर्जित था। उनकी सम्पत्ति भी छीन ली गई और उन्हें विवश हो जर्मनी छोड़ विदेशों में शरण लेनी पड़ी।

तत्पश्चात् हिटलर ने शासन प्रबन्ध में भी नात्सी प्रभुत्व की स्थापना की। प्रान्तीय धारा सभायें भंग कर दी गईं। सर्वसाधारण को मत देने का अधिकार भी न रहा। प्रत्येक प्रान्त में हिटलर द्वारा नियुक्त अधिकारी रक्खे गये। हिटलर का इनके ऊपर पूरा पूरा आधिपत्य होता था। नात्सी दल के अतिरिक्त सभी राजनैतिक दल नष्ट कर दिये गए। साम्यवादियों पर सर्व प्रथम प्रहार हुआ। इस प्रकार हिटलर का जर्मनी पूर्णतया स्वेच्छाचारी राष्ट्र बन गया। चारों ओर हिटलर की शक्ति का ही बोलबाला था।

आर्थिक क्षेत्र में भी हिटलर ने सुधारों का बीड़ा उठाया। हड़ताल गैर कानूनी करार कर दी गई। उद्योग धंधों में सहकारिता का सिद्धान्त जारी किया गया। विदेशों से व्यापार करते समय भी राष्ट्रीय हित का ध्यान रक्खा गया। आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक हो इस बात का विशेष प्रयत्न किया गया। स्वदेशी उद्योग धंधों को प्रोत्साहन मिला। कच्चे माल की उपज बढ़ाने की ओर भी ध्यान दिया गया।

हिटलर जानता था कि उसकी शक्ति का आधार सैनिक बल है। नात्सी दल तो अपनी सैनिक योग्यता के कारण हिटलर का सहायक था ही, साथ ही समस्त जर्मन जाति के लिये सैनिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य्य कर दिया गया। हवाई जहाज, टैंक, बम आदि से भी देश को पाट दिया गया। सेना के सुयोग्य संचालन का भी ध्यान रक्खा गया। मेजिनो पंक्ति के आस पास जर्मनी ने अपने किलों की पंक्तियां खड़ी कीं जिससे आवश्यकता के समय उनसे काम लिया जा सके।

इस प्रकार नात्सी दल ने जर्मनी में सैन्यवाद का बोलबाला कर दिया। जो जर्मनी पहिले फ्रांस तथा अन्य मित्र राष्ट्रों की दया पर निर्भर था उसने अब न केवल अपना पुराना प्रदेश जीत लिया बल्कि जर्मनी के बाहर आस्ट्रिया, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया आदि पर भी अधिकार कर लिया। सार की घाटी, राइन प्रदेश आदि सब पर जर्मनी का अधिकार था। देश में कल-कारखानों की प्रचुरता थी। आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में यद्यपि स्वाधीनता किसी को न थी तथापि सभी हिटलर की नीति से संतुष्ट ज्ञात होते थे क्योंकि उसने जर्मनी को संसार की दृष्टि में इतना ऊंचा उठा दिया था। हां, उसकी नीति से योरप की शांति अवश्य खतरे में पड़ गई थी और योरप के राजनीतिज्ञों को यह शंका होने लगी थी कि योरप की शांति क्षणिक है और उसे अवश्य ही एक भयंकर विस्फोट का सामना करना पड़ेगा। यहाँ हम जर्मनी के दूसरे भाई इटली की फासिस्टवादी नीति का वर्णन करेंगे।

इटली का फासिस्टवाद

प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर इटली यद्यपि विजेताओं के साथ था तथापि उसकी निराशा का कोई ठिकाना न था। इस युद्ध में उसने अपनी सामर्थ्य से अधिक भाग लिया था। सिपाहियों की संख्या कुछ कम न थी। रुपया भी बहुत काफी लगा था। परन्तु लाभ उठाया इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने। यहाँ तक कि डालमतिया का प्रदेश भी जिसके ऊपर इटली आंख लगाये बैठा था उसे न मिल सका। इधर इटली की आंतरिक दशा बड़ी डांवाडोल थी। हड़तालों का बाजार गर्म था। उत्पादन का नाम तक न था। पुलिस तथा सेना शांति स्थापित रखने में असमर्थ थी। प्रजा इस सब दुर्व्यवस्था के लिये सरकार को दोषी ठहराती थी। प्रत्येक इटलीवासी के अंदर यह विश्वास घर कर रहा था कि इटली का प्राचीन गौरव फिर से स्थापित होना चाहिये। रोम, जेनेवा,

वेनिस का वैभव अब कहाँ था ? क्या वह फिर से नहीं लाया जा सकता ? इटली की यह नीति जहाँ आर्थिक थी वहाँ राष्ट्रीय भी कुछ कम न थी। सभी इटली-वासी इस बात का स्वप्न देखने लगे कि जैसे हो इटली का औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित होना चाहिये और उसका गौरव भूमध्यसागर पर स्थापित हो। यही फासिस्टवाद की उन्नति का मुख्य कारण था और इस फासिस्टवाद का जन्मदाता था मुसोलिनी।

मुसोलिनी का जन्म १८८३ ई० में हुआ था। मुसोलिनी ने अध्यापक की तरह जीवन आरम्भ किया किन्तु कुछ समय पश्चात उसने एक समाजवादी पत्र का सम्पादन आरम्भ किया। १९१४ ई० में विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने पर उसने इटली के युद्ध में सम्मिलित होने का समर्थन किया। वह स्वयं युद्धक्षेत्र पर भी गया। युद्ध में इटली की विजय हुई किन्तु इटली को आशातीत लाभ नहीं हुआ। उसने युद्ध से लौटे हुए सैनिकों की सभायें कीं और अपने कार्य्यक्रम को बताया। उसे साम्यवादियों तथा समाजवादियों से पूरी घृणा थी। उन दोनों से युद्ध करना फासिस्टों ने आवश्यक समझा। सरकार तमाशा देखती थी। युद्ध में फासिस्टों ने साम्यवादियों तथा समाजवादियों को परास्त कर दिया। काली कमीजें फासिस्टों की पोशाक थी और वे रोमन ढंग से प्रणाम करते थे। जब उसका दल काफी संगठित होगया तो उसने रोम पर आक्रमण किया। अक्तूबर १९२२ में राजा ने मुसोलिनी से मंत्रिमंडल बनाने का अनुरोध किया। फासिस्टों की जीत रही।

अब समस्त इटली प्रदेश को फासिस्ट बनाया गया। फासिस्ट विरोधी दलों को भंग कर दिया गया। सीनेट तथा चैम्बर आफ डिपटीज दोनों सभाओं के अधिकार भी बिल्कुल कम कर दिये गए। विरोधियों की हत्या करना बायें हाथ का खेल हो गया। विरोधीदल का फासिस्ट प्रणाली में कोई स्थान न था। आठ वर्ष की अवस्था से ३३ वर्ष की अवस्थावाले सभी बालकों तथा युवकों को फौजी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य्य हो गया।

राज्य के आंतरिक संगठन विशेषतया आर्थिक संगठन की ओर ध्यान दिया गया। फासिस्ट राज्य एक सहकारी (Corporate) राज्य है। इस राज्य में सभी अंग सहकारिता की भावनाओं से कार्य करते हैं। समाज के एक अंग का दूसरे अंग के साथ सहयोग होना परमावश्यक है। मजदूरों तथा अन्य वर्गों को इस राज्य में हड़ताल आदि करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यवसाय

तथा पेशे के अपने २ संघ थे जिनको फासिस्ट दल का भी सदस्य अनिवार्य्य रूप से बनना पड़ता था।

इटली के उद्योग धन्धों को विकसित करने का भी प्रयत्न किया गया। जल की सहायता से बिजली उत्पन्न कर कल-कारखानों को चलाया गया। गेहूँ की खेती की ओर ध्यान दिया गया। रेशम, रेडियो तथा अन्य वस्तुओं से संसार के मुख्य-मुख्य देशों के बाजार पटने लगे।

इन सब प्रगतियों के साथ-साथ इटली की जनसंख्या में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। इसमें इटली की सरकार ने सहयोग दिया। मुसोलिनी की अभिलाषा इटली को संसार का सबसे शक्तिशाली देश बनाने की थी। यह सम्भव था एक शक्तिशाली जनता द्वारा। इसलिये जनसंख्या की वृद्धि के लिए नये-नये उपाय किये गए। विवाह की अवस्था घटा दी गई। लड़कों की अवस्था १६ और लड़कियों की १४ वर्ष कर दी गई। जनसंख्या की वृद्धि में सहयोग देने वाली माताओं को राज्य की ओर से पारितोषिक मिलते थे। सन् १९३३ ई० में एक प्रदर्शिनी में ९३ माताओं को पुरस्कार मिला था जिनके १२८८ बच्चे थे। इस जनसंख्या की अभिवृद्धि का परिणाम हुआ कि इटली ने अफ्रीका के निवासियों पर आक्रमण प्रारम्भ किये। सन् १९३८ ई० में अबीसीनिया पर जो आक्रमण हुआ उसका मुख्य कारण इटली की जनसंख्या की अभिवृद्धि थी। इटली उस समय तक राष्ट्रसंघ का सदस्य था। राष्ट्रसंघ ने अबीसीनिया तथा इटली का समझौता कराना चाहा किन्तु विफल रहा। इटली के विरुद्ध राष्ट्रसंघ ने आर्थिक पाबन्दियाँ लगाईं। इटली ने क्रुद्ध हो राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। अलबेनिया का प्रदेश भी इटली के साम्राज्य के अधीन हो गया। उसकी विदेशी नीति पर इटली का अधिकार हो गया और उसकी सेना भी इटली की सेना में मिल गई।

यहाँ पर फासिस्ट विचारधारा के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। फासिस्टों के मतानुसार राज्य एक प्रमुख संस्था है। उसका विरोध करना नागरिक के लिए अधर्म है। राज्य और नागरिक का सम्बन्ध आध्यात्मिक है। कौनसा 'वाद' अच्छा है कौन सा बुरा? इसका उत्तर मुसोलिनी के शब्दों में यह है "किसी 'वाद' की सफलता उसके 'वाद' होने में नहीं है; उसकी सफलता की सच्ची कसौटी है उसे व्यवहार में लाया जाये और वहाँ वह ठीक उतरे।" फासिस्ट विचारधारा में [illegible] व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व के लिये कोई

स्थान नहीं है। व्यक्ति राज्य का ही अंग है और राज्य की इच्छा पर उसे पूर्णतया निर्भर रहना होगा।

अब हम तीसरी तानाशाही का वर्णन करेंगे। यह तानाशाही स्पेन में थी।

स्पेन में तानाशाही

सतरहवीं शताब्दि का साम्राज्यवादी स्पेन बीसवीं शताब्दि तक आते-आते पतनोन्मुख हो गया था। उसका साम्राज्य नष्ट हो चुका था। उसकी आंतरिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी। निरक्षरता का बोलबाला था। खनिज पदार्थों की कमी के कारण उद्योग-धन्धों का विकास एकदम रुका पड़ा था। कृषि की अपेक्षा भेड़ पालने और ऊन पैदा करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। आर्थिक दशा के बिगड़ने का यह परिणाम हुआ कि सर्वसाधारण ने गिरोह बनाकर चर्च की सम्पत्ति को लूटना प्रारम्भ कर दिया।

इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। स्पेन की जनता इस उधेड़बुन में रही कि किसका साथ दिया जाये। एक दल तो मित्र राष्ट्रों का साथ देने के पक्ष में था। दूसरा दल जर्मनी का साथ देना चाहता था। अन्त में स्पेन ने इस युद्ध में तटस्थ रहना श्रेयस्कर समझा। इससे स्पेन को लाभ भी हुआ। स्पेन से बहुत सा सामान युद्ध-क्षेत्र को भेजा गया। किन्तु इस सब व्यापारिक उन्नति के होते हुए भी १९१७ से लेकर १९२३ ई० तक स्पेन में आन्तरिक विद्रोहों तथा अशान्ति का ही बोलबाला रहा। इस अशान्ति तथा विद्रोह का अन्त करनेवाला स्पेन में एक नेता हुआ जिसका नाम राइवेरा था। सन् १९२३ से १९३० ई० तक वह स्पेन का सर्वेसर्वा रहा। उसकी कठिनाइयों का आपार न था किन्तु फिर भी उसने बुद्धिमत्ता से काम किया। उसने मरक्को के प्रश्न को सरलतापूर्वक सुलझा दिया। फिर भी उसकी आन्तरिक कठिनाइयों ने उसे परेशान रक्खा। उसकी हत्या के लिये कई षड्यन्त्र रचे गये। अन्त में उसे त्यागपत्र देना पड़ा।

राइवेरा के पश्चात् स्पेन में फिर अराजकता रही। इस समय लोगों ने राजा को हटाकर स्पेन में जनतन्त्र स्थापित करने का संकल्प किया। आखिर अप्रैल १९३१ में स्पेन में जनतंत्र की स्थापना हुई। राजा सिंहासन छोड़कर भाग गया। दिसम्बर १९३१ में जनतंत्री विधान स्पेन में लागू हो गया। इस विधान के अनुसार कानून बनाने के लिये एक सभा का निर्माण हुआ। जनतन्त्र का एक अध्यक्ष होता था जिसका चुनाव ६ वर्षों के लिये होता था। मन्त्रिमण्डल

अपनी नीति के लिये व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी था। सभी नागरिकों को धार्मिक मामलों में स्वाधीनता मिल गई; सामाजिक स्वाधीनता भी प्रत्येक नागरिक को दी गई। इस प्रथम जनतन्त्री सरकार का नेता अज़ाना था।

अज़ाना की सरकार को सबसे बड़ी कठिनाई आन्तरिक मामलों में हुई। कुछ समय पश्चात् इस मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना पड़ा। उग्रवादी दल के नेता ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया। इस समय तक उग्रदल तथा प्राचीनता के समर्थकों के बीच की खाई इतनी चौड़ी हो गई थी कि स्पेन में गृहयुद्ध का होना अवश्यम्भावी हो गया। दुर्भाग्यवश नवीन मन्त्रिमण्डल में एक भी समाजवादी तथा उग्रदल का सदस्य न था। सेना के अधिकांश अफसर भी समाजवादी दल का साथ दे रहे थे। हारकर मन्त्रिमण्डल ने उन सैनिक अफसरों को पदों से हटा दिया जो गृहयुद्ध के इच्छुक ज्ञात होते थे। ऐसे अफसरों में एक अफसर जनरल फ्रैंको था जिसे केनेरी द्वीप समूह में निर्वासित कर दिया गया।

मन्त्रिमण्डल के प्रति सेना के अफसरों ने विद्रोह कर दिया। फ्रैंको निर्वासन से भागकर मरक्को पहुँचा। अपने सैनिकों की सहायता से उसने मरक्को पर अधिकार कर लिया। फिर वह स्पेन आया। मैड्रिड और उसके आसपास के प्रदेश पर अधिकार करने के लिये घमासान युद्ध हुए। इन युद्धों में फ्रैंको को जर्मनी तथा इटली से सहायता मिलती थी। दोनों देश इस बात के इच्छुक थे कि स्पेन में तानाशाही स्थापित हो जावे जिससे उनका रोब बढ़े। उधर रूस की सहानुभूति जनतन्त्र के साथ थी। इंगलैंड तथा फ्रांस से जनतन्त्र की सहायता में कुछ भी न बन पड़ा। इतना ही नहीं फरवरी सन् १९३९ ई० में इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने फ्रैंको के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। यह थी इङ्गलैंड की प्रथम नैतिक पराजय जिसका परिणाम उसे आगे चलकर बहुत भयंकर उठाना पड़ा।

इस प्रकार जर्मन तथा इटली की तरह स्पेन में भी तानाशाही स्थापित हो गई और इसका श्रेय है उस दब्बू नीति को जिसको इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने अबतक अपना रक्खा था। यहाँ हम मध्य योरप के और प्रजातन्त्रों का वर्णन करेंगे जिन्हें हिटलर के आगे परास्त होना पड़ा। उनमें पहिला है आस्ट्रिया।

आस्ट्रिया

आस्ट्रिया भी प्रथम युद्ध में जर्मनी का पक्ष लेकर सम्मिलित हुआ था। युद्ध समाप्त होते ही आस्ट्रिया में राजवंश का अन्त हो गया और सामाजिक

प्रजातंत्री दल ने जनतंत्र स्थापित कर लिया। इस जनतंत्र ने आस्ट्रिया में शान्ति स्थापित की और उसे साम्यवादियों के चंगुल से छुड़ाया। आस्ट्रिया की आर्थिक दशा दुर्भाग्य से बिगड़ती चली गई। उसे विवश हो अपने बच्चों को नार्वे तथा स्वीडन भेजना पड़ा जहाँ वे भूख से बच सकें। सन् १९२० ई० में उसने अपना स्वतंत्र विधान बनाया और उसके अनुसार उसका शासन प्रबन्ध चलता रहा।

इसी समय आस्ट्रिया की दशा दिन पर दिन खराब होती गई। इस आर्थिक दशा को सुधारने का केवल एक ही उपाय आस्ट्रिया को सूझ पड़ा—जर्मनी से मिलकर आस्ट्रिया अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाये। मगर मित्रराष्ट्र इस गठबन्धन के लिये स्वीकृति कैसे दे सकते थे? उन्हें भय था कि इस तरह जर्मनी की शक्ति बढ़ जायेगी और उसके उद्योग-धन्धे भी बढ़ेंगे जिससे मित्रराष्ट्रों के व्यापार को भारी धक्का लगेगा। आस्ट्रिया ने भी इस राजनीतिक गठबन्धन के विचार को छोड़ दिया।

सन् १९३३ ई० में आस्ट्रिया को एक बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ा। वह आपत्ति थी हिटलर के नात्सी दल का जर्मनी में शक्तिशाली होना। आस्ट्रिया के चांसलर इस समय डा० डालफस थे। हिटलर की चालों को वे भली भाँति समझ गये। किस प्रकार हिटलर शक्ति उपार्जित कर आस्ट्रिया को हड़पना चाहता है यह बात भी उनसे छिपी न रह सकी। नात्सीवाद का सामना उन्होंने डट कर किया। जर्मन प्रचारकों को देश से बाहर कर दिया गया। रेडियो तथा प्रेस पर भी प्रतिबन्ध लगे। नात्सी दल भला कब चूकने-वाला था? उसने डालफस की हत्या करा डाली। शुश्निग आस्ट्रिया का चांसलर हुआ। जर्मनी का प्रचार बढ़ता जा रहा था। [illegible] हड़पने की थी। शुश्निग को विवश हो त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि वह आस्ट्रिया के इस हरण के लिये तैयार न था। जर्मन सेनायें आस्ट्रिया में घुस गईं। बल-पूर्वक आस्ट्रियावासियों से कहलवाया गया कि वे जर्मनी के साथ स्वेच्छापूर्वक मिलने को तैयार हैं। इस प्रकार आस्ट्रिया को नात्सी हिटलर की नीति के आगे परास्त होना पड़ा। वहाँ पर भी उसी प्रकार की तानाशाही स्थापित हो गई जैसी जर्मनी में थी।

हंगरी

हंगरी में भी नवम्बर सन् १९१८ ई० में जनतंत्र का उदय हुआ। एक साम्यवादी नेता ने थोड़े समय के लिये वहाँ राज्य किया। उसकी पराजय के

बाद समाजवादी दल की सरकार बनी और उसके पतन के बाद फिर वहाँ पर राजवंश राज्य करने लगा। महायुद्ध के पश्चात् हंगरी के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया गया था। १५ लाख मगयार उससे छीनकर रुमानियाँ प्रदेश में शामिल कर दिये गए थे, दस लाख चेकोस्लोवाकिया को मिले और पाँच लाख युगोस्लेविया को। हंगरी में सन्धि की शर्तों को दुहराने के लिये व्यापक आन्दोलन हुआ। किन्तु सन् १९३९ ई० में जर्मनी के नात्सी दल के कारनामों से एक नई समस्या मध्य योरप में उपस्थित हो गई। हंगरी को विवश हो साम्यवादियों के विरुद्ध एक सन्धि करनी पड़ी। फिर भी हंगरी योरप के झगड़ों से बचा रहा। हङ्गरी के पश्चात् हम दो और जनतंत्रों के उत्थान-पतन का वर्णन करेंगे। इनमें एक है चेकोस्लोवाकिया और दूसरा पोलैंड। इन दोनों का वर्णन इसलिये भी आवश्यक है कि इनके अन्त के साथ साथ विश्व में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया जिसने विश्व की शान्ति को एक दम खतरे में डाल दिया।

चेकोस्लोवाकिया

इस जनतन्त्र को स्थापित करने का श्रेय मसारिक तथा डा० बीनस को है। इस जनतन्त्र की स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात आस्ट्रिया तथा हङ्गरी के प्रदेशों से कुछ भाग लेकर हुई थी। फरवरी सन् १९२० ई० में इस प्रदेश का नया विधान तैयार हुआ। जनमत द्वारा चुनी गई एक पार्लियमेन्ट की स्थापना हुई। सरकार ने राष्ट्र संघ की सदस्यता का प्रस्ताव स्वीकृत किया। भूमि तथा अर्थ सम्बन्धी बहुत से सुधार भी हुए। उसकी विदेशी नीति की चार विशेषताएँ थीं (१) राष्ट्र संघ की शान्ति प्रिय नीति का समर्थन (२) राष्ट्र संघ द्वारा की गई सन्धियों का पालन, (३) फ्रांस तथा इङ्गलैंड की विदेशी नीतियों का समर्थन और (४) यूगोस्लेविया तथा रुमानियाँ की विदेशी नीतियों का समर्थन। आस्ट्रिया के साथ भी इस जनतन्त्र के सम्बन्ध बड़े अच्छे रहे।

चेकोस्लोवाकिया की सबसे कठिन समस्या थी अल्पमतों की रक्षा—विशेषतया उनकी संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा का आश्वासन। अल्पमतों में सबसे अधिक संख्या जर्मनों की थी। ये लोग बोहेमिया तथा मोरेविया में अधिक संख्या में बसे थे। इन लोगों ने पार्लियमेन्ट में विरोधी दल का सङ्गठन किया और सरकार के काम में अड़ङ्गे डाले। मसारिक ने इस समस्या को सुलझाने का भरसक प्रयत्न किया। मन्त्रिमण्डल में दो जर्मनों को भी स्थान दिया गया। फिर जब

जर्मनी में हिटलर की नात्सी पार्टी का उदय तथा उन्नति हुई तो उसने इन जर्मनों का पक्ष लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नई समस्या उपस्थित कर दी। यहाँ हम उसी समस्या का वर्णन करेंगे।

जर्मनी का प्रचार था कि चैक लोग जर्मनों पर भारी अत्याचार कर रहे हैं। उनके विरुद्ध यह आरोप था कि वे साम्यवादी रूस के साथ मिलकर यहूदी सभ्यता का प्रचार कर रहे हैं। इस कठिनता को सुलझाने का उपाय था सूडेटन में बसे हुए जर्मनों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे देना। जब नात्सी दल के उकसाने से इन जर्मनों ने विद्रोह पर कमर बाँधी तो सरकार ने उसे कुचलना चाहा। इस पर सूडेटन निवासी जर्मनों ने सरकार के सम्मुख अपनी आठ माँगें रक्खीं। ब्रिटेन ने चेकोस्लोवाकिया को सलाह दी कि वह इस प्रश्न पर समझौता कर ले। मगर सरकार ने इस सुझाव को ठुकरा दिया। सरकार की दृढ़ता से मामला कुछ समय के लिये शान्त हो गया। मगर फिर वाइकाउन्ट रन्सीमैन की तटस्थता की नीति से नात्सी दल और सरकार में समझौता न हो सका। आखिर सूडेटन निवासियों ने माँग की कि वे जर्मनी के साथ मिलना चाहते हैं। इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने सूडेटन को जर्मनी को सौंप देना स्वीकार कर लिया। इस पर पोलैंड तथा हङ्गरी ने यह प्रस्ताव रक्खा कि उनकी प्रजा जिस प्रदेश में बसी हुई है उसे पोलैंड तथा हङ्गरी को वापिस किया जाये। इस पर जर्मनी की माँग और बढ़ गई। विवश हो चैम्बरलेन, दलेदियर, मसोलिनी ने म्यूनिख में एक समझौता किया जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि सूडेटन से जर्मनों को छोड़ सभी प्रजा निकल जायगी और सूडेटन को १० अक्तूबर १९३८ तक खाली करा दिया जायेगा। निष्क्रमणार्थी अपने साथ किसी भी प्रकार की सम्पत्ति आदि नहीं ले जा सकते हैं। बिजली के कल-कारखाने ज्यों के त्यों जर्मनों को दिये जायेंगे। इस प्रकार बिना रक्त की एक बूँद बहाये ही जर्मनी का मन्तव्य पूरा हो गया।

सूडेटन जर्मनों के जर्मनी में मिलते ही पोलैण्ड तथा हंगरी ने अपनी मांगें चेकोस्लोवाकिया के सम्मुख रक्खीं। विवश हो बहुत सा भाग उन्हें भी देना पड़ा। इधर बचे हुए प्रदेश में भी नात्सी दल द्वारा प्रभावित सरकारें बनीं। इन्होंने चेकोस्लोवाकिया को पराधीन करने में कोई कसर न रखी। इस प्रकार १९३८-१९३९ ई० में जर्मनी को आस्ट्रिया, सूडेटन तथा चेकोस्लोवाकिया आदि प्रदेशों से लगभग ७६००० वर्ग मील भूमि मिल गई। जिसकी जनसंख्या में साढ़े-

जनक अभिवृद्धि हुई। खनिज पदार्थों तथा कल-कारखानों से जर्मनी को जो धन मिला सो अलग रहा।

अब हम दूसरे जनतंत्र का वर्णन करेंगे जिसे नात्सी अत्याचार के सम्मुख घुटने टेक देने पड़े। वह जनतंत्र पोलैण्ड का था।

पोलैण्ड

पोलैण्ड का इतिहास अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से भरा हुआ है। सन् १७७२ ई० में इस देश को प्रशा, आस्ट्रिया तथा रूस ने हड़पना शुरू किया और सन् १७९५ ई० में इस देश का नाम ही यारप से मिट गया। किन्तु पोलों का विश्वास था कि उनका देश निगला जा सकता है मगर उसे हजम करना किसी देश के लिये सम्भव नहीं है। इसी विश्वास पर पोल जीवित थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दि भर राजनीतिक स्वाधीनता के लिये आंदोलन किया। आखिर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सन् १९१९ ई० में पिलसुदस्की के प्रयत्नों से स्वाधीन पोलैण्ड का निर्माण हुआ। जनवरी १९१९ ई० में पिलसुदस्की पोलैण्ड का प्रधान मंत्री हुआ।

जनतंत्री जीवन के बीस वर्षों में पोलैण्ड को अनेक आंतरिक तथा बाह्य आपत्तियों का सामना करना पड़ा। अनेक वर्षों की गुलामी में रहने के कारण वहां के निवासियों का चरित्र विकसित नहीं हुआ था। इसीलिये वहां के राजनीतिक जीवन में बहुत से दोष आ गये थे। रिश्वतखोरी और मुनाफाखोरी का बाज़ार गर्म था। आर्थिक दशा बड़ी डांवाडोल थी। पार्लिमेंट में भिन्न २ दलों में मुठभेड़ हो जाया करती थी। सुधारों की तरफ सरकार कोई ध्यान ही नहीं दे सकती थी। बहुत दिनों तक देश में बेरोजगारी का बोलबाला रहा। विशेषतया किसानों की दशा अनाज की दर गिर जाने से बड़ी खराब हो गई। सरकार ने कृषकों की दशा सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। कृषियोग्य भूमि पर खेती की जाने लगी। पैदावार भी बढ़ी।

पोलैण्ड की सबसे कठिन समस्या अल्पमतों के साथ व्यवहार की थी। अल्पमतवालों में सबसे बड़ी संख्या रूसियों की थी। जर्मन तीसरे नम्बर थे। रूस तथा जर्मनी दोनों ने अपने जाति भाइयों का पक्ष लेकर पोलैण्डवासियों के सामने बहुत सी कठिनाइयां उपस्थित कर दीं। विशेषतया डानजिग के प्रश्न को लेकर पोलैण्ड तथा जर्मनी में काफी तनातनी रही। जर्मनी की सहानुभूति डानजिग वासियों के साथ थी क्योंकि वे लोग स्वयं जर्मन थे। हिटलर के नात्सी दल ने वर्साई संधि के इस अन्याय को जो डानजिग को पोलैण्ड के

अधिकार में रख कर किया गया था दूर करना अपना पवित्र कर्तव्य समझा। साथ ही पोलैण्ड को समुद्र से मिलाने के लिये जर्मनी का एक भाग पोलैण्ड को दिया गया था। जर्मनी को यह अन्याय भी अखरता था। कुछ समय तो पोलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध बड़े अच्छे चले किन्तु सन् १९३९ ई० में नात्सी सेनाओं ने इस प्रदेश को रौंद डाला। यही घटना द्वितीय विश्व-युद्ध में परिणत हो गई।

उपसंहार

योरप के बीस वर्षों के इतिहास को संक्षेप में देखने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये बीस वर्ष योरप को एक भारी दुर्घटना की ओर ले जा रहे थे जिसे द्वितीय विश्व युद्ध के नाम से पुकारा गया है। इस परिस्थिति के लिये वर्साई की संधि बहुत कुछ उत्तरदायी थी। वर्साई ने न तो जर्मनी को पूर्णतया नष्ट ही किया और न उसके साथ दया का ही बर्ताव किया। हाँ, जर्मनी के राष्ट्रीय अपमान को अवश्य ठेस लगी और उसी ठेस का परिणाम हुआ सन् १९३९ ई० का विस्फोट। इतना अवश्य है कि इस परिस्थिति से विश्व को कोई बचा सकता था तो वे इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस थे। किन्तु इन दोनों ने इस आगामी संकट का ठीक से अनुमान नहीं लगाया। दूसरे, दोनों को नात्सी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली की अपेक्षा रूस के साम्यवाद से अधिक डर लगता था। वे यह जानते थे कि रूस का साम्यवाद पूँजीवाद का अधिक भयङ्कर शत्रु है। साम्यवाद का सामना कर सकता था उग्र राष्ट्रवाद जो जर्मनी तथा इटली में इस समय मौजूद था। साम्राज्यवादी फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड का विश्वास था कि साम्यवादी रूस तथा उग्र राष्ट्रवादी जर्मनी में संघर्ष कराना बायें हाथ का खेल है और वैसा होने पर ही उनकी रक्षा हो सकेगी। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वर्साई की संधि से जर्मन जाति में असन्तोष उत्पन्न हो गया। युद्ध के पश्चात् जो आर्थिक दुर्व्यवस्था हुई उससे जर्मनी का असन्तोष बढ़ा और उस असन्तोष से लाभ उठाया एक ऐसे वर्ग ने जिसने लोगों को विश्वास दिलाया कि जर्मनी का प्राचीन गौरव फिर से स्थापित हो सकता है। इस परिस्थिति का सामना इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस मिलकर की सहायता से ही कर सकते थे क्योंकि मित्रराष्ट्र द्वारा ही इन्होंने वर्साई की सन्धि को जर्मनी पर लादा था। दुर्भाग्यवश इन दोनों देशों ने कुछ करके दिखाने के स्थान पर खाली बातों से ही काम लिया। कहना न होगा कि उनकी यह नीति योरप की शांति के लिये घातक सिद्ध हुई और उसका परिणाम निकला द्वितीय विश्वयुद्ध।

पन्द्रहवाँ अध्याय

विनाश की ओर विश्व—दूसरी बार

आक्कथन

पिछले अध्याय में उन कारणों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया था जिनके परिणाम स्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध संसार में छिड़ गया। उन कारणों को दुहराना हमारा अभीष्ट नहीं है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ने के ठीक २५ वर्ष १ माह पश्चात् दूसरा भयंकर युद्ध विश्व में छिड़ गया। मानवसंहार तथा सम्पत्ति का विनाश करने में इस महायुद्ध ने पिछले विश्वयुद्ध को कहीं पीछे छोड़ दिया। वर्साई की संधि ने इस दूसरे विश्वयुद्ध को जन्म दिया। वर्साई की संधि की शर्तों को जर्मनी कदापि सहन नहीं कर सकता था। इसके विपरीत वर्साई-संधि के विधाता एक अलग ही नीति का अनुसरण कर रहे थे। ये विधाता थे फ्रांस तथा इंगलैण्ड। दोनों की विदेशी नीति में आकाश पाताल का अंतर था। फ्रांस मेजिनो पंक्ति की आड़ में अपनी स्वाधीनता अमर समझता था। इंगलैण्ड समझता था कि जर्मनी के धनवान होने से ही इंगलैण्ड में तैयार किया सामान जर्मनी में बिक सकता है। इन विरोधी विचार धाराओं से जर्मनी को अपनी उन्नति करने का अवसर मिला और उसकी उन्नति अबाध्य रूप से चलती रही। इस अध्याय में पहिले हम द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों को विस्तार पूर्वक देखेंगे तत्पश्चात् इस युद्ध की मुख्य मुख्य घटनाओं को।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण

ऊपर हम इंगलैण्ड तथा फ्रांस की विदेशी नीति की ओर संकेत कर चुके हैं। यहाँ हम इन दोनों देशों की विदेशी नीतियों को अधिक विस्तारपूर्वक देखेंगे।

फ्रांस ने वर्साई की संधि की शर्तों को तैयार कराने में प्रमुख भाग लिया था। फ्रांस चाहे जो हो इस संधि को सदैव कायम रखना चाहता था। १९३५ ई० तक फ्रांस ने राष्ट्रसंघ में इसी नीति का समर्थन किया। फ्रांस ने राष्ट्रसंघ में यह भी प्रस्ताव रक्खा कि विश्व में शांति रखने के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय

सेना हो। जब इंगलैण्ड ने इस प्रस्ताव का समर्थन न किया तो फ्रांस ने विवश हो बेलजियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि का समर्थन किया। फ्रांस ने इन देशों से मित्रता बढ़ाई। उसने यह न सोचा कि उसे यह मित्रता महँगी पड़ेगी। एक तो ये राष्ट्र स्वयं निर्बल थे। दूसरे इनके चारों ओर शक्तिशाली देश थे। तीसरे ये शक्तिशाली देश (रूस, प्रशा तथा आस्ट्रिया) उनके शत्रु रह चुके थे। फ्रांस इन देशों की रक्षा न कर सका। अंत समय उसे अपने मित्रों का साथ छोड़ना पड़ा। यह समय था १९३९ ई० में जब चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड को अपनी रक्षा तथा आजादी के लाले पड़े हुये थे।

रहा इंगलैण्ड। १९१९ से १९३५ ई० तक उसने योरप में शांति स्थापित रखने में कोई सक्रिय सहयोग न दिया और न वैसा करना अपना उत्तरदायित्व ही समझा। ब्रिटेन के पास अपना शक्तिशाली जहाजी बेड़ा था। इसकी सहायता से वह अपना व्यापार फिर से स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। वह जर्मनी को फिर से अपने सामान का ग्राहक बनाना चाहता था। कहना न होगा कि दोनों देशों (इंगलैण्ड तथा फ्रांस) की विचारधाराओं में इस प्रकार आकाश पाताल का अंतर हो गया। किन्तु १९३५ ई० के पश्चात् इंगलैण्ड की आँखें खुल गईं। धुरी राष्ट्रों की हानि पहुँचाने की नीति को उसने स्पष्टतापूर्वक देखा। दुर्भाग्यवश इंगलैण्ड इस नवीन परिस्थिति का सामना करने में पूर्णतया असमर्थ था।

इस समय नात्सी जर्मनी की क्या दशा थी? वीमर विधान को नष्ट करके नात्सी दल योरप में सबसे अधिक शक्तिशाली था। कारण स्पष्ट है। जर्मनी का आंतरिक संगठन इस प्रकार किया गया था कि विरोधी दल का वहाँ कोई स्थान न था। सब देशवासियों में राष्ट्रप्रेम और जर्मन जाति के संदेश की भावनायें भर दी गईं। इटली को बढ़ावा देकर अपनी ओर मिला लिया गया। पहिले जर्मनी ने छोटे छोटे देशों पर हाथ साफ किया। बाद में सफलता मिलने पर बड़े बड़े देशों पर भी छापा मारा। अब इंगलैण्ड को यह इल्हाम हुआ कि संतुष्ट करने की नीति भ्रामक है और नात्सीवाद का यदि अब सामना न किया गया तो अंग्रेजी विचारधारा, सभ्यता तथा संस्कृति बिल्कुल नष्ट हो जायेगी।

इन कारणों के अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था। इंगलैण्ड तथा फ्रांस को जर्मनी और इटली पूँजीपतियों का देश कह कर पुकारते थे। उनके पास उपनिवेश थे, साम्राज्य थे, संरक्षित राज्य थे और सब कुछ। इधर जर्मनी तथा इटली से सब कुछ छीन लिया गया था। इंगलैण्ड तथा फ्रांस प्रजातन्त्र थे।

जर्मनी तथा इटली दोनों सैन्यबल पर कायम थे। इधर जर्मनी, इटली तथा जापान अपने आपको संसार पर शासन करने के योग्य समझते थे। उनका दावा था कि उन्हें संसार पर शासन करने का अधिकार है। इस लक्ष्य को सम्बोधित करते हुये मुसोलिनी ने एक बार कहा था "हममें और पुरानी दुनिया (इंगलैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस) में समझौता नहीं हो सकता। या तो हम रहेंगे अथवा वे।"

इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड, फ्रांस जैसे प्रजातन्त्री देशों को अमेरिका के धन का भरोसा था। उधर धुरी राष्ट्र अपने सैन्यबल तथा नवीन स्फूर्ति पर आश्रित थे। मित्र राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति की निर्बलता देखकर अपनी सेनायें संगठित करनी प्रारम्भ कीं। किन्तु उससे पूर्व ही विश्व में दूसरा युद्ध छिड़ चुका था।

युद्ध का प्रारम्भ

आस्ट्रिया, सूडेटन, चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार करने के पश्चात जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। अन्य अवसरों की तरह जर्मनी ने यह शिकायत की कि पोलैण्ड ने अपनी जर्मन प्रजा पर अत्याचार किये हैं। इङ्गलैण्ड के प्रधान मंत्री चेम्बरलेन ने घोषणा की कि पोलैण्ड की स्वाधीनता पर आक्रमण होने की दशा में इंगलैण्ड और फ्रांस उसकी सहायता करेंगे। हिटलर अपनी माँगों पर डटा रहा। उसने डानजिग को पोलैण्ड से वापिस मांगा। इधर अपनी स्थिति दृढ़ करने के विचार से इटली से जर्मनी ने समझौता कर लिया। इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने भी तुर्की से संधि करली। किन्तु इन सबसे अधिक एक और आश्चर्यजनक घटना हुई। २३ अगस्त १९३९ को रूस तथा जर्मनी में एक दूसरे पर आक्रमण न करने की संधि हुई। इस संधि से हिटलर की बुद्धिमत्ता प्रगट होती है। उसे डर था कि यदि पोलैण्ड का पक्ष लेकर इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने युद्ध किया और उसी समय रूस ने पूर्व की ओर से आक्रमण कर दिया तो जर्मनी एक बड़ी भयंकर आपत्ति में पड़ जायेगा। इधर इङ्गलैंड तथा फ्रांस की नीयत को रूस संदेह की दृष्टि से देखता था और वह अपनी शक्ति को संगठित करने का अवसर ढूँढ़ रहा था। जर्मनी सोचता था कि जब वह फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड को पछाड़ देगा तो रूस को पछाड़ना उसके लिये असम्भव नहीं है। यही इस संधि का औचित्य था।

रूस से निश्चिन्त हो अब जर्मनी ने पोलैण्ड की ओर ध्यान दिया। हिटलर ने घोषणा की "शक्ति का सामना शक्ति से करने के अतिरिक्त मेरे पास और कोई चारा नहीं है।" यहीं से द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारम्भ हुआ। यह दिवस था ३ सितम्बर १९३९ ई०। २७ सितम्बर को पोलैण्ड ने घुटने टेक दिये। उसके राज्य का पूर्वीभाग रूस को मिला।

पूर्वी पोलैण्ड को लेने के पश्चात् रूस ने अपना बचाव नात्सी जर्मनी से करना चाहा। वह डरता था कि जर्मनी की विजयों के सामने उसे एक न एक दिन झुकना पड़ेगा। इसी कारण अपनी सीमा को दृढ़ करने के विचार से उसने फिनलैण्ड पर अक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड पराजित हुआ। उसका बहुत सा भाग रूस को मिला।

युद्ध की घटनायें

पोलैण्ड विजय के पश्चात् जर्मनी ने अपना ध्यान फ्रांस की ओर दिया। उधर फ्रांस ने इङ्गलैंड से अपना गहरा आर्थिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने अपनी सरकार का भी संगठन फिर से किया। रेनाड अब फ्रांस का प्रधान मंत्री हुआ। डी गाले युद्ध मंत्री बना। जनरल वेगांड सेनापति बनाया गया। जर्मनी ने इधर फ्रांस से पहिले डेनमार्क तथा नारवे से निपटना अधिक लाभदायक समझा। उसे आशंका थी कि शक्तिशाली अंगरेजी जहाजी बेड़ा इस प्रदेश को अपने अधिकार में कर जर्मनी का सामुद्रिक मार्ग रोक देगा। इसी कारण जर्मनी ने अप्रैल सन् १९४० ई० में डेनमार्क पर नात्सी झंडा फहराया। उधर नार्वे भी परास्त हुआ। इस प्रकार नात्सियों को समुद्र से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये बंदरगाह मिले, सामान प्राप्त करने के लिये देश मिले और इङ्गलैण्ड पर हवाई जहाजों से आक्रमण करने के लिये हवाई अड्डे। अब जर्मनी ने बेलजियम तथा हालैंड की ओर अपनी सेनायें भेजनी प्रारम्भ कीं।

इसी समय इङ्गलैण्ड के राजनीतिक जीवन में परिवर्तन हुआ। चैम्बरलेन के स्थान पर विंस्टन चर्चिल इङ्गलैंड का प्रधान मंत्री हुआ।

अब हम जर्मनी की अन्य विजयों का वर्णन करेंगे। १४ मई सन् १९४० ई० को हालैण्ड ने आत्मसमर्पण कर दिया। बेल्जियम भी बड़ी सुगमता से जीत लिया गया। इधर जर्मनी ने बेल्जियम के मार्ग से होकर फ्रांस पर अपनी सेनायें भेज दीं। मैजिनो पंक्ति को तोड़कर फ्रांस के उत्तरी प्रदेश पर भी नात्सी अधिकार हो गया। १० जून को फ्रांस की राजधानी पेरिस से हट गई।

इसी दिन इटली भी युद्ध में कूद पड़ा। फ्रांस की आपत्तियों का ठिकाना न था। उसके सिपाही हतोत्साह हो गये थे। इसी समय रेनाड ने त्याग पत्र दे दिया। पीटेन उसके स्थान पर प्रधान मंत्री हुआ। उसने जर्मनी से संधि का प्रस्ताव रक्खा। २१ जून १९४० को जर्मनी ने फ्रांस के संधि प्रस्ताव पर विचार किया। संधि की शर्तें मान ली गईं और फ्रांस के उत्तरी प्रदेश पर जर्मनी का अधिकार हो गया। फ्रांस ने जर्मनी को इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध में भी सहायता देने का वचन दिया। फ्रांस की आर्थिक तथा परराष्ट्र नीति पर भी जर्मनी का अधिकार हो गया। इस प्रकार फ्रांस के तीसरे प्रजातंत्र का अंत हुआ।

अब जर्मनी ने अपने पुराने शत्रु इङ्गलैण्ड की खबर ली। इङ्गलिश चैनल अब इङ्गलैण्ड की सहायक बनी। बात यह है कि यदि इंगलैण्ड भी योरप से स्थल द्वारा जुड़ा हुआ होता तो जर्मनी को उसे परास्त करने में कोई कठिनाई न पड़ती। किन्तु समुद्र इस समय इङ्गलैण्ड का रक्षक था। जर्मनी ने हवाई जहाजों द्वारा इङ्गलैण्ड पर आक्रमण किये। ये आक्रमण १८ जून १९४० ई० को प्रारम्भ हुये। जुलाई तक पहुँचते २ इन आक्रमणों का वेग बहुत प्रबल हो गया। इङ्गलैण्ड ने इस आपत्ति का सामना साहस के साथ किया। रायल एयर फोर्स ने जर्मनी के बंदरगाहों, औद्योगिक क्षेत्रों, सामुद्रिक जहाजों पर भारी-भारी बम गिरा कर उन्हें नष्ट कर डाला। इस हवाई युद्ध से दोनों ओर से भारी क्षति हुई। इङ्गलैण्ड के १७४४ हवाई जहाज नष्ट हुये, जर्मनी के ४९७४। यह संख्या केवल १९४० की है। यद्यपि जर्मनी की अधिक हानि हुई थी फिर भी इङ्गलैण्ड को अपनी रक्षा के लाले पड़े हुये थे। यह बात चर्चिल के उस भाषण से प्रगट होती है जो उसने पार्लिमेन्ट के सामने १३ मई १९४० को दिया "मैं माननीय सदस्यों को केवल आँसू, परिश्रम, पसीना तथा रक्त की बूँदें ही दे सकता हूँ और कुछ नहीं।"

फ्रांस के युद्ध से अलग हो जाने से ब्रिटेन की स्थिति बड़ी नाजुक हो गई। विशेषतया भूमध्यसागरीय प्रदेश पर जहाँ कि इङ्गलैण्ड का अधिकार था, इटली ने हवाई जहाज से आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। जिब्राल्टर, माल्टा तथा सिकन्दरिया इन आक्रमणों के शिकार बने। अफ्रीका स्थित ब्रिटिश उपनिवेशों पर भी इटली ने आक्रमण किये। मिस्र तथा स्वेज नहर पर भी आक्रमण हुये। स्वेज की ओर स्थल द्वारा पहुँचने का काम ग्रेजियानी को सौंपा गया। ग्रेजियानी मिस्र की सीमा तक पहुँच गया किन्तु अंगरेजी जनरल वैवल ने उसे पीछे हटा दिया। यह लिबया पहुँच गया। अबीसीनिया के सम्राट् को अब इङ्गलैण्ड

ने सहायता दी। वह अपनी राजधानी पहुँच गया। स्वेज नहर सुरक्षित हो गई।

इसी समय इटली ने यूनान पर अधिकार करने की सोची। इटली की धमकियों का यूनान पर कोई असर नहीं हुआ और उसने इटली का सामना करने का निश्चय किया। यूनान ने इटलीवासियों का सामना ही नहीं किया बल्कि उन्हें अपने देश से निकाल दिया। फिर उन्होंने अलबानियां पर आक्रमण किया। इङ्गलैंड को इटली-यूनान युद्ध से भारी लाभ पहुँचा। उसे इटली के प्रदेशों पर हवाई आक्रमण करने का अवसर मिल गया। इटली में खलबली मच गई।

इसी समय जर्मनी ने रूमानियाँ पर आक्रमण कर दिया। युद्ध के पश्चात् विवश हो रूमानियाँ को धुरी राष्ट्रों के गुट में शामिल होना पड़ा। यूगोस्लाविया की भी पराजय हुई। इटली की यूनान में पराजय होने के पश्चात् हिटलर ने अपना ध्यान यूनान की ओर किया। यह स्पष्ट था कि जर्मनी अब पूर्व की ओर बढ़ेगा। ईराक अंगरेजी अधिपत्य में था; सीरिया पर फ्रांस का अधिकार था। वहाँ पर जर्मनी अपना अधिकार न कर ले इस विचार से इंग्लैण्ड ने इस प्रदेश की रक्षा की ओर अपना ध्यान दिया। ईरान को भी धुरी राष्ट्रों के हाथ में पड़ने से बचाया गया। इस प्रकार पूर्वी प्रदेश संयुक्त राष्ट्रों के हाथ में अन्त तक रहा आया।

अब अफ्रिका के युद्धों का वर्णन करें। इटली की विफलता के पश्चात् जर्मनी ने अफ्रीका की ओर ध्यान दिया। रोमल जर्मन सेनाओं का सेनापति था। उसने लिबया पर अधिकार कर लिया। किन्तु तोबरुक पर अधिकार करने में उसे सफलता न मिली। तोबरुक की रक्षा आस्ट्रेलिया कर रहा था। कुछ समय पश्चात् रोमल ने मिश्र को लेने का फिर से प्रयत्न किया मगर सफलता न मिल सकी।

ऊपर कहा जा चुका है कि फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्रों का पक्ष छोड़ जर्मनी के गुट में शरण पाई थी। यह फ्रांस के पतन का द्योतक था। फ्रांस के इस पतन का परिणाम उसके एशियाई साम्राज्य पर पड़ा। वहाँ जापान ने धुरी राष्ट्रों का पक्ष ले फ्रांस की पराजय से लाभ उठाना चाहा। जापान अपनी [illegible] नीति के कारण पहिले ही सुदूर पूर्व में अपना आतंक जमा रहा था। उसने चीन के विरुद्ध साम्राज्यवादी युद्ध छेड़ रक्खा था। चीन के इस युद्ध में जापान करोड़ों रुपया तथा आदमी झोंक चुका था किन्तु चीन अजेय ज्ञात होता

था। जापान का आतंक चीन की आत्मा को परास्त करने में विफल रहा। मगर फ्रांस की पराजय ने जापान के सम्मुख स्वर्णावसर उपस्थित कर दिया। जापान ने हिन्द चीन की रबर, टीन, मिट्टी का तेल और चावल की उपज से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहा। इतना ही क्यों? जापान का स्वप्न सारे पूर्वी एशिया पर अधिकार करने का था। इसी उद्देश्य से उसने २७ सितम्बर १९४० ई० को जर्मनी तथा इटली से सन्धि कर ली। फ्रांस तो पहले ही जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण कर चुका था अब जापान ने उसे विवश किया कि वह हिन्द चीन में जापानी छावनियाँ बन जाने दे जिससे जापान दक्षिण की ओर से चीन पर आक्रमण कर सके। इधर जापान थाइलैण्ड (श्याम) के सहयोग से सिंघापुर, ब्रह्मा तथा भारत की ओर बढ़ना चाहता था। जापान की योजनायें पूर्व में चल ही रही थीं कि इसी समय योरप में एक आश्चर्यजनक घटना हो गई। यह घटना थी जर्मनी का रूस से युद्ध।

पहले हम रूस तथा जर्मनी के एक दूसरे पर आक्रमण न करने की सन्धि का वर्णन कर चुके हैं। इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में किस प्रकार सन्धि हो गई? कारण स्पष्ट है। रूस चाहता था कि उसे अपनी सेना का संगठन और युद्ध सामग्री से सुसज्जित होने का पूरा अवसर मिल जाय। इधर जर्मनी भी फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड को समाप्त कर रूस से निबटना चाहता था। मगर अब घटनायें इतनी तेजी से घट रही थीं कि दोनों में संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। जर्मनी ने युगोस्लाविया, बल्गेरिया आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। उधर रूस ने भी पोलैण्ड, लिथुआनिया आदि प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था। दोनों एक दूसरे के अधिक सम्पर्क में आ गए। रूस ने जापान से तटस्थ रहने की सन्धि अप्रैल सन् १९४१ ई० में कर ली। मई में स्टेलिन रूस का प्रधान मन्त्री हुआ। इसी समय जर्मनी को यह विश्वास हो गया कि इंग्लैण्ड को जल्दी ही परास्त नहीं किया जा सकता। क्यों न इस बीच में रूस से निबट लिया जाय जिसकी वफादारी पर उसे पहिले से ही विश्वास न था। मई सन् १९४१ में हिटलर का प्रस्तावित उत्तराधिकारी हैस इंगलैण्ड उतरा। सम्भवतः वह इंगलैण्ड के प्रभावशाली दल को रूस के विरुद्ध और जर्मनी के पक्ष में करना चाहता था। किन्तु उसे बन्दी बना लिया गया। इसी समय २२ जून सन् १९४१ ई० को हिटलर की सेनाओं ने टिड्डी दल की भाँति रूस पर आक्रमण कर दिया। नात्सीवाद तथा साम्यवाद का अनिवार्य संघर्ष आखिरकार आरम्भ हो ही गया।

रूस की तैयारियों का जर्मनी को पता न था। हिटलर ने रूस के ऊपर अपनी झुँझल उतारी। चर्चिल ने रूस को अपनी पूरी सहायता का आश्वासन दिया। अमेरिका ने भी पूरी सहायता का वचन दिया। रूस को मुसीबत में पड़ा जान फिनलैण्ड, हँगरी, रूमानिया तथा इटली ने बदला लेने का अच्छा अवसर सोचा। किन्तु रूस अडिग था। उसने जर्मनी की सेनाओं के आगे स्थल पर घुटने टेकने से इन्कार कर दिया। लगभग दो हजार मील तक रूस का विशाल देश युद्धक्षेत्र बना हुआ था। टैंकों, मशीनगनों की गड़गड़ाहट से आकाश फटा जाता था किन्तु रूसी सेनायें हिमालय की नाईं अचल थीं। आखिर रूस ने हिटलरशाही को उसी प्रकार छका दिया जिस प्रकार उसने नेपोलियन को छकाया था। जर्मनी ने लेनिनग्राड का घेरा डाला मगर उसे जीतने में असफल रहा। रूसी सेनायें पीछे जरूर हटती थीं मगर कल-कारखानों, उद्योग-धन्धों और खेतों को नष्ट कर देती थीं जिससे जर्मनी के हाथ कुछ न लगने पाये। जर्मनी के निराश होने का एक कारण और भी था। जहाँ कहीं भी नात्सी गए थे उन्होंने अपने जासूसों द्वारा जनता का उत्साह भंग किया था। मगर रूस ने ऐसा भी न होने दिया।

आखिर १९४१ ई० का जाड़ा आया—वही जाड़ा जिसने नेपोलियन के मनसूबे पर पानी फेर दिया था। रूसियों ने जर्मन सेनाओं को रूस से खदेड़ना शुरू किया। जर्मनी ने एक नई चाल चली। उसने रूस के दक्षिणी भाग पर आक्रमण करने की सोची। यह रूस का उपजाऊ प्रदेश था। जर्मनी को इस आक्रमण में काफी सफलता मिली। फिर उसने स्टैलिनग्राड पर आक्रमण किया। तीन मास तक निरन्तर इस नगर पर आक्रमण होते रहे। रूसी सेनाओं ने जर्मनों का वीरता से मुकाबिला किया। एक-एक इञ्च भूमि के लिए युद्ध होता रहा। फिर नवम्बर आया। और इसके साथ रूसी जाड़ा! अब पासा रूस के हाथ में था। रूसियों ने जर्मनों को पीछे खदेड़ना आरम्भ किया। जनवरी १९४३ तक जर्मन फौजें सैकड़ों मीलों तक भागती हुई ही नजर आती थीं। इसी समय संयुक्त राज्य अमेरिका का जापान से झगड़ा हो गया। उसे भी इस युद्ध में कूदना पड़ा। दूसरा युद्ध भी विश्वव्यापी बन गया। यहाँ हम अमेरिका की पर-राष्ट्रनीति पर दृष्टि डाल लें।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् अमेरिका ने योरप की समस्याओं से अपने आपको अलग रखा। अमेरिका ने योरप की इस राजनीति को देखा था। अमेरिका जानता था कि इसका परिणाम होगा विश्वव्यापी युद्ध। फिर जब

जर्मनी ने पौलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि प्रदेशों को रौंद दिया तो अमेरिका ने भी अब अपनी रक्षा की बात सोची। लैटिन अमेरिका (दक्षिणी अमेरिका) के जनतंत्रों, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा कनाडा ने मिल कर अपनी विदेशी नीति का निर्माण किया और आक्रमण होने की अवस्था में अपनी सुरक्षा की सोची। साथ ही ब्रिटेन को सामान से मदद देना भी अमेरिका ने स्वीकार कर लिया। इधर संयुक्त राष्ट्र के सम्बन्ध अपने पड़ोसी जापान के साथ दिन पर दिन बिगड़ते जा रहे थे। ऊपर जापान के हिन्द चीन में छावनी और हवाई अड्डे बनाने की बात का वर्णन हो चुका है। जापान ने श्याम के मामले में भी हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। संयुक्त राष्ट्र ने इस हस्तक्षेप पर आपत्ति की। खैर यह मामला तो यहीं रुक गया। मगर जापान की आंध्र महासागर तथा प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व जमाने की अभिलाषा से जापान का अमेरिका से मुकाबिला अनिवार्य्य हो गया। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण कर दिया। इसके साथ ही साथ जापान ने इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। जापान के साथी इटली तथा जर्मनी ने भी उसका साथ दिया। जून १९४२ तक लगभग संसार के सभी मुख्य देश इस समर में कूद पड़े थे।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के इस युद्ध में शामिल होने से दो परिणाम निकले। एक तो अमेरिका के निवासियों ने धुरी राष्ट्रों को परास्त करने के विचार से आपस के सभी मतभेदों को भुला दिया। दूसरे उन्होंने इङ्गलैण्ड के सहयोग से 'अटलांटिक चार्टर' के नाम से संयुक्त राष्ट्रों के युद्ध उद्देश्यों की घोषणा की। उन्होंने बतलाया कि इस युद्ध द्वारा वे किसी अन्य देश को हड़पना नहीं चाहते और न जनता की इच्छा के प्रतिकूल वे उसका किसी भी देश अथवा जाति के साथ गठबन्धन ही करना चाहते हैं। तीसरे वे प्रत्येक देश की जनता को यह अधिकार भी देना चाहते हैं कि वे अपनी सरकार का सङ्गठन अपनी इच्छानुसार करें। साथ ही वे सभी देशों के निवासियों को व्यापार, संस्कृति तथा रोजगार की स्वाधीनता भी देना चाहते हैं। इस विश्व व्यापी युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् वे देखेंगे कि विश्व की समस्याओं का समाधान भविष्य में शांतिमय उपायों द्वारा हो जाय और संसार की शांति को कोई खतरा उपस्थित न हो। यह भी घोषणा की गई कि विश्व में शांति इसी सिद्धान्त को अपनाने से हो सकती है कि युद्ध की अपेक्षा शांति के मार्ग को ग्रहण किया जाय।

इस घोषणा के पश्चात् इङ्गलैण्ड, रूस तथा अमेरिका का पारस्परिक सहयोग बढ़ गया। एक युद्ध समिति भी संगठित हुई जिसका काम प्रशान्त महासागर

में युद्ध को चलाना था। प्रशान्त महासागर में युद्ध को चलाना आसान काम न था। पहिले तो अमेरिका युद्धक्षेत्र से सहस्रों मील दूर था। दूसरे जापानी युद्ध में पीठ दिखाना न जानते थे। पर्लहार्बर के साथ-साथ जापान ने हवाई द्वीप तथा फिलिपाइन द्वीप समूह पर आक्रमण किया। जून १९४२ तक जापान ने हांग-कांग, सिंगापुर, ब्रह्मा, जावा, सुमात्रा आदि प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। ब्रह्मा पर जापानी अधिकार होने से भारत की समस्या फिर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के सामने आई, उन्होंने देखा कि संतुष्ट भारत के सहयोग से वे जापान को अधिक सरलता से परास्त कर सकते हैं। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के प्रस्तावों को लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारतवर्ष आये। युद्ध के पश्चात् उन्होंने भारतवर्ष को अपना विधान निर्माण करने का अधिकार दिया। पाकिस्तान के सिद्धान्त को भी एक प्रकार से स्वीकार कर लिया गया। तात्कालिक राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने का यत्न किया गया। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि युद्धकालीन परिस्थिति को देखते हुये सरकार कोई अधिकार भारतीयों को नहीं सौंप सकती। कांग्रेस ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। उसका विचार था कि स्वराज्य तुरन्त मिलना चाहिये। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अगस्त १९४२ में 'अंगरेजो, भारत छोड़ो' का प्रस्ताव स्वीकृत किया।

इसी समय अफ्रीका की ओर विश्व का ध्यान खिंच गया। अक्तूबर १९४२ ई० में जनरल मांटगुमरी के नेतृत्व में रोमल (जर्मन सेनापति) को अफ्रीका से निकालने की योजना बनी। मरक्को तथा अल्जीरिया धुरी राष्ट्रों के बंधन से मुक्त कर दिये गये। अमेरिका की सेनायें ट्यूनीशिया में घुसीं और उस देश पर अधिकार कर लिया। मरक्को प्रदेश के कैसेब्लैंका स्थान पर चर्चिल तथा रूजवैल्ट ने एकत्रित हो अफ्रीका को जीतने की योजना बनाई। अप्रैल १९४३ तक यह अफवाह जोरों पर थी कि जर्मनी द्वारा अधिकृत योरप पर संयुक्त राष्ट्र तुरन्त ही आक्रमण करना चाहते हैं। मगर इससे पहिले अफ्रीका से शत्रु को निकालना आवश्यक था।

धुरी राष्ट्रों में पहिले इटली की पकड़ लगी। पहिले उसका अफ्रीका का साम्राज्य नष्ट हुआ। मरक्को, अल्जीरिया, ट्यूनीशिया तो पहिले ही उसके बन्धन से निकल चुके थे। अब स्वयं इटली पर मित्रों की बारी आई। सिसली ने आत्म-समर्पण कर दिया। मसोलिनी की स्थिति विचित्र हो गई थी। उसने हिटलर से सहायता की प्रार्थना की। वह न मिली। उलटे हिटलर ने इटली की निर्बलता पर उसे डांटा। स्वयं राजा ने मसोलिनी को पदच्युत कर दिया। उसके स्थान पर नये

बाद उसे गोली से उड़ा दिया गया। ३ सितम्बर १९४३ को इटली ने बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। अक्तूबर में इटली ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

१९४४ के मध्य में संयुक्त राष्ट्रों की सेना रोम में घुस गई। इसी समय रूस ने जर्मन सेनाओं को खदेड़ना प्रारम्भ किया। अक्तूबर १९४४ ई० तक रूस ने लैटविया, लिथुआनिया, पोलैण्ड, रूमानियां, बलगेरिया, आदि प्रदेशों से जर्मन सेनाओं को निकाल बाहर किया। कुछ समय पश्चात् सारा पूर्वी योरप नात्सी बन्धन से मुक्त हो गया।

अब संयुक्त राष्ट्रों ने इंगलिश चैनल से होकर जर्मनी के उत्तरी पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण किया। उधर फ्रांस में भी अमेरिकन सेनायें घुसीं। जर्मन सेनायें परास्त होती चली गई। जर्मन जाति की कठिनाइयों का कोई ठिकाना न था। अपनी सब कठिनाइयों के लिये वे हिटलर को दोषी समझते थे। कइयों ने उसे मारने के षड्यन्त्र रचे। मगर वह बच गया। इधर संयुक्त राष्ट्रों का साहस बढ़ता जा रहा था। उन्होंने इटली की ओर से भी जर्मनी के अधिकृत प्रदेश पर आक्रमण किया। पहिली मई १९४५ ई० को यह समाचार हैम्बर्ग से प्रसारित हुआ कि हिटलर ने आत्म-हत्या कर ली है। उसके शत्रुओं ने अब चारों ओर से जर्मनी पर प्रबल वेग से आक्रमण कर दिये। ९ मई सन् १९४५ को जर्मन सेनाओं ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। अब केवल जापान रह गया था।

जापान को परास्त करने का बीड़ा अमेरिका, इंगलैण्ड तथा रूस ने उठाया। लार्ड माउन्टबेटन ने ब्रह्मा को मई १९४५ ई० में जीत लिया। उधर जनरल मैकआर्थर ने फिलिपाइन द्वीप समूह से जापानियों को निकालने का निश्चय किया। १७ जुलाई १९४५ ई० को पोटस्डम में संयुक्त राष्ट्रों के नेता एकत्रित हुये। जापान को चेतावनी दी गई कि वह आत्म-समर्पण कर दे अन्यथा उसका पूर्ण विनाश अवश्यम्भावी है। जापान न इस चेतावनी का कोई उत्तर न दिया। ६ अगस्त १९४५ का दिन विश्व इतिहास का सबसे शोक भरा दिवस है। उस दिन हिरोशिमा द्वीप पर अमेरिकन सैनिकों ने परिमाणु बम फेंका। यह नगर नष्ट हो गया। जापानी उत्साह भी भंग हो गया। उसने भी १ सितम्बर १९४५ को बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया।

छः वर्ष तथा १ दिन रहने के पश्चात् द्वितीय विश्व युद्ध का अंत हो गया। फिर विश्व के सामने वही समस्या थी जैसी लगभग २७ वर्ष पहिले प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात्

युद्ध का अंत हो गया। संयुक्त राष्ट्रों की कठिनाइयों का प्रारम्भ हुआ। वे कठिनाइयां अपरिमित थीं। युद्ध से मुक्त हुये नागरिकों को कहां बसाया जाय; उजड़े हुये देशों और नगरों को किस प्रकार आबाद किया जाय; परमाणु बम का भविष्य निर्णय; हर जाने की समस्या; योरप तथा एशिया के प्रदेशों का फिर से बटवारा; जर्मनी का निरस्त्रीकरण तथा विश्व को फिर से रहने योग्य स्थान बनाना आदि मुख्य प्रश्न थे जिनका निर्णय मित्र राष्ट्रों को करना था। इसके अतिरिक्त विभाजित जर्मनी, आस्ट्रिया तथा जापान के शासन-प्रबन्ध का भी प्रश्न था। इनका प्रबन्ध अब अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस की सरकारें कर रही थीं। यद्यपि इन समस्याओं का निर्णय करने के लिये समय २ पर सभायें बनी थीं जैसे संयुक्त राष्ट्रों की कान्फ्रेंस, भोजन तथा कृषि संघ (FAO), संयुक्त राष्ट्र विश्राम तथा पुनर्वास शासन समिति (UNRRA) अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समिति आदि फिर भी आपस में मतभेद होने के कारण पर्याप्त कठिनाइयां उपस्थित हुईं।

अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि इन कठिनाइयों को किस प्रकार हल किया जाय? एक उपाय तो यही था जो प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् हुआ था। अर्थात् सभी राष्ट्रों की एक परिषद् बुलाई जाये और वह इन प्रश्नों का निर्णय करे। दूसरा उपाय था कि चार मुख्य राष्ट्रों के विदेशी मंत्री एकत्रित हो इन प्रश्नों का निपटारा कर लें। ऐसी एक कान्फ्रेन्स पोटसडम में १९४५ ई० में हुई थी। तत्पश्चात् ये कान्फ्रेन्सें लंदन, पेरिस, न्यूयार्क तथा मास्को में हुईं। इटली तथा पूर्वी योरपीय देशों के साथ तो संधियां हो गईं। मगर आस्ट्रिया, जर्मनी तथा जापान के साथ जून १९४८ ई० तक संधियां न हो सकीं। फिर भी इस द्वितीय विश्व युद्ध के कई परिणाम निकले और उनमें से एक था संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना।

इस संघ की स्थापना में अमेरिका के अध्यक्ष रूजवेल्ट ने सराहनीय प्रयत्न किया। उसने कहा "अमेरिका को विश्व सहयोग का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना होगा अन्यथा हमें तीसरे विश्व युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिये।" रूजवेल्ट के इस प्रयत्न में वेन्डल विल्की ने सहयोग दिया। रूस, चीन तथा ब्रिटेन ने अमेरिका के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। १९४४ ई० वाशिंगटन वार्तालाप में अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की फिर चर्चा हुई। अंतर्राष्ट्रीय असेम्बली, सुरक्षापरिषद्, एक स्थायी कार्यालय तथा एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

की रूपरेखा तैयार की गई। इन प्रस्तावों के आधार पर सैन फ्रांसिस्को कान्फ्रेन्स २५ अप्रैल से २६ जून १९४५ तक हुई। पचास राष्ट्रों ने इसके कार्य्यक्रम में भाग लिया। इस सभा ने संयुक्त राष्ट्र अधिकार पत्र तैयार किया। इस अधिकार पत्र का वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ हम उन संधियों का वर्णन करेंगे जो दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् हुई।

सबसे पहिले इटली, रूमानियां, बलगेरिया, फिनलैण्ड, हंगरी के साथ संधि की शर्तें तय करने का प्रश्न उठा। काफी वादविवाद के बाद १० फर्वरी सन् १९४७ ई० को इन देशों के साथ संधियां हो गई। किसी भी देश ने संधि की शर्तों को न्यायपूर्ण नहीं माना और जिस दिन इन पर हस्ताक्षर हुये थे उसी दिन से इन्हें बदलने का आंदोलन प्रारम्भ हो गया। इटली के साथ जो संधि हुई उसमें उसे अपने उपनिवेश तथा थोड़ा-सा योरपीय प्रदेश फ्रांस, युगोस्लाविया यूनान तथा अलबेनिया को दे देना पड़ा। इटली का लिबया, एरीट्रिया, सोमालीलैण्ड पर से अधिकार उठ गया। यह निश्चय हुआ कि इनका प्रबन्ध इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका तथा रूस करेंगे। इटली की सेना २ लाख पचास हजार कर दी गई। रूमानियां को अपना कुछ प्रदेश रूस को देना पड़ा। इसके बदले में उसे हंगरी से कुछ प्रदेश मिला। बलगेरिया का देश ज्यों का त्यों रहा। फिनलैण्ड की संधि द्वारा उन भागों को रूस के अधीन मान लिया गया जो उसने १९४० ई० में जीत लिये थे। हंगरी को वह प्रदेश तो लौटाना पड़ा ही जो उसने बलगेरिया से जीत लिया था साथ ही हरजाने के रूप में भी रकम उससे वसूल की गई।

अब हम आस्ट्रिया तथा जर्मनी की संधियों का वर्णन करेंगे। जर्मनी के सम्बन्ध में रूस, इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका में सबसे अधिक मतभेद था। रूस जर्मनी को फिर से शक्तिशाली बनाना चाहता था। वह जर्मनी से हरजाने के रूप में भारी रकम का सामान वसूल करना चाहता था। यह तभी सम्भव था जब जर्मनी का उद्योगीकरण शक्ति-शाली हो जाये। यद्यपि सोवियट रूस जानता था कि यह मांग खतरे से खाली नहीं है फिर भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का एक मात्र उपाय यही था कि जर्मनी के उद्योग-धंधों को उन्नत किया जाय। इसके विपरीत इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका चाहते थे कि जर्मनी की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाय; उसकी केन्द्रीय शक्ति क्षीण कर दी जाय, जर्मनी औद्योगिक देश न बन सके। इसी प्रकार आस्ट्रिया के सम्बन्ध में रूस तथा अन्य मित्र राष्ट्रों में एकमत न था। रूस आस्ट्रिया से ऐसी शर्तें मनवाना

चाहता था जिससे उसकी स्वाधीनता कम हो जाती। ऐसी दशा में कोई समझौता रूस तथा अन्य मित्र राष्ट्रों में न हो सका। परिणाम यह हुआ कि पूर्वी जर्मनी पर रूस ने अपना अधिकार कर लिया। पश्चिमी प्रदेश पर इंगलैण्ड तथा अमेरिका ने। उधर फ्रांस ने अपनी अलग मांग रक्खी। इस प्रकार चार भागों में जर्मनी विभाजित हो गया। रूस के पास ४५,००० वर्ग मील जर्मन भूमि थी। इङ्गलैण्ड के पास ३६,००० वर्ग मील, फ्रांस के पास १६,५०० वर्ग मील तथा अमेरिका के पास ४२,५०० वर्ग मील भूमि थी। समस्त देश से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर कानून बनाने के लिये एक सभा थी जिसे मित्र राष्ट्रों की केन्द्रीय शासन समिति (Allies Central Authority) कहा जाता था। १९४८ ई० में इस सभा के चारों हिस्सेदारों में इतना पारस्परिक मतभेद हो गया कि रूस ने इस समिति से अपने आपको हटा लिया। कुछ समय बाद रूस ने अपने प्रदेश में अलग सिक्का प्रचलित कर दिया इस प्रकार जर्मनी को डर लगने लगा कि कहीं योगियों की लड़ाई में खंजरी न टूट जाय! अर्थात् इन शक्ति शाली देशों के बीच में कहीं जर्मनी का बटवारा न हो जाये।

आस्ट्रिया की परिस्थिति जर्मनी से विपरीत थी। वहाँ पर जर्मनी की पराजय से पूर्व रेनर की संरक्षकता में एक अस्थायी सरकार बनी। मास्को ने इस सरकार के प्रति अपनी स्वीकृति दे दी। कुछ समय बाद इस सरकार को मित्र राष्ट्रों ने भी स्वीकार कर लिया। फिर नये चुनावों की घोषणा हुई। उसमें भी रेनर का दल विजयी हुआ। वह आस्ट्रिया का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। जर्मनी की तरह आस्ट्रिया के भी चार भाग किये गए। रूस, इङ्गलैण्ड, अमरीका तथा फ्रांस में से प्रत्येक को एक-एक भाग मिला। यह विभाजन नात्सीवाद के पतन के पश्चात् देश में आर्थिक पुनरुत्थान के लिये हुआ था। आस्ट्रिया की सरकार ने सहयोग की नीति का सहारा लेकर अपनी समस्याओं का हल निकालने का प्रयत्न किया। किन्तु फिर भी जून १९४८ ई० तक रूस तथा अन्य मित्र राष्ट्र आस्ट्रिया के प्रश्न पर एकमत न हो सके। बेचारा आस्ट्रिया दोनों के विवाद का स्थल १९४८ तक बना रहा।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व जापान के शासन-प्रबंध की ओर ध्यान देना अनुचित न होगा। जापान के शासनाधिकार जनरल मैकआर्थर को सौंपे गये थे। मैकआर्थर मित्र राष्ट्रों की जापानी कौंसिल के परामर्श से शासन कर रहा था। इस कौंसिल में रूस, चीन, इङ्गलैण्ड का एक-एक सदस्य तथा

आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा भारत को मिला कर कुल ४ सदस्य थे। इनके अतिरिक्त एक अमेरिकन इस कौंसिल का सभापति था। आस्ट्रिया की तरह यहाँ की सरकार भी मित्र राष्ट्रों की आधीनता में शासन कर रही थी। उस सरकार के संचालक सम्राट् और उसके मन्त्री थे। मैकआर्थर की सरकार का उद्देश्य जापान में फिर से प्रजातंत्री संस्थायें स्थापित करना और वहाँ की उग्र राष्ट्रीयता को कम करना था। जर्मनी की तरह यहाँ भी युद्ध के बंदियों पर मुकद्दमे चले। जापान की युद्ध प्रिय मनोवृत्ति को भी कम किया गया। किन्तु युद्ध के पश्चात् जापान की मुख्य समस्या थी आर्थिक। जापान में भुखमरी का साम्राज्य था। अमेरिका से भेजे हुये अन्न पर बहुत से जापानी जीवित थे।

सन् १९४७ ई० में जापान ने नया विधान स्वीकृत किया। इस विधान में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख था; उत्तरदायित्वपूर्ण मन्त्रिमण्डल की स्थापना पर जोर दिया गया। सम्राट् के अधिकारों को सीमित कर दिया गया। इस विधान के अनुसार जो चुनाव हुये उनमें सामाजिक प्रजातन्त्री दल को सबसे अधिक मत मिले। इस दल का नेता कटयामा प्रधान मन्त्री हुआ। कुछ महीनों बाद उसके स्थान पर हितोशी आशिदा प्रधान बना। जनरल मैकआर्थर ने यद्यपि जापान की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया फिर भी वहाँ की सबसे मुख्य समस्या अभी शेष थी। वह थी जापान के साथ मित्रराष्ट्रों की स्थायी संधि। हां, एक बात अवश्य हुई। कोरिया में स्थित जापानी साम्राज्य को स्वतन्त्र कर उसे रूस तथा अमेरिका के आधिपत्य में कर दिया गया। जून १९४८ ई० में एक कमीशन संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ की ओर से कोरिया की स्वाधीनता के लिये योग्यता की जांच करने के लिये आया किन्तु रूस ने उसके साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया।

सोलहवाँ अध्याय

संयुक्त राष्ट्र-संघ और स्वाधीनता की व्यापक परिभाषा

प्राक्कथन

पिछले अध्याय में हमने यह बताया था कि द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर यह विचार संयुक्त राष्ट्रों में घर कर रहा था कि विश्व में शांति स्थापित रखने के लिये यह आवश्यक है कि संसार की सभी जातियां सहयोग की भावनाओं के वशीभूत हो विश्व में स्थायी शांति स्थापित करने का यत्न करें। विश्व की शांति के दो बड़े शत्रु थे, उग्र राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद। उग्र राष्ट्रीयता से यह तात्पर्य है कि कोई देश केवल अपनी सभ्यता को सभ्यता समझे और अन्य सभ्यताओं तथा जातियों का गला घोटने में कोई कसर न रक्खे।

बहुत प्राचीन काल से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना विश्व में मौजूद रही है। सिंधु, एलम, मिस्र तथा अन्य प्राचीन सभ्यताओं का एक दूसरे से सांस्कृतिक सम्बन्ध बना रहता था। इस सम्बन्ध के पश्चात् युग आया विश्व के बड़े-बड़े साम्राज्यों का जिनमें दारा, सिकन्दर तथा रोमनों के साम्राज्य मुख्य हैं। फिर चार्ल्स महान का साम्राज्य स्थापित हुआ। यह साम्राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से विख्यात था। इस साम्राज्य ने अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी योरप में शांति स्थापित रखने का प्रयत्न किया। उस साम्राज्य के नष्ट होने से पूर्व योरप में फ्रांस की राज्यक्रांति हुई जिसने समस्त मानव जाति के मौलिक अधिकारों की घोषणा की। राज्यक्रांति के इन विचारों का वर्ड्सवर्थ, कालरिज, रस्किन आदि कवियों तथा लेखकों ने समर्थन किया। फिर १८१५ ई० के पश्चात् योरप में संधियों (Alliances) का बोलबाला रहा। यह आवश्यक समझा गया कि योरप तथा विश्व की शांति को सुरक्षित रखने का उपाय है भिन्न भिन्न योरपीय देशों का पारस्परिक सहयोग। किन्तु स्वराष्ट्रीयता की भावना ने योरपीय देशों को इतना प्रभावित किया कि वे पारस्परिक सहयोग की भावना को उस समय के लिये भूल गए। फिर भी कुछ आदर्शवादी इस सिद्धान्त को न भूले थे कि राष्ट्रीयता के साथ साथ विश्व का कल्याण अन्तर्राष्ट्रीयता में है। पहिले राष्ट्रों को स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली बनना होगा और फिर वे सम्मिलित हो विश्व शांति तथा कल्याण की चेष्टा करेंगे। इन विचारकों में मुख्य स्थान मेजिनी का

था। इधर वैज्ञानिक आविष्कार अंतर्राष्ट्रीयता की भावना बढ़ाने में सराहनीय कार्य कर रहे थे। इन आविष्कारों से सभी को आशा थी कि ये संसार की भिन्न-भिन्न जातियों को एकता के सूत्र में ग्रथित करेंगे। किन्तु विज्ञानवाद ने एक और समस्या खड़ी कर दी। अब सैनिकों के पास मानव संहार के इतने साधन मौजूद थे जिनका कभी स्वप्न भी लोगों को न था। इससे विश्व को बचाने का एक ही उपाय हो सकता था और वह था निरस्त्रीकरण। अब राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग तथा शांतिमय उपायों से अपने झगड़ों का निर्णय करने के साथ-साथ निरस्त्रीकरण की समस्या भी विश्व के रंगमञ्च पर आई। १८९९ ई० में रूस के ज़ार ने निरस्त्रीकरण तथा विश्व न्यायालय की समस्या को योरप के सामने रक्खा। परिणाम स्वरूप हेग में १८९९ तथा १९०७ ई० की कान्फ्रेन्सें हुईं। इन कान्फ्रेंसों का कोई तात्कालिक लाभ न हुआ। यह लाभ अवश्य हुआ कि विश्व के मुख्य मुख्य देश अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिये एकत्रित हो सकते हैं। साथ ही उनके बहुत से झगड़ों का निपटारा शांतिमय उपायों द्वारा हो सकता है।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा सद्भावना पर फिर जोर दिया। विल्सन के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इसके उद्देश्य, संगठन तथा कार्य की ओर हम यथा स्थान संकेत कर चुके हैं।* यहाँपर इतना ही कहना पर्याप्त है कि राष्ट्रसङ्घ ने बहुत-सी राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने का सफलतापूर्वक प्रयत्न किया। राष्ट्रीय सुरक्षा का भी इसने प्रयत्न किया। स्वास्थ्य, शिक्षा, मानसिक विकास, यातायात के साधन आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रसङ्घ ने सराहनीय कार्य किया। किन्तु इन सब कार्यों से भी अधिक महत्वपूर्ण था अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावनाओं में अभिवृद्धि। हाँ, युद्धों को रोकने में अवश्य इसे असफलता मिली। कारण स्पष्ट है। संसार के भिन्न-भिन्न देश जो राष्ट्रसङ्घ के सदस्य थे निरस्त्रीकरण के लिये तैयार न थे। राष्ट्रसंघ वही तो कर सकता था जो संसार के राष्ट्र उससे कराना चाहते थे। उससे अधिक करना उसकी सामर्थ्य के बाहर था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अवसर पर फिर विश्व ने इस बात का अनुभव किया कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ही विश्वशान्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके साथ-साथ एक सक्रिय प्रयत्न इस दिशा में होना चाहिये कि संसार के देशों को युद्ध

* देखिये अध्याय ११ खण्ड २

का सहारा न लेना पड़े। वर्साई की सन्धि के विपरीत अब यह अधिक उचित समझा गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव युद्ध के पश्चात न रक्खा जाय बल्कि युद्धकाल में ही रक्खा जाय। अन्यथा ऐसा संघ कभी स्थापित ही न हो सकेगा। तभी इस संघ की रूप-रेखा बनी और इसके लिए इङ्गलैंड, अमेरिका, रूस तथा चीन ने अपनी स्वीकृति दे दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मानव संहार पहिले युद्ध की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ। अकेले योरप में २ करोड़ प्राणियों का संहार हुआ। साथ ही असंख्य आदमियों को अपाहिज बन अस्पतालों में शरण मिली। अरबों की सम्पत्ति का नाश हुआ सो अलग। एक बात और। परमाणु बम के आविष्कार से अब कोई भी देश अपने को सुरक्षित नहीं समझता। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की आज जितनी आवश्यकता है उतनी इससे पहिले कभी न थी। यह स्पष्ट है कि यदि तीसरा विश्व युद्ध हो गया (जो पहिले तथा दूसरे से कहीं अधिक भयङ्कर होगा) तो आधुनिक सभ्यता का पूर्णरूपेण विनाश हो जायेगा। इसी कारण हमें इसकी आवश्यकता है और इसी कारण मित्र राष्ट्रों ने इसे जन्म दिया है। आगे के पृष्ठों में हम इसी के संगठन पर विचार कर इसके कार्य का महत्व आंकने का प्रयत्न करेंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र के आधार पर हुआ है। इस घोषणा-पत्र के चार मुख्य उद्देश्य हैं :—

१. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करना;

२. संसार की विभिन्न जातियों में मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। इस सम्बन्ध का आधार अधिकारों की समानता तथा आत्म-निर्णय का सिद्धान्त होगा।

३. विश्व की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का निर्णय करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना;

४. व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा अधिकारों के प्रति सम्मान के भाव विश्व में बढ़ाना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सदस्यों ने राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त को मान लिया और यह प्रतिज्ञा की कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में वे युद्ध का सहारा न लेंगे। साथ ही किसी देश के आन्तरिक मामलों में भी वे हस्तक्षेप न करेंगे।

सदस्यता

स्थापित होने के समय इस संघ के ५१ सदस्य थे। इसके अतिरिक्त सुरक्षापरिषद् की सिफारिश से जनरल असेम्बली नये सदस्यों को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ में सम्मिलित कर सकती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्थायें

(१) जनरल असेम्बली—इस सभा के सदस्य सभी सम्मिलित राष्ट्रों के प्रतिनिधि हैं। प्रत्येक देश के सभी प्रतिनिधियों का मत 'एक' ही गिना जाता है। इस सभा की बैठक वर्ष में एक बार सितम्बर में होती है। महत्वपूर्ण प्रश्नों पर दो तिहाई सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है। असेम्बली को विश्व की शान्ति तथा सुरक्षा के सम्बन्ध में किसी भी प्रश्न पर विचार करने का अधिकार है। साथ ही असेम्बली को सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों को चुनने का अधिकार है। असेम्बली का काम बजट स्वीकृत करना तथा निरस्त्रीकरण के लिये भी आवश्यक प्रयत्न करना है। असेम्बली की ही आधीनता में आर्थिक तथा सामाजिक कौन्सिलें तथा ट्रस्टीशिप की कौंसिल भी हैं।

(२) सुरक्षा परिषद्—इस परिषद् का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा तथा शान्ति स्थापित करना है। इसे अधिकार है कि वह किसी भी मामले की छानबीन करे और युद्ध को रोकने का प्रयत्न करे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों ने सुरक्षा परिषद के निर्णयों के अनुसार कार्य करने की अपनी स्वीकृति दे दी।

इस परिषद् के पाँच स्थायी सदस्य थे—चीन, फ्रांस, रूस, अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड। शेष ६ अस्थायी सदस्यों के जनरल असेम्बली द्वारा चुने जाने की व्यवस्था थी।

(३) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—इसके अन्तर्गत बहुत सी छोटी-छोटी उपसमितियाँ थीं, जिनका काम जनसंख्या, व्यक्तिगत अधिकारों की व्याख्या, स्त्रियों का समाज में स्थान, नशीली वस्तुओं का निषेध, रोजगारी की समस्या आदि विषयों का प्रबन्ध करना था। कुछ मुख्य उपसमितियों के नाम इस प्रकार हैं—अन्न तथा कृषि संघ (FAO); अंतर्देशीय डाक यूनियन (UPU), अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक फंड (IMF) तथा संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा विज्ञान तथा संस्कृति संघ (UNESCO) आदि।

(४) संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ ऐसे भी प्रदेश सौंपे गये थे जिन्हें अभी स्वराज्य के योग्य नहीं पाया गया था और जिनका शासनप्रबन्ध राष्ट्रसंघ को

चलाना था। राष्ट्र सङ्घ का यह कार्य्य ट्रस्टीशिप परिषद् द्वारा सम्पन्न होता था। यह परिषद् असेम्बली की अधीनता में कार्य्य करती थी। इस परिषद् के ५ सदस्य तो सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य थे। शेष सदस्य उन राष्ट्रों के होते थे जिन्हें उन देशों के शासन प्रबन्ध से प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध न था जिनका शासन ट्रस्टीशिप परिषद् को सौंपा गया था। ऐसे सदस्यों का निर्वाचन असेम्बली द्वारा पांच वर्षों के लिये होता था। असेम्बली का काम इस परिषद के कार्य्य पर दृष्टि रखना था। असेम्बली उस प्रदेश की प्रजा से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी।

(५) पांचवीं संस्था हेग का अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय था। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य इस न्यायालय का सदस्य था। संयुक्त राष्ट्र का कोई भी सदस्य अपने मामलों को इस न्यायालय में निर्णय के लिये भेज सकता था। उसे इस न्यायालय के निर्णयों को मानना पड़ता था। असेम्बली, सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सदस्य इस न्यायालय के सामने किसी भी विषय की कानूनी सम्मति प्राप्त करने के लिये भेज सकते थे।

(६) संयुक्त राष्ट्र संघ का एक स्थायी कार्य्यालय था। इसका मुख्य कार्य्यकर्त्ता सेक्रेटरी जनरल था। उसे असेम्बली, सुरक्षा परिषद, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद और ट्रस्टीशिप परिषद के मन्त्री का भी कार्य्य करना था। उसकी नियुक्ति जनरल असेम्बली द्वारा होती थी। सेक्रेटरी जनरल का कार्य्य अपने अधीन कर्मचारियों की नियुक्ति करना था। नार्वे के श्री ली सर्व प्रथम जनरल सेक्रेटरी थे।

इस घोषणा-पत्र में संशोधन जनरल असेम्बली द्वारा हो सकते हैं। ऐसे संशोधन दो तिहाई सदस्यों के बहुमत से स्वीकृत होने चाहियें। साथ ही सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की स्वीकृति भी इन संशोधनों पर मिलनी चाहिये।

अब हम संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों पर विचार करेंगे।

पहिले बताया जा चुका है कि ट्रस्टीशिप कौंसिल को ऐसे प्रदेशों का शासन प्रबन्ध सौंपा गया था जो स्वराज्य के लिये अभी अयोग्य थे। पिछले राष्ट्रसंघ के संरक्षित राज्यों को अब संयुक्त राष्ट्रसंघ के हवाले कर दिया गया। ये देश थे पश्चिमी टोगो प्रदेश-टैंगनिका, पश्चिमी कैमरून, न्यूगिनी, पश्चिमी समोआ आदि। इनमें से टोगो प्रदेश फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड को मिला, टेंगनिका

ब्रिटेन को, पश्चिमी समोआ न्यूजीलैण्ड को तथा न्यूगिनी आस्ट्रेलिया को। इटली के उपनिवेशों को भी ट्रस्टीशिप कौन्सिल को सौंप दिया गया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख बहुत सी समस्याएँ आईं। इनमें सबसे मुख्य फिलस्तीन, परमाणु शक्ति, हिन्देशिया, काश्मीर आदि के सम्बन्ध में थीं। इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण समस्या राष्ट्रसंघ के सम्मुख आयी। यह समस्या थी जातिगत द्वेष तथा काले-गोरों का भेद-भाव। दक्षिणी अफ्रिका ने भारतीयों के ऊपर अपमानजनक पाबन्दियाँ लगाईं जो हिटलर की यहूदियों पर लगाई गई पाबन्दियों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। इन सभी समस्याओं का निपटारा सुरक्षा परिषद तथा जनरल असेम्बली ने बड़े विवेक से किया। आशा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को संसार के देशों का सहयोग इसी प्रकार मिलता रहा तो वह विश्व को आज की अपेक्षा अधिक रहने योग्य बना पायेगी। किन्तु इसके लिये सभी राष्ट्रों, बड़े और छोटों के सहयोग तथा सद्भावना की आवश्यकता है। विचारकों को विश्वास है कि इनकी भी कमी न रहेगी और तब मनुष्य युद्ध के आतंक से निर्भय हो जायगा और तब वह अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने में अधिक सफलता प्राप्त करेगा।

यहाँ हम संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व के लिये देन अर्थात् स्वाधीनता की व्यापक परिभाषा को अधिक विस्तार के साथ देख इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

स्वाधीनता की व्यापक परिभाषा

संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के घोषणा पत्र को ध्यान से पढ़ने के पश्चात् प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति इस निर्णय पर पहुँचेगा कि यह घोषणा-पत्र वास्तव में विश्व इतिहास में एक मार्के की वस्तु है। यदि यह सत्य है कि वर्तमान सभ्यता साधारण नागरिक के हर्ष-विषाद, शोक-संताप, उन्नति-पतन का ही सम्मिलित रूप है तो यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि यह घोषणा पत्र साधारण नागरिक को उन्नति करने का प्रत्येक प्रकार का अवसर देता है। यह घोषणा-पत्र विश्व के इतिहास की इतनी महत्वपूर्ण घटना है कि यहाँ हम उसका भावानुवाद देते हैं :—

"हम संयुक्त राष्ट्र अपनी आगामी संतति को युद्ध की भीषण हानियों से बचाने के लिये यह निश्चयपूर्वक घोषणा करते हैं कि:—

हमारे हृदयों में व्यक्ति के मौलिक अधिकारों, उसके सम्मानपूर्ण स्थान तथा उसके सामाजिक मूल्य के लिये भारी सम्मान है। हम स्त्रियों तथा पुरुषों, छोटे तथा बड़े राष्ट्रों—सभी के समानाधिकारों में विश्वास रखते हैं।

एतदर्थ हम ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण करना चाहते हैं जिनके आधीन न्याय भलीभाँति सम्पादित हो सके तथा अंतर्राष्ट्रीय नियमों और संधियों का आदर हो।

व्यक्तिगत स्वाधीनता को व्यापक तथा सक्रिय बनाने के लिये हम व्यक्तिकी सामाजिक उन्नति में सहयोग देना चाहते हैं और उसके जीवनस्तर को ऊंचा उठाना चाहते हैं।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम सहिष्णुता की भावनायें उत्पन्न करना चाहते हैं जिससे हम अच्छे पड़ोसी की तरह शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें और अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की स्थापना में सहयोग दे सकें।

हम इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं कि पारस्परिक मनमुटाव को मिटाने का मार्ग युद्ध नहीं है और न हम उसका सहारा ही लेंगे। इसके विपरीत सभी जातियों की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिये हम अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का सहारा लेंगे।

एतदर्थ हमारी सरकारें जिनके प्रतिनिधि सैन फ्रांसिस्को में एकत्रित हुये हैं इस बात से सहमत हैं कि संयुक्त राष्ट्रों का घोषणापत्र प्रकाशित किया जाय तथा संयुक्त राष्ट्र संघ नाम की एक संस्था भी स्थापित की जाय।"

यह है विश्व का वह नया रूप जिसके लिये संसार का प्रत्येक व्यक्ति आकुल है। इस घोषणा पत्र के साथ साथ यदि हम उन निर्णयों पर ध्यान दें जो संयुक्त राष्ट्र संघ ने समय समय पर किये तो यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी कि इनमें आदर्श तथा व्यवहार दोनों का अमूल्य सम्मिश्रण है। यह आदर्शवाद इसलिये कहा जा सकता है कि इसमें एक आदर्श जगत की कल्पना की गई है। यह व्यवहारात्मक इसलिये है कि इस आदर्श को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। आंध्र सागरीय घोषणापत्र में भी संयुक्त राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया था कि वे व्यक्ति को आर्थिक दासता, राजनैतिक दासता, सामाजिक दासता तथा नैतिक दासता से मुक्त करना चाहते हैं। किन्तु यह होगा स्वाधीनता का नकारात्मक अर्थ। केवल बाधाओं का न होना ही स्वाधीनता नहीं है। सच्ची स्वाधीनता है उन परिस्थितियों का निर्माण जिनमें एक व्यक्ति अपनी शक्तियों का स्वच्छन्द-विकास कर सके और सामाजिक पुनर्निर्माण में सहयोग दे सके। इसी स्वाधीनता की कल्पना इस घोषणापत्र में की गई है।

सत्रहवाँ अध्याय

विज्ञान का चमत्कार

प्राक्कथन

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में यह बतलाया गया था कि सभ्यता की उन्नति मनुष्य तथा प्रकृति के पारस्परिक सङ्घर्ष के परिणामस्वरूप हुई। अर्थात सृष्टि के प्रारम्भकाल से लेकर मनुष्य इस बात की ओर प्रयत्नशील रहा है कि वह अपना जीवन इस संसार में अधिक सुखमय बनाये। सुखी बनाने का अर्थ है कि वह इतनी क्षमता अवश्य प्राप्त कर ले जिससे उसे प्रकृति के साथ होनेवाले संघर्ष में सफलता मिल जाये। प्रारम्भकाल से लेकर मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा है और इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप उसका विकसित रूप मानव सभ्यता के सम्मुख आज आ पाया है। आज जिस अवस्था से होकर मानव सभ्यता गुजर रही है उसकी विशेषता यह है कि मनुष्य ने प्रकृति के अनुकूल अपने आपको बना ही नहीं लिया अपितु अनेक साधनों द्वारा उसमें प्रकृति के ऊपर शासन करने की भी क्षमता है। यह क्षमता उसे प्राप्त हुई है विज्ञान के आविष्कारों की बदौलत। विज्ञान की इस उन्नति ने मनुष्य के सामने कई नई समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। उदाहरणार्थ एक समस्या है—क्या मानव जीवन एक आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है अथवा वह जीवन को उसी रूप में ले रहा है जिस रूप में मानव जीवन यथार्थ में है? यह विवाद आदर्शवाद तथा यथार्थवाद के बीच है। इसके साथ ही साथ दूसरा विवाद आदर्शवाद तथा भौतिकवाद के बीच है। आदर्शवादियों का विचार है कि जो कुछ बाह्यरूप में दिखलाई पड रहा है उससे परे एक और जगत है। वह जगत है विचारों का। आदर्शवादी उसी जगत को यथार्थ समझते हैं जिसमें विचारों की कल्पना से मनुष्य एक नये संसार का निर्माण करता है। यह संसार 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का संसार है। इसके विपरीत भौतिकवादियों का कथन है कि पदार्थ से अलग और कोई वस्तु नहीं है। मानव जीवन का ध्येय खाने पीने और विषय भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इनके अतिरिक्त एक और विचारधारा के लोग हैं जो किसी भी प्रकार के बन्धन को अस्वीकार कर स्वच्छन्द रूप से कला, साहित्य तथा सामाजिक जीवन का निर्माण करना चाहते

हैं। वे लोग स्वच्छन्दतावादी हैं। इस अध्याय में हम पहिले विज्ञान के आविष्कारों का वर्णन कर फिर वर्तमान युग की इन विचारधाराओं पर विचार करेंगे।

विज्ञान की उन्नति

पहले बताया जा चुका है कि नवीन युग का सूत्रपात विज्ञान की बदौलत हुआ था।[1] वैसे तो विज्ञान इतना पुराना है जितना मानव जीवन। तथापि वर्तमान विज्ञान का श्रीगणेश रोजर बेकन की प्रयोगात्मक शैली के साथ ही माना जाता है। रोजर बेकन ने सत्य की खोज का एक मात्र उपाय प्रयोग को माना। उसके पश्चात् न्यूटन ने पृथ्वी के आकर्षण के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर एक नवीन गवेषणा योरप के सामने रक्खी। (भारतवासियों को पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का बहुत पहिले से ही पता था।) न्यूटन के इस कार्य को लैपलेस ने जारी रक्खा। इस समय रसायन जगत में प्रीस्टले ने आक्सीजन गैस का पता लगाया। इधर भूगर्भ में शास्त्र की एक नई बात ज्ञात हुई। सर चार्ल्स नील ने पृथ्वी की आयु का पता लगाने के सिद्धान्त निकाले। आगे के अनुसन्धानों को इस वैज्ञानिक के कार्य से भारी सहायता मिली। इसी समय डार्विन ने 'विकासवाद' का सिद्धान्त विश्व के सामने रक्खा। डार्विन का विचार संक्षेप में यह है कि मानव जीवन अनेक अवस्थाओं से गुजरने के बाद आज अपने वर्तमान रूप में आ पाया है। मानव जीवन संघर्ष है और इस संघर्ष में विजय योग्यतम व्यक्तियों की ही होती है। डार्विन के विचारों का हरबर्ट स्पेन्सर तथा हक्सले पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसी समय दूरबीन का आविष्कार होने से नक्षत्रों की गति तथा सौर-मण्डल का पता लगाया गया। सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र ने कीटाणुओं तथा अन्य सूक्ष्म पदार्थों को देखा। लुई पास्टर नामक एक वैज्ञानिक ने पागल कुत्ते के काटने का इलाज बताया। बर्लिन निवासी डा० कोच ने यक्ष्मा के कीटाणुओं का पता लगाया। विद्युत-शक्ति, जल, उष्णता, प्रकाश तथा शरीर की मालिश आदि उपायों से चिकित्साशास्त्र की पर्याप्त उन्नति हुई। इसी समय 'अणु' तथा 'परमाणु' के विषय में भी नये नये सिद्धान्त खोज निकाले गये। प्रसिद्ध गणितज्ञ एन्स्टाइन ने यह सिद्धान्त निकाला कि 'आकाश' इधर उधर घूम फिर कर अपने आप अपने ही में मिल जाता है। सन् १८३७ ई० में बिजली के तार

१ देखिये अध्याय १ खण्ड २

द्वारा बिजली प्रचलित करके समाचार भेजने में उन्नति हुई। टेलीप्रिन्टर के आविष्कार द्वारा दूरस्थ देशों से एक ही समय में कई स्थानों को तार तथा सम्वाद भेजे जाते हैं। विद्युत शक्ति के आविष्कार ने टेलीफोन को जन्म दिया। बेतार का तार यद्यपि पहिले ही प्रचलित हो चुका था तथापि इसे आधुनिक रूप देना मारकोनी का कार्य था। इधर 'टेली विज़न' का आविष्कार होने से बिजली की शक्ति द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रतिबिम्ब भेजे जाने लगे। बोलते हुए तथा अभिनय करनेवाले छायाचित्रों का भी आविष्कार हुआ।

विज्ञान ने युद्धकला में भी अनेक परिवर्त्तन किये हैं। टैंक, परिमाणु बम, मशीनगन तथा हवाई जहाजों के युद्धों से संसार को भीषण हानि होती है। हवाई जहाज आधुनिक युग में शत्रु प्रदेश पर बम गिराने तथा युद्ध सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में काम आते हैं। इनकी गति २०० मील प्रति घंटा है और ये बिना ठहरे हुये पांच हजार मील तक उड़ सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध में इन हवाई जहाजों ने गिरजाघरों, अस्पतालों तथा सार्वजनिक स्थानों को नृशंसतापूर्वक नष्ट कर दिया था।

विज्ञान का प्रभाव

यदि निष्पक्षतापूर्वक देखा जाये तो आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के आविष्कारों की बदौलत ही मानव सभ्यता अपने वर्तमान रूप में आ पाई है। नवीन देशों की खोज, तर्कवाद का जन्म, औद्योगिक साम्राज्यवाद, राष्ट्रीयता, सैन्यवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि सभी वर्तमान विचार धारायें विज्ञान की बदौलत ही मानव जाति को मिली हैं। विज्ञान ने स्वतंत्र विचार प्रणाली को जन्म देकर सभ्य संसार का जितना उपकार किया है उतना शायद किसी और ने न किया हो। लाक, वाल्टेयर, रूसो, लैनिन, डार्विन आदि को कौन भूल सकता है?

रहे आविष्कार। इन आविष्कारों के जन्मदाताओं ने सदैव लोक-कल्याण की भावनाओं से प्रभावित हो इन्हें संसार के सामने रक्खा था। मारकोनी का बेतार का तार, कोच का कीटाणुओं के सिद्धान्त का प्रचार, फ्रेंकलिन का विद्युत का आविष्कार आदि सभी उन महापुरुषों की महानता के द्योतक हैं। उन महापुरुषों को यह पता न था कि इन्हीं आविष्कारों का प्रयोग मानव-संहार के लिये होगा। यह मनुष्य की दूषित मनोवृत्ति का परिणाम है—न कि विज्ञान का-कि संसार में ऐसी घटनायें हो रही हैं जिनके स्मरण मात्र से ही स्वयं मानवता लज्जित

हो जाती है। हिरोशिमा पर परिमाणु बम का फेंका जाना मानव सभ्यता पर अमिट कालिमा है।

इस प्रकार आज मानवजाति के सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य मशीनों को अपना दास बनाये न कि उनका स्वयं दास बन मानव सभ्यता के विनाश में सहायक हो। नागरिक जीवन का प्रथम पाठ कि मनुष्य को स्वयं जीवित रहने के साथ र दूसरे को भी जीवित रहने देना चाहिये अभी भी मानव जाति को सीखना है। यहाँ हम आधुनिक युग की अन्य मुख्य विचार धाराओं पर विचार करेंगे।

भौतिक वाद तथा आदर्श वाद

भौतिक वाद का आशय उस विचारधारा से है जिसके अनुसार व्यक्ति विचारों के संसार की अपेक्षा भौतिक जगत की यथार्थता में विश्वास रखता है। उसका विचार है कि जो कुछ हमें मूर्त रूप में दिख पड़ता है उससे परे कोई दूसरा जगत नहीं है। उसकी सम्मति में यह संसार विकासवाद के सिद्धान्त पर स्थिर है। मनुष्य में जीवित रहने तथा उन्नति करने की भावनायें प्रकृति द्वारा दी हुई हैं। विज्ञान के साथ एक भौतिकतावादी अपना गठबन्धन कर उन सब सामग्रियों के बढ़ाने में सहयोग देता है जिससे उसकी इन्द्रियों के सुख की तृप्ति हो। एक भौतिकता वादी का विचार है कि संसार में विषय भोग की सभी सामग्रियां एकत्रित हों और उनके ही सम्पादन में मनुष्य को अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये।

भौतिक वाद के ठीक विपरीत एक दूसरी विचारधारा है जिसे आदर्शवाद कहते हैं। आदर्श वादियों का कथन है कि भौतिक जगत से परे विचारों का जगत है। यह विचारों का जगत स्थायी है। भौतिक जगत नाशवान है। उनका कथन है कि मानव जाति जीवित रहने के साथ साथ एक आदर्श की ओर अग्रसर होती रही है और उस आदर्श को प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य है। वह आदर्श सदा मनुष्य की पहुँच के बाहर रहता है। अपने आदर्श के लिये ही मनुष्य संसार में जीवित है। अनेक दार्शनिकों तथा विचारकों ने ऐसे जगत की कल्पना की है जहाँ मानव जीवन उदात्त, दिव्य तथा पवित्र बने, जहाँ इन्द्रिय भोग का भाव न हो और जहाँ सुख तथा शांति का निरन्तर राज्य रहे। सर टामस मूर की 'यूटोपिया' नामक पुस्तक में ऐसे ही जगत की कल्पना की गई है। आदर्शवादी मानव जीवन में दया, प्रेम, त्याग आदि उदात्त गुणों का समावेश करता है और मानव जाति को

नैतिक पथ की ओर ले चलने में सहायक होता है। कहना न होगा कि आदर्शवादियों का मार्ग आध्यात्मिक उच्चता का है; भौतिकवादियों का केवल सांसारिक सुखों की प्राप्ति।

इन दोनों विरोधी विचारधाराओं में कौन मार्ग श्रेयस्कर है? हमारे विचार से दोनों 'वादों' के बीच का मार्ग मानव जीवन के लिए श्रेयस्कर होगा। अर्थात् हम भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के साथ-साथ एक आदर्श की ओर भी अग्रसर होते रहें। मनुष्य भौतिक वाद के पीछे इतना आकुल न बन जाये कि उसके जीवन में फिर किसी अन्य उदार भावना के लिए स्थान ही न रहे। भौतिक सुखों की लालसा में मनुष्य मदान्ध, स्वार्थी, जड़वादी तथा दयादाक्षिण्यादि गुणों से हीन हो जाता है। इसके विपरीत आदर्शवादी भी कभी-कभी व्यवहारात्मक दृष्टिकोण से विमुख हो जाता है। ऐसी दशा में दोनों में समन्वय का होना आवश्यक है।

यथार्थवाद

यथार्थवाद का अर्थ भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रहा है। मध्यकालीन योरप में यथार्थवाद और आदर्शवाद एक ही विचार के द्योतक थे। उनके विचार से केवल विचार ही यथार्थ हैं। संसार में और सब मिथ्या है। बीसवीं शताब्दि के यथार्थवादियों का विचार है कि जो अनुभव हमें हमारी ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों से होते हैं वे ही यथार्थ हैं। ज्ञान व्यक्ति को पदार्थों के अनुभव से होता है। मनुष्य स्वयं इस विचार को ग्रहण करता है। पदार्थ इस ज्ञान को नहीं बनाते। यथार्थवादी इस प्रकार अनुभव को ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं। वे भी एक प्रकार से आदर्शवाद के विपरीत ज्ञात होते हैं।

स्वच्छन्दतावाद

इस वाद का मुख्य आधार स्वच्छन्दता है। संसार के क्लेशों, आपत्तियों से तंग आकर मनुष्य अपनी कल्पना की सहायता से अपने एक स्वच्छन्द जगत् का निर्माण करता है। इस जगत में उसे एक अलौकिक आनन्द मिलता है। यहाँ उसे सामाजिक, वैवाहिक, धार्मिक तथा राजनीतिक बन्धन नहीं अखरते। वह स्वच्छन्द हो प्रकृति की गोद में विचरता है। कवि की कल्पना, उपन्यासकार की लेखनी, कलाकार की कूँची लोक तथा जाति के बन्धनों से परे जिस जगत् का सृजन करती है, वह जगत स्वच्छन्दतावाद का जगत् है। उस जगत् में बुद्धि की पहुँच नहीं है, केवल कल्पना का ही सहारा है। अंगरेजी के कवि वर्ड्सवर्थ

को अपनी बुद्धि का सहयोग उस क्षण छोड़ देना पड़ता था जब कि उसे प्रकृति की गोद में विचरण करना होता था।

स्वच्छन्दतावाद ने आधुनिक साहित्य, कला तथा विचारधारा की उन्नति में भारी सहयोग दिया है। शैली, दान्ते, वरजिल, वर्ड्सवर्थ, शा, वैल्स तथा अन्य कलाकारों ने सामाजिक बन्धनों को तोड़ व्यक्ति के हर्ष, राग, द्वेष आदि में सहयोग दिया है। इस स्वच्छन्दतावाद ने आधुनिक कलात्मक दृष्टिकोण पर भारी प्रभाव डाला है। अतएव हम अब कलात्मक दृष्टिकोण का ही वर्णन इस स्थान पर करेंगे।

कलात्मक दृष्टिकोण

विज्ञान के प्रभाव से मानवजाति के कलात्मक दृष्टिकोण में भी भारी परिवर्त्तन हुआ। आज कला का मूल्य केवल सौंदर्य-उपासना नहीं है। कला तो मानव जीवन में उपयोगिता, उपादेयता तथा सरसता लाने का प्रयत्न करती है। कलात्मक दृष्टिकोण बहुत कुछ आज कल यथार्थवाद तथा स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित होता है। अर्थात् आज कला के लिये ही कला का मूल्य है। किसी अन्य मूल्य से उसे कोई सरोकार नहीं। दूसरे कला का सम्पर्क अब मानव जाति के मनोवेगों तथा उद्‌गारों से है।

युगों से त्रसित व्यथित किसान और मजदूर आज कलाकार की तूलिका का विषय बना हुआ है क्योंकि उसमें यथार्थता है। सत्ताधारी सम्राटों के स्थान पर मेजफील्ड आज धूल में मिले मजदूरों की सहानुभूति में अपनी कवितायें लिखना अधिक पसंद करेगाः—

> वे गावें गुण मादकता, संगीत, सुरा और वैभव के,[१]
> मेरे हों उद्‌गार दलित श्रमिकों के, धूमिल जीवन के।

इस प्रकार आज का युग दलित, त्रसित तथा पतित किसानों और श्रमिकों का है। यही इस युग की प्रधानता है।

---

१. Theirs be the music, the colour, the glory, the gold·
Mine be a handful of ashes, a mouthful of mould.

परिशिष्ट ।

दुहराने के लिये प्रश्न ।

१. योरप में आधुनिक युग का सूत्रपात किन कारणों से हुआ ? विस्तार पूर्वक समझाइये ।

२. मानववाद से आप क्या अर्थ समझते हैं ? ज्ञान के पुनरुद्धार से मानववाद का क्या सम्बन्ध है ?

३. योरप में धर्म सुधार किन कारणों से हुआ ? विश्व इतिहास में योरप के धर्म सुधार का क्या स्थान है ?

४. राष्ट्रीयता का अर्थ स्पष्टतापूर्वक समझाइये । योरप में राष्ट्रीयता का उदय तथा विकास किन कारणों से सम्भव हो सका ?

५. योरप के तर्कवाद के कौन कौन प्रतिनिधि थे ? उनके विचारों का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिये ।

६. औद्योगिक क्रांति ने योरप की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव डाला ?

७. "ज्ञान कोष के लेखकों ने योरप में तर्कवाद का प्रचार किया ।" स्पष्टतापूर्वक समझाइये ।

८. अमेरिका की क्रांति किन कारणों से हुई ? मानव सभ्यता पर इस क्रांति का क्या प्रभाव पड़ा ?

९. "फ्रांसकी क्रांति विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है ।" स्पष्ट कीजिये ।

१०. नेपोलियन का कथन था "मैं क्रांति हूँ ।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

११. चीन में विदेशियों ने क्या कुचक्र चला ? इसका क्या परिणाम हुआ ?

१२. जापान ने अपने आपको पश्चिम के प्रभाव से क्यों और किस प्रकार बंद किया ? उसका पदार्पण विश्व में कैसे हुआ ?

१३. "जापान का जागरण विश्व इतिहास की बड़ी महत्वपूर्ण घटना है ।" इस कथन पर अपने विचार प्रगट कीजिये ।

१४. सन् १८३० की योरप के इतिहास में क्या प्रसिद्धि है ?

१५. मेटरनी के प्रतिक्रियावाद का योरप के सुधारवाद के आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ा ?

१६. इङ्गलैण्ड में प्रजातंत्री संस्थाओं का विकास तथा उन्नति किस प्रकार हुई ?

१७. "इटली की एकता तथा स्वाधीनता का आंदोलन मैजिनी की भावना, कावूर की बुद्धिमता तथा गेरीबाल्डी की शूरवीरता के कारण सफल हो सका।" इस कथन पर अपने विचार प्रगट कीजिये।

१८. "बिस्मार्क ने अपनी दमन तथा रक्तपात की नीति से जर्मनी को संगठित किया। संगठित जर्मनी योरप के लिये एक समस्या हो गई।" स्पष्ट कीजिये।

१९. पूर्वी समस्या का अर्थ स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

२० साम्राज्यवाद का जन्म किन कारणों से हुआ ? इस प्रथा के गुण दोष समझाइये। विश्व सभ्यता के लिये इस 'वाद' की क्या देन है ?

२१. अफ्रिका का बटवारा किन परिस्थितियों में हुआ ?

२२. प्रजातंत्री चीन की क्या मुख्य समस्याएँ थीं ? उनका निराकरण किस प्रकार हुआ ?

२३. जापान तथा चीन के संघर्षों के कारण समझाकर लिखो।

२४. "१८७८–१९१४" का काल योरप के इतिहास में बड़े मार्के का काल है।" स्पष्ट कीजिये।

२५. प्रथम विश्वयुद्ध का सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२६. राष्ट्रसंघ की आवश्यकता, उसका संगठन, उद्देश्य तथा कार्यक्रम पर एक लेख लिखिये।

२७. "दूसरे विश्वयुद्ध का बीज वर्साई की संधि ने बो दिया"। समझाइये।

२८. जर्मनी में नात्सीवाद का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ। नात्सीवाद की तुलना फासिस्टवाद से कीजिये।

२९. "१९०५ एशिया के लिये [illegible] थी" इस कथन को समझाइये।

३०. भारत के राष्ट्रीय उत्थान तथा विकास पर एक लेख लिखिये।

३१. ईरान को बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में क्या कठिनाइयाँ थीं ? उन कठिनाइयों पर ईरान ने कैसे विजय प्राप्त की ?

३२. तुर्की का जागरण किन परिस्थितियों में हुआ ? तुर्की तथा ईरान के जागरण की तुलना कीजिये।

३३. फिलस्तीन तथा ईरान की क्या समस्याएँ थीं ? उनका निपटारा किस प्रकार हुआ ?

३४. रूस की मार्च १९१७ की क्रांति किन कारणों से हुई ?

३५. अक्तूबर १९१७ की क्रांति के कारणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

३६. लैनिन का विश्व के इतिहास में क्या स्थान है ?

३७. साम्यवादी रूस को १९१७ से १९३७ तक किन आपत्तियों का सामना करना पड़ा ? रूस ने अपना आर्थिक संगठन किस प्रकार किया ?

३८. "१९१९ से १९३९ का घटनाओं का भली प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता था कि योरप में अवश्य बिस्फोट होगा।" इस कथन को भली प्रकार समझाइये।

३९. दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका क्यों सम्मिलित हुआ ?

४०. रूस तथा जर्मनी में १९४१ ई० में क्यों युद्ध छिड़ गया ? रूस के इस युद्ध में विजयी होने के कारणों को विस्तारपूर्वक समझाइये।

४१. संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य संगठन तथा कार्यक्रम पर एक लेख लिखिये।

मुख्य तिथियां

तिथि	घटना
१४५३	उस्मानी तुर्कों का कुस्तुन्तुनियां पर अधिकार-योरप में नये युग का प्रादुर्भाव ।
१४८६	कप्तान डायज् का उत्तमाशा अंतरीप का चक्कर लगाना ।
१४९८	वास्को डि गामा का भारत पहुंचना ।
१५०९	हेनरी अष्टम का इंगलैण्ड का शासक होना ।
१५२०	शानदार सुलेमान का गद्दी पर बैठना और बगदाद से लेकर हंगरी तक के प्रदेश को जीत लेना ।
१५२५	बाबर की भारत में मुगल वंश की स्थापना ।
१५३९	जेसूट संघ की स्थापना ।
१५४६	मार्टिन लूथर की मृत्यु ।
१५६६	शानदार सुलेमान की मृत्यु ।
१६२०	'मे फ्लावर' जहाज में अंगरेजों का अमेरिका में पहुंचना । न्यू प्लीमथ उपनिवेश की स्थापना ।
१६४३	लुई चौदहवें का फ्रांस का शासक होना ।
१६४४	मंचू लोगों द्वारा मिंग वंश का अंत ।
१६४८	तीस वर्षीय युद्ध का अंत (१६१८-१६४८)
१६४९	इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम को प्राणदंड
१६६०	इङ्गलैण्ड के प्रजातंत्र का अंत । राज्य वंश की स्थापना ।
१६८९	इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति । पीटर का रूस का शासक होना ।
१७०७	औरंगजेब की मृत्यु । मुगल साम्राज्य का पतन ।
१७५६-६३	फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड का सप्तवर्षीय युद्ध । इङ्गलैण्ड की जय तथा फ्रांस की पराजय ।
१७६९	नेपोलियन का जन्म ।
१७७६	(४ जुलाई) अमेरिका की स्वाधीनता घोषणा ।
१७८३	वर्साई की संधि । अमेरिका की स्वाधीनता की स्वीकृति ।
१७८९	फ्रांस की राज्यक्रांति का प्रारम्भ । वेस्तील दुर्ग का घेरा और पतन ।

१७९१ फ्रांस के राजा लुई सोलहवें का फ्रांस से भागने का प्रयत्न मगर पकड़े जाना।
१७९२ फ्रांस में प्रजातन्त्र।
१७९३ लुई सोलहवें को प्राणदण्ड।
१७९८ नेपोलियन का मिस्र जीतने का प्रयत्न।
१७९९ नेपोलियन का प्रथम कोन्सल नियुक्त होना।
१८०४ नेपोलियन का सम्राट होना।
१८०६ नेपोलियन द्वारा प्रशा की पराजय।
१८१२ नेपोलियन का मास्को पर आक्रमण और विफलता।
१८१४ नेपोलियन का सिंहासन त्याग।
१८१५ वाटरलू का युद्ध और नेपोलियन की पराजय।
१८२९ यूनान का तुर्की के बन्धन से स्वाधीन होना।
१८३० योरप में क्रान्तियाँ।
१८३३ ब्रिटिश साम्राज्य में दासता का अन्त।
१८६१ रूस के ज़ार अलैक्जेंडर का भूमि के गुलामों को स्वतन्त्र करना।
१८६५ जापान का विश्व में पदार्पण।
१८६७ कार्लमार्क्स की 'सम्पत्ति' (Das Capital) पुस्तक प्रकाशित।
१८७१ फ्रांस की प्रशा द्वारा पराजय।
१८७८ बर्लिन की संधि (योरप में प्रशा के नेतृत्व का प्रारम्भ—योरप की शांति खतरे में)
१८९० प्रशा के मन्त्री बिस्मार्क का पतन।
१८९४ निकोलस द्वितीय का रूस का जार होना।
१९०२ इंगलैण्ड तथा जापान की संधि।
१९०५ रूस की जापान द्वारा पराजय। एशिया में जागृति।
१९१२ चीन का प्रजातंत्र घोषित होना।
१९१४–१९१८ प्रथम विश्व युद्ध।
१९१७ (मार्च तथा अक्टूबर) रूस की क्रांतियां। साम्यवाद की स्थापना।
१९१८ जर्मनी की प्रथम विश्व युद्ध में पराजय
१९१९ वर्साई की संधि।
१९२० प्रथम राष्ट्रसंघ का जनेवा में अधिवेशन
१९२१ भारत में असहयोग आंदोलन

१९२२ तुर्की का सेवरे की संधि को ठुकरा देना ।
१९२५ ईरान में रिजाशाह पहलवी का सत्तारूढ़ होना ।
१९३२ निरस्त्रीकरण कान्फ्रेन्सों की विफलता ।
१९३३ हिटलर का जर्मनी में सत्तारूढ़ होना ।
१९३५ फारस का नाम ईरान ।
१९३६ रूस का नया विधान ।
१९३७ कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की भारत के प्रांतों में स्थापना ।
१९३८ चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर का अधिकार ।
१९३९ द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारम्भ
१९४१ जर्मनी का रूस पर आक्रमण
१९४१ (७ दिसम्बर) जापान की संयुक्त राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध की घोषणा ।
१९४२ (२ जनवरी) आंग्ल सागरीय अधिकार घोषणा पत्र ।
१९४२ (८ अगस्त) कांग्रेस द्वारा 'अङ्गरेजों भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत ।
१९४३ (२५ जुलाई) मसोलिनी का पदच्युत होना
१९४३ इटली की मित्रराष्ट्रों से संधि
१९४५ (९ मई) जर्मन सेनाओं का आत्मसमर्पण
१९४५ (६ अगस्त) हिरोशिमा द्वीप पर परमाणु बम
१९४५ (२ सितम्बर) जापान का आत्मसमर्पण द्वितीय विश्वयुद्ध का अन्त ।
१९४७ (१५ अगस्त) भारत तथा पाकिस्तान दो उपनिवेशों की स्थापना ।
१९४८ (३० जनवरी) गांधीजी का बलिदान ।
१९५० (२६ जनवरी) भारतवर्ष में जनतन्त्र ।

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथों की सूची

1. H. G. Wells : Outline of History.
2. Sanderson : Outline of World History.
3. J. L. Nehru : Glimpses of World History.
4. S. R. Sharma : A Brief Survey of Human History.
5. H. A. Davies : An Outline History of the World.
6. J. S. Hoyland : A Brief History of Civilization.
7. Horrabin : Short History of the World.
8. Happold : Adventure of Man-Brief History of the World.
9. Joad : Story of Civilization.
10. Mackenzie : Footprints of Early Man.
11. Zimmern : Prospects of Civilization.
12. H. B. Niver : Ancient Peoples and Their Heroes.
13. G. P. Howell : Egypt's Past, Present & Future.
14. Smith William : Classical Dictionary of Greek & Roman Geography, Mythology and Geography.
15. Swobola : Greek History.
16. Smith : History of Greece from the Earliest times to the Roman Conquest.
17. E. Abboth : Pericles and Golden Age of Athens.
18. Wheeler : Alexander the Great—Merging of East & West in Universal History.
19. Brier : Plutarch's lives of Caesar, Brutus and Antony.
20. E. E. Bryant : Stories from History of Rome.
21. Koch : Roman History.
22. Pelham : Outline of Roman [illegible].
23. Davidson : Cicero & fall of [illegible].
24. Gibbon : Decline and Fall of Roman Empire.
25. Beesly (Mrs.) : Stories from History of Rome.
26. H. G. Bohn : China—descriptive and historical.
27. Douglas : The Story of Nations—China.
28. J. H. Cousins : Cultural Unity of Asia.
29. Payne : Revolt of Asia.
30. Giles : Civilization of China.
31. Bryan : Civilization of Japan.

32. Murray : The Story of Nations—Japan.
33. H. Webster : History of Mankind.
34. Hughes : Dictionary of Islam.
35. Chaman Lal : Hindu America.
36. G. S. Riggs : History of the Jewish People.
37. R. C. Dutt : Ancient India.
38. R. C. Majumdar : Outline of Ancient Indian History and Civilization.
39. Chakladar : Social life in Ancient India.
40. Banerji : Pre-historic Ancient and Hindu India.
41. Gopal Dass : प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास।
42. R. K. Mukerji : Men and Thought in Ancient India.
43. A. C. Dass : Rigu-Vedic Culture.
44. Mc Grindle : Ancient India as described by Ptolemy.
45. T. W. R. Davids : Budhist India.
46. Humayun Kabir : Our Heritage.
47. K. M. Panikkar : A Survey of Indian History.
48. Tara Chand : The Influence of Islam on Indian Culture.
49. B. I. P.—A New History of Indian People, Vol. VI.
50. A. R. Hope : European History, Vol. I. & II.
51. Creasy : Fifteen decisive battles of the World.
52. The Cambridge Modern History.
53. G. P. Gooch : History of Modern Europe.
54. G. H. Rose : Development of European Nations.
55. P. W. Slosson : Twentieth Century Europe.
56. Paine : Rights of Man.
57. Acton : Lectures on French Revolution.
58. Madelin : French Revolution.
59. „ Consulate & Empire
60. C. C. H. Hayes : Essays on Nationalism.
61. Gunther : Inside Asia.
62. A. F. Whyte : China and the Foreign Powers.
63. R. K. Douglas : Europe and the Far East.
64. J. O. P. Bland : China, Japan & Korea.
65. L. A. Lyall : China.
66. Hu Shih : The Chinese Renaissance.
67. Sun yat Sen : Memoirs of a Chinese Revolutionary.
68. M. J. Ball : Modern Democracy in China.
69. H. Kohn : A History of Nationalism in the East.

70. J. H. Gubbins : The Making of Modern Japan.
71. H. C. Morris : A History of Colonization.
72. C. Lucas : The Partition of Africa
73. Hampden & Jackson : The Post War World.
74. Grant & Temperley : Europe in the Nineteenth & Twentieth Centuries.
75. Robinson & Beard : The development of Modern Europe.
76. D. M Ketelbey : A History of Modern Times.
77. S. N. Harper : The Government of the Soviet Union.
78. H. J. Laski : A Revolution of Our own times.
79. A. Zimmern : The League of Nations and the Rule of Law.
80. E Main : Iraq.
81. G. N. Singh : Landmarks in Indian National & Constitutional Development.
82. Benito Mussolini : Fascism, Doctrine and Institutions.
83. R. Altamira : A History of Spanish Civilization
84. A. Hitler : Mein Kampf.
85. L. Trotsky : Lenin.
86. Parker & Smith : Modern Turkey.
87. H. F. Armstrong : "We or they" Two Worlds in Conflict.
88. W. C. Langsam : The World Since 1914.
89. Andrew Boyd : The U. N. O. Handbook.
90. U. N. Department of Public Information : United Nations.
91. G. F. Enoch : The Wonders of Our Time.
92. E. Asirvatham : Forces in Modern Politics.
93. West : Psychology & World Order.
94. S. & B. Webb : The truth about Soviet Russia.
95. Toynbee : Civilization on Trial.
96. H. H. Gowen : A Short History of Asia.
97. Ikbal Ali Shah : The Controlling Minds of Asia.
98. Ram and Sharma : India and the League of Nations.
99. W. S. Churchill : The World Crisis.
१००. सत्यनारायण शास्त्री — एशिया की क्रांति।
१०१. चाइना पब्लिशिंग कम्पनी चुकिंग (चीन) — चीन और स्वाधीनता-संग्राम के पांच वर्ष।
१०२. सत्यनारायण — एशिया की क्रांति।
१०३. कल्याणसिंह शेखावत — एशिया में प्रभात।

Only Second Part printed at The Jyotish Prakash Press, Banaras.